श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

—श्रमणबेळगोळके अनेक शिलालेखोंका प्रथम पद्य ।

डॉ. दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्य

वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट : एक दृष्टिमें

जैन साहित्य और इतिहासके विशेषज्ञ एवं अनुसन्धाता स्वर्गीय आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तार 'युगवीर' ने अपनी दीर्घकालीन साहित्य-इतिहास सम्बन्धी अनुसन्धान-प्रवृत्तियोंको मूर्तरूप देनेके हेतु अपने निवास-स्थान सरसावा (सहारनपुर), उत्तर प्रदेशमें 'वीर-सेवा-मन्दिर' नामसे एक शोध-संस्थाकी स्थापना की थी और उसके लिए रोडपर क्रीत विस्तृत भूखण्डपर एक सुन्दर भवनका निर्माण किया था, जिसका उद्घाटन वैशाख सुदी ३ (अक्षयतृतीया), विक्रम संवत् १९९३, दिनांक २४ अप्रैल १९३६ मे किया गया था। सन् १९४२ में मुख्तारश्रीने अपनी सम्पत्तिका 'वसीयतनामा' लिखकर उसकी रजिस्ट्री करा दी थी। 'वसीयतनामा' में उक्त 'वीर-सेवा-मन्दिर' के सचालनार्थ इसी नामसे ट्रस्टकी भी उन्होने योजना की थी, जिसकी भी रजिस्ट्री ५ मई १९५१ को उनके द्वारा करा दी गयी थी। इस प्रकार आचार्य मुख्तारश्रीने 'वीर-सेवा-मन्दिर' व 'वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट' दोनोकी स्थापना करके उनके द्वारा साहित्य और इतिहासके अनुसन्धानकार्यको प्रथमतः अग्रसारित किया।

स्वर्गीय बा. छोटेलालजी कलकत्ता, स्वर्गीय ला. राजकृष्णजी दिल्ली, स्वर्गीय रायसाहब लाला उल्फतरायजी दिल्ली आदिकी प्रेरणा और स्वर्गीय पूज्य क्षु गणेशप्रसादजी वर्णी (मुनि गणेशकीर्ति महाराज) के आशीर्वादसे सन् १९४८ में श्रद्धेय मुख्तार साहबने उक्त 'वीर-सेवा-मन्दिर' का एक कार्यालय उसकी शाखाके रूपमे दिल्लीमें, उसके राजधानी होनेके कारण अनुसन्धानकार्यको अधिक व्यापकता और प्रकाश मिलनेके उद्देश्यसे, रायसाहब ला. उल्फतरायजीके चैत्यालयमें खोला था। पश्चात् बा. छोटेलालजी, साहू शान्तिप्रसादजी और समाजकी उदारतापूर्ण आर्थिक सहायतासे उसका भवन भी बन गया, जो २१ दरियागंज नई दिल्ली–२ में स्थित है और जिसमे 'अनेकान्त' (मासिक) का प्रकाशन एवं अन्य साहित्यिक कार्य सम्पादित होते हैं। इसी भवनमे सरसावासे ले जाया गया विशाल ग्रन्थागार है, जो जैन विद्याके विभिन्न अंगोपर अनुसन्धान करनेके लिए विशेष उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है।

वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट ग्रन्थ-प्रकाशन और साहित्यानुसन्धानका विशेष कार्य कर रहा है। अब तक इसके द्वारा २२ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंका प्रकाशन हो चुका है और २३वाँ प्रकाशन प्रस्तुत है। उनके नाम ये हैं—१-२. युगवीर-निबन्धावली (भाग १, २) ३. जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार, ४. लोकविजययन्त्र, ५. प्रमाण-नय-निक्षेप-प्रकाश, ६. देवागम (आप्तमीमांसा), ७. रत्नकरण्डकश्रावकाचार (संस्कृत-हिन्दी टीका युक्त), ८. समाधिमरणोत्साहदीपक, ९. तत्त्वानुशासन, १०. प्रमेयकण्ठिका, ११. नयी किरण : नया सवेरा, १२. जैनधर्मपरिचय, १३. आरम्भिक जैनधर्म, १४. करणानुयोगप्रवेशिका, १५. द्रव्यानुयोगप्रवेशिका, १६. चरणानुयोगप्रवेशिका, १७. महावीरवाणी, १८. अनेकान्तवाद, १९. भ. महावीरका जीवनवृत्त, २०. मङ्गलायतनम् (महावीर-चरित), २१. ऐसे थे हमारे गुरुजी, २२. प्रमाणपरीक्षा और २३. जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन।

वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट : एक दृष्टिमें

जैन साहित्य और इतिहासके विशेषज्ञ एवं अनुसन्धाता स्वर्गीय आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तार 'युगवीर' ने अपनी दीर्घकालीन साहित्य-इतिहास सम्बन्धी अनुसन्धान-प्रवृत्तियोंको मूर्तरूप देनेके हेतु अपने निवास-स्थान सरसावा (सहारनपुर), उत्तर प्रदेशमें *'वीर-सेवा-मन्दिर' नामसे एक शोध-संस्थाकी स्थापना की थी* और उसके लिए रोडपर स्रोत विस्तृत भूखण्डपर एक सुन्दर भवनका निर्माण किया था, जिसका उद्घाटन वैशाख सुदी ३ (अक्षयतृतीया), विक्रम संवत् १९९३, दिनांक २४ अप्रैल १९३६ में किया गया था। सन् १९४२ मे मुख्तारश्रीने अपनी सम्पत्तिका 'वसीयतनामा' लिखकर उसकी रजिस्ट्री करा दी थी। 'वसीयतनामा' में उक्त 'वीर-सेवा-मन्दिर' के संचालनार्थ इसी नामसे ट्रस्टकी भी उन्होने योजना की थी, जिसकी भी रजिस्ट्री ५ मई १९५१ को उनके द्वारा करा दी गयी थी। इस प्रकार आचार्य मुख्तारश्रीने 'वीर-सेवा-मन्दिर' व 'वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट' दोनोंकी स्थापना करके उनके द्वारा साहित्य और इतिहासके अनुसन्धानकार्यको प्रथमतः अग्रसारित किया।

स्वर्गीय बा. छोटेलालजी कलकत्ता, स्वर्गीय ला. राजकृष्णजी दिल्ली, स्वर्गीय रायसाहब लाला उल्फतरायजी दिल्ली आदिकी प्रेरणा और स्वर्गीय पूज्य क्षु गणेशप्रसादजी वर्णी (मुनि गणेशकीर्ति महाराज) के आशीर्वादसे सन् १९४८ में श्रद्धेय मुख्तार साहबने उक्त 'वीर-सेवा मन्दिर' का एक कार्यालय उसकी शाखाके रूपमें दिल्लीमें, उसके राजधानी होनेके कारण अनुसन्धानकार्यको अधिक व्यापकता और प्रकाश मिलनेके उद्देश्यसे, रायसाहब ला. उल्फतरायजीके चैत्यालयमें खोला था। पश्चात् बा. छोटेलालजी, साहू शान्तिप्रसादजी और समाजकी उदारतापूर्ण आर्थिक सहायतासे उसका भवन भी बन गया, जो २१ दरियागंज नई दिल्ली-२ में स्थित है और जिसमें 'अनेकान्त' (मासिक) का प्रकाशन एवं अन्य साहित्यिक कार्य सम्पादित होते हैं। इसी भवनमें सरसावासे ले जाया गया विशाल ग्रन्थागार है, जो जैन विद्याके विभिन्न अंगोंपर अनुसन्धान करनेके लिए विशेष उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है।

वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट ग्रन्थ-प्रकाशन और साहित्यानुसन्धानका विशेष कार्य कर रहा है। अब तक इसके द्वारा २२ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंका प्रकाशन हो चुका है और २३वाँ प्रकाशन प्रस्तुत है। उनके नाम ये हैं—१-२. युगवीर-निबन्धावली (भाग १, २) ३. जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार, ४. लोकविजययन्त्र, ५. प्रमाण-नय-निक्षेप-प्रकाश, ६. देवागम (आप्तमीमांसा), ७. रत्नकरण्डकश्रावकाचार (संस्कृत-हिन्दी टीका युक्त), ८. समाधिमरणोत्साहदीपक, ९. तत्त्वानुशासन, १०. प्रमेयकण्ठिका, ११. नयी किरण : नया सवेरा, १२. जैनधर्मपरिचय, १३. आरम्भिक जैनधर्म, १४. करणानुयोगप्रवेशिका, १५. द्रव्यानुयोगप्रवेशिका, १६. चरणानुयोगप्रवेशिका, १७. महावीरवाणी, १८. अनेकान्तवाद, १९. भ. महावीरका जीवनवृत्त, २०. मङ्गलायतनम् (महावीर-चरित), २१. ऐसे थे हमारे गुरुजी, २२. प्रमाणपरीक्षा और २३. जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन।

ग्रन्थमाला-सम्पादक व नियामक
डॉक्टर दरबारीलाल कोठिया

जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन
STUDIES IN JAINA PHILOSOPHY & LOGIC

ट्रस्ट-संस्थापक :
आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

लेखक :
डॉ. दरबारीलाल कोठिया

सम्पादक :
डॉ. गोकुलचन्द्र जैन

© प्रकाशक :
मन्त्री, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट,
१/१२८ डुमरांव कॉलोनी, अस्सी, वाराणसी (उ. प्र.)

संस्करण :
प्रथम : १९८०

मूल्य :
पुस्तकालय-संस्करण पचहत्तर रुपये

मुद्रक :
सन्मति मुद्रणालय,
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी (उ. प्र.)

वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट : एक दृष्टिमें

जैन साहित्य और इतिहासके विशेषज्ञ एवं अनुसन्धाता स्वर्गीय आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तार 'युगवीर' ने अपनी दीर्घकालीन साहित्य-इतिहास सम्बन्धी अनुसन्धान-प्रवृत्तियोंको मूर्तरूप देनेके हेतु अपने निवास-स्थान सरसावा (सहारनपुर), उत्तर प्रदेशमें 'वीर-सेवा-मन्दिर' नामसे एक शोध-संस्थाकी स्थापना की थी और उसके लिए रोडपर क्रीत विस्तृत भूखण्डपर एक सुन्दर भवनका निर्माण किया था, जिसका उद्घाटन वैशाख सुदी ३ (अक्षयतृतीया), विक्रम संवत् १९९३, दिनांक २४ अप्रैल १९३६ में किया गया था। सन् १९४२ मे मुख्तारश्रीने अपनी सम्पत्तिका 'वसीयतनामा' लिखकर उसकी रजिस्ट्री करा दी थी। 'वसीयतनामा' मे उक्त 'वीर-सेवा-मन्दिर' के संचालनार्थ इसी नामसे ट्रस्टकी भी उन्होंने योजना की थी, जिसकी भी रजिस्ट्री ५ मई १९५१ को उनके द्वारा करा दी गयी थी। इस प्रकार आचार्य मुख्तारश्रीने 'वीर-सेवा-मन्दिर' व 'वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट' दोनोंकी स्थापना करके उनके द्वारा साहित्य और इतिहासके अनुसन्धानकार्यको प्रथमतः अग्रसारित किया।

स्वर्गीय बा. छोटेलालजी कलकत्ता, स्वर्गीय ला. राजकृष्णजी दिल्ली, स्वर्गीय रायसाहब लाला उल्फतरायजी दिल्ली आदिकी प्रेरणा और स्वर्गीय पूज्य क्षु गणेशप्रसादजी वर्णी (मुनि गणेशकीर्ति महाराज) के आशीर्वादसे सन् १९४८ में श्रद्धेय मुख्तार साहबने उक्त 'वीर-सेवा-मन्दिर' का एक कार्यालय उसकी शाखाके रूपमे दिल्लीमें, उसके राजधानी होनेके कारण अनुसन्धानकार्यको अधिक व्यापकता और प्रकाश मिलनेके उद्देश्यसे, रायसाहब ला. उल्फतरायजीके चैत्यालयमें खोला था। पश्चात् बा. छोटेलालजी, साहू शान्तिप्रसादजी और समाजकी उदारतापूर्ण आर्थिक सहायतासे उसका भवन भी बन गया, जो २१ दरियागंज नई दिल्ली-२ मे स्थित है और जिसमें 'अनेकान्त' (मासिक) का प्रकाशन एवं अन्य साहित्यिक कार्य सम्पादित होते हैं। इसी भवनमें सरसावासे ले जाया गया विशाल ग्रन्थागार है, जो जैन विद्याके विभिन्न अंगोंपर अनुसन्धान करनेके लिए विशेष उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है।

वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट ग्रन्थ-प्रकाशन और साहित्यानुसन्धानका विशेष कार्य कर रहा है। अब तक इसके द्वारा २२ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंका प्रकाशन हो चुका है और २३वाँ प्रकाशन प्रस्तुत है। उनके नाम ये हैं—१-२. युगवीर-निबन्धावली (भाग १, २) ३. जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार, ४. लोकविजययन्त्र, ५. प्रमाण-नय-निक्षेप-प्रकाश, ६. देवागम (आप्तमीमांसा), ७. रत्नकरण्डकश्रावकाचार (संस्कृत-हिन्दी टीका युक्त), ८. समाधिमरणोत्साहदीपक, ९. तत्त्वानुशासन, १०. प्रमेयकण्ठिका, ११. नयी किरण : नया सवेरा, १२. जैनधर्मपरिचय, १३ आरम्भिक जैनधर्म, १४. करणानुयोगप्रवेशिका, १५. द्रव्यानुयोगप्रवेशिका, १६ चरणानुयोगप्रवेशिका, १७. महावीरवाणी, १८. अनेकान्तवाद, १९. भ. महावीरका जीवनवृत्त, २०. मङ्गलायतनम् (महावीर-चरित), २१. ऐसे थे हमारे गुरुजी, २२ प्रमाणपरीक्षा और २३. जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन।

प्रकाशकीय

सितम्बर १९७७ में वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्टसे प्रमाणशास्त्रके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'प्रमाण-परीक्षा' का प्रकाशन हुआ था। यह जैनदर्शन एवं न्यायशास्त्रके प्रकाण्ड विद्वान् तार्किकशिरोमणि आचार्य विद्यानन्दकी उपलब्ध नौ रचनाओंमें मध्यम परिमाणकी महत्त्वकी श्रेष्ठ रचना है। इसका सुन्दर सम्पादन और हिन्दी रूपान्तर डॉ. दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्यने किया है। डॉक्टर कोठियाने इसकी विस्तृत प्रस्तावना लिखकर उसमें प्रमाणशास्त्रके सभी विषयोंपर बहुत ही सुन्दर और अच्छा प्रकाश डाला है।

यहाँ पाठकोंको यह सूचित करते हुए प्रसन्नता होती है कि उत्तर प्रदेश शासनने ट्रस्टके इस प्रकाशनको पुरस्कृत किया है और इसके सुयोग्य सम्पादक डॉक्टर कोठियाको २ नवम्बर १९७९ में सम्पन्न अपने पुरस्कार-समारोहमें प्रशस्ति-पत्रके साथ एक सहस्र रुपएका पुरस्कार प्रदान कर सम्मानित किया है। यह ट्रस्टके लिए गौरवकी बात है।

इस समेत अब तक ट्रस्टसे २२ प्रकाशन हो चुके हैं, जो सभी बड़े उपयोगी और महत्त्वके हैं। यह प्रसन्नताकी बात है कि आज डॉक्टर कोठियाका एक और विशाल एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशमें आ रहा है। वह है 'जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन'। इसमें जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्रका गहरा एवं अनुसन्धानपूर्ण विमर्श किया गया है। अनेक आचार्यों और उनकी कृतियोंका समीक्षात्मक अध्ययन बड़े ही ऊहापोहके साथ प्रस्तुत किया गया है। अनेक आचार्योंके समयादिका निर्णय भी इसमें खोजपूर्वक दिया गया है। तत्त्वार्थसूत्रके मंगलाचरण, रत्नकरण्डश्रावकाचारके कर्तृत्व जैसी कई समस्याएँ भी कोठियाजीने इसमें सप्रमाण समाहित की हैं। सामान्य पाठकोंसे लेकर विश्वविद्यालयोंके अध्यापकों और शोध-छात्रों तकके लिए यह ग्रन्थ निश्चय ही उपयोगी सिद्ध होगा। या यों कहें कि जैन प्रमाणशास्त्रसे सम्बन्धित विषयोंके अध्ययनके लिए उन्हें यह मार्गदर्शनका कार्य करेगा।

ट्रस्टकी यह विशेषता है कि वह अपने सीमित साधनोंसे जैन साहित्य और इतिहासके मर्मज्ञ एवं अनुसन्धाता स्वर्गीय आचार्य जुगलकिशोरजी 'युगवीर' द्वारा स्थापित परम्परा—जैन साहित्य-इतिहास सम्बन्धी अनुसन्धान-प्रवृत्तियोंको चालू रखे हुए है। हमें आशा है उनके परोक्ष आशीर्वादसे यह परम्परा चालू रहेगी।

ट्रस्टके सभी सदस्योंके हम आभारी हैं, जिनके उत्साह और सहयोगसे ट्रस्ट जिनवाणीके प्रकाशन और साधनामें संलग्न है।

एटा (उत्तर प्रदेश)
४-९-१९८०

डॉ. श्रीचन्द्र जैन संगल
उपाध्यक्ष एवं कोषाध्यक्ष, वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट

सम्पादकीय

'जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन' जैन विद्याके अप्रतिम मनीषी न्यायाचार्य डॉ. पण्डित दरबारीलाल कोठियाकी एक अनुपमेय कृति है। अर्धशताब्दी से अधिक दीर्घकालव्यापी उनके अनुसन्धान-कार्योंका यह एक ऐसा ऐतिहासिक दस्तावेज है, जो भारतीय विद्याकी विशिष्ट विधा जैनदर्शन एवं प्रमाणशास्त्रके अनुसन्धित्सुओं-जिज्ञासुओंके लिए दुर्लभ सन्दर्भ-ग्रन्थके रूपमें महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी सिद्ध होगा। सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता आचार्य स्व. पं. जुगलकिशोर मुख्तार द्वारा सरसावा (सहारनपुर, उ. प्र.) की पुण्यभूमिमें स्थापित 'वीर-सेवा-मन्दिर' के अनुसन्धान-पत्र 'अनेकान्त' एवं जैन सिद्धान्त भवन, आरा (बिहार) के 'जैन सिद्धान्त भास्कर' प्रभृति शोध-मासिकोंमें लिखित शोध-निबन्धोंसे लेकर बंगालमें कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुरके 'शान्ति-निकेतन', मध्य प्रदेशमें सागर विश्वविद्यालय एवं जबलपुर विश्वविद्यालय और राजस्थानमें राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुरमें पठित शोध-निबन्धों एवं व्याख्यानों, अनन्य परिश्रमपूर्वक सम्पादित प्राचीन ग्रन्थों-की प्रस्तावनाओं तथा काशीके गंगातटपर निर्मित कुटीरके अपने स्वाध्याय-कक्षमें ध्यानस्थ होकर न्यायाचार्य डॉ. दरबारीलाल कोठियाने जो दर्शन और न्यायशास्त्रका तलस्पर्शी सूक्ष्म चिन्तन और सातिशय गवेषणापूर्ण सामग्री प्रस्तुत की है उसके सर्वाधिक महनीय अंशको प्रस्तुत कृतिमें समाहित किया गया है। जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्रके क्षेत्रमें डॉक्टर कोठियाकी ऐतिहासिक गवेषणाएँ नितान्त मौलिक, तर्कयुक्त एवं शास्त्रसम्मत हैं। उन्होंने युक्ति और शास्त्रीय प्रमाणोंसे जो प्रस्थापनाएँ कीं, अन्ततः उनकी उन औचित्यपूर्ण स्थापनाओंको विद्वज्जगत्के महामनीषियोंने[1] अंगीकार कर अपने लेखनमें उन्हें समाहित किया। उदाहरणके रूपमें कतिपय सन्दर्भोंको हम यहाँ रेखांकित करना उपयुक्त समझते हैं:—

१. जैन प्रमाणशास्त्रका व्यवस्थित विकास स्वामी समन्तभद्रसे होता है। समन्तभद्रको अपनी विरासतमें आचार्य कुन्दकुन्द और गृद्धपिच्छ-उमास्वामी-का चिन्तन उपलब्ध था। आचार्य कुन्दकुन्दने जिस दार्शनिक और आरम्भिक प्रमाणशास्त्रीय चिन्तनको अपने प्राकृत-प्राभृतोंमें संग्रथित किया, उसे तत्त्वार्थ-सूत्रकार आचार्य गृद्धपिच्छने संस्कृतको सूत्रशैलीमें निबद्ध कर दिया। यही कारण है कि तत्त्वार्थसूत्रमें 'न्यायशास्त्रके बीज' स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। स्वामी समन्तभद्रने इसी तत्त्वार्थसूत्रके मंगलाचरण—"मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्। ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥" को

---

१. द्रष्टव्य—

न्यायाचार्य पं. महेन्द्रकुमार, जैन-दर्शन तथा सिद्धिविनिश्चयटीकाकी प्रस्तावना।

डॉ. हीरालाल जैन, डॉ. ए. एन. उपाध्ये—शाकटायन व्याकरण, जनरल एडीटोरियल।

पं. फूलचन्द्र शास्त्री—सर्वार्थसिद्धि, द्वितीय संस्करण, प्रस्तावना।

आधार बनाकर देवागम अपर नाम आप्तमीमांसाकी रचना की। डॉ. कोठियाकी इस स्थापनाको उस समयके अनेक दिग्गज विद्वानोंने नकारा। 'अनेकान्त' में यह चर्चा वर्षों तक चली, किन्तु अन्ततः उन सभी विद्वानोंने इसे स्वीकार कर लिया और अपने उत्तरकालीन लेखनमें उसे समाहित किया।

२. स्वामी समन्तभद्रकी कृतियोंके सम्बन्धमें दूसरा जो प्रश्न बहुचर्चित हुआ, वह है 'रत्नकरण्डश्रावकाचारका कर्तृत्व'। 'अनेकान्त' में इस विषयपर भी वर्षों तक चर्चा चली। डॉ. कोठियाने अनेक युक्तियों और प्रमाणोंके आधारपर यह सिद्ध कर दिया कि 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' असन्दिग्ध रूपसे स्वामी समन्तभद्रकी कृति है।

३. स्वामी समन्तभद्रका समय-निर्धारण मात्र जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्रका ही नहीं, प्रत्युत सम्पूर्ण भारतीय दर्शनोंके इतिहासका एक ज्वलन्त प्रश्न बन गया था। इस विषयको लेकर विद्वान् लगभग दो खेमोंमें बँट गये थे—एक वे जो जैनेन्द्र व्याकरणके स्पष्ट उल्लेखोंके बावजूद स्वामी समन्तभद्रको आचार्य सिद्धसेन दिवाकरका उत्तरवर्ती बताना चाहते थे,[1] दूसरे वे जो जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्रके ऐतिहासिक विकासके स्पष्ट और सुदृढ़ प्रमाणोंके आधारपर स्वामी समन्तभद्रका समय ईसाकी द्वितीय शताब्दी निर्णीत करते थे[2]। स्व. पं. जुगलकिशोर मुख्तारने अपनी जिन दीर्घकालिक गवेषणाओंके आधारपर स्वामी समन्तभद्रका समय निर्धारित किया उसमें डॉ. कोठियाके अनुसन्धानपूर्ण निबन्धों—निर्युक्तिकार भद्रबाहु और समन्तभद्र, बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन और समन्तभद्र, दिग्नाग और समन्तभद्र, धर्मकीर्ति और समन्तभद्र, मीमांसकधुरीण भट्ट कुमारिल और समन्तभद्र, भर्तृहरि और समन्तभद्र आदिसे महनीय योगदान प्राप्त हुआ।

४. स्व. पं. जुगलकिशोर मुख्तार द्वारा सम्पादित देवागम अपर नाम आप्तमीमांसा तथा पं. मूलचन्द्र शास्त्री द्वारा अनूदित युक्त्यनुशासन दोनोंकी विस्तृत प्रस्तावनाओंमें डॉ. कोठियाने उक्त ग्रन्थोंके स्वरूप-निर्धारणके साथ ग्रन्थोंकी विषय-वस्तुको इस प्रकार सुव्यवस्थित रूपमें प्रस्तुत किया है कि आगेके अध्येताओंने उसे अपरिवर्तित रूपमें अपने ग्रन्थोंमें समाहित—स्वीकृत कर लिया।

५. स्वामी समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाके आद्य भाष्यकार महान् तार्किक भट्ट अकलंकके दुर्लभ और अनुपलब्ध ग्रन्थोंका अन्वेषण, वैज्ञानिक सम्पादन तथा टीकासे मूल ग्रन्थोंके पुनरुद्धारका जैसा महनीय कार्य स्व. न्यायाचार्य डॉ. पण्डित महेन्द्रकुमार जैनने किया, उसी प्रकार भट्ट अकलंकके आप्तमीमांसाभाष्यको अक्षरशः अपने महाभाष्य आप्तमीमांसालंकृतिमें समाहित करनेवाले

द्रष्टव्य—

१. पं. सुखलाल संघवी, सन्मतिसूत्र, प्रस्तावना।

२. स्व. पं. जुगलकिशोर मुख्तार, स्वामी समन्तभद्र तथा डॉ. हीरालाल जैन, डॉ. ए. एन. उपाध्ये—शाकटायनव्याकरण, जनरल एडीटोरियल।

तथा युक्त्यनुशासनपर अद्वितीय भाष्य—युक्त्यनुशासनालंकार, जैमिनिसूत्रपर लिखित मीमांसाश्लोकवार्तिककी तरह तत्त्वार्थसूत्रपर तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक तथा उसका भाष्य और आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा आदि मौलिक ग्रन्थोंके स्रष्टा आचार्य विद्यानन्दके ग्रन्थोंका तलस्पर्शी अध्ययन, सम्पादन और प्रसारका कार्य न्यायाचार्य डॉ. पण्डित कोठियाने किया।

६. न्यायदीपिकाके बाद सन् १९४९ में जब डॉ. कोठिया द्वारा वैज्ञानिक रीतिसे सम्पादित आप्तपरीक्षा हिन्दी अनुवादके साथ प्रकाशित हुई तो विद्वज्जगत् और सामान्य अध्येता-जिज्ञासुओंने उसे एक सुखद आश्चर्य और महनीय उपलब्धिके रूपमें समाहित किया। आचार्य विद्यानन्दके अत्यन्त क्लिष्ट दार्शनिक ग्रन्थोंका जैसा अनुगम, पंक्तिसाक्षित्य और आनुपूर्वी अध्ययन डॉक्टर कोठियाको है, वह अनन्य और असाधारण है। वे सम्पूर्ण दार्शनिक जगत्में आचार्य विद्यानन्दके एकमात्र वर्तमान सारस्वत-चक्रवर्ती हैं। इस कथनमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है। इस सन्दर्भमें अनायास ही दो प्रसंग स्मरण हो आते हैं—

(१) सन् १९७४ की बात है। मैं अपनी एक शोधयात्रापर अहमदाबाद गया था। डा. पण्डित दलसुख भाई मालवणियाके साथ भारतीय विद्याओंके असाधारण विद्वान् श्रद्धेय पण्डित सुखलाल संघवीके दर्शन करने गया। पण्डितजीने दलसुख भाईकी पदचाप सुनते ही कहा—'दलसुख भाई हैं क्या?' पण्डितजी वृद्धावस्था और अस्वस्थताके कारण विस्तरपर लेटे हुए थे। मालवणियाजीने उत्तरमें कहा—'पण्डितजी, बनारससे डॉ. गोकुलचन्द्रजी आये हैं।' मैंने पण्डितजीके चरण छुए और उन्होंने कहा—'बैठो'। फिर काशीके एक-एक जैन विद्वान्का नाम ले-लेकर उनकी कुशल-क्षेम पूछी। फिर बोले—'यहाँ कैसे आये।' अपनी बात कहते-कहते मैंने कहा—'पण्डितजी, हिन्दू विश्वविद्यालयमें आ गया हूँ। पढ़ने-लिखनेका पर्याप्त समय मिलेगा। आप बताइए क्या पढ़ूँ।' इतना सुनते ही पण्डितजी उठकर बैठ गये और बोले—'तुम पढ़ना चाहते हो, बताओ पूरे दिगम्बर-श्वेताम्बर विद्वानोंमें कोई है, जिसे अष्टसहस्री और श्लोकवार्तिक लगते हों।' बिना रुके ही वे बोले "अकेले दरबारीलाल कोठियाको लगते हैं। तुम पढ़ना चाहते हो तो उनसे इन ग्रन्थोंको पढ़ो। दर्शनमें तुम्हारी गति है। हमने तुम्हारी सत्यशासन-परीक्षाकी प्रस्तावनाको सुना है।"

(२) सन् १९६० में डॉक्टर कोठिया हिन्दू विश्वविद्यालयकी जैन चेयरपर आये। तब वे रवीन्द्रपुरीमें रहते थे। काशीके जैन विद्वानोंके साथ उनका बराबर उठना बैठना चलने लगा। एक बार सबने मिलकर निश्चय किया कि डॉ. कोठिया विद्यानन्दकी अष्टसहस्रीका आद्यन्त वाचन-विवेचन करें। इस विद्यागोष्ठी और वाचनामें कई विद्वान् शामिल हुए।

इन प्रसंगोंसे डॉक्टर कोठियाके जैनदर्शनशास्त्रके पाण्डित्य और उसके प्रति बहुश्रुत विद्वानोंकी निष्ठाका पता चलता है।

(३) आप्तपरीक्षाकी प्रस्तावनामें डॉ. कोठियाने भारतीय दार्शनिकोंके अनेक साक्ष्य उपस्थित करके जो समय-निर्धारण किया है, वह सर्वमान्य हुआ।

७. विद्यानन्दकी प्रमाण-परीक्षाका आप्तपरीक्षाकी ही तरह एक सुसम्पादित संस्करण तैयार करनेका प्रस्ताव पं. दलसुखभाई मालवणियाने दस-बारह वर्ष पूर्व किया था। प्रस्ताव तो डॉक्टर कोठियाने मान लिया, पर उन दिनों वे वर्णी ग्रन्थमाला, वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट, अखिल भारतवर्षीय दि. जैन विद्वत्परिषद् आदिके उत्तरदायित्वपूर्ण सम्पादन-प्रकाशन आदिमें इतने जुट गये कि प्रमाण-परीक्षाका प्रस्ताव स्थगित रह गया। दीर्घकालीन प्रतीक्षाके अनन्तर अभी पिछली वर्ष प्रमाणपरीक्षाका संस्करण प्रकाशित हुआ तो विद्वज्जगत्ने उसका हार्दिक स्वागत किया। उत्तर प्रदेश शासनने उनकी इस कृतिपर उन्हें एक सहस्र रुपयोंका पुरस्कार और प्रशस्ति-पत्र देकर सम्मानित किया। आप्तपरीक्षा और प्रमाणपरीक्षाकी विस्तृत प्रस्तावनाओंमें उन्होंने जो गवेषणापूर्ण चिन्तन और दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया है, उसे प्रस्तुत ग्रन्थमें समाहित किया गया है। अभी हमें विश्वास है कि अष्टसहस्रीका भी एक प्रामाणिक संस्करण वे शीघ्र ही विद्वज्जगत्को भेंट करेंगे।

८. भट्टाकलंकके वचन-समुद्रका मन्थन करके माणिक्यनन्दिने न्यायविद्यामृतको परीक्षामुखके रूपमें प्रदत्त किया—

> अकलङ्कवचोम्भोधेरुद्दध्रे येन धीमता।
> न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने॥

परीक्षामुखपर आचार्य प्रभाचन्द्रने अपना विस्तृत भाष्य प्रमेयकमलमार्तण्ड और अनन्तवीर्यने प्रमेयरत्नमाला नामक टीका लिखी, जिनका पिछले कालमें अध्ययन-अध्यापन और प्रसार पर्याप्त मात्रामें हुआ, किन्तु माणिक्यनन्दिका समय-निर्धारण तथा 'परीक्षामुखके सूत्रोंका उद्गम' विषयपर डॉ. कोठियाने सर्वप्रथम विस्तारके साथ गवेषणापूर्ण विचार किया। प्राचीन और अर्वाचीन सभी ग्रन्थ-सम्पादकों और अध्येताओंको यह सामग्री सम्पूर्ण रूपमें उत्प्रेरक और मार्गदर्शक सिद्ध हुई।

९. डॉ. कोठियाने जैनन्याय या प्रमाणशास्त्रका तीसरा चरण प्रभाचन्द्रकाल माना है। इस दृष्टिसे अभिनव धर्मभूषणकृत न्यायदीपिका तथा नरेन्द्रसेनकी प्रमाणप्रमेयकलिकाको इस युगकी अन्तिम कड़ी कहा जा सकता है। ये दोनों ग्रन्थ जैन प्रमाणशास्त्रके प्रवेशद्वार हैं। डॉक्टर कोठियाने इनका वैज्ञानिक दृष्टिसे सम्पादन करके जैन प्रमाणशास्त्रके जिज्ञासुओंका मार्ग प्रशस्त कर दिया है। अन्नंभट्टने 'बालानां सुखबोधाय क्रियते तर्कसंग्रहः।' कहकर और तर्कसंग्रह रचकर जिस प्रकार न्यायशास्त्रमें प्रवेशका द्वार खोल दिया उसी प्रकार डॉक्टर कोठियाने इन ग्रन्थोंके सुसम्पादित संस्करण तैयार करके जैन-न्यायके जिज्ञासुओंका पथ प्रशस्त किया। इन दोनों ग्रन्थोंकी विस्तृत हो

विशद प्रस्तावनाओंमें डॉ. कोठियाने जैन प्रमाणशास्त्रके प्रायः सभी विषयों-का विवेचन कर दिया है, जिसे प्रस्तुत ग्रन्थमें समाहित किया गया है।

१०. प्रस्तुत ग्रन्थ—'जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन' में डॉ. कोठियाकी उपर्युक्त सामग्री सुव्यवस्थित रूपमें समुपलब्ध है। इस ग्रन्थकी एक अद्भुत विशेषता यह है कि इसमें लेखकके भाव, भाषा और प्रतिपादनशैली मूलरूपमें सुरक्षित है। एक बड़ी विशेषता यह भी है कि इस सम्पूर्ण सामग्रीका लेखक-ने स्वयं ही पुनरावलोकन, संशोधन, संवर्धन और प्रकाशनपर्यन्त आद्योपान्त निरीक्षण किया। ऐसा सौभाग्य बहुत बड़े सुयोगसे ही सम्भव होता है। इससे एक बड़ा लाभ यह होगा कि डॉ. कोठियाके कृतित्वका एक स्पष्ट चित्र पाठक स्वयं निर्मित कर सकेंगे।

११. इस ग्रन्थमें जितनी सामग्री समाहित हो सकी है, उससे लगभग दो गुनी सामग्री अभी और है, जिसका संयोजन और प्रकाशन हमारी परिकल्पना-योजनामें है।

१२. प्रस्तुत ग्रन्थ जैन विद्याकी विभिन्न शाखा-प्रशाखाओंके अध्ययन-अनुसन्धानके प्रति देश-विदेशमें बढ़ रही अभिरुचिके अनुरूप एक ऐसे सन्दर्भ-ग्रन्थका कार्य करेगा, जिसमें-से अनेक शोध-उपाधियोंके लिए विषय-चयन, सन्दर्भ-सामग्रीके आकलन और उसके तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक विवेचनकी विशिष्ट दृष्टि और प्रचुर मात्रामें अनुसन्धानपूर्ण सामग्री एक साथ उपलब्ध हो सकेगी।

डॉ. कोठियाकी इस नवीनतम कृतिके सन्दर्भमें इतना कहनेके बाद उनके व्यक्तित्वके विषयमें संक्षेपमें इंगित करनेका मोह संवरण करना हमारे लिए सम्भव नहीं है।

मध्यप्रदेशके पावन तीर्थ *'नयनागिरि'* की पुण्यभूमिमें जनमे बालककी काशीके गंगातट तककी यात्रा उनके भौतिक और आध्यात्मिक विकासकी दोहरी यात्रा है। विन्ध्याकी बीहड़ धरतीके खेतोंमें 'तिली' बोननेवाला बालक बौद्धिक विकासके उन्नत सुमेरुकी सर्वोच्च शिखर तक पहुँच सकता है—इसका जीवन्त प्रतीक हैं न्यायाचार्य डॉ. पण्डित दरबारीलाल कोठिया। उदीयमान अभावग्रस्त प्रतिभाओंके लिए उनसे बड़ा प्रेरणा-दीप कौन हो सकता है? 'नैनागिरिसे गंगातट' शीर्षकसे उनके जीवनके कतिपय प्रेरक कथा-प्रसंगोंको मैंने आकलित किया है, जिसकी पाण्डुलिपि उनके ६९वें वर्ष-प्रवेशपर काशीमें तीर्थंकर पार्श्वकी जन्मभूमिपर आयोजित समारोहमें उन्हें समर्पित की थी। आशा है यह शीघ्र प्रकाशमें आयेगी। उसके आमुखके कुछ अंश इस प्रकार हैं—

० "काशीसे नैनागिरकी यात्रा मुश्किलसे चौबीस घण्टेकी है। १० बजे सवेरे काशी एक्सप्रेस पकड़ी। रात १० बजे कटनी पहुँचे और थोड़ी देरमें बिलासपुर-भोपाल एक्सप्रेसमें जा बैठे। भोर होते-होते सागर और फिर छतरपुर बसमें बैठे तो बन्डा या दलपतपुर होते हुए दो घण्टेमें नैनागिर।"

"नैनागिर इतना पास है तो बाबाजीको नैनागिरसे काशी पहुँचनेमें पचास [illegible]से लग गये।" मेरा बेटा पूछ रहा और मैं कह रहा हूँ—

"बेटा, वे सीधे नहीं आये। तीर्थयात्रा करते हुए आये हैं। उन्होंने कई तीर्थों-[illegible]क साथ जोड़ दिया है। अब तो वे स्वयं तीर्थ बन गये हैं।"

०० नैनागिरसे गंगातट तककी उनकी यात्रा दोहरी यात्रा है। एक यात्रा वह जो [illegible]-बाहर चलती है। और दूसरी यात्रा है—अन्तर्यात्रा, आध्यात्मिक यात्रा, जो [illegible]रंग जीवनमें चलती है। मुझे लगा कि उनकी यह यात्रा-कथा अनेक असहाय, [illegible]नहीन बच्चोंको प्रेरणा दे सकती है, आगे बढ़नेका सम्बल जुटा सकती है। [illegible]दाओंमें घिरे लोगोंको सहारा दे सकती है, राह दिखा सकती है। अनेक लोगोंमें [illegible]त्मिक विकासकी सूर्यकिरण अधिगमज सम्यग्दर्शन उपजा सकती है।

०० "एक विचित्र सपना देखा है।"—मैंने कहा।

"तुम स्वप्न देखते हो?"

"जी, मैं स्वप्न नहीं देखता।

जब कभी जो देखता हूँ, वह होकर रहता है।

पूर्वाभास होता है स्वप्न।"

"अद्भुत सपना देखा है आज।"

"बताने लायक हो तो बताओ।"

"बताऊँगा। जरूर बताऊँगा। आपको नहीं बताऊँगा तो किसको बताऊँगा।"

"अच्छा बताओ।"

"और मैं उन्हें बताने लगा—

मैंने देखा जिस सिद्धगिरिपर वरदत्त महर्षिको केवलज्ञान हुआ था। आप उसी शिखरपर निर्ग्रन्थ ध्यान लगाये बैठे हैं।"

"और"

"और मैं देश-विदेशसे आये रिसर्चस्कालरोंको आपको दिखा-दिखाकर कह रहा हूँ—

'देखो, देख सकते हो तो देखो, देखनेकी कोशिश करो। इसे कहते हैं [illegible]।'"

"[illegible] इस [illegible] सर," एक [illegible] महिला रिसर्चस्कालरने मुझे टोक दिया है और मैं फिर कह रहा हूँ—

"[illegible] आध्यात्मिक विकासकी विशिष्ट प्रक्रिया है। इस स्टेजपर पहुँचकर [illegible] अपना आध्यात्मिक विकास करता है। जैन दृष्टिसे आठवें [illegible] होती है। फिर योगी [illegible] अपने घातिया [illegible] जाता है, [illegible] जाता है। और [illegible] उसके कर्मबन्धन [illegible] जाते हैं। घातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं। वह केवली हो जाता है। उसके [illegible] सभी पदार्थ दर्पणकी तरह प्रतिबिम्बित

होने लगते हैं। वह 'जिन' हो जाता है, 'अर्हत्' हो जाता है। इट इज सर्वज्ञता, ओमनीसाइन्स।"

"डू यू फालो मिस......"

मैंने उसो फ्रेंच रिसर्चस्कालरकी ओर देखते हुए कहा था।

"यस सर, आइ फालो,

"मे आइ टेक सम स्नेप सर"

उसने पूछा,

और मैंने अनुमति दे दी।

"श्योर, व्हाइ नाट"। और उसने खट-खट कुछ चित्र खींच लिये।"

वे थोड़ा मुसकराये। बोले—"बड़ा अद्‌भुत स्वप्न देखा है तुमने। मैं रातभर बैठा अपने जीवन और वरदत्त महामुनिके ध्यान, केवलज्ञान, निर्वाण आदिके विषयमें ही सोचता रहा। हो सकता है, वही मनोवर्गणाएँ तुम्हारे सपनेमें आकलित होती रही हों।

बड़ा क्षयोपशम है तुम्हारा।"

फिर एक क्षण रुककर उन्होंने कहा—

"तुम्हारा स्वप्न सच हो जाये।"

अपने जीवन-कालमें डॉ. कोठियाने लेखन, सम्पादन, अध्यापन, जिनवाणीका प्रचार, समाजसेवा, देश-विदेशके अनुसन्धित्सुओंको मार्गदर्शन, अभावग्रस्तोंको अपनी सीमित आयमेंसे भी निरन्तर आर्थिक सहयोग और सामाजिक सम्बन्धोंके निर्माणका जो कीर्तिमान निर्मित किया है और उसके प्रतिफल जो अनेक अलंकरण, न्यायालंकार, न्यायरत्नाकर, न्यायवाचस्पति आदि मानद उपाधियाँ और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की है, वह किसीके लिए भी स्पृहणीय हो सकती है। महासागरकी तरह गम्भीर डॉ. कोठिया आह्लाद और उद्वेगके अवसरोंपर महासागरकी ही तरह कभी उद्वेलित भी हुए, पर सब अपनेमें ही समाते गये। मैं उन्हें हिन्दीके महान् कवि वेचन शर्मा उग्रकी एक पंक्ति ऐसे अवसरोंपर प्रायः सुनाया करता था—"हम विषपायी जनमके सहे कुबोल अबोल।"

डॉ. कोठिया और उनकी विदुषी पत्नी श्रीमती चमेली देवीकी तीन सन्तानों-मेंसे एक भी दीर्घजीवी नहीं हुई तो इस सुपर्णयुगलका पितृत्व-मातृत्व अनेक बालक-बालिकाओं—विद्यार्थियोंमें सहस्रगुणित होकर विराट् बन गया। यही कारण है कि वे अपनी सीमित आयमें-से भी पचास हजारसे अधिककी राशिको प्रसन्नतापूर्वक निकाल विकीर्ण करते रहे।

आँकड़ोंकी भाषामें डॉक्टर कोठियाके व्यक्तित्व और कृतित्वको निम्नलिखित रूपमें आकलित किया जा सकता है—

डॉ. दरबारीलाल कोठिया और उनका अवदान

जन्म : आषाढ़ कृष्णा द्वितीया, वि. सं. १९६८,
१९११, नैनागिर, जिला छतरपुर (म. प्र.)

शिक्षा : न्यायाचार्य, शास्त्राचार्य, एम. ए., पी-एच. डी.,
महावीर जैन विद्यालय, साढ़ूमल (ललितपुर), उ. प्र.,
स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी।
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

परिवार : पण्डितजी तथा उनकी विदुषी पत्नी श्रीमती चमेली देवी।

आवास : १।१२८ चमेली कुटीर, डुमरांव बाग, अस्सी, वाराणसी २२१०

सेवाएँ

१९३७-४० वीर विद्यालय, पपौरा (टीकमगढ़)
१९४०-४२ ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम, मथुरा (उ. प्र.)
१९४२-५० वीर सेवा मन्दिर, सरसावा (उ. प्र.)
१९५०-५७ समन्तभद्र संस्कृत महाविद्यालय, दिल्ली।
१९५७-६० दि. जैन कालेज, बड़ौत, मेरठ (उ. प्र.)
१९६०-७४ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
जैन-बौद्ध दर्शनके रीडर पदसे सेवा-निवृत्त।

कृतियाँ

१९४४ अध्यात्मकमलमार्तण्ड, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा।
१९४५ न्यायदीपिका, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा—दिल्ली।
१९४९ आप्तपरीक्षा, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा—दिल्ली।
१९४९ श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र " " "
१९४९ शासनचतुस्त्रिंशिका " " "
१९५० स्याद्वादसिद्धि, माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला।
१९५० प्राकृतपद्यानुक्रमणी, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा—दिल्ली।
१९६१ प्रमाणप्रमेयकलिका, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
१९६४ समाधिमरणोत्साहदीपक, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी।
१९६६ *द्रव्यसंग्रह, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी।*
१९६९ जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी।
१९७७ प्रमाणपरीक्षा, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी।
१९८० जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी।

मानद सेवाएँ

१. स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी। उपाधिष्ठा
२. श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी। म
३. श्री गणेश वर्णी संस्थान, वाराणसी। म
४. वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी। म

५. श्री अखिल भारतवर्षीय दि. जैन विद्वत् परिषद्	अध्यक्ष
६. दि. जैन अयोध्या तीर्थक्षेत्र कमेटी, अयोध्या	उपाध्यक्ष
७. बिहार प्रादेशिक दि. जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी	सदस्य
८. प्राकृत जैन शोध संस्थान, वैशाली	सदस्य
९. जैन सन्देश, मथुरा	सह-सम्पादक
१०. अनेकान्त ।	सह-सम्पादक
११. जैन प्रचारक	सम्पादक

मानद उपाधियाँ एवं सम्मान

'न्यायालंकार' की मानद उपाधि	
स्वर्णपदक एवं प्रशस्तिपत्र	
वीर निर्वाण भारती द्वारा । नई दिल्ली	१९७४
स्वर्णपदक एवं प्रशस्तिपत्र	
आल इण्डिया दिगम्बर भगवान् महावीर	
२५००वाँ निर्वाण-महोत्सव महासमिति, दिल्ली	१९७४
'न्यायरत्नाकर' की मानद उपाधि	
मूडबिद्री, दक्षिण कनारा, कर्नाटक	१९७५
'न्यायवाचस्पति' की मानद उपाधि	
द्रोणगिरि (मध्य प्रदेश)	१९७७
उत्तर प्रदेश शासन द्वारा 'प्रमाणपरीक्षा' ग्रन्थपर	
एक सहस्र रुपयेका पुरस्कार एवं प्रशस्ति-पत्र	१९७९

सम्मान

दि. जैन समाज, हटा (टीकमगढ़)	१९३८
दि. जैन समाज, पुवारा (टीकमगढ़)	१९३८
दि. जैन नया मन्दिर शास्त्रसभा, धर्मपुरा, दिल्ली	१९४५
जैन सभा दरियागंज, दिल्ली	१९५१
दि. जैन समाज, मदनगंज किशनगढ़ (राजस्थान)	१९७५
दि. जैन समाज, कानपुर	१९७६

जिनवाणीका प्रसार

वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट, श्रीगणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला तथा श्री अखिल भारतवर्षीय दि. जैन विद्वत् परिषद्के माध्यमसे पचाससे अधिक ग्रन्थोंका सम्पादन, प्रकाशन तथा हजारों परिवारोंमें प्रेषण ।

आर्थिक योगदान

विद्यार्थियों, विद्वानों, अभावग्रस्त व्यक्तियों तथा संस्थाओंको अपनी सीमित आयमें-से भी लगभग पचास हजारका दान ।

प्रस्तुत ग्रन्थकी सामग्रीके संयोजन, सम्पादन, मुद्रण और प्रकाशनमें जिनका सहयोग प्राप्त हुआ, उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करना अपना पुनीत कर्तव्य मानता हूँ। सर्वप्रथम श्रद्धेय डॉ दरबारीलालजी कोठियाके प्रति श्रद्धासे विनत हूँ कि उन्होंने अपनी शोध-सामग्रीके पुस्तकरूपमें संयोजन-सम्पादनका मुझे अवसर दिया। मेरे अनेक आत्मीय मित्रों—शोध-छात्रों, जो अब सभी 'डॉक्टर' हो चुके हैं उनमें डॉ [illegible] जैन, डॉ नरेन्द्रकुमार जैन, डॉ. सनतकुमार जैन, श्री सन्तशरण शर्मा और श्री [illegible] शर्माके अनन्य सहयोगके लिए उनका आभारी हूँ और उनके अभ्युदयकी हार्दिक कामना करता हूँ। वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्टके माननीय ट्रस्टीगण साहित्य-प्रकाशनमें पूर्ण रुचि लेते हैं, इससे ट्रस्टके संस्थापक स्वर्गीय आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तारकी आत्माको हार्दिक सन्तोषका अनुभव होगा। इस ग्रन्थको ट्रस्टकी ओरसे प्रकाशित कर ट्रस्टीजनोंने विद्वज्जगत्का बड़ा उपकार किया है। मैं उनके प्रति हृदयसे कृतज्ञ हूँ।

[illegible] शेष रहता है। क्षायोपशमिक ज्ञानकी अपनी परिसीमाएँ हैं। इस कारण इसमें अनेक कमियाँ हो सकती हैं। उनके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।

"को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे।"

—गोकुलचन्द्र जैन
अध्यक्ष, प्राकृत एवं जैनागम विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी।

[illegible]
[illegible]

आत्म-निवेदन

इस बीसवीं शताब्दीमें जैन विद्याके विभिन्न क्षेत्रोंमें अनेक लेखकों और चिन्तकों द्वारा प्रशस्त और पर्याप्त कार्य हुआ है। पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी (मुनि गणेशकीर्ति महाराज) और परम श्रद्धेय पं. गोपालदासजी वरैयाने जहाँ जैन शास्त्रोंके अध्ययन-अध्यापनकी परम्परा स्थापित की तथा अनेक शिक्षा-संस्थाओंको जन्म देकर जैन विद्याके मर्मज्ञ सैकड़ों विद्वानोंको तैयार किया वहाँ आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तार, आचार्य पं. नाथूरामजी प्रेमी और आ. पं. सुखलालजी संघवीने विगत सहस्राब्दियोंमें जैन वाङ्मयके कोषागारको समृद्ध करनेवाले आचार्यों—ग्रन्थकारों और उनकी कृतियोंको प्रकाशमें लानेका मार्ग प्रशस्त किया तथा जैन साहित्य एवं इतिहासके विशेषज्ञोंकी परम्पराको जन्म दिया। फलतः विद्वद्वर्य पं. वंशीधरजी न्यायालंकार, पं. माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य, पं. देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री, पं. मक्खनलालजी विद्यावारिधि जैसे जैन शास्त्रज्ञ और डॉ. हीरालालजी, डॉ. ए. एन. उपाध्ये, पं. भुजबलि शास्त्री जैसे जैन साहित्य-इतिहास विशारद एवं सम्पादन-कलाकुशल मनीषी पैदा हुए। इन सारस्वतोंने जैन विद्याकी जो सेवा-उपासना की है वह सदा स्मरणीय एवं उल्लेखनीय रहेगी। इन्होंने जैन विद्याके सम्पादन-प्रकाशनका जो मानदण्ड स्थापित किया वह आज भी विद्यमान है। इसी परम्परामें स्व. डॉ. पण्डित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, पं. चैनसुख दास न्यायतीर्थ, पं. दलसुख मालवणिया, पं. फूलचन्द्र शास्त्री, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, पं. वंशीधर व्याकरणाचार्य, पं. बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, पं. हीरालाल शास्त्री, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, स्व. पं. परमानन्द शास्त्री आदिका योगदान भी उल्लेखनीय है।

अब हमारे देखते-देखते ऐसा लग रहा है कि ये दोनों धाराएँ प्रवाहहीन हो रही हैं। न तो वह जैन शास्त्रोंके अध्ययन-अध्यापनकी परम्परा दिखाई देती है और न जैन साहित्य-इतिहासके अनुसन्धानके प्रति रुचि दृष्टिगोचर होती है। प्राचीन शिक्षण-संस्थाएँ एक-एक कर या तो बन्द हो रही हैं या आकर्षणहीन हो गयी हैं। जैन साहित्य और इतिहासके अनुसन्धानका गम्भीर एवं तलस्पर्शी अध्ययन भी नहींके बराबर होता जा रहा है। हाँ, एक प्रकाशकी किरण उन विश्व विद्यालयोंसे जरूर

वीर-सेवा-मन्दिर छोड़ देनेपर भी वे मुझे और मैं उन्हें अन्तःकरणसे छोड़ न सके थे। परिणामस्वरूप ९ जुलाई १९६० में अपने वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्लीमें आयोजित वीर शासनजयन्तीके विशिष्ट समारोहपर मुझे उन्होंने अपना धर्मपुत्र बनाया और साहित्यिक सेवाका उत्तराधिकारी बनाया। तबसे मैं वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्टका मानद मन्त्रीके रूपमें दायित्व वहन कर रहा हूँ। ऐसे निःस्वार्थसेवी और साहित्य-साधनाके लिए सम्पूर्ण समर्पित श्रद्धेय मुख्तार साहबके प्रति मेरी परोक्ष श्रद्धाञ्जलि है।

स्वर्गीय डॉ. हीरालालजी 'निर्युक्तिकार भद्रबाहु स्वामी और समन्तभद्र स्वामी एक हैं', 'रत्नकरण्डश्रावकाचार आप्तमीमांसाकारकी कृति नहीं है' और डॉक्टर महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' जैसे विमर्श एवं अनुसन्धान योग्य लेख न लिखते, तो 'क्या निर्युक्तिकार भद्रबाहु स्वामी और समन्तभद्र स्वामी एक हैं?', 'क्या रत्नकरण्डश्रावकाचार स्वामी समन्तभद्रकी कृति नहीं है?' तथा 'तत्त्वार्थ-सूत्रका मङ्गलाचरण' जैसे अनुसन्धानपूर्ण विस्तृत एवं निर्णयात्मक शोध-निबन्ध न लिखे जाते। अतः इन दोनों विद्वानोंके लिए भी हमारे श्रद्धा-सुमन समर्पित हैं।

अनेक विद्वान् मित्रों एवं शिष्योंका सुझाव था कि मेरे स्थायी महत्त्वके शोध-निबन्ध आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तारके 'जैन साहित्यके इतिहासपर विशद प्रकाश' एवं 'निबन्धावली' की तरह पुस्तक रूपमें प्रकाशित हो जायं तो जैन प्रमाण-शास्त्रपर शोध करनेवाले अनेक अनुसन्धाताओंको उनसे लाभ पहुँचेगा। इस दिशामें डॉक्टर प्रेमचन्द्र जैनने प्रारम्भिक प्रयत्न भी किया।

सन् १९७३ में डॉक्टर गोकुलचन्द्रजीके काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें आ जाने-पर उन्होंने इस कार्यको अपने हाथमें लिया और महत्त्वपूर्ण शोध-सामग्रीको दो भागोंमें संयोजित-सम्पादित करके प्रकाशित करनेकी योजना बनायी। उनके सक्रिय प्रयत्न एवं सहयोगसे ही प्रस्तुत सामग्रीको 'जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन' के रूपमें एक नये ग्रन्थका स्वरूप प्राप्त हुआ है। डॉक्टर गोकुलचन्द्रजी उन साहित्यिक युवाप्रतिभाओंमें हैं, जिनके मनमें जैन विद्याकी उपासनाके लिए अपूर्व संकल्प-शक्ति है। हमें आशा है कि इस पीढ़ीके ये प्रतिभाशाली मनीषी जैनवाङ्मयकी निश्चय ही असाधारण सेवा करेंगे। अब जुलाई १९७९ से डॉक्टर गोकुलचन्द्रजीके सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसीमें पहुँच जानेसे वहाँ श्रमण-विद्या संकायके अन्तर्गत प्राकृत एवं जैनागम विभाग प्रारम्भ हुआ है, जिसमें वे रीडर एवं अध्यक्ष हैं। शोध-कार्यमें उनकी प्रशस्त अभिरुचि और विशिष्ट दृष्टि है। उनके मार्गदर्शनमें अनेक अनुसन्धाता जैनसाहित्यकी विभिन्न विधाओंपर अनुसन्धानकार्य कर चुके हैं और कर रहे हैं। यह बहुत ही शुभ चिह्न है। मेरा उन्हें हृदयसे मङ्गल आशीर्वाद है।

प्रिय पं. शीतलचन्द्रजी जैनदर्शनाचार्य, अध्यक्ष जैनदर्शन-विभाग, स्याद्वाद महाविद्यालयका भी इस कार्यमें योग रहा है। उन्होंने ग्रन्थके परिशिष्ट तैयार कर सहायता पहुँचायी है, इसके लिए उन्हें भी मेरा आशीर्वाद है।

मेरी धर्मपत्नी सौ. चमेलीबाई कोठियाने अनेक अवसरोंपर मेरे स्वास्थ्यकी रक्षा की है। पिछले दो वर्षोंमें दो बार विशेष रूपसे अस्वस्थ हो जानेपर भी

उसने बड़े धैर्यसे मेरे मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्यका परिरक्षण किया। इसमें उसे और मुझे गुरुजनोंका आशीर्वाद तथा बा. मोतीलालजी, डॉक्टर गोकुलचन्द्रजी, अपने पड़ोसी श्री बी. के. दत्ता जैसे मित्रोंका सहयोग एवं सद्भावनाएँ मिली हैं। मैं इन सभीका हृदयसे कृतज्ञ हूँ।

द्वितीय ज्येष्ठ शुक्ला ५, श्रुत-पञ्चमी
वीर निर्वाण सं. २५०६,
१७ जून, १९८०

—दरबारीलाल कोठिया

विषयानुक्रम

जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन

जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र
ऐतिहासिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि

तीर्थंकर परम्परा :

जैन धर्म भारतीय धर्म होते हुए भी वैदिक और बौद्ध, दोनों भारतीय धर्मोंसे भिन्न धर्म है। यह बात इतिहास, पुरातत्त्व और साहित्यके साक्ष्योंसे प्रमाणित हो चुकी है। इसके प्रवर्तक वैदिक धर्मके २४ अवतारों और बौद्ध धर्मके २४ बुद्धोंसे भिन्न २४ तीर्थंकर हैं। इनमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हैं, जिन्हें आदिब्रह्मा, आदिनाथ, बृहद्देव, पुरुदेव और वृषभ नामोंसे भी उल्लेखित किया गया है।

युगारम्भमें जैन परम्पराके अनुसार भोगभूमिकी समाप्ति होनेपर ऋषभदेवने प्रजाको आजीविका हेतु कृषि (खेती करने), मषि (लिखने-पढ़ने), असि (रक्षा करने) आदि कार्योंकी शिक्षा दी थी, इससे इन्हें प्रजापति भी कहा गया है[1]। महापुराण[2] व पद्मचरित[3] आदिके उल्लेखानुसार इनके गर्भमें आनेपर हिरण्य (सुवर्ण) की वर्षा होनेके कारण इनका नाम हिरण्यगर्भ[4] हुआ। प्रजापति, हिरण्यगर्भ और ऋषभ इन नामोंसे इनकी ऋग्वेद, अथर्ववेद[5], श्रीमद्भागवत[6] आदि वैदिक वाङ्मयमें भी संस्तुति की गयी है। भागवतमें ऋषभावतारके रूपमें पूरा जीवन-चरित देते हुए इन्हें अर्हत्-धर्मका प्रवर्तक भी कहा है।

ऋषभदेवके बाद विभिन्न युगोंमें क्रमशः अजितसे लेकर नमि पर्यन्त बीस अन्य तीर्थंकर हुए। जैन वाङ्मयमें इनका सविशेष वर्णन है। ये महाभारत कालसे प्राक्कालीन हैं। इनके पश्चात् महाभारतकालमें श्रीकृष्णके समयमें बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि हुए, जो श्रीकृष्णके चाचा समुद्रविजयके पुत्र थे। वैदिक साहित्यमें अरिष्टनेमिके भी उल्लेख मिलते हैं।

अरिष्टनेमिसे लगभग एक हजार वर्ष बाद तेईसवें तीर्थंकर पार्श्व हुए। ये काशी (वाराणसी) के राजा अश्वसेनके पुत्र थे। पार्श्वकी ऐतिहासिकताके पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध हैं।

पार्श्वके अढ़ाई-सौ वर्ष बाद ईसा पूर्व छठी शतीमें चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान महावीर हुए। वर्धमान तथा बौद्धधर्मके संस्थापक गौतम बुद्ध समकालीन थे।

---

१. आचार्य समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तोत्र श्लोक २।
२. जिनसेन, महापुराण १२-९५।
३. विमलसूरि, पउमचरिय ३-६८।
४. वही, २, ११, १५।
५. अथर्ववेद १५, १, १-७।
६. भा. पु., स्क. ५, अ. ३।
७. आचार्य कुन्दकुन्द, चउवीस तित्थयर-भत्ति, गा. ३, ४, ५।

द्वादशांग श्रुत :

इन तीर्थंकरोंने जनकल्याणके लिए जो धर्मोपदेश दिये, उन्हें उनके प्रधान शिष्य—गणधरोंने बारह अंगोंमें निबद्ध किया। इसे 'द्वादशांग श्रुत' कहा गया है। आर्ष, आगम, सिद्धान्त, प्रवचन आदि नामोंसे भी उसका उल्लेख किया गया है। यह श्रुत मूलतः दो भागोंमें विभक्त है—१. अंगप्रविष्ट और २. अंगबाह्य। अंगप्रविष्ट वह श्रुत है जो तीर्थंकरको साक्षात् वाणी सुनकर गणधर द्वारा रचा जाता है। इसे वे विषयक्रमसे बारह भागोंमें निबद्ध करते हैं। वे अंग इस प्रकार हैं—१. आचारांग, २. सूत्रकृतांग, ३. स्थानांग, ४ समवायांग, ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति, ६. ज्ञातृधर्मकथा, ७. उपासकाध्ययन, ८. अन्तःकृद्दशा, ९. अनुत्तरोपपादिकदशा, १०. प्रश्नव्याकरण, ११. विपाकसूत्र और १२. दृष्टिवाद।

दृष्टिवादके पांच भेद हैं—१ परिकर्म, २ सूत्र, ३. प्रथमानुयोग, ४. पूर्वगत और ५. चूलिका। इनके भी अवान्तर भेद किये गये हैं। परिकर्मके पांच, पूर्वगतके चौदह और चूलिकाके पांच भेद हैं। परिकर्मके ५ भेद हैं—१. चन्द्रप्रज्ञप्ति, २. सूर्यप्रज्ञप्ति, ३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ४. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति (यह पाँचवें अंग व्याख्याप्रज्ञप्तिसे भिन्न है)। पूर्वगतके चौदह भेद किये हैं— १. उत्पाद, २. आग्रायणीय, ३. वीर्यानुप्रवाद, ४. आस्तिनास्तिप्रवाद, ५. ज्ञानप्रवाद, ६. सत्यप्रवाद, ७. आत्मप्रवाद ८. कर्मप्रवाद, ९. प्रत्याख्यानप्रवाद, १०. विद्यानुवाद, ११. कल्याणनामधेय, १२. प्राणावाय, १३. क्रियाविशाल और १४. लोकबिन्दुसार। चूलिकाके पांच भेद इस प्रकार हैं— १. जलगता, २. स्थलगता, ३. मायागता, ४. रूपगता और ५. आकाशगता। इन सबमें उनके नामानुसार विषयोंका वर्णन है।

श्रुतका दूसरा भेद अंगबाह्य है। यह श्रुत अंगप्रविष्ट श्रुतके आधारसे आचार्यों द्वारा रचा जाता है, इसीसे इसे अंगबाह्य श्रुत कहा है। इसके चौदह भेद हैं—१. सामायिक, २. चतुर्विंशतिस्तव, ३. वन्दना, ४. प्रतिक्रमण, ५. वैनयिक, ६. कृतिकर्म, ७. दशवैकालिक, ८. उत्तराध्ययन, ९. कल्पव्यवहार, १०. कल्पाकल्प, ११. महाकल्प, १२ पुण्डरीक, १३. महापुण्डरीक और १४. निषिद्धका। इस श्रुतमें मुख्यतया साध्वाचार वर्णित है।

उत्तरकालमें अल्पमेधाके धारक आचार्य इसी द्विविध श्रुतका आश्रय लेकर विविध ग्रन्थोंकी रचना करते और उन्हें जन-जन तक पहुँचानेका प्रयत्न करते हैं।

उपलब्ध श्रुत :

ऋषभदेवका द्वादशांग श्रुत अजिततक, अजितका शम्भवतक और शम्भवका अभिनन्दनतक, इस तरह पूर्व तीर्थंकरका श्रुत उत्तरवर्ती अगले तीर्थंकर तक रहा। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वका द्वादशांग श्रुत तबतक रहा, जबतक महावीर तीर्थंकर नहीं हुए। आज जो द्वादशांग श्रुत उपलब्ध है वह तीर्थंकर महावीरसे सम्बद्ध है। अन्य सभी तीर्थंकरोंका द्वादशांग श्रुत नष्ट हो जानेसे अप्राप्त है। वर्द्धमान महावीरका द्वादशांग-श्रुत भी पूरा उपलब्ध नहीं है। प्रारम्भमें यह शिष्य-परम्परामें स्मृतिके आधारपर श्रुतपरम्परा द्वारा विद्यमान रहा। बादमें उसका संकलन किया गया। दिगम्बर परम्पराके अनुसार वर्तमानमें जो श्रुत प्राप्त है वह

दृष्टिवादका कुछ अंश है। शेष ग्यारह अंग और बारहवें अंगका बहुभाग नष्ट हो चुका है। बलभीमें संकलित ग्यारह अंगोंको दिगम्बर परम्परा मूल आगम नहीं मानती है। श्वेताम्बर परम्परामें ये ग्यारह अंग मान्य हैं। उनके अनुसार मात्र बारहवाँ दृष्टिवाद अंग ही अनुपलब्ध है।

धर्म, दर्शन और न्याय :

उक्त श्रुतमें धर्म, दर्शन और प्रमाणशास्त्र-न्याय तीनोंका समावेश रहता है। मुख्यतया आचारके प्रतिपादनका नाम धर्म है। इस धर्मका जिन विचारों द्वारा समर्थन एवं सम्पोषण किया जाता है उन विचारोंको दर्शन कहा जाता है। और जब धर्मके समर्थनके लिए प्रस्तुत विचारोंको युक्ति-प्रतियुक्ति, खण्डन-मण्डन, प्रश्न-उत्तर और शंका-समाधान पूर्वक दृढ़ किया जाता है तो उसे प्रमाणशास्त्र या न्याय कहते हैं। धर्म, दर्शन और प्रमाणशास्त्रमें मुख्य यही भेद है। धर्मशास्त्र कहता है कि सब जीवोंपर दया करो, किसी जीवकी हिंसा न करो अथवा सत्य बोलो, असत्य कभी मत बोलो। दर्शनशास्त्र धर्मशास्त्रके इस कथन (नियम) को जनहृदयों में उतारता हुआ कहता है कि जीवोंपर दया करना कर्तव्य है, गुण है, पुण्य है और इससे सुख मिलता है, किन्तु जीवको हिंसा अकर्तव्य है, दोष है, पाप है और दुःख मिलता है। इसी तरह सत्य बोलना कर्तव्य है, गुण है, पुण्य है और सुख मिलता है, किन्तु असत्य बोलना अकर्तव्य है, दोष है, पाप है और दुख मिलता है। प्रमाणशास्त्र दर्शनशास्त्रके इस समर्थनको युक्ति देकर दृढ़ करता है कि यतः दया जीवका स्वभाव है, अन्यथा कोई भी जीव जीवित नहीं रह सकता। परिवारमें, देशमें और राष्ट्रोंमें अनवरत हिंसा रहनेपर शान्ति और सुख कभी उपलब्ध नहीं हो सकते। इसी प्रकार सत्य बोलना मनुष्यका स्वभाव न हो तो परस्परमें अविश्वास छा जायेगा और लेन-देन आदि सारे सामाजिक व्यवहार या तो नष्ट हो जायेंगे और या समाप्त हो जायेंगे। तात्पर्य यह है कि धर्म जहाँ सदाचारका विधान और असदाचारका मात्र निषेध करता है वहाँ दर्शनशास्त्र उनमें कर्त्तव्याकर्त्तव्य, पुण्यापुण्य और सुख-दुखका विचार पैदा करता एवं मार्गदर्शन करता है तथा न्यायशास्त्र दर्शनशास्त्रके विचारको हेतुपूर्वक मस्तिष्कमें बिठा देता है। वस्तुतः न्यायशास्त्रसे विचारको जो दृढ़ता मिलती है वह चिरस्थायी, विवेकयुक्त और निर्णयात्मक होती है। उसमें सन्देह, विपर्यय या अनिश्चितताकी स्थिति नहीं रहती। इसी कारण भारतीय दर्शनोंमें न्यायशास्त्रका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

जैन प्रमाणशास्त्रका उद्गम :

हम ऊपर दृष्टिवाद अंगका उल्लेख कर आये हैं। इसमें जैन प्रमाणशास्त्रके उद्गम-बीज प्रचुर मात्रामें उपलब्ध हैं। आचार्य भूतबलि और पुष्पदन्तरचित षट्खण्डागममें,[1] जो उक्त दृष्टिवाद अंगका ही अंश है, 'सिया पज्जत्ता, सिया अपज्जत्ता', 'मणुस अपज्जत्ता दव्वपमाणेण केवडिया', 'असंखेज्जा'[2], जैसे स्यात् शब्द और प्रश्नोत्तर

---

१. षट्खं. १।१।७९, धव. पु., १, पृ. ३१९।

२. वही, १।२।५०, पु. ३, पृ. २६२।

पमें कहीं भी स्याद्वादका समर्थन नहीं है, प्रत्युत उसकी मीमांसा है। ऐसी तिमें स्याद्वादरूप जैन न्यायका उद्गम स्याद्वादात्मक दृष्टिवाद श्रुतसे ही मत है। सिद्धसेन,[1] अकलंक[2] और विद्यानन्दका[3] भी यही मत है। अकलंकदेवने[4] यविनिश्चयके आरम्भमें कहा है कि 'कुछ गुणद्वेषी साक्षियोंने कलिकालके भाव और अज्ञानताके कारण स्वच्छ न्यायको मलिन बना दिया है। उस मलिनता-सम्यग्ज्ञानरूपी जलसे किसी तरह दूर करनेका प्रयत्न करेंगे।' अकलंकके इस कथनसे त होता है कि जैन न्याय ब्राह्मण न्याय और बौद्ध न्यायसे पूर्व विद्यमान था र जिसे मलिन कर दिया गया था तथा उस मलिनताको अकलंकने दूर किया । अतः जैन न्यायका उद्गम उक्त न्यायोंसे नहीं हुआ, अपितु दृष्टिवाद श्रुतसे आ है। यह सम्भव है कि उक्त न्यायोंके साथ जैन न्याय भी फला-फूला हो। अर्थात् न न्यायके विकासमें ब्राह्मण न्याय और बौद्ध न्यायका विकास प्रेरक हुआ हो और नकी विविध क्रमिक शास्त्ररचना जैन न्यायकी क्रमिक शास्त्ररचनामें सहायक ई हो। समकालीनोंमें ऐसा आदान-प्रदान होना या प्रेरणा लेना स्वाभाविक है।

न न्याय विकास :

जैन न्यायके विकासको कालकी दृष्टिसे तीन कालोंमें बाँटा जा सकता है और न कालोंके नाम निम्नप्रकार रखे जा सकते हैं :—

१. आदिकाल अथवा समन्तभद्रकाल (ई. २०० से ई. ६५० तक)
२. मध्यकाल अथवा अकलंककाल (ई. ६५० से ई. १०५० तक)
३. उत्तरकाल अथवा प्रभाचन्द्रकाल (ई. १०५० से ई. १७०० तक)

१. आदिकाल अथवा समन्तभद्रकाल :

जैन न्यायके विकासका आरम्भ स्वामी समन्तभद्रसे होता है। स्वामी समन्तभद्रने भारतीय दार्शनिक क्षेत्रके जैन दर्शन क्षेत्रमें युग-प्रवर्तकका कार्य किया है। इनके पहले जैन दर्शनके प्राणभूत तत्त्व 'स्याद्वाद'को प्रायः आगम रूप ही प्राप्त था और उसका आगमिक तत्त्वोंके निरूपणमें ही उपयोग होता था तथा सीधी-साधी विवेचना कर दी जाती थी। विशेष युक्तिवाद देनेकी उस समय आवश्यकता नहीं होती थी। परन्तु समन्तभद्रके समयमें उसकी आवश्यकता महसूस हुई, क्योंकि दूसरी-तीसरी शताब्दीका समय भारतवर्षके इतिहासमें अपूर्व दार्शनिक क्रान्तिका रहा है, इस समय विभिन्न दर्शनोंमें अनेक क्रान्तिकारी विद्वान् पैदा हुए हैं। यद्यपि महावीर और बुद्धके उपदेशोंसे यज्ञप्रधान वैदिक परम्पराका बढ़ा हुआ प्रभाव काफी कम हो गया था और श्रमण—जैन तथा बौद्ध परम्पराका प्रभाव सर्वत्र व्याप्त

---

१. द्वात्रिंशिका १-३०, ४-१५।
२. तत्त्वार्थवार्तिक, पृ. २९५।
३. अष्टसहस्री, पृ. २३८।
४. माहात्म्यात्तमसः स्वयं कलिबलात्प्रायो गुणद्वेषिभिः।
   न्यायोऽयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते,
   सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमलैस्तत्रानुकम्पापरैः ॥....न्यायवि. श्लो. २।

दिखाई देती हैं। अनित्यवादी कहता था कि वस्तु प्रति समय नष्ट हो रही है, कोई भी स्थिर नहीं है। अन्यथा जन्म, मरण, विनाश, अभाव, परिवर्तन आदि नहीं होना चाहिए। जो स्पष्ट बतलाते हैं कि वस्तु नित्य नहीं है, अनित्य है।

इसी तरह भेदवाद-अभेदवाद, अपेक्षावाद-अनपेक्षावाद, हेतुवाद-अहेतुवाद, दैववाद-पुरुषार्थवाद आदि एक-एक वाद (पक्ष) को माना जाता और संघर्ष किया जाता था।

जैन तार्किक समन्तभद्रने इन सभी दार्शनिकोंके पक्षोंका गहराई और निष्पक्ष दृष्टिसे अध्ययन किया तथा उनके दृष्टिकोणोंको समझ कर स्याद्वादन्यायसे उनमें सामंजस्य स्थापित किया। उन्होंने किसीके पक्षको मिथ्या कहकर तिरस्कृत नहीं किया, क्योंकि वस्तु अनन्तधर्मा है। अतः कोई पक्ष मिथ्या नहीं है, वह मिथ्या तभी होता है, जब वह इतरका तिरस्कार करता है।

समन्तभद्रने वादियोंके उक्त विरोधी पक्षयुगलोंमें स्याद्वादन्यायके माध्यमसे सप्तभंगीकी विशद योजना करके उनके आपसी संघर्षोंको जहाँ शमन किया वहाँ उन्होंने सत्यग्राही एवं पक्षाग्रहशून्य निष्पक्ष दृष्टि भी प्रस्तुत की। यह निष्पक्ष दृष्टि ही स्याद्वाद दृष्टि है, क्योंकि उसमें सभी पक्षोंका समादर एवं समावेश है। एकान्त-दृष्टियोंमें अपना-अपना आग्रह होनेसे अन्य पक्षोंका न समादर है और न समावेश है।

समन्तभद्रकी यह अनोखी, किन्तु सही क्रान्तिकारी अहिंसक दृष्टि भारतीय दार्शनिकों, विशेषकर उत्तरवर्ती जैन तार्किकोंके लिए मार्गदर्शक सिद्ध हुई। सिद्धसेन, अकलंक, विद्यानन्द, हरिभद्र आदि तार्किकोंने उसका अनुगमन किया है। सम्भवतः इसी कारण उन्हें कलियुगमें स्याद्वादतीर्थका प्रभावक और स्याद्वादाग्रणी आदि रूपमें स्मृत किया है। यद्यपि स्याद्वाद और सप्तभंगीका प्रयोग आगमोंमें[1] भी तदीय विषयोंके निरूपणमें होता था, किन्तु जितना विशद और विस्तृत प्रयोग एवं योजना उनकी कृतियोंमें उपलब्ध है उतना उनसे पूर्व प्राप्त नहीं है। समन्तभद्रने 'नययोगान्न सर्वथा'[2] 'नयैर्नयविशारदः'[3] जैसे पदप्रयोगों द्वारा सप्तभंगनयोंसे वस्तुकी व्यवस्थाका विधान बनाया और 'कथंचित्ते सदेवेष्टं'[4] 'सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादि-चतुष्टयात्'[5] जैसे वचनों द्वारा उस विधानको व्यवहृत किया है।

उदाहरणके लिए हम उनके भाववाद और अभाववादके समन्वयको उनकी आप्तमीमांसासे प्रस्तुत करते हैं।

वस्तु कथंचित् भावरूप ही है, क्योंकि स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावसे वह वैसी ही प्रतीत होती है। यदि उसे सब प्रकारसे भावरूप माना जाये, तो प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव इन चार अभावोंका अभाव हो

१. षट्ख. १, १, ७; १, २, ५० आदि तथा पंचास्ति. गाथा १४।

२. आप्तमी. १४।

३. वही, का. २३।

४. आप्तमी. का. १४।

५. वही, का. १५।

६. वही, का. ९, १०, ११, १२, १४, १५।

जायेगा। फलतः वस्तु अनादि, अनन्त, सर्वात्मक और स्व
अतः वस्तु स्वरूपचतुष्टयकी अपेक्षा भावरूप ही है। इसी तरह व
रूप ही है, क्योंकि परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावसे वे
है। यदि उसे सर्वथा अभावरूप ही स्वीकार किया जाये तो वि
सारे ज्ञान और वचनके व्यवहार लुप्त हो जायेंगे और जगत् अ
जायेगा। अतः वस्तु परचतुष्टय की अपेक्षासे अभावरूप ही है।
कथंचित् उभयरूप ही है, क्योंकि क्रमशः दोनों विवक्षाएँ होती हैं
अवक्तव्य ही है, क्योंकि एक साथ दोनों विवक्षाएँ सम्भव नहीं हैं।
(तत्-तत् धर्मके प्रतिपादक उत्तर वाक्यों)को दिखलाकर वचनको शक्
पर समन्तभद्रने[1] अपुनरुक्त तीन भंग (तीन धर्मके प्रतिपादक तीन
और नियोजित करनेकी सूचना देते हुए सप्तभंगी-योजना प्रदर्शित
तरह समन्तभद्रने भाव (सत्ता) और अभाव (असत्ता)के पक्षो
आग्रहको समाप्त कर दोनोंको वास्तविक बतलाया और दोनोंक
निरूपित किया। इसी प्रकार उन्होंने द्वैत-अद्वैत, नित्य-अनित्य आदि पक्षोंके
भी समाप्त कर उन्हें वास्तविक सिद्ध किया है। उनका कहना था[2] कि इ
तिरस्कारक 'सर्वथा'के आग्रहको छोड़कर उस पक्षके संग्राहक 'स्यात्'के
वस्तुका निरूपण करना चाहिए। इस निरूपणमें वस्तु और उसके सभी धर्म
रहते हैं। एक-एक पक्ष सत्यांशोंका ही निरूपण करते हैं, सम्पूर्ण सत्यका नहीं,
सत्यका निरूपण तभी सम्भव है जब सभी पक्षोंको आदर दिया जाये—उनको
न की जाये। समन्तभद्रने[3] स्पष्ट घोषणा की कि निरपेक्ष—इतर तिरस्कारक
सम्यक् नहीं है, सापेक्ष—इतरग्राहक पक्ष ही सम्यक् (सत्य प्रतिपादक) है।

आचार्य समन्तभद्रने प्रमाणलक्षण, नयलक्षण, सप्तभंगीलक्षण, स्याद्वादलक्
हेतुलक्षण, प्रमाण-फलव्यवस्था, वस्तुस्वरूप, सर्वज्ञसिद्धि आदि जैन न्यायके कतिप
अंगोपांगोंका भी प्रतिपादन किया, जो प्रायः उनके पूर्व नहीं हुआ था अथवा बहु
कम हुआ था। अतएव यह काल जैन न्यायके विकासका आदि काल है और इसे
समन्तभद्रकाल कहना अनुचित न होगा। समन्तभद्रके इस महान् कार्यको उत्तरवर्ती
श्रीदत्त, पूज्यपाद, सिद्धसेन, मल्लवादी, सुमति, पात्रस्वामी प्रभृति जैन तार्किकोंने
अपनी महत्त्वपूर्ण रचनाओं द्वारा अग्रसारित किया। श्रीदत्तने, जो त्रेसठ वादियोंके
विजेता थे, जल्पनिर्णय, पूज्यपादने सारसंग्रह, सिद्धसेनने सन्मति, मल्लवादी-
ने द्वादशारनयचक्र, सुमतिने सन्मति-टीका; पात्रस्वामीने त्रिलक्षणकदर्थन जैसी
तार्किक कृतियोंको रचा है। दुर्भाग्यसे जल्पनिर्णय, सारसंग्रह, सन्मति-टीका और
त्रिलक्षणकदर्थन आज उपलब्ध नहीं हैं, केवल उनके उल्लेख मिलते हैं। सिद्धसेनका
सन्मति और मल्लवादीका द्वादशारनयचक्र उपलब्ध है, जो समन्तभद्रकी कृतियोंके
आभारी हैं।

1. आ० मी०, १०, २२, २३।
2. स्वयम्भू १०१, १०२।
3. [illegible] १०८, [illegible] ११

हमारा अनुमान है कि इस कालमें और भी अनेक न्यायग्रन्थ रचे गये होंगे, क्योंकि एक तो उस समयका दार्शनिक वातावरण प्रतिद्वन्द्विताका था। दूसरे, जैन विद्वानोंमें धर्म और दर्शनके ग्रन्थोको रचनेकी मुख्य प्रवृत्ति थी। बौद्ध विद्वान् शान्तरक्षित (ई. ७वी-८वी शती) और उनके शिष्य कमलशील (ई. ७वी-८वी शती) ने तत्त्वसंग्रह एवं उसकी टीकामें जैन तार्किकोंके नामोल्लेख पूर्वक और बिना नामोल्लेखके उद्धरण देकर उनकी आलोचना की है। परन्तु वे ग्रन्थ आज उपलब्ध नही हैं। इस तरह इस आदिकाल अथवा समन्तभद्रकालमे जैन न्यायकी एक योग्य और उत्तम भूमिका तैयार हो गयी थी।

२. मध्यकाल अथवा अकलंककाल :

उक्त भूमिकापर जैन न्यायका उत्तुंग और सर्वांगपूर्ण महान् प्रासाद जिस कुशल और तीक्ष्णबुद्धि तार्किक – शिल्पीने खड़ा किया, वह हैं अकलंक। अकलंकके कालमें भी समन्तभद्रको तरह जबर्दस्त दार्शनिक मुठभेड़ हो रही थी। एक तरफ शब्दाद्वैतावादी भर्तृहरि, प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल, न्यायनिष्णात उद्योतकर प्रभृति वैदिक विद्वान् अपने पक्षोपर आरूढ थे, तो दूसरी ओर धर्मकीर्ति और उनके तर्कपटु शिष्य एवं व्याख्याकार प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर, कर्णकगोमि आदि बौद्धतार्किक अपने पक्षपर दृढ़ थे। शास्त्रार्थों और शास्त्रनिर्माणकी पराकाष्ठा थी। प्रत्येक दार्शनिकका प्रयत्न था कि वह जिस किसी तरह अपने पक्षको सिद्ध करे और परपक्षका निराकरण कर विजय प्राप्त करे। इतना ही नही, परपक्षको असद् प्रकारोंसे पराजित एवं तिरस्कृत भी किया जाता था। विरोधी को 'पशु', 'अह्नीक' जैसे शब्दोंका प्रयोग करके उसे और उसके सिद्धान्तोंको तुच्छ प्रकट किया जाता था। यह काल जहाँ तर्कके विकास का मध्याह्न माना जाता है वहाँ इस कालमें न्याय का बड़ा उपहास भी हुआ है। तत्त्वके संरक्षणके लिए छल, जाति और निग्रहस्थानों का खुलकर प्रयोग करना और उन्हे शास्त्रार्थका अंग मानना इस कालकी देन बन गयी[२]। क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि पक्षोका समर्थन इस कालमें घड़ल्लेसे किया गया और कट्टरतासे इतरका निरास किया गया।

तीक्ष्णदृष्टि अकलंकने इस स्थितिका अध्ययन किया और सभी दर्शनोंका गहरा एवं सूक्ष्म अभ्यास किया। इसके लिए उन्हें कांची, नालन्दा आदिके तत्कालीन विद्यापीठोंमें प्रच्छन्न वेषमें रहना पड़ा। समन्तभद्र द्वारा स्थापित स्याद्वादन्यायकी भूमिकाको ठीक तरह न समझनेके कारण दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, उद्योतकर, कुमारिल आदि बौद्ध-वैदिक विद्वानोंने पक्षाग्रही दृष्टिका ही समर्थन किया था। अतः अकलंकने महाप्रयास करके दो अपूर्व कार्य किये। एक तो स्याद्वादन्यायपर आरोपित दूषणोंको दूरकर उसे स्वच्छ बनाया[३] और दूसरा कितना ही नया निर्माण किया। यही कारण

१. श्रवणबेलगोलाके शिलालेख नं. ५४।६७ में सुमति-सप्तक नामके एक महत्त्वपूर्ण तर्कग्रन्थका उल्लेख है, जो आज अनुपलब्ध है।

२. न्यायसू. १।१।१, ४।२।५०, १।२।२,३,४, आदि।

३. न्यायविनिश्चयकी कारिका २, जो पहले फुटनोटमें आ चुकी है।

है कि उनके द्वारा निर्मित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंमें चार ग्रन्थ तो
लिखे गये हैं। यहाँ अकलंकके उक्त दोनों कार्योंका कुछ विवर

१. दूषणोद्धार :

यों अकलंकने विभिन्न वादियों द्वारा दिये गये सभी दू
उनके सिद्धान्तोंकी कड़ी समीक्षा की है। किन्तु यहाँ उनके द्वारा
केवल दो स्थल प्रस्तुत किये जाते हैं—

(क) आप्तमीमांसामें समन्तभद्रने[1] मुख्यतया आप्तकी स
उपदेश—स्याद्वादकी सहेतुक सिद्धि की है। तथा सर्वज्ञ—केवलज्ञा
में साक्षात् (प्रत्यक्ष) एवं असाक्षात् (परोक्ष)से सर्वतत्त्वप्रकाशनक
है[2]। कुमारिलने मीमांसाश्लोकवार्तिकमें सर्वज्ञतापर और धर्मकीर्तिने
स्याद्वाद (अनेकान्त) पर आक्षेप किये हैं। कुमारिल कहते हैं—

> एवं ये केवलज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः।
> सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम् ॥
> नर्ते तदागमात्सिद्धयेन्न च तेनागमो विना।—मीमां. श्ल

जो सूक्ष्मादि विषयक अतीन्द्रिय केवलज्ञान पुरुषके माना जाता है
के बिना सिद्ध नहीं होता और उसके बिना आगम सिद्ध नहीं होता, इस प्रका
के स्वीकारमें अन्योन्याश्रय दोष है।

अकलंक कुमारिलके इस दूषणका परिहार करते हुए उत्तर देते हैं—

> एवं यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम्।
> नर्ते तदागमात् सिद्धयेत् न च तेन विनाऽऽगमः ॥
> सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मतः।
> प्रभवः पौरुषेयोऽस्य प्रबन्धोऽनादिरिष्यते ॥
>
> —अकलंकग्र., न्यायवि. का. ४१२,४१

यह सच है कि अनुमान द्वारा सिद्ध केवलज्ञान (सार्वज्ञ्य) आगमके बिना औ
आगम केवलज्ञानके बिना सिद्ध नहीं होता, तथापि उनमें अन्योन्याश्रय दोष नहीं है
क्योंकि पुरुषातिशय—केवलज्ञान अर्थबल—प्रतीतिवशसे माना जाता है और इसलिए
बीजांकुरके प्रबन्ध—सन्तानकी तरह इस (केवलज्ञान और आगम) का प्रबन्ध
(सन्तान) अनादि कहा गया है।

यहाँ स्पष्ट है कि समन्तभद्रने अनुमानसे जिस केवलज्ञान (स
सिद्धि की थी, कुमारिलने उसीमें अन्योन्याश्रय दोष दिया है। अकलंकदे
उस दोषका परिहार किया और सर्वज्ञता तथा आगम दोनोंको अनादि बत

(ख) धर्मकीर्तिने स्याद्वादपर निम्न आक्षेप किया है—

> सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः।
> चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ॥

---

1. आप्तमी. का. ५ और १११।
2. वही, का. १०५।

यदि सब पदार्थ उभयरूप—अनेकान्तात्मक हों, तो उनमें भेद न रहनेके कारण किसीको 'दही खा' कहने पर वह ऊँटको खानेके लिए क्यों नहीं दौड़ता ?

धर्मकीर्तिके भी इस आक्षेपका सबल जवाब देते हुए अकलंक कहते हैं—

> दध्युष्ट्रादेरभेदत्वप्रसंगादेकचोदनम् ।
> पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोऽपि विदूषकः ॥
> सुगतोऽपि मृगो जातो मृगोऽपि सुगतः स्मृतः ।
> तथापि सुगतो वन्द्यो मृगः खाद्यो यथेष्यते ॥
> तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः ।
> चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति ॥
>
> —अ. ग्रं., न्यायवि. का. ३७२, ३७३, ३७४।

दधि और ऊँटको एक बतलाकर दोष देना धर्मकीर्तिका पूर्वपक्ष (अनेकान्त) को न समझना है और दूषक होकर भी वे विदूषक—दूषक नहीं, उपहासके ही पात्र होते हैं—क्योंकि उन्हींके मान्यतानुसार सुगत भी मृग थे और मृग भी सुगत हुआ है। फिर भी सुगतको वन्दनीय और मृगको भक्षणीय कहा जाता है। और इस तरह पर्यायभेदसे सुगत और मृगमें वन्दनीय एवं भक्षणीयकी भेदव्यवस्था तथा उनमें चित्त-सन्तान (जीवद्रव्य) की अपेक्षासे अभेदव्यवस्था की जाती है, उसी प्रकार वस्तुबल (पर्याय और द्रव्यकी प्रतीति) से सभी पदार्थोंमें भेद और अभेदकी व्यवस्था है। अतः किसीको 'दही खा' कहनेपर वह ऊँटको खानेके लिए क्यों दौड़ेगा, क्योंकि सत्—द्रव्यकी अपेक्षा अभेद होनेपर भी पर्यायकी अपेक्षा उनमें भेद है। अतएव वह दही—भक्षणीय (पर्याय) को ही खानेके लिए दौड़ेगा। अभक्षणीय—ऊँट (पर्याय) को नहीं। यही वस्तुव्यवस्था है। भेदाभेद (अनेकान्त) तो वस्तुका स्वभाव है, उसका अपलाप नहीं किया जा सकता।

यहाँ अकलंकने धर्मकीर्तिके आक्षेपका शालीन उपहासको लिये बड़ा ही करारा उत्तर दिया है। बौद्ध परम्परामें सुगत पूर्वजन्ममें मृग थे, उस समय वे भक्षणीय थे और जब वही मृग सुगत हुआ तब वह भक्षणीय नहीं रहा—वन्दनीय बन गया। इस प्रकार एकचित्तसन्तानकी अपेक्षा उनमें अभेद है और मृग तथा सुगत दो पर्यायोंकी दृष्टिसे भेद है। इसी प्रकार जगत्की प्रत्येक वस्तु इस भेदाभेदकी व्यवस्थाका अतिक्रमण नहीं करती। अकलंकने धर्मकीर्तिके आक्षेपका उत्तर देते हुए यहाँ स्याद्वादको सिद्ध किया है। इस तरह अकलंकने दूषणोद्धारका कार्य बड़ी योग्यता और सक्षमताके साथ पूर्ण किया है।

२. नव-निर्माण :

अकलंकदेवने दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य नव-निर्माणका किया। जैन न्यायके जिन आवश्यक तत्त्वोंका उनके समयतक विकास नहीं हो सका था, उनका उन्होंने विकास किया अथवा उनकी प्रतिष्ठा की। उन्होंने अपने चार ग्रन्थ न्यायशास्त्रपर ही लिखे हैं। वे हैं—(१) न्यायविनिश्चय (स्वोपज्ञवृत्ति सहित), (२) सिद्धिविनिश्चय, (३) प्रमाणसंग्रह और (४) लघीयस्त्रय (स्वोपज्ञवृत्ति सहित)। ये चारों ग्रन्थ कारिका-त्मक हैं। न्यायविनिश्चयमें ४८०, सिद्धिविनिश्चयमें ३६७, प्रमाणसंग्रहमें ८७ और

माणिक्यनन्दिके 'परीक्षामुख' पर 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' नामकी प्रमेयबहुल एवं तर्कपूर्ण टीकाएँ रची हैं, जो प्रभाचन्द्रकी अमोघ तर्कणा और उज्ज्वल यशको प्रसृत करती हैं। विद्वज्जगतमें इन टीकाओंका बहुत आदर है। अभयदेवकी सन्मतितर्कटीका और वादि-देवसूरिका स्याद्वादरत्नाकर (प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकारटीका) ये दो टीकाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं, जो प्रभाचन्द्रकी तर्कपद्धतिसे प्रभावित हैं।

इस कालमें लघु अनन्तवीर्य, अभयदेव, देवसूरि, अभयचन्द्र, हेमचन्द्र, मल्लिषेणसूरि, आशाधर, भावसेनत्रैविद्य, अजितसेन, अभिनव धर्मभूषण, चारुकीर्ति, विमलदास, नरेन्द्रसेन, यशोविजय आदि तार्किकोंने अपनी व्याख्या या मूल रचनाओं द्वारा जैन न्यायको संक्षेप एवं सरल भाषामें प्रस्तुत किया है। इस कालकी रचनाओंमें लघु अनन्तवीर्यकी प्रमेयरत्नमाला (परीक्षामुखवृत्ति), अभयदेवकी सन्मतितर्कटीका, देवसूरिका प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार और उसकी स्वोपज्ञटीका स्याद्वादरत्नाकर, अभयचन्द्रकी लघीस्त्रयतात्पर्यवृत्ति, हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमांसा, मल्लिषेणसूरिकी स्याद्वादमंजरी, आशाधरका प्रमेयरत्नाकर, भावसेनका विश्वतत्त्वप्रकाश, अजितसेनको न्यायमणिदीपिका, अभिनव धर्मभूषणकी न्यायदीपिका, चारुकीर्तिकी अर्थप्रकाशिका और प्रमेयरत्नालंकार, विमलदासकी सप्तभंगि-तरंगिणी, नरेन्द्रसेनकी प्रमाणप्रमेयकलिका और यशोविजयके अष्टसहस्री-विवरण, ज्ञानबिन्दु और जैनतर्कभाषा विशेष उल्लेखयोग्य जैन न्यायग्रन्थ हैं। अन्तिम तीन तार्किकोंने अपने न्यायग्रन्थोंमें नव्यन्याय शैलीको भी अपनाया है। इसके बाद जैन न्यायकी धारा प्रायः बन्द-सी हो गयी और उसमें आगे कोई प्रगति नहीं हुई।

इस तरह जैन मनीषियोंने जहाँ जैन न्यायका उच्चतम विकास करके भारतीय ज्ञानभण्डारको समृद्ध बनाया वहाँ जैन वाङ्मयको भी सम्पुष्ट एवं परिवर्द्धित किया है।

प्रमाणशास्त्र :

'नीयते परिच्छिद्यते ज्ञायते वस्तुतत्त्वं येन सो न्यायः' इस न्यायशब्दकी व्युत्पत्तिके आधारपर न्याय उसे कहा गया है जिसके द्वारा वस्तुस्वरूप जाना जाता है। तात्पर्य यह कि वस्तुस्वरूपके परिच्छेदक साधन (उपाय)को न्याय कहते हैं। न्यायके इस स्वरूपके अनुसार कुछ दार्शनिक 'लक्षणप्रमाणाभ्यामर्थसिद्धिः'[1]—लक्षण और प्रमाण दोनोंसे वस्तुकी सिद्धि (ज्ञान) मानते हैं। अन्य दार्शनिक 'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः'[2]—प्रमाणोंसे वस्तु-परीक्षा करनेको न्याय बतलाते हैं। अनेक तार्किक पंचावयववाक्यके प्रयोग—अनुमानको न्याय कहकर उससे वस्तुपरिच्छित्ति प्रतिपादन करते हैं। जैन तार्किक आचार्य गृद्धपिच्छने 'प्रमाणनयैरधिगमः' (त. सू. १-६) सूत्र द्वारा प्रमाणों और नयोंसे वस्तुका ज्ञान निरूपित किया है। फलतः अभिनव धर्मभूषणने[4] 'प्रमाणनयात्मको न्यायः—प्रमाण और नयको न्याय कहा है। अतः जैन मान्यतानुसार प्रमाण और नय दोनों न्याय (वस्त्वधिगम-उपाय) हैं।

---

१. २. ३. न्यायदी. टि. पृ ५, वीरसेवामन्दिर प्रकाशन, १९४५।

४. वही, पृ. ५।

प्रमाणका स्वरूप :

षट्खण्डागममें ज्ञानमार्गणानुसार आठ ज्ञानोंका प्रतिपादन करते हुए
ज्ञानों (कुमति, कुश्रुत और कुअवधि) को मिथ्याज्ञान और पाँच ज्ञानों (म
श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल) को सम्यग्ज्ञान निरूपित किया है। कुन्दकुन्
उसका अनुसरण किया है। गृद्धपिच्छने[3] उसमें कुछ नया मोड़ दिया
उन्होंने मति आदि पाँच ज्ञानोंको सम्यग्ज्ञान तो कहा ही है, उन्हें प्रमाण
प्रतिपादित किया है। अर्थात् उन्होंने मत्यादिरूप पंचविध सम्यग्ज्ञानको प्रमाण
लक्षण बतलाया है। समन्तभद्रने[4] तत्त्वज्ञानको प्रमाण कहा है। उनका यह त
ज्ञान उपर्युक्त सम्यग्ज्ञानरूप ही है। सम्यक् और तत्त्व दोनोंका एक ही अर्थ
और वह है—सत्य—यथार्थ। अतः सम्यग्ज्ञानको या तत्त्वज्ञानको प्रमाण क
एक ही बात है। उत्तरवर्ती जैन तार्किकोंने प्रायः सम्यग्ज्ञानको ही प्रमाण कहा
विशेष यह कि अकलंक,[5] विद्यानन्द[6] और माणिक्यनन्दि[7] ने उस सम्यग्ज्ञा
'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक' सिद्ध किया और प्रमाणलक्षण में उपयुक्त विकास कि
है। वादिराज,[8] देवसूरि,[9] हेमचन्द्र,[10] धर्मभूषण[11] आदि परवर्ती तार्किकोंने भी प्र
यही प्रमाणलक्षण स्वीकार किया है। यद्यपि हेमचन्द्रने सम्यक् अर्थनिर्ण
प्रमाण कहा है,[12] पर सम्यक् अर्थनिर्णय और सम्यग्ज्ञानमें शाब्दिक भेदके अति
कोई अर्थभेद नहीं है।

प्रमाणके भेद :

प्रमाणके कितने भेद सम्भव और आवश्यक हैं, इस दिशामें सर्व प्र
स्पष्ट निर्देश आचार्य गृद्धपिच्छने[13] किया है। उन्होंने कहा है कि प्रमाणके दो
हैं—१ परोक्ष और २. प्रत्यक्ष। पूर्वोक्त पाँच सम्यग्ज्ञानोंमें आदिके दो ज्ञान—
और श्रुत इन्द्रियादि सापेक्ष होनेसे परोक्ष तथा अन्य तीन ज्ञान—अवधि, मनःप
और केवल इन्द्रियादि सापेक्ष न होने एवं आत्ममात्रकी अपेक्षासे होनेके कारण प्र

---

१. षट्खं. १।१।११५।
२. नियमसार गा० १०, ११, १२।
३. त० सू० १-९, १०।
४. आप्तमीमांसा १०१, [illegible] प्रकाशन।
५. [illegible] ६०।
६. [illegible] पृ० १, [illegible] प्रकाशन।
७. परी० मु० १-१।
८. [illegible] पृ० १।
९. [illegible] १।१।२।
१०. [illegible] १।१,२।
११. [illegible] पृ० ९।
१२. [illegible] १।१।२।
१३. [illegible]

प्रमाण हैं। यह प्रमाणद्वयका विभाग इतना विचारपूर्ण और कुशलतासे किया गया है कि इन्हीं दोमें अन्य सब प्रमाणोंका समावेश हो जाता है। मति (इन्द्रिय-अनिन्द्रियजन्य अनुभव), स्मृति (स्मरण), संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान) ये पाँचों ज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय सापेक्ष होनेसे मतिज्ञानके ही अवान्तर भेद हैं और इसलिए उनका परोक्षमें ही अन्तर्भाव किया गया है।[1]

जैन न्यायके प्रतिष्ठाता अकलंकने[2] भी प्रमाणके इन्हीं दो भेदोंको मान्य किया है। विशेष यह कि उन्होंने प्रत्यक्ष तथा परोक्षके स्पष्ट लक्षणों और भेदोंका भी निर्देश किया है। विशद ज्ञानको प्रत्यक्ष और अविशद ज्ञानको परोक्ष बतलाकर प्रत्यक्षके मुख्य एवं संव्यवहार इन दो भेदों तथा परोक्षके प्रत्यभिज्ञा आदि पाँच भेदोंका उन्होंने सविस्तर निरूपण किया है। उल्लेखनीय है कि अकलंकने[3] परोक्षके प्रथम भेद मति (इन्द्रिय-अनिन्द्रियजन्य ज्ञान) को संव्यवहारप्रत्यक्ष वर्णित किया है। इससे उन्होंने इन्द्रिय और अनिन्द्रियजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष कहनेकी दूसरे दार्शनिकोंकी मान्यताका संग्रह किया है और व्यवहारसे उसे प्रत्यक्ष कहकर तथा परमार्थसे परोक्ष मानकर आगम-परम्पराका संरक्षण भी किया है। विद्यानन्द[4] और माणिक्यनन्दिने[5] भी प्रमाणके यही दो भेद स्वीकार किये और अकलंककी तरह ही उनके लक्षण एवं भेद निरूपित किये हैं। उत्तरवर्ती सभी जैन तार्किकोंने भी प्रायः इसी प्रकार प्रतिपादन किया है।

परोक्षका लक्षण :

परोक्षका लक्षण सर्व प्रथम आचार्य पूज्यपादने[6] प्रस्तुत किया है। उन्होंने बतलाया है कि 'पर' अर्थात् इन्द्रिय, मन, प्रकाश और उपदेश आदि बाह्य निमित्त तथा स्वावरणकर्मक्षयोपशमकी अपेक्षासे आत्मामें जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह परोक्ष कहा गया है। अतः मति और श्रुत दोनों ज्ञान उक्त उभय निमित्तोंसे पैदा होते हैं, अतः वे परोक्ष हैं।

अकलंकदेवने[7] पूज्यपादके इस लक्षणको अपनाते हुए भी परोक्षका एक

---

१. 'मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्', 'तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्', त. सू. १-१३, १४।

२. लघीय., १-३, प्रमाणसं. १-२, अ. प्र. सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, ई. १९३९।

३. वही, १-३।

४. प्र. प. पृ., २८, ४१, ४२, वीरसेवामन्दिरट्रस्ट-प्रकाशन, ई. १९७७,।

५. परी. मु. २-१, २, ३, ५, ११ तथा ३-१, २।

६. 'पराणीन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि च बाह्यनिमित्तं प्रतीत्य तदावरणकर्मक्षयोपशमापेक्षस्यात्मनो मतिश्रुत उत्पद्यमानं परोक्षमित्याख्यायते'—स. सि. १-११, भारतीय ज्ञानपीठ।

७. 'तथोपात्तानुपात्तपरप्रत्ययापेक्षं परोक्षम्'—त. वा. १-११, 'ज्ञानस्यैव विशदनिर्भासिनः प्रत्यक्षत्वम्, इतरस्य परोक्षता'—लघीय., स्वोपज्ञवृ. १-३।

है। इसे प्रत्यभिज्ञा या प्रत्यभिज्ञान भी कहते हैं। यथा—'यह वही है', अथवा 'यह उसीके समान है' या 'यह उससे विलक्षण है' आदि। इसके एकत्व, सादृश्य, वैसादृश्य, प्रातियोगिक आदि अनेक भेद माने गये हैं। अन्वय (विधि) और व्यतिरेक (निषेध) पूर्वक होनेवाला व्याप्ति (साध्य और साधनरूपसे अभिमत दो पदार्थोंके अविनाभाव सम्बन्ध)का ज्ञान चिन्ता अथवा तर्क है। ऊह अथवा ऊहा भी इसे कहते हैं। इसका उदाहरण है—इसके होनेपर ही यह होता है और नही होनेपर नही ही होता। जैसे—अग्निके होनेपर ही धुआँ होता है और अग्निके अभावमे धुआँ नही ही होता। निश्चित साध्यविनाभावी साधनसे जो साध्यका ज्ञान होता है वह अनुमान है। जैसे—धूमसे अग्निका ज्ञान। शब्द, संकेत आदि पूर्वक जो ज्ञान होता है वह श्रुत है। इसे आगम, प्रवचन आदि भी कहते हैं। जैसे—'मेरु आदिक हैं' शब्दोको सुनकर सुमेरु पर्वत आदिका बोध होता है। ये सभी ज्ञान परापेक्ष हैं। स्मरणमें अनुभव, प्रत्यभिज्ञानमें अनुभव तथा स्मरण, तर्कमे अनुभव, स्मरण और प्रत्यभिज्ञान, अनुमानमें लिंग-दर्शन, व्याप्तिस्मरण और श्रुतमें शब्द एवं संकेतादि अपेक्षित हैं, उनके बिना उनकी उत्पत्ति सम्भव नही है। अतएव ये और इस प्रकारके उपमान, अर्थापत्ति आदि परापेक्ष अविशद ज्ञान परोक्ष प्रमाण माने गये हैं।

अकलङ्कने इनके विवेचनमे जो दृष्टि अपनायी वही दृष्टि विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि आदि तार्किकोंने अनुसृत की है। विद्यानन्दने[1] प्रमाण-परीक्षामे और माणिक्यनन्दिने[2] परीक्षामुखमें स्मृति आदि पाँचों परोक्ष प्रमाणोका विशदताके साथ निरूपण किया है। इन दोनोंकी विशेषता यह है कि उन्होने प्रत्येककी सहेतुक सिद्धि करके उनका परोक्षमें ही समावेश किया है। विद्यानन्दने[3] इनकी प्रमाणतामे सबसे बड़ा हेतु उनका अविसंवादी होना बतलाया है। साथ ही यह भी कहा है कि यदि कोई स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और श्रुत (पदवाक्यादि) अपने विषयमें विसंवाद (बाधा) उत्पन्न करते हैं तो वे स्मृत्याभास, प्रत्यभिज्ञाभास, तर्काभास, अनुमानाभास और श्रुताभास हैं। यह प्रतिपत्ताका कर्त्तव्य है कि वह सावधानी और युक्ति आदि पूर्वक निर्णय करे कि अमुक स्मृति निर्बाध होनेसे प्रमाण है और अमुक सबाध (विसंवादी) होनेसे अप्रमाण है। इसी प्रकार वह प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और श्रुतके प्रामाण्याप्रामाण्यका भी निर्णय करे। ये पाँचों ज्ञान यतः अविशद हैं, अतः परोक्ष हैं, यह भी विद्यानन्दने स्पष्टताके साथ प्रतिपादन किया है।

विद्यानन्दकी[4] एक और विशेषता है। वह है अनुमान और उसके परिकरका विशेष निरूपण। जितने विस्तारके साथ उन्होने अनुमानका प्रतिपादन किया है उतना स्मृति आदिका नही। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और प्रमाणपरीक्षामे अनुमान-

---

१. प्र. प. पृ. ४१ से ६५।
२. प. मु. ३।१ से १०१।
३. 'स्मृतिः प्रमाणम्, अविसंवादकत्वात्, प्रत्यक्षवत्। यत्र तु विसंवादः सा स्मृत्याभासा, प्रत्यक्षाभासवत्।'—प्र. प. पृ. ४२।
४. प्र. प. पृ. ४५ से ५८।

निरूपण सर्वाधिक है। पत्रपरीक्षामें तो प्रायः अनुमानका ही सामान्य उल्लेख है। विद्यानन्दने[1] अनुमानका वही लक्षण दिया है जो अकलंकदेवने[2] प्रस्तुत किया है। अर्थात् 'साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्'—साधनसे होनेवाले साध्यके ज्ञानको उन्होंने अनुमान कहा है। साधन और साध्यका निर्देश भी उन्होंने अकलंक प्रदर्शित दिशानुसार किया है। साधन[3] वह है जो साध्यका नियमसे अविनाभावी है। साध्यके होनेपर ही होता है और साध्यके न होनेपर नहीं ही होता। ऐसा अविनाभावी साधन ही साध्यका अनुमापक होता है, अन्य नहीं। त्रिलक्षण, पंचलक्षण आदि साधनलक्षण सदोष होनेसे युक्त नहीं हैं[4]। इस विषयका विशेष विवेचन हमने अन्यत्र[5] किया है। साध्य[6] वह है जो इष्ट – अभिप्रेत, शक्य—अबाधित और अप्रसिद्ध होता है। जो अनिष्ट है, प्रत्यक्षादिसे बाधित है और प्रसिद्ध है वह साध्य—सिद्ध करने योग्य नहीं होता। वस्तुतः जिसे सिद्ध करना है उसे इष्ट होना चाहिए। अनिष्टको कोई सिद्ध नहीं करता। इसी तरह जो बाधित है—सिद्ध करनेके अयोग्य है उसे भी सिद्ध नहीं किया जाता। तथा जो सिद्ध है उसे पुनः सिद्ध करना निरर्थक है। अतः निश्चितसाध्याविनाभावी साधन (हेतु) से जो इष्ट, अबाधित और असिद्धरूप साध्यका विज्ञान किया जाता है वह अनुमान प्रमाण है।

अनुमानके दो भेद हैं—(१) स्वार्थानुमान और (२) परार्थानुमान। अनुमाता जब स्वयं ही निश्चित साध्याविनाभावी साधनसे साध्यका ज्ञान करता है तो उसका वह ज्ञान स्वार्थानुमान कहा जाता है। उदाहरणार्थ—जब वह धूमको देखकर अग्निका ज्ञान, रसको चखकर उसके सहचर रूपका ज्ञान या कृतिकाके उदयको देखकर एक मुहूर्त बाद होनेवाले शकटके उदयका ज्ञान करता है तब उसका वह ज्ञान स्वार्थानुमान है। और जब वही स्वार्थानुमाता उक्त हेतुओं और साध्योंको बोलकर दूसरोंको उन साध्य-साधनोंकी व्याप्ति (अन्यथानुपपत्ति) ग्रहण कराता है और दूसरे उसके उक्त वचनोंको सुनकर व्याप्ति ग्रहण करके उक्त हेतुओंसे उक्त साध्योंका ज्ञान करते हैं तो दूसरोंका वह अनुमानज्ञान परार्थानुमान है।

धर्मभूषणने[7] स्वार्थानुमान और ज्ञानात्मक परार्थानुमानके सम्पादक तीन अंगों और दो अंगोंका भी प्रतिपादन किया है। वे तीन अंग हैं—(१) साधन, (२) साध्य और (३) धर्मी। साधन तो गमकरूपसे अंग है, साध्य गम्यरूपसे और धर्मी दोनोंका आधाररूपसे। दो अंग हैं—(१) पक्ष और (२) हेतु। जब साध्य धर्मको धर्मीसे पृथक् नहीं माना जाता—उससे विशिष्ट धर्मीको पक्ष कहा जाता है तो पक्ष और हेतु ये दो ही अंग विवक्षित होते हैं। इन दोनों प्रतिपादनोंमें मात्र

---

१. प्र. प. पृ. ४५।

२. 'साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानं तदत्यये।'—न्या. वि. द्वि. भा. २।१।

३. 'तत्र साधनं साध्याविनाभावनियमनिश्चयैकलक्षणम्।'—प्र. प. पृ. ४५।

४. प्र. प. पृ. ४५ से ४९।

५. जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार, पृ. ९२, वीरसेवामन्दिर-ट्रस्टप्रकाशन, १९६९।

६. न्यायविनि. २-१७२ तथा प्र. प. पृ. ५७।

७. न्या. दी. पृ. ७२, ३-२४।

विवक्षाभेद है—मौलिक कोई भेद नहीं है। वचनात्मक परार्थानुमानके प्रतिपाद्यों की दृष्टिसे दो, तीन, चार और पाँच अवयवोंका भी कथन किया गया है। दो अवयव प्रतिज्ञा और हेतु हैं। उदाहरणसहित तीन, उपनयसहित चार और निगमन-सहित पाँच अवयव हैं।

यहाँ उल्लेखनीय है कि विद्यानन्दने परार्थानुमानके अक्षरश्रुत और अनक्षर-श्रुत दो भेदोंको प्रकट करते हुए उसे अकलंकके अभिप्रायानुसार श्रुतज्ञान बतलाया है और स्वार्थानुमानको अभिनिबोधरूप मतिज्ञानविशेष कहा है। आगमकी प्राचीन परम्परा यही है[१]।

श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशमविशेषरूप अन्तरंग कारण तथा मतिज्ञानरूप बहिरंगकारणके होनेपर मनके विषयको जाननेवाला जो अविशद ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है।[२] अथवा आप्तके वचन, अँगुली आदिके संकेतसे होनेवाला अस्पष्ट ज्ञान श्रुत है। यह श्रुतज्ञान सन्ततिकी अपेक्षा अनादिनिधन है। उसकी जनक सर्वज्ञपरम्परा भी अनादिनिधन है। बीजांकुरसन्ततिकी तरह दोनोंका प्रवाह अनादि है। अतः सर्वज्ञोक्त वचनोंसे उत्पन्न ज्ञान श्रुतज्ञान है और वह निर्दोष पुरुषजन्य एवं अविशद होनेसे परोक्ष प्रमाण है। इस प्रकार परोक्षके पाँच ही भेद हैं।

प्रत्यक्ष :

जो इन्द्रिय, मन, प्रकाश आदि परकी अपेक्षा नहीं रखता और आत्ममात्रकी अपेक्षासे होता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान है।[३] अकलंकदेवने प्रत्यक्षके इस लक्षणको आत्मसात् करते हुए भी उसका एक नया लक्षण और प्रस्तुत किया है, जो दार्श-निकों द्वारा अधिक ग्राह्य और लोकप्रिय हुआ है। वह है विशद ज्ञान। जो ज्ञान विशद अर्थात् अनुमानादि ज्ञानोंसे अधिक विशेष प्रतिभासी होता है वह प्रत्यक्ष है। उदाहरणार्थ—'अग्नि है' ऐसे किसी विश्वस्त व्यक्तिके वचनसे उत्पन्न अथवा 'वहाँ अग्नि है, क्योंकि धुँआ दिख रहा है' ऐसे धूमादि साधनोंसे जनित 'अग्नि-ज्ञान'-से 'यह अग्नि है' अग्निको देखकर हुए अग्निज्ञानमें जो विशेष प्रतिभासरूप वैशिष्ट्य अनुभवमें आता है उसीका नाम विशदता है। और यह विशदता ही प्रत्यक्षका लक्षण है। तात्पर्य यह कि जहाँ अस्पष्ट ज्ञान परोक्ष है वहाँ स्पष्ट ज्ञान प्रत्यक्ष है। सभी जैन दार्शनिकोंने प्रत्यक्षका यही लक्षण स्वीकार किया है। विद्यानन्दने इन प्रत्यक्षभेदोंका विशदता और विस्तारपूर्वक निरूपण किया है।

---

१. प्र. प. पृ. ५८।

२. विशेषके लिए देखें, जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार, पृष्ठ ७७-७८।

३. प्र. प. पृ. ५८।

४. त. श्लो. १।१२, पृ. १०३।

५. लघी. १।३।

६. 'तत् त्रिविधम्—इन्द्रियानिन्द्रियातीन्द्रियप्रत्यक्षविकल्पात्। तत्रेन्द्रियप्रत्यक्षं सांव्यवहारिकं देशतो विशदत्वात्। तद्वदनिन्द्रियप्रत्यक्षम्, वस्तान्तर्मुखाकारस्य कथंचिद्वैशद्यसिद्धेः।

इन्द्रियप्रत्यक्षके उन्होंने आरम्भमें अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद बतलाये हैं तथा ये चारों पाँचों इन्द्रियों और बहु आदि बारह अर्थभेदोंके निमित्तसे होते हैं। अतः ४×५×१२=२४० भेद अर्थावग्रहकी अपेक्षासे गिनाये हैं। और यतः व्यंजनावग्रह चक्षु तथा मनसे नहीं होता, अतः उसकी अपेक्षासे १×४×१२=४८ भेदोंका कथन किया है। इस प्रकार इन्द्रियप्रत्यक्षके २४०+४८=२८८ भेद कहे हैं। अनिन्द्रियप्रत्यक्ष केवल मनसे उक्त बारह प्रकारके पदार्थोंमें होता है। अतः उसके ४×१×१२=४८ भेद प्रतिपादित किये हैं। इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रियप्रत्यक्ष ये दोनों मतिज्ञान अर्थात् संव्यवहारप्रत्यक्ष हैं। अतएव संव्यवहारप्रत्यक्षके मूल २८८+४८=३३६ भेद हैं।[1] अतीन्द्रिय प्रत्यक्षके दो भेद हैं (१) विकलप्रत्यक्ष और (२) सकलप्रत्यक्ष। विकलप्रत्यक्ष भी दो प्रकारका है—(१) अवधिज्ञान और (२) मनःपर्ययज्ञान। सकलप्रत्यक्ष मात्र एक ही प्रकारका है और वह है केवलप्रत्यक्ष। इनका विशेष कथन प्रमाणपरीक्षामें देखना चाहिए। इस प्रकार जैन दर्शनमें प्रमाणमें मूलतः प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो ही भेद माने गये हैं।

प्रमाणका विषय—

जैन दर्शनमें यतः वस्तु अनेकान्तात्मक है, अतः प्रत्यक्ष प्रमाण हो, या परोक्ष प्रमाण, सभी सामान्य-विशेषरूप, द्रव्य-पर्यायरूप, भेदाभेदरूप, नित्यानित्यरूप आदि अनेकान्तात्मक वस्तुको विषय करते अर्थात् जानते हैं। कोई भी प्रमाण केवल सामान्य या केवल विशेष आदिरूप वस्तुको विषय नहीं करते, क्योंकि वैसी कोई वस्तु ही नहीं है। वस्तु तो अनेकान्तरूप है और वही प्रमाणका विषय है[2]।

प्रमाणका फल—

प्रमाणका फल अर्थात् प्रयोजन वस्तुको जानना और उसका अज्ञान दूर होना है[3]। यह प्रमाणका साक्षात् फल है। वस्तुको जाननेके उपरान्त उसके ग्राह्य होनेपर उसमें ग्रहणबुद्धि, हेय होनेपर हेयबुद्धि और उपेक्षणीय होनेपर उपेक्षाबुद्धि होती है। ये बुद्धियाँ उसका परम्परा फल हैं। प्रत्येक प्रमाताको ये दोनों फल उपलब्ध होते हैं।

नय—

पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान जहाँ प्रमाणसे अखण्ड (समग्र) रूपमें होता है वहाँ नयसे[4] खण्ड (अंश) रूपमें होता है। धर्मीका ज्ञान प्रमाण और धर्मका ज्ञान

अतीन्द्रियप्रत्यक्षं तु द्विविधं विकलप्रत्यक्षं सकलप्रत्यक्षं चेति। विकलप्रत्यक्षमपि द्विविधम्—अवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं चेति। सकलप्रत्यक्षं तु केवलज्ञानम्। तदेतत्त्रिविधमपि मुख्यं प्रत्यक्षम्, मनोऽक्षानपेक्षत्वात्।—प्र. प. पृ. ३८, अनुच्छेद ९१।

१. प्र. प. पृ ४०।

२. वही, पृ. ६५।

३. प्र. प. पृ. ६६।

४. लघीय. नयप्रवेश, का. ३०-४६।

भारतीय संस्कृतिको देन :

कुन्दकुन्दके इस विशाल वाङ्मयकी भारतीय संस्कृतिको क्या देन है, इसपर विचार करनेपर हमें उसकी मुख्यतया निम्न चार उपलब्धियाँ अवगत होती हैं—

१. साहित्यिक उद्भावनाएँ
२. दार्शनिक चिन्तन
३. तात्त्विक विवेचन
४. लोककल्याणी दृष्टि

१. साहित्यिक उद्भावनाएँ :

छन्द-वैविध्य—प्राकृत-साहित्य गद्यसूत्रों और पद्यसूत्रों दोनोमे उपनिबद्ध हुआ है। कुन्दकुन्दने अपने समग्र ग्रन्थ, जो उपलब्ध हैं, पद्यसूत्रों—गाथाओंमे ही रचे हैं। प्राकृतका पद्य-साहित्य यद्यपि एकमात्र गाथा-छन्दमें, जो आर्याछन्दके नामसे प्रसिद्ध है, प्राप्त है। किन्तु कुन्दकुन्दके प्राकृत-वाङ्मयकी विशेषता यह है कि उसमे गाथा-छन्दके अतिरिक्त अनुष्टुप् और उपजाति छन्दोंका भी उपयोग किया गया है। निश्चय ही छन्द-वैविध्यसे रचनामें पाठकको विशेष आनन्द आता है और उसका वैशिष्ट्य बढ़ जाता है। हम यहाँ उदाहरणार्थ उनके ग्रन्थोंसे कुछ अनुष्टुप् तथा उपजाति छन्दोके उद्धरण प्रस्तुत करते है।

[क] १. एगो मे सस्सदो अप्पा णाण-दंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥
—भावपा. ५९।

२. जो समो सव्वभूदेसु थावरेसु तसेसु वा।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे॥
—नियमसा. १२६।

[ख] णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा॥
—प्र. सा।

अलंकार-विविधता

संस्कृत-साहित्यमें अलंकारहीन काव्यको निर्भूषणा नारीकी तरह श्रीहीन बतलाकर अलंकारका महत्त्व उद्घोषित किया है। उस प्राचीन कालमें आ. कुन्दकुन्दने अपने प्राकृत-वाङ्मयमे भी अलंकारोंका समावेश किया है। अप्रस्तुत प्रशंसाका एक उदाहरण देखिए—

[ग] ण मुयइ पयडि अभव्वो सुट्ठु वि आयण्णिऊण जिणधम्मं।
गुड-दुद्धं पि पिवंता ण पण्णया णिव्विसा होंति॥
—भावपा. १३७।

[घ] उपमालंकारको भी देखिए—
जह तारयाण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं।
अहिओ तह सम्मत्तो रिसि-सावय-दुविहधम्माणं॥
—भावपा. १४३।

भारतीय संस्कृतिको देन :

कुन्दकुन्दके इस विशाल वाङ्मयकी भारतीय संस्कृतिको क्या देन है, इसपर विचार करनेपर हमें उसकी मुख्यतया निम्न चार उपलब्धियाँ अवगत होती हैं—

१. साहित्यिक उद्भावनाएँ
२. दार्शनिक चिन्तन
३. तात्त्विक विवेचन
४. लोककल्याणी दृष्टि

१. साहित्यिक उद्भावनाएँ :

छन्द-वैविध्य—प्राकृत-साहित्य गद्यसूत्रों और पद्यसूत्रों दोनोंमें उपनिबद्ध हुआ है। कुन्दकुन्दने अपने समग्र ग्रन्थ, जो उपलब्ध हैं, पद्यसूत्रों—गाथाओंमें ही रचे हैं। प्राकृतका पद्य-साहित्य यद्यपि एकमात्र गाथा-छन्दमें, जो आर्याछन्दके नामसे प्रसिद्ध है, प्राप्त है। किन्तु कुन्दकुन्दके प्राकृत-वाङ्मयकी विशेषता यह है कि उसमें गाथा-छन्दके अतिरिक्त अनुष्टुप् और उपजाति छन्दोंका भी उपयोग किया गया है। निश्चय ही छन्द-वैविध्यसे रचनामें पाठकको विशेष आनन्द आता है और उसका वैशिष्ट्य बढ़ जाता है। हम यहाँ उदाहरणार्थ इनके ग्रन्थोंसे कुछ अनुष्टुप् तथा उपजाति छन्दोंके उद्धरण प्रस्तुत करते हैं।

[क] १. एगो मे सस्सदो अप्पा णाण-दंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥
—भावपा. ५९।

२. जो समो सव्वभूदेसु थावरेसु तसेसु वा।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे॥
—नियमसा. १२६।

[ख] णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा॥
—प्र. सा.।

अलंकार-विविधता

संस्कृत-साहित्यमें अलंकारहीन काव्यको निर्भूषणा नारीकी तरह श्रीहीन बतलाकर अलंकारका महत्त्व उद्घोषित किया है। उस प्राचीन कालमें आ. कुन्दकुन्दने अपने प्राकृत-वाङ्मयमें भी अलंकारोंका समावेश किया है। अप्रस्तुत प्रशंसाका एक उदाहरण देखिए—

[ग] ण मुयइ पयडि अभव्वो सुट्ठु वि आयण्णिऊण जिणधम्मं।
गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा होंति॥
—भावपा. १३७।

[घ] उपमालंकारको भी देखिए—

जह तारयाण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं।
अहिओ तह सम्मत्तो रिसि-सावय-दुविहधम्माणं॥
—भावपा. १४३।

होता।' दूसरे स्थानपर वे कहते हैं कि 'सत्का विनाश और असत्का उत्पाद होता है।' इन दोनों कथनोंमें उपस्थित विरोधका वे स्वयं परिहार करते हुए लिखते हैं कि पहला कथन द्रव्यकी विवक्षासे है और दूसरा पर्यायकी दृष्टिसे। और इस तरह उन्होंने उक्त दोनों कथनोंको दो नयों (द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक)से बतलाकर उनके विरोधका अनुभवगम्य एवं युक्तिपूर्ण परिहार किया है। कुन्दकुन्दकी यह सूक्ष्म दृष्टि बड़ी ही प्रभावोत्पादक और वस्तुतत्त्वकी प्रदर्शिका है।

तात्त्विक विवेचन

कुन्दकुन्दके प्राकृत-वाङ्मयका मन्थन करनेपर प्रतीत होता है कि उसका बहुभाग तात्त्विक निरूपणपरक ही है और वह उनका अपना ही है। समयसार और नियमसारमें जो शुद्ध आत्माका विशद और विस्तृत विवेचन है वह अन्यत्र दुर्लभ है। मोक्षपाहुड (गा. ४–७)में आत्माके बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीन भेदों तथा उनके स्वरूपका प्रतिपादन भी अद्वितीय है। नियमसार (गा. १५९) में व्यवहार-नयसे आत्माको सर्वज्ञ और निश्चयनयसे आत्मज्ञ निरूपित करना कुन्दकुन्दका अपना एवं नया विचार है। इसी ग्रन्थ (गा. १६०) में षट्खण्डागमके ज्ञान और दर्शनके योगपद्यका सर्वप्रथम समर्थन मिलता है। पुद्गलके दो तथा छह भेदोंका निरूपण (नि. गा. २०–२४), परमाणुका स्वरूप कथन (नि. गा. २६), कर्मभूमिज और भोगभूमिज ये मनुष्योंके दो भेद (नि. गा. १६) इसीमें उपलब्ध हैं। पंचास्तिकायमें द्रव्य, सत्ता, गुण, पर्याय (गा. १२, १३), स्वदेह-प्रमिति जीव (गा ३३), त्रिविध (कर्म, कर्मफल और ज्ञान) चेतना (गा. ३८), शब्दकी पौद्गलिकता (गा. ७९), छह द्रव्य, नव पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्व (गा. १०२, १०८) विवेचित हैं। स्कन्धोंके बादरबादर आदि ६ (पंचा. ७६) और पुद्गलके स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और परमाणु (पं. गा. ७४) इन चार भेदों आदिका विमर्श अद्वितीय है।

अध्यात्म-विवेचनमें कुन्दकुन्दने जो निश्चय और व्यवहारनयोंका अवलम्बन लिया है वह भी उनकी प्राकृत-वाङ्मयकी अपूर्व विचारणा है। इन नयोंकी प्ररूपणा हमें इससे पहलेके साहित्यमें नहीं मिलती। व्यवहार और निश्चय द्विविध मोक्षमार्गको प्रकल्पना (पंचा. गा. १६०, १६१), सम्यग्दर्शनके आठ अंगोंका निरूपण (स. सा. गा. २२९-२३६) अणुमात्र राग रखनेवाला सर्वशास्त्रज्ञ भी स्वसमयका ज्ञाता नहीं हो सकता (पंचा. १६७), जीवको सर्वथा कर्मबद्ध अथवा कर्म-अबद्ध बतलाना नयपक्ष (एकान्तवाद) है और दोनोंका ग्रहण करना समयसार है (स. सा. १४१-१४३), पुण्य और पाप दोनों उसी तरहके बन्धन हैं जिस प्रकार लोहे और सोनेकी बेड़ियाँ (स. सा. १४५, १४६), तीर्थंकर भी यदि वस्त्रधारी हो तो सिद्ध नहीं हो सकता (दं. पा. २३), चारित्रहीन भी निर्वाण पा सकता है. पर दर्शनहीन नहीं (दं. पा. ३२) आदि सैद्धान्तिक चिन्तना भी कुन्दकुन्दके प्राकृत-वाङ्मयकी अपूर्व देन है। उल्लेखनीय है कि कुन्दकुन्दके वाङ्मयने जो दृष्टि प्रस्तुत की वह उत्तरकालीन ग्रन्थकारों द्वारा आदृत एवं पुष्ट हुई है। ज्ञात होता है कि इसीसे कुन्दकुन्दको सर्वाधिक सम्मान मिला और मूलसंघके नायक माने गये।

आचार्य गृद्धपिच्छ और उनके तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण

आचार्य गृद्धपिच्छका तत्त्वार्थसूत्र

आचार्य गृद्धपिच्छका, जिन्हें उमास्वामी और उमास्वाति भी कहा जाता है, 'तत्त्वार्थसूत्र' जैन परम्पराका एक विश्रुत और मान्य ग्रन्थरत्न है। यह संस्कृत-भाषामें रचित धर्म और दर्शन दोनोंकी एक अनूठी गद्यसूत्र-रचना है। इसका जैन साहित्य और शिलालेखोंमें तत्त्वार्थ, तत्त्वार्थशास्त्र, तत्त्वार्थाधिगम, मोक्षशास्त्र, निःश्रेयसशास्त्र जैसे अनेक नामोंसे उल्लेख हुआ है। इसमें मोक्ष, मोक्षमार्ग, तत्त्वार्थ और तत्त्वार्थाधिगमोंका प्रतिपादन किया गया है। अतः इसका उपर्युक्त नामोंसे व्यवहार होना स्वाभाविक है। इसके सूत्र नपे-तुले, अर्थगर्भ, गम्भीर और बड़े विशद हैं। इसपर दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओंके आचार्योंने अनेकों टीकाएँ लिखी हैं और इसे बहु मान दिया है। इन टीकाओंमें कई टीकाएँ तो इतनी विशाल और गम्भीर हैं कि वे स्वतन्त्र ग्रन्थकी योग्यता रखती हैं।

तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण

प्रस्तुतमें विचारणीय है कि इस महान् सूत्रग्रन्थके आरम्भमें उसके कर्ता द्वारा निबद्ध कोई मंगलाचरण है या नहीं? यदि है तो वह कौन-सा है? इस विषयमें विद्वानोंमें मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वानोंका विचार है कि इसके आदिमें आप्त-स्तुतिके रूपमें शास्त्रकारकृत कोई मंगलाचरण नहीं है—उसके बिना ही यह शास्त्र रचा गया है। दूसरे अनेक विचारकोंका स्पष्ट मत है कि उसके प्रारम्भमें सूत्रकार-रचित मंगलाचरण है और वह निम्न प्रकार है—

> मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
> ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥

जो विद्वान् इस पद्यको तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण नहीं मानते वे इसे आचार्य पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धिका, जो तत्त्वार्थसूत्रकी आद्य व्याख्या है और जिसे 'तत्त्वार्थवृत्ति' कहा जाता है, मंगलश्लोक बतलाते हैं। इसके समर्थनमें वे[1] निम्न युक्तियाँ प्रस्तुत करते और उन पर बल देते हैं—

(१) आचार्य विद्यानन्दने आप्तपरीक्षा और अष्टसहस्री दोनों ग्रन्थ 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' मंगलश्लोकमें वर्णित आप्तस्वरूपके परीक्षणके लिए बनाये हैं और यह सत्य है कि उक्त मंगलपद्य सर्वार्थसिद्धिके आरम्भमें उसके मंगलाचरण-के रूपमें पाया जाता है। आप्तपरीक्षाके 'प्रोत्थानारम्भकाले....' (का. १२३) और

---

१. न्यायाचार्य पं. महेन्द्रकुमार जैन, वाराणसी, 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' शीर्षक लेख, जैन सिद्धान्त भास्कर, जून १९४२। (मुख्यतः इसी लेखके उत्तरमें यह उत्तर-लेख लिखा गया।

ज्ञात होता है कि विद्यानन्दके उल्लेखों और उनके अभिमतपर गहराईसे ध्यान नहीं दिया गया और न उनके अन्य सन्दर्भ-वाक्योंके प्रकाशमे उन्हें देखा गया है। इसीसे उनके उपर्युक्त पद्य-वाक्योंका अर्थ गलत करके गलत निष्कर्ष निकाला गया है।

आप्तपरीक्षाके 'श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य। प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्॥' इस वाक्यका सन्दर्भानुसार सीधा अर्थ यह है कि 'जो प्रकृष्ट अथवा महान् रत्नोके उद्भवका स्थान है उस श्रीमत् तत्त्वार्थशास्त्ररूपी अद्भुत सलिलनिधि (समुद्र) के उत्थानारम्भ-समयमें समस्त पापों अथवा विघ्नोंका नाश करनेके लिए आदरास्पद शास्त्रकारने जो 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि स्तोत्र रचा...'। इसी तरह अष्टसहस्रीके 'शास्त्रावतार-रचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं कृतिरलंक्रियते मयास्य'—वाक्यका सीधा अर्थ है—शास्त्र (तत्त्वार्थशास्त्र) के अवतार—रचनारम्भसमयमें रची गयी स्तुति ('मोक्षमार्गस्य नेतारं' मंगल श्लोक) के विषयभूत आप्तकी जिसमें मीमांसा की गयी है उस (आप्तमीमांसा) का अलंकरण (व्याख्यान) करता हूँ।'

सन्दर्भके अनुसार यहाँ आप्तपरीक्षा तथा अष्टसहस्री दोनों स्थलोंमें प्रयुक्त 'तत्त्वार्थशास्त्र' और 'शास्त्र' दोनों पदोंसे विद्यानन्दको आचार्य गृद्धपिच्छका 'तत्त्वार्थसूत्र' शास्त्र विवक्षित है। उसके अतिरिक्त उन्हें अन्य कोई शास्त्र अभिप्रेत नहीं है। यह आप्तपरीक्षाके ही उस पद्यसे भी प्रकट है जो उपर्युक्त 'श्रीमत्तत्त्वार्थ-शास्त्राद्भुत-' आदि (१२३वें) पद्यके अनन्तर दिया गया है और जो ग्रन्थका अन्तिम (१२४वाँ) पद्य है। सुविधाके लिए वह पद्य भी नीचे दिया जाता है—

इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्रस्तोत्रगोचरा।
प्रणीताऽऽप्तपरीक्षेयं कुविवाद-निवृत्तये ॥१२४॥

'इस प्रकार तत्त्वार्थशास्त्रके आदिमें मुनीन्द्र द्वारा रचे गये स्तोत्र (मोक्षमार्गस्य नेतारम्) के व्याख्यानस्वरूप यह आप्तपरीक्षा आप्तविषयक मिथ्यावादों (मान्यताओं) के निरासके लिए रची गयी है।'

इस पद्यमें प्रयुक्त सभी पद स्पष्ट हैं। 'तत्त्वार्थशास्त्र' पदसे तत्त्वार्थसूत्र, 'मुनीन्द्र' पदसे उसके कर्ता गृद्धपिच्छाचार्य और 'स्तोत्र' पदसे वही 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मंगल श्लोक, जिसे स्वयं विद्यानन्दने आप्तपरीक्षा (पृ. १२) के आरम्भमें 'सूत्रकार'के नामसे 'किं पुनस्तत्परमेष्ठिनो गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ सूत्रकाराः प्राहुरिति निगद्यते' शब्दोंके साथ उद्धृत किया है, उन्हें इष्ट है।

'प्रोत्थानारम्भकाले' पदमें आये 'उत्थान' शब्दका अर्थ शब्दकोषोंमें[1] उद्यम (यत्न) और उद्गम (उत्पत्ति) अर्थ तो है, पर भूमिका अर्थ नहीं है। इन दोनों अर्थोंमेंसे यहाँ पर कोई-सा अर्थ ग्रहण करने पर 'प्रोत्थानारम्भकाले' पद का वही

१. (क) उत्थानमुद्गमे तंत्रेऽप्युद्यमे हर्षणे रणे।—विश्वलोचन कोष।
(ख) उत्थानमुद्यमे तंत्रे पौरुषे पुस्तके रणे। प्राङ्गणोद्गमहर्षेषु।—मेदिनी।
(ग) उत्थानं पौरुषे तंत्रे सन्निविष्टोद्गमेऽपि च।—अमरकोष।
(घ) Rise, origin, effort, activity (V.S. Apte

अर्थ होता है जो 'शास्त्रावतार' और 'तत्त्वार्थशास्त्रादौ' इन पदोंका है। ये
पद एक ही अर्थके सम्प्रत्यायक हैं—उनका भिन्न-भिन्न अर्थ नहीं है। 'शास्त्रा
पदके अर्थमें कुछ सन्देह हो सकता था, पर विद्यानन्दने अष्टसहस्रीके
(पृ. ३) में अकलंकदेवके 'मंगलपुरस्सर' पदका 'शास्त्रावतारकाल' पर्याय
उस सन्देहको भी निरस्त कर दिया है। 'शास्त्रावतार' और 'शास्त्रावता
दोनों एकार्थक है। ऐसी स्थितिमें 'प्रोत्थान' का अर्थ 'शास्त्रकी उत्पत्तिका
बतलाना' या 'भूमिका बाँधना' करना संगत नही है। यह किसी भी शब्द
उपलब्ध नहीं होता। 'शास्त्रावतार' पदका भी अर्थ 'तत्त्वार्थशास्त्रके अव
अवतरणिका—भूमिकाके समय किया जाना और पाठकोंसे यह अनुरोध क
आप्तपरीक्षाके उपर्युक्त अन्तिम (१२४ वें) पद्यमें आये 'तत्त्वार्थशास्त्रादौ' प
अर्थ 'तत्त्वार्थशास्त्रकी भूमिकाके प्रारम्भमें' यह करना चाहिए और उस भू
वह भूमिका प्रकट करना, जो पूज्यपादकी 'सर्वार्थसिद्धि'के आरम्भमें पा
है, युक्त नही है, क्योंकि 'प्रोत्थान' और 'अवतार' का भूमिका या भूमिका
अर्थ न शब्दकोषोंमे मिलता है और न वह विद्यानन्दको अभिप्रेत है। उ
तीनों पदोंका अर्थ 'तत्त्वार्थशास्त्रके आरम्भमें' यही अभीष्ट है। अतः 'सर्वा
आरम्भमें उपलब्ध तत्त्वार्थशास्त्रकी उत्पत्तिबोधक भूमिका' रूप अर्थ वि
ग्रन्थ-सन्दर्भों एवं अभिप्रायके सर्वथा विपरीत है।

इस प्रसंगमें एक बात बड़ी उपहासास्पद कही गयी है कि 'प्रोत्थानार
पदका जो अर्थ 'तत्त्वार्थसूत्रकी उत्पत्तिका निमित्त बतलानेवाली सर्वार्थ
भूमिका' सुझाया है उसी अर्थमें उक्त 'तत्त्वार्थशास्त्रादौ' पद प्रयुक्त हुआ है
यदि कोई पूछे कि 'तत्त्वार्थशास्त्रादौ' पदकी शब्दरचनापरसे तो उक्त अर्थ नहीं
निकलता—उसका तो 'तत्त्वार्थशास्त्रकी आदिमें' यही अर्थ है, तो उत्तरमें
कहा गया है कि '३२ अक्षरवाले इस छोटे से श्लोकमें अधिककी गुंजाइश नहीं है।'
इसपर प्रश्न है कि क्या विद्यानन्दको अपना अन्तिम वक्तव्य उस ३२ अक्षरवाले
अनुष्टुप् छन्दमें ही देनेके लिए कोई बाध्यता थी, जिससे वे अपने आशयको पूरे
तरह व्यक्त भी न कर सकें? यदि नहीं, तो अधिक अक्षरोंवाले बड़े छन्दमें ही १२३वें
पद्यकी भाँति उन्होंने अपना पूरा आशय क्यों नहीं प्रकट किया? दूसरे, यदि उस
अर्थ विद्यानन्दको इष्ट होता तो ३२ अक्षरवाले उक्त श्लोकमें भी वे 'तत्त्वार्थशास्त्रादौ'
पद न देकर 'तत्त्वार्थवृत्त्यादौ' जैसा स्पष्ट पद रखकर उसे प्रकट कर सकते थे।
सर्वार्थसिद्धिका दूसरा नाम 'तत्त्वार्थवृत्ति' भी है, जैसा कि उसके पुष्पिका-वाक्य
और अन्तिम पद्योंसे विदित है। परन्तु विद्यानन्दने 'तत्त्वार्थवृत्त्यादौ' पदका प्रयोग
न करके 'तत्त्वार्थशास्त्रादौ' पदका ही प्रयोग किया है, जो उनके अभिप्रायका सूचक
है और 'प्रोत्थानारम्भकाले' तथा 'शास्त्रावतार' जैसे उनके दूसरे पदोंपर भी प्रकाश
डालता है।

---

१. '...सर्वार्थसिद्धिरिति सद्भिरुपात्तनामा तत्त्वार्थवृत्तिरनिशं मनसा प्रधार्या ॥१॥
तत्त्वार्थवृत्तिमुदितां विदितार्थतत्त्वाः शृण्वन्ति ये परिपठन्ति...।—स. सि. १०-९; पृ ४७६,
भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण।

विद्यानन्दका अभिमत

अब हम विद्यानन्दके ही ग्रन्थोंसे कुछ ऐसे उल्लेखोंको प्रस्तुत करते हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जायेगा कि वे "मोक्षमार्गस्य नेतारम्" मङ्गलश्लोकको तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरण मानते हैं, सर्वार्थसिद्धिका नहीं।

(अ) "कथं पुनस्तत्त्वार्थः शास्त्रं तस्य श्लोकवार्तिकं वा तद्व्याख्यानं वा, येन तदारम्भे परमेष्ठिनामाध्यानं विधीयत इति चेत्, तल्लक्षणयोगत्वात्। वर्णात्मकं हि पदं पदसमुदायविशेषः सूत्रं सूत्रसमूहः प्रकरणं प्रकरणसमितिराह्निकं आह्निक-संघातोऽध्यायः अध्यायसमुदायः शास्त्रमिति शास्त्रलक्षणम्। तच्च तत्त्वार्थस्य दशाध्यायीरूपस्यास्तीति शास्त्रं तत्त्वार्थः।....प्रसिद्धे च तत्त्वार्थस्य शास्त्रत्वे तद्वार्तिकस्य शास्त्रत्वं सिद्धमेव तदर्थत्वात्। वार्तिकं हि सूत्राणामनुपपत्तिचोदना तत्परिहारो विशेषाभिधानं च प्रसिद्धं तत्कथमन्यार्थं भवेत्। तदनेन तद्व्याख्यानस्य शास्त्रत्वं निवेदितम्। ...ततस्तदारम्भे युक्तं परापरगुरुप्रवाहस्याध्यानम्।"—त. श्लो. पृ. २।

यहाँ तत्त्वार्थ, उसके श्लोकवार्तिक और उसके व्याख्यान (भाष्य) तीनोंमें शास्त्रका लक्षण पाये जानेसे उन्हें शास्त्र सिद्ध करके उनके आरम्भमें परमेष्ठिगुण-स्तवनके विधानको युक्त बतलाया गया है। विचारनेकी बात है कि यदि दशाध्यायी-रूप तत्त्वार्थ (तत्त्वार्थसूत्र) के आरम्भमें परमेष्ठीका गुणस्तवन न किया गया होता तो विद्यानन्द उसके आरम्भमें 'तदारम्भे युक्तं परापरगुरुप्रवाहस्याध्यानम्' शब्दों द्वारा उसके किये जानेका औचित्य क्यों प्रदर्शित करते और क्यों उसके आधारपर श्लोकवार्तिक तथा उसके व्याख्यानके आरम्भमें किये गये अपने 'श्रीवर्धमानमाध्याय' आदि परमेष्ठिगुणस्तोत्रको भी युक्त बतलाते? अतः इस उल्लेखसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि विद्यानन्द तत्त्वार्थसूत्रकी आदिमें मंगलाचरण मानते हैं।

(आ) अब विचारणीय है कि वह मंगलाचरण उन्हें कौन-सा इष्ट है? इस विषयमें उन्होंने अपने अभिमतको निम्न प्रकार व्यक्त किया है—

प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे साक्षात्प्रक्षीणकल्मषे।
सिद्धे मुनीन्द्रसंस्तुत्ये मोक्षमार्गस्य नेतरि ॥२॥
सत्यां तत्प्रतिपित्सायामुपयोगात्मकात्मनः।
श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य प्रवृत्तं सूत्रमादिमम् ॥३॥

—त. श्लो पृ. ४

यहाँ तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम सूत्रको सोपपन्न प्रकट करनेके लिए प्रथम पद्यवार्तिक द्वारा बतलाया है कि मुनीन्द्र (तत्त्वार्थसूत्रकर्ता) ने मोक्षमार्गप्रवक्ताको 'प्रबुद्धाशेष-तत्त्वार्थ', 'प्रक्षीणकल्मष' और 'मोक्षमार्गनेता' इन तीन विशेषणोंसे संस्तुति की है, जिससे उसकी सिद्धि होती है। यदि मोक्षमार्गप्रवक्ता (आप्त) न होता तो वे उसकी संस्तुति क्यों करते? यतः उन्होंने उक्त विशेषणोंसे उसकी संस्तुति की है, अतः मोक्षमार्गप्रवक्ता सिद्ध है। दूसरे पद्यवार्तिक द्वारा उन्होंने यह कहा है कि मुमुक्षु आत्मा (प्रतिपाद्य) की मोक्षविषयक जिज्ञासा भी सिद्ध है। इस प्रकार मोक्षमार्ग-प्रवक्ता तथा प्रतिपाद्य-जिज्ञासा दोनोंका सद्भाव सिद्ध होनेसे प्रथम सूत्रका अवतरण (रचा जाना) उचित एवं निर्बाध है। विद्यानन्दके इस प्रतिपादनसे स्पष्ट विदित

होता है कि तत्त्वार्थसूत्रके आरम्भमें उसके कर्त्ताने परमेष्ठीकी संस्तुतिरूप मंगलाचरण किया है। जिन विशेषणों द्वारा विद्यानन्दने मोक्षमार्ग-प्रणेता (आप्त) को मुनीन्द्र-संस्तुत्य प्रकट किया है उन्हीं विशेषणों द्वारा 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मंगलश्लोकमें परमेष्ठी (आप्त) का संस्तवन अभिहित है। अतः 'प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे', 'प्रक्षीणकल्मषे' और 'मोक्षमार्गस्य नेतरि' ये तीन विशेषण 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मंगल श्लोकके 'ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां', 'भेत्तारं कर्मभूभृताम्' और 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इन तीन विशेषणोंके क्रमशः स्मारक हैं या उनकी ही पुनरावृत्ति के लिये गये हैं। अतएव उक्त प्रतिनिधि-पदों तथा 'मुनीन्द्रसंस्तुत्ये सिद्धे' पदोंके प्रयोगसे स्पष्ट अवगत होता है कि तत्त्वार्थसूत्रके आरम्भमें मंगलाचरण किया गया है और वह मंगलाचरण विद्यानन्दको 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मंगलश्लोक अभिमत है।

(ङ) अष्टसहस्रीगत निम्न उल्लेख भी इस प्रसंगमें यहाँ उद्धृत किये जाते हैं, जिनमें तत्त्वार्थशास्त्रको निःश्रेयसशास्त्र (मोक्षशास्त्र) बतलाते हुए उसके आरम्भमें स्तुत आप्तके लिए उन्हीं विशेषणोंका उसी क्रमसे उपादान है जिनका जिस क्रमसे 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' मंगलश्लोकमें निर्देश है—

(१) 'शास्त्रारम्भेऽभिष्टुतस्य मोक्षमार्गप्रणेतृतया कर्मभूभृद्भेत्तृतया विश्वतत्त्वानां ज्ञातृतया च भगवदर्हत्सर्वज्ञस्यैवान्ययोगव्यवच्छेदेन व्यवस्थापनपरा परीक्षेयं विहिता'

—अष्टस. पृ. २९४।

(२) तदेवेदं निःश्रेयसशास्त्रस्यादौ तन्निबन्धनतया मङ्गलार्थतया च मुनिभिः संस्तुतेन निरतिशयगुणेन भगवताप्तेन....'

—अष्टस पृ. १।

इन दोनों ही उल्लेखोंमें तत्त्वार्थसूत्रके आरम्भमें मंगलाचरणके किये जाने और उस मंगलाचरणके 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मंगलस्तोत्रके होनेका स्पष्ट निर्देश है।

(ई) आप्तपरीक्षाके भी निम्न उल्लेख उक्त तथ्यकी पुष्टि करते हैं—

(१) इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुङ्गवाः।

(२) किं पुनस्तत्परमेष्ठिनो गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ सूत्रकाराः प्राहुरिति निगद्यते—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

—(आप्तप. पृ. २, ३)

(३) '....इति मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृतां ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां भगवन्तमर्हन्तमेवान्ययोगव्यवच्छेदेन निर्णीतमहं वन्दे तद्गुणलब्ध्यर्थमिति संक्षेपतः शास्त्रादौ परमेष्ठिगुणस्तोत्रस्य मुनिपुङ्गवैर्विधीयमानस्यान्वयः सम्प्रदायाव्यवच्छेदलक्षणः पदार्थघटनालक्षणो वा लक्षणीयः, प्रपञ्चतस्तदन्वयस्याक्षेपसमाधानलक्षणस्य श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्रस्वामिभिर्देवागमाख्याप्तमीमांसायां प्रकाशनात्। देवागम-तत्त्वार्थालङ्कार-विद्यानन्दमहोदयेषु च तदन्वयस्य (अस्माभिः) व्यवस्थापनात्....।'

—आप्तप. श्लो. १२०, पृ. २६१, २६२; वीरसेवामन्दिर प्रकाशन।

आप्तपरीक्षाके ये उल्लेख स्पष्टतया उक्त बातके समर्थक हैं। यहाँ प्रथम उल्लेखमें विद्यानन्दको 'शास्त्र' शब्दके प्रयोगसे तत्त्वार्थशास्त्र तथा 'मुनिपुङ्गव' पदसे तत्त्वार्थसूत्रकार अभिप्रेत हैं।

दूसरे उल्लेखमें उन्होंने प्रश्नोत्तरपूर्वक स्पष्ट शब्दोंमें 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मंगलस्तोत्रको 'सूत्रकारकृत' बतलाया है। और ये सूत्रकार वे ही सूत्रकार हैं, जिनके सूत्रोंको उन्होंने अपने सभी ग्रन्थोंमें 'सूत्रकार' के नामसे 'सूत्रकारमतम्' (आप्त प. पृ. ६), 'सूत्रकारवचनात्' (आप्त प. पृ. २४२), 'इत्याह सूत्रकारः' (त. श्लो. पृ. १८२), 'निरासायाह सूत्रकृत्' (त. श्लो. पृ. ९१), 'सूत्रकारेण "सूत्रितम्' (त. श्लो. पृ ११२), 'सूत्रकारोऽत्र...प्रतीति' (त. श्लो. ८३),' सूत्रकारोदितं' (अ. स पृ. २६७), 'इति सूत्रकारैः' (अ. स. पृ. २८१), 'सूत्रकारवचनात्' (अ. स. पृ. २८१) जैसे शब्दोंके साथ उद्धृत किया है। सर्वार्थसिद्धिके किसी वाक्यको सूत्र और उसके कर्ताको सूत्रकार अपने किसी भी ग्रन्थमें उन्होंने नहीं कहा।

तीसरे उद्धरणमें आप्तपरीक्षामें उक्त मंगल-श्लोकको ही संक्षेपमें परम्परानुसृत अथवा पदार्थघटना (शब्दार्थ) रूप व्याख्या करनेका निर्देश किया है और यह भी सूचित किया है कि उसका विस्तारसे प्रश्नोत्तररूप व्याख्यान समन्तभद्रस्वामीने देवागम (आप्तमीमांसा) में तथा हमने देवागमालंकार, तत्त्वार्थालंकार और विद्यानन्दमहोदयमें किया है।

विद्यानन्दका यह सब प्रतिपादन बतलाता है कि उक्त मंगल-श्लोक उन्हें तत्त्वार्थसूत्रका ही मंगलाचरण मान्य है।

ध्यान रहे, प्रथम युक्तिके अन्तर्गत उसपरसे जिन तीन सूचनाओंको फलित किया गया है उनमें प्रथमकी दो सूचनाओंके विषयमें किसीको विवाद नहीं है। आप्तपरीक्षा और अष्टसहस्री ग्रन्थ 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मंगल-श्लोकमें स्तुत आप्तकी परीक्षाके लिए लिखे गये हैं तथा इसीकी मीमांसाके लिए स्वामी समन्तभद्रने आप्तमीमांसा रची है, इन दोनों बातोंको हम भी मानते हैं। अतः उनपर विचार न करके केवल तीसरी सूचनापर ही ऊपर विस्तृत चिन्तन किया गया है।

(२) अब दूसरी युक्तिपर विचार किया जाता है—

(क) यद्यपि तत्त्वार्थसूत्रके टीकाकारों—पूज्यपाद, अकलंक और विद्यानन्दने अपनी टीकाओं—तत्त्वार्थवृत्ति, तत्त्वार्थवार्तिक और तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिकमें 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मंगल श्लोककी पदार्थघटनारूप व्याख्या नहीं की। परन्तु उससे यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि इस कारण वह तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण नहीं है। सच तो यह है कि मंगलाचरण ग्रन्थकर्ताकी एक श्रद्धा है, जो उसकी आस्तिकताका सूचक होता है। वह ग्रन्थान्तके प्रशस्ति-पद्यकी भाँति ग्रन्थका अन्तरंग भाग नहीं होता। विवेच्य (वर्ण्य) विषय जहाँसे आरम्भ होता और जहाँ समाप्त होता है वही मूल-ग्रन्थ कहलाता है। अतः व्याख्याकारको मूल ग्रन्थकी ही व्याख्या करना आवश्यक है। भले ही वह मूल ग्रन्थके भी किसी पद-वाक्यादिको सुगम कहकर अव्याख्यात छोड़ दे। किन्तु मंगलाचरण और प्रशस्ति पद्यकी व्याख्या करना उसके लिए अनिवार्य नहीं है। यह दूसरी बात है कि कुछ व्याख्याकार उनकी भी व्याख्या कर देते हैं। यहाँ कुछ ऐसे उदाहरण प्रस्तुत हैं, जिनमें व्याख्याकारने मूल ग्रन्थकी ही व्याख्या की है, मंगलाचरणकी नहीं—

(१) श्वेताम्बर परम्परामें प्रसिद्ध 'कर्मस्तव' और 'षडशीति' नामके द्वितीय एवं चतुर्थ कर्मग्रन्थोंमें मंगलाचरण किया गया है। परन्तु उनके भाष्योंमें मूलके

अकलंकने 'देवागमेत्यादिमङ्गलपुरस्सरस्तवविषयपरमात्मगुणातिशयपरीक्षामुपक्षिपतैव' शब्दों द्वारा और विद्यानन्दने अष्टसहस्रीके मंगलपद्यमें 'शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं कृतिरलंक्रियते मयाऽस्य' पदों द्वारा प्रकट किया है कि आप्तमीमांसा उसी आप्तके विशेषणोंके व्यतिरेक-व्याख्यानमें लिखी गयी है जिसकी उन विशेषणों द्वारा 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि स्तवमें संस्तुति की गयी है। अतः इन व्याख्याकारोंको उसकी व्याख्या करना आवश्यक नहीं रहा। फिर विद्यानन्दने तो यह भी सूचित किया है कि उनकी अष्टसहस्री भी, जो आप्तमीमांसाकी अलंकृति है, उसी मंगलश्लोकके व्याख्यानमें रचित है। आप्तपरीक्षा (पृ २६१,२६२,२६५)में भी सूचना है कि वह भी आप्तमीमांसाकी तरह उक्त मंगलश्लोककी व्याख्या है। साथ ही यह भी निर्देश है कि उसकी विशेष स्थापना (व्यवस्था) देवागमालंकार, तत्त्वार्थालंकार और विद्यानन्दमहोदयमें की है। इससे यह भी सिद्ध है कि उक्त मंगलस्तोत्रकी व्याख्या तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें भी की गयी है। व्याख्याका अर्थ केवल शब्दार्थ ही नहीं है, अपितु उसमें प्रतिपादित आप्तगुणोंकी परीक्षाद्वारा व्यवस्था करना भी है और वह व्याख्या आप्तमीमांसा, अष्टसहस्री तथा आप्तपरीक्षाकी भाँति तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें भी उपलब्ध है। अतः व्याख्याकारों द्वारा मंगलाचरणकी व्याख्या न होनेका प्रश्न उठाकर उसे तत्त्वार्थसूत्रका मंगलश्लोक न मानने और सर्वार्थसिद्धिका मंगलाचरण सिद्ध करनेका प्रयास तथ्यपूर्ण नहीं है।

(ङ) प्रतीत होता है कि उपर्युक्त मूर्धन्य व्याख्याकारों द्वारा उक्त मंगलस्तोत्रकी शब्दार्थरूप व्याख्या न किये जानेसे उत्तरकालमें जब उसके कर्तृत्व-विषयमें सन्देह उठने लगा तो उत्तरवर्ती तत्त्वार्थसूत्र व्याख्याताओंने अपनी व्याख्याओंमें उसकी शब्दार्थरूप व्याख्या भी निबद्ध की है। बालचन्द्र, योगदेव, भास्करानन्दी, श्रुतसागर आदिकी तत्त्वार्थसूत्र-टीकाओंमें उक्त मंगलश्लोककी व्याख्या सुस्पष्टतया मिलती है, जो शब्दार्थरूप ही है और इन सभी टीकाकारोंने उसे सूत्रकारकृत बतलाया है।

(३) अब तीसरी युक्ति विचार-प्राप्त है। इस युक्तिका आधार विद्यानन्दके दो उद्धरण बतलाये गये हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

(१) तेनेन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणमित्येतत् सूत्रोपात्तमुक्तं भवति। ततः प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा। द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम्॥ सूत्रकारा इति ज्ञेयमाकलङ्कावबोधने।—त. श्लो. पृ. १८४।

(२) तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वामिप्रभृतिभिः।—आ. प. पृ. ६४।

इन उद्धरणोंको प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि प्रथम उद्धरणमें 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्ष' आदि वाक्य तत्त्वार्थवार्तिकका है, जिसे विद्यानन्द 'इत्येतत् सूत्रोपात्तं' शब्दोंके द्वारा 'सूत्र' बतलाते हैं तथा 'प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः' श्लोक न्यायविनिश्चय (पृ. ३) का है, जो अकलंकरचित है और जिन्हें विद्यानन्दने 'सूत्रकाराः' पदके प्रयोग द्वारा 'सूत्रकार' कहा है। इसी प्रकार द्वितीय उद्धरणमें उमास्वामीके साथ 'प्रभृति' शब्दसे उन्होंने पूज्यपाद आदि आचार्योंको भी सूत्रकार होना सूचित किया है। इस तरह विद्यानन्द जब तत्त्वार्थवार्तिकको 'सूत्र' और अकलंकको 'सूत्रकार' कह सकते हैं तो सर्वार्थसिद्धिको, जो तत्त्वार्थवार्तिकके लिए सूत्रकल्प ही है, 'सूत्र' और सर्वार्थ-

विनिश्चयमें प्रतिपादित प्रत्यक्षलक्षण दोनोंको सूत्रसंगत बतलाते हुए विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें जो अकलंकानुसारी प्रतिपादन किया है उसीका एक अधूरा अंश उक्त उद्धरणमें उद्धृत किया गया है। यहाँ वह पूरा उद्धरण दिया जाता है, जिससे वस्तुस्थितिका सही आकलन किया जा सकेगा—

> 'ज्ञानग्रहणसंबन्धात्केवलावधिदर्शने।
> व्युदस्येते प्रमाणाभिसंबन्धादप्रमाणता॥
> सम्यगित्यधिकाराच्च विभंगज्ञानवर्जनम्।
> प्रत्यक्षमिति शब्दाच्च परापेक्षानिवर्तनम्॥

न ह्यक्षमात्मानमेवाश्रितं परमिन्द्रियमनिन्द्रियं वापेक्षते, यतः प्रत्यक्षशब्ददेव परापेक्षानिवृत्तिर्न भवेत्। तेन 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणम्' इत्येतद् (वार्तिकं) सूत्रोपात्तमुक्तं भवति। ततः—

> प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमंजसा।
> द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम्॥
> सूत्रकारा इति ज्ञेयमाकलङ्कावबोधने।
> प्रधानगुणभावेन लक्षणस्याभिधानतः॥

यदा प्रधानभावेन द्रव्यार्थात्मवेदनं प्रत्यक्षलक्षणं तदा स्पष्टमित्यनेन मतिश्रुत-मिन्द्रियानिन्द्रियापेक्षं व्युदस्यते, तस्य साकल्येनास्पष्टत्वात्। यदा तु गुणभावेन तदा प्रादेशिकप्रत्यक्षवर्जनं तस्याश्रियते, व्यवहाराश्रयणात्। साकारमिति वचनान्निराकार-दर्शनव्युदासः। अंजसेति विशेषणाद्विभंगज्ञानमिन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षाभासमुत्सारितम्। तच्चेदंविधं द्रव्यादिगोचरमेव नान्यदिति विषयविशेषवचनाद्दर्शितम्। ततः सूत्र-वार्तिकाविरोधः सिद्धो भवति।'

इस उद्धरणमें विद्यानन्दने आचार्य गृद्धपिच्छके तत्त्वार्थसूत्रगत प्रत्यक्षप्रतिपादक सूत्र और अकलंकदेवके तत्त्वार्थवार्तिकके प्रत्यक्षानुवादक वार्तिकमें अविरोध सिद्ध करते हुए बतलाया है कि 'प्रकृत सूत्र' में ज्ञानके ग्रहणका सम्बन्ध होनेसे केवलदर्शन और अवधिदर्शनरूप निराकार दर्शनका, 'प्रमाण'का प्रकरण होनेसे अप्रमाणताका तथा 'सम्यक्'का अधिकार होनेसे विभंगज्ञानका परिहार सिद्ध है और 'प्रत्यक्ष' शब्दके प्रयोगसे परापेक्षा—इन्द्रियानिन्द्रियसहकारिताकी भी निवृत्ति हो जाती है। यह नहीं कि आत्माकी ही अपेक्षासे होनेवाला प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मनरूप परकी अपेक्षा रखे, जिससे 'प्रत्यक्ष' शब्दसे ही उनकी निवृत्ति न हो। अतः 'इन्द्रियानिन्द्रि-यानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणम्' यह जो 'प्रत्यक्षमन्यत्' [त. सू. १-१२] सूत्रका तत्त्वार्थवार्तिकगत वार्तिक है वह सूत्रोक्तके समर्थनरूपसे ही उक्त हुआ है—सूत्र-कथित प्रत्यक्षलक्षणका ही वह अनुवाद है। और इसलिए 'द्रव्यपर्याय अथवा सामान्य-विशेषरूप अर्थ एवं आत्माके—स्व-परके—स्पष्ट, साकार और आंजस (सम्यक्) ज्ञान-को सूत्रकारने प्रत्यक्षका लक्षण प्रतिपादित किया है' यह अकलंकका (उनके तत्त्वार्थ-वार्तिक और न्यायविनिश्चयादि ग्रन्थोंका) आशय है, यह जानना चाहिए, क्योंकि प्रधान और गौणभावसे लक्षणका कथन किया गया है।' इसके बाद प्रधान और गौण लक्षणके स्पष्टीकरणके साथ न्यायविनिश्चयगत प्रत्यक्षलक्षणमें प्रयुक्त स्पष्ट, साकार और अंजसा विशेषणोंकी भी सार्थकता प्रदर्शित करते हुए उनकी संगति 'प्रत्यक्षमन्यत्'

[त. सू. १-१२] सूत्रके व्याख्यानमें रचे अकलंकदेवके ही तत्त्वार्थवार्तिकगत वार्तिक 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्ष' आदि वार्तिकके विशेषणोंके साथ बिठलाई गयी है और अन्तमें नतीजा निकालते हुए लिखा है कि—'इससे सिद्ध है कि सूत्र और तत्त्वार्थवार्तिकके वार्तिकमें कोई विरोध नहीं है।'

इस सारी वस्तुस्थितिपर-से स्पष्ट है कि विद्यानन्दने यहाँ कहीं भी तत्त्वार्थवार्तिकके लिए 'सूत्र' शब्दका और अकलंकदेवके लिए 'सूत्रकार' शब्दका प्रयोग नहीं किया। 'सूत्रोपात्तं' और 'सूत्र-वार्तिकाविरोधः' इन दो पदोंमें जो 'सूत्र' शब्दका प्रयोग है वह उमास्वामीकृत तत्त्वार्थसूत्रके उस १२वें 'प्रत्यक्षमन्यत्' सूत्रके लिए किया गया है जिसके साथ 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्ष' इत्यादि अकलंककृत तत्त्वार्थवार्तिकके वार्तिकका विरोध-परिहार किया है तथा 'प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः' इत्यादि न्यायविनिश्चयगत अकलंक-कारिकाकी भी उसके साथ संगति दिखाई गयी है। स्मरण रहे, विद्यानन्दने इस कारिकाको तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका भी वार्तिक बनाकर उसे ग्रहण किया है। इसमें अकलंकदेव द्वारा प्रयुक्त 'प्राहुः' क्रियापदका कर्ता उनके द्वारा उक्त न होनेसे अध्याहृत था, जिसे विद्यानन्दने अगले पद्यवार्तिकमें 'सूत्रकाराः' पद देकर सूचित किया है। और यह 'सूत्रकाराः' पद उन सूत्रकार आचार्य उमास्वामीके लिए ही प्रयुक्त हुआ है जिनके उक्त १२वें सूत्रके साथ अकलंक-वार्तिकके विरोधका परिहार किया गया तथा अकलंक-कारिकाकी भी संगति बिठलायी गयी है। इस प्रकार विद्यानन्दने अकलंकदेवके तत्त्वार्थवार्तिक और न्यायविनिश्चयगत उक्त दोनों प्रत्यक्ष-लक्षण सम्बन्धी उद्धरणों (वार्तिक और कारिका) को प्रस्तुत करके उन्हें [illegible] उक्त १२वें सूत्रका अविरोधी बतलाया है। अकलंकदेवने स्वयं तत्त्वार्थवार्तिकमें अपने उक्त वार्तिकको शंका-समाधानपूर्वक उक्त १२वें सूत्रके साथ संगत एवं उसके अनुकूल सिद्ध किया है, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं। कारिकामें प्रत्यक्षलक्षण[illegible] 'स्पष्ट, साकार, अञ्जसा' तीन विशेषणोंका प्रयोग है वे क्रमशः वार्तिकके [illegible] 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्ष, साकारग्रहण, अतीतव्यभिचार' इन तीन पदोंके [illegible] हैं। इसलिए अकलंक द्वारा प्रयुक्त 'प्राहुः' क्रियाका कर्ता स्वयं अकलंक [illegible] [illegible] उसका कर्ता उन्हें वे ही सूत्रकार अभिप्रेत हैं जिनके सूत्रके साथ उन्होंने अपने वार्तिक और कारिकाकी संगति बिठाकर उन्हें उसका ही अनुवाद बतलाया है। [illegible] उक्त प्रकरणमें आये 'सूत्र' और 'सूत्रकार' शब्दोंका [illegible] और अकलंकको बतलाना सर्वथा भ्रान्त एवं [illegible] है।

[illegible] है कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके उक्त प्रकरणमें आये 'सूत्र' [illegible] [illegible] प्रयुक्त देखने और प्रकरणके [illegible] [illegible] सिद्धो भवति' इस वाक्यपर दृष्टि न जानेसे ही भ्रम हुआ [illegible] 'सूत्रकार' शब्दको भ्रमसे तत्त्वार्थवार्तिक और अकलंक [illegible] [illegible] है। [illegible] आधार यह [illegible] भी बना [illegible] [illegible] है कि वे अपने ग्रन्थोंमें किसी भी [illegible] 'सूत्र' [illegible] 'सूत्र' लिखते हैं।' किन्तु ऊपर [illegible] [illegible] [illegible] है और न उसके [illegible]

यहाँ हम विद्यानन्दके ग्रन्थोंके कुछ अवतरण प्रस्तुत कर रहे हैं जिनमे देखेंगे कि उन्होंने अकलंकदेवका उल्लेख अकलंक नामसे या वृत्तिकार या वार्तिककार आदि रूपसे किया है, 'सूत्रकार' रूपसे नहीं—

(क) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक

१. द्वित्वसंख्याविशेषोऽत्राकलंकैरभ्यधायि यः।—पृ. १८२, वा. १७८।
२. श्रुतस्वरूपप्रतिपादकमकलंकग्रन्थमनुवादपुरस्सरं विचारयति। पृ. २३९।
३. अत्राकलंकदेवाः प्राहुः। —पृ. २३९।
४. इति व्याख्यानमकलंकमनुसर्तव्यम्।—पृ. २४०।
५. नाकलंकवचोबाधा संभवत्यत्र जातुचित्।—पृ २४१।
६. 'श्रुतं शब्दानुयोजनादेव 'इत्यवधारणस्याकलंकाभिप्रेतस्य कदाचिद्विरोधाभावात्।—पृ. २४२।
७. सिद्धे वाऽत्राकलंकस्य महतो न्यायवेदिनः।—पृ. २७७।
८. तत्रेह तात्त्विके वादेऽकलंकैः कथितो जयः।—पृ. २८१।
९. जातिरकलंकोक्तलक्षणा।—पृ. ३०९।
१०. जातिलक्षणमकलंकप्रणीतमस्तु किमपरेण।—पृ. ३१०।

(ख) अष्टसहस्री

१. तद्वृत्तिकारैरपि तत एवोद्दीपीकृतेत्यादिना। पृ—२।
२. वृत्तिकारास्त्वकलंकदेवा एवमाचक्षते—। पृ. १०१।
३. इति व्याख्यानमकलंकदेवैरभ्यधायि।—पृ. १३९।
४. इति तात्पर्यव्याख्यानमकलंकदेवानाम्।—पृ. १५०।

(ग) प्रमाणपरीक्षा

१. तथा चोक्तं तत्त्वार्थवार्तिककारैः 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षमिति।—[१-१२] पृ. ३८।
२. तत्त्वार्थवार्तिककारैरभिधानात्।—पृ. ४१।
३. तदुक्तमकलंकदेवैः [लघी० १-३]—पृ ४२।

(घ) पत्रपरीक्षा

१. श्रीमदकलंकदेवस्य प्रत्यक्षं विशद ज्ञानं...।—पृ. ४।
२. अकलंकवचो यद्वत्।—पृ. ५।

(ङ) आप्तपरीक्षा

१. तथा चोक्तमकलंकदेवैः....।—पृ. १९८।

(च) युक्त्यनुशासनटीका

१. प्रश्नवशादेकवस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभङ्गीति वार्तिककारवचनात्।—पृ. १०७।

इन अवतरणोंमें विद्यानन्दने अकलंकदेवके वचनोंको उनके नामसे या वृत्तिकार और तत्त्वार्थवार्तिककार या वार्तिककारके नामसे ही उद्धृत किया है, 'सूत्रकार' नामसे उनके एक भी वचनका उल्लेख नहीं किया। इस प्रकार विद्यानन्दकी शैलीको

मंगलाचरण करनेकी पद्धति नहीं है।

२. यदि यह सूत्रकारकृत होता और तत्त्वार्थसूत्रका ही अंग होता, तो उसकी व्याख्या करनेवाले पूज्यपाद, अकलंक और विद्यानन्द आदि आचार्योंने अपने सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक आदि व्याख्याग्रन्थोंमें इसका व्याख्यान अथवा निर्देश अवश्य किया होता।

३. यदि पूज्यपादने स्वयं इसे न बनाया होता और वे इसे सूत्रकारकृत समझते तो वे सर्वार्थसिद्धिमें इसका व्याख्यान अवश्य करते।

४. सर्वार्थसिद्धिपर प्रभाचन्द्रकृत तत्त्वार्थवृत्तिपद-विवरण नामका एक विवरण उपलब्ध है। उसमें इस मंगलश्लोकको सर्वार्थसिद्धिका मानकर उसका यथावत् व्याख्यान किया है।

५. तत्त्वार्थसूत्र थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ श्वेताम्बर-परम्परामें भी मान्य है। उसपर एक स्वयं सूत्रकारका स्वोपज्ञ भाष्य भी प्रसिद्ध है। सिद्धसेनगणि, हरिभद्र, यशोविजय उपाध्याय आदि-आदि आचार्योंने इसपर टीकाएँ लिखी हैं। इन सभी व्याख्याओंमें इस मंगलश्लोकका उल्लेख तक नहीं है। यदि यह स्वयं उमास्वामिकृत होता, तो कोई कारण नहीं था कि इन श्वेताम्बर व्याख्याओंमें न पाया जाता। इस श्लोकमें कोई भी ऐसी साम्प्रदायिक वस्तु नहीं है, जिसमें साम्प्रदायिकताके कारण इसके छोड़नेका प्रसंग आता। यदि इन प्राचीन आचार्योंको यह ज्ञात होता कि यह श्लोक सूत्रकारका है, तो वे इस अमूल्य बेजोड़ श्लोकरत्नको कभी भी न छोड़ते। वे इसपर व्याख्या करते और स्वतन्त्र ग्रन्थ तक रचते।

इत्यादि कारणोंसे यह निःसंकोच कह सकते हैं कि यह श्लोक स्वयं सूत्रकारकृत नहीं है, पूज्यपादकृत है।"

उक्त कारणोंकी समीक्षा :

१. प्रथम कारण ऐसा नहीं है, जो विषयका निर्णायक हो सके, क्योंकि देखनेमें ऐसे प्राचीन आस्तिक सूत्र-ग्रन्थ न भी आये हों, जिनमें मंगलाचरण किया गया हो, तो इतनेसे यह नतीजा नहीं निकाला जा सकता है कि उमास्वामिकाल तक सूत्रग्रन्थोंमें मंगलाचरणकी पद्धति नहीं थी। इसके अतिरिक्त ऐसे अनेक प्राचीन सूत्र-ग्रन्थ दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओंमें पाये जाते हैं, जिनमें मंगलाचरण किया गया है। यहाँ उनमें-से कुछके नाम मंगलाचरणकी सूचना सहित प्रकट किये जाते हैं—

(अ) दिगम्बर जैन सूत्रग्रन्थ—

(१) षट्खण्डागम—यह पुष्पदन्त-भूतबली आचार्य प्रणीत अतिप्राचीन आस्तिक सूत्र ग्रन्थ है। इसमें मंगलाचरण किया गया है। इसके प्रथम खण्ड 'जीवट्ठाण' की आदिमें 'णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं' इत्यादि प्रसिद्ध णमोकार मन्त्र मंगलाचरणके रूपमें निबद्ध है। 'वेयणाखण्ड' की आदिमें 'णमो जिणाणं' इत्यादि ४४ मंगलसूत्र दिये हैं, जिनके विषयमें आचार्य वीरसेनने उसकी टीका 'धवला' में लिखा है कि 'ये गौतमस्वामिप्रणीत 'महाकम्मपयडीपाहुड' के आदिके मंगलसूत्र हैं, वहींसे लाकर भूतबलि आचार्यने उन्हें उस कम्मपयडीपाहुडके उपसंहाररूप इस वेदनाखण्ड-

पद्धतिकी उपलब्धिका कथन, जिससे पूज्यपादके लिए मंगलश्लोककी टीका करना अनिवार्य नहीं।

(१२) आ. पूज्यपाद द्वारा सर्वार्थसिद्धिमें उक्त मंगलश्लोकको अपना लेनेकी बात और दूसरोंके द्वारा भी दूसरेके मंगलाचरणको अपनाये जानेके प्रमाणोंका उल्लेख, जिससे सर्वार्थसिद्धिमें मंगलश्लोककी व्याख्या लाजिमी नहीं रहती।

(१३) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें वर्णित वार्तिकके लक्षणानुसार तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और तत्त्वार्थवार्तिकमें मंगलश्लोकका पदार्थघटनारूप व्याख्यान न होनेपर भी उनमें उक्त मंगलश्लोकका आक्षेप-समाधानरूप व्याख्यान किये जानेका स्पष्टीकरण।

(१४) तीसरा कारण दूसरे कारणसे भिन्न नहीं है, इसका निर्देश और पाँचवें कारणके तीन अवयव मानकर उनका सविस्तर उत्तर।

अब उत्तरलेखकी बातोंपर विचार किया जाता है। उनमें भी सबसे पहले उन बातोंपर, जो मेरे लेखके कुछ मुद्दोंको आक्षेप और अपने परिहारके रूपमें कही गयी हैं, विमर्श प्रस्तुत है।

आक्षेप-परिहार-समीक्षा

यहाँ परिहारका सार प्रत्याक्षेपके रूपमें और उसकी समीक्षा समाधानके रूपमें प्रस्तुत है—

१. प्रत्याक्षेप–'तदारम्भे' पदमें आये 'तत्' शब्दका वाच्य तत्त्वार्थसूत्र न होकर श्लोकवार्तिक है। यहाँ श्लोकवार्तिकके आदिमें किये गये 'श्रीवर्धमानमाध्याय' मंगलश्लोकका औचित्य सिद्ध किया है। और 'मुनीन्द्र' पदसे विद्यानन्दको गणधर आदि विवक्षित हैं, न कि उमास्वामी।

१. समाधान—आ. विद्यानन्द 'शास्त्र'के आदिमें मंगलाचरणको आवश्यकता मानते हैं, इसलिए 'कथं पुनस्तत्त्वार्थः शास्त्रं....' इत्यादिके द्वारा तत्त्वार्थसूत्र, श्लोकवार्तिक और उसके व्याख्यान इन तीनोंको शास्त्र सिद्ध करके 'ततस्तदारम्भे' पदके द्वारा श्लोकवार्तिक और उसके व्याख्यानके साथमें तत्त्वार्थशास्त्ररूप शास्त्रके आरम्भमें भी मंगलाचरण—परापरगुरुका आख्यान (स्मरण) करना युक्त बतलाया गया है। अतः 'तदारम्भे' पदमें आये हुए 'तत्' शब्दका वाच्य 'शास्त्र'—तत्त्वार्थशास्त्र, उसका श्लोकवार्तिक और उसका व्याख्यान तीनों विद्यानन्दको विवक्षित हैं। तत्त्वार्थशास्त्रमें शास्त्रका लक्षण पाये जानेसे वह मुख्यशास्त्र है और श्लोकवार्तिक तथा उसका व्याख्यान उसीपर रचे जानेसे वे भी शास्त्र कहे गये हैं। अतः 'तदारम्भे' पदमें आये 'तत्' शब्दका वाच्य तत्त्वार्थशास्त्रका व्यवच्छेद कर मात्र श्लोकवार्तिक नहीं है अपितु तीनों हैं। इस बातको श्लोकवार्तिकके इस पूरे स्थलपर ध्यान देनेपर सहज ही जाना जा सकता है।

'मुनीन्द्रसंस्तुत्ये' पदमें आये हुए 'मुनीन्द्र' पदसे विद्यानन्दको वे ही आचार्य विवक्षित हैं जिन्होंने मोक्षमार्गप्रणेतृत्व, कर्मभूभृद्भेतृत्व और विश्वतत्त्वज्ञातृत्व इन तीन विशेषणोंसे आप्तकी स्तुति की है और वे हैं उमास्वामी। उमास्वामीने ही 'मोक्ष-

मार्गस्य नेतारम्' आदि मंगलश्लोकमें उन्हीं विशेषणोंसे आप्तस्तुति की है, गणधर आदिने नहीं और इसलिए विद्यानन्दको 'मुनीन्द्र' पदसे प्रकृतमें वे विवक्षित नहीं हैं। विद्यानन्दके 'मुनीन्द्रागामादिसूत्रप्रवर्तनम्' आदि प्रतिपादनोंमें आये 'मुनीन्द्र' पदसे भी जाना जाता है कि उन्हें 'मुनीन्द्र' पदसे आदिसूत्र (सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः) के प्रवर्तक—रचयिता अभीष्ट हैं। और वे 'उमास्वामी हैं, गणधरदेव नहीं। श्लोकवार्तिकके इस प्रकरण और उनके अन्य ग्रन्थोंके सन्दर्भोंसे यह स्पष्ट हो जाता है। यदि 'मुनीन्द्र' पदका व्यापक अर्थ भी लिया जाय तब भी विद्यानन्दके लिए परगुरुके साथ अपरगुरु भी उससे ग्राह्य हैं और अपरगुरुमें 'एतेनापरगुरुर्गणधरादिः सूत्रकारपर्यन्तो व्याख्यातः' (त. श्लो. पृ. ४) शब्दों द्वारा सूत्रकार उमास्वामी भी गृहीत हैं। अतः 'मुनीन्द्रसंस्तुत्ये...प्रयुक्तं सूत्रमादिमम्' में आये 'मुनीन्द्र' पदसे विद्यानन्दको गणधरके सिवाय सूत्रकार (उमास्वामी) भी अभिप्रेत हैं।

२. प्रश्नोत्तर—बिना प्राचीन प्रतियोंके आधारके आप्तपरीक्षाके 'तत्त्वार्थसूत्रकारैः उमास्वामिप्रभृतिभिः' पाठकी जगह 'तत्त्वार्थसूत्रकारादिभिः उमास्वामिप्रभृतिभिः' इस अन्य पाठकी कल्पना इतिहासके क्षेत्रमें ग्राह्य नहीं हो सकती।

३. समाधान—'तत्त्वार्थसूत्रकारादिभिः' पाठकी कल्पना 'प्रभृति' शब्दके प्रयोग [illegible] अनुरूप है—यह असंगत नहीं है। उसकी पुष्टिमें अनेक प्रमाण भी दिये [illegible] जिनपर ध्यान नहीं दिया गया जान पड़ता है। यथार्थमें [illegible] 'तत्त्वार्थसूत्रकार' के साथ 'आदि' शब्द हो। [illegible] रचयिता 'उमास्वामिप्रभृति' अनेक आचार्य कैसे हो [illegible] 'उमास्वामिप्रभृतिभिः' के साथ 'प्रभृति' शब्द नहीं होता [illegible] माना जाय तो 'तत्त्वार्थसूत्रकारैः' पदके साथ [illegible] तभी दोनों पदोंकी संगति ठीक बैठती है। यह [illegible] है, यह सन्दर्भानुसार अर्थसंगतिकी वस्तु है। इतिहास भी [illegible] आधारपर ही तैयार होता है और जब उसकी [illegible] प्रामाणिक बन जाती है और इतिहास निर्माण करती [illegible] अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं और [illegible] प्राचीन प्रतियोंमें ऐसा ही पाठ मिले। ऐसी स्थिति [illegible] नहीं कहा जा सकता है।

[illegible] प्राचीन हस्तलिखित [illegible] आदिकी प्रतियोंमें [illegible] हो नहीं है, और उनके बिना [illegible] अन्तर्गत आती है। [illegible]

[illegible]

[illegible]

चरण करनेकी पद्धति दृष्टिगोचर नहीं होनेसे है।

३. समाधान—प्रथम तो सूत्र-ग्रन्थ संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओंमें निबद्ध पाये जाते हैं। यदि संस्कृत-भाषाके ही सूत्र-ग्रन्थ अभिप्रेत थे, तो पहले ही 'संस्कृत' विशेषण साथमें देकर अपने अभीष्ट तात्पर्यको प्रकट करना चाहिए था। दूसरे, संस्कृत सूत्र-ग्रन्थोंमें भी श्वेताम्बर 'तत्त्वार्थसूत्र'का उदाहरण है, जिसके आरम्भमें वह 'कृत्वा त्रिकरणशुद्धं' मंगलपद्य भी है जो ३१ सम्बन्धकारिकाओंके साथ दिया गया है। इसके अतिरिक्त 'ब्रह्मसूत्र' आदिमें भी 'अथ' शब्दके द्वारा मंगलाचरण अभिहित है और 'अथ' शब्दको मंगलात्मक माना गया है। जैसा कि निम्न प्रमाणसे प्रकट है—

ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ ॥

—वैशेषि. सूत्रोप. पृ. २।

४. प्रत्याक्षेप—वे ३१ कारिकाएँ मूलकी नहीं हैं, भाष्यकी हैं। तत्त्वार्थसूत्र बना चुकनेके बाद उमास्वातिने भाष्य बनाते समय उन्हें मूलग्रन्थको लक्ष्य करके भाष्यके अंग रूपमें बनायी हैं।

४. समाधान—उक्त कारिकाएँ मूलग्रन्थके साथ ही निबद्ध हैं। तत्त्वार्थसूत्र बना चुकनेके बाद उमास्वातिने उनकी रचना नहीं की; जैसा कि निम्न २२वीं कारिकासे स्पष्टतया प्रकट है, जो मूल ग्रन्थका नाम, विषय, प्रकृति, आकृति और प्रयोजनका उल्लेख करके उसके रचनेकी प्रतिज्ञाको लिये हुए है—

तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं संग्रहं लघुग्रन्थम्।
वक्ष्यामि शिष्यहितमिममर्हद्वचनैकदेशस्य ॥

'मैं (उमास्वाति) जिनेन्द्रभगवान्‌के वचनोंके एकदेशके संग्रहरूप इस अर्थबहुल लघुग्रन्थ तत्त्वार्थाधिगमको शिष्यहितार्थ कहूँगा।'

इस कारिकाके ठीक पूर्ववर्ती २१वीं कारिका 'कृत्वा त्रिकरणशुद्धं तस्मै परमर्षये नमस्कारम्' इत्यादि है जिसमें वीर भगवान्‌के नमस्कारात्मक मंगलका प्रतिपादन है। इस मंगलाचरणके करनेके बाद अपने ग्रन्थ रचनेके उद्देश्यको प्रकट करनेके लिए ही उक्त २२वीं कारिका रची गयी है। यहाँ इस कारिकामें आया हुआ 'वक्ष्यामि' पद ध्यातव्य है और उससे प्रकट है कि कम-से-कम इस २२वीं कारिका तक तो तत्त्वार्थसूत्रकी रचना नहीं हुई है। अन्यथा, तत्त्वार्थसूत्र बना चुकनेके बाद यदि भाष्य बनाते समय यह कारिका रची गयी होती तो आ. उमास्वाति 'वक्ष्यामि' पदका प्रयोग न करके 'उक्तं' जैसे पदका ही प्रयोग करते। तत्त्वार्थसूत्रकी उस सटिप्पण प्रतिसे भी वे कारिकाएँ मूलके साथ निबद्ध हुई जानी जाती हैं, जिसका परिचय आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार सम्पादक 'अनेकान्त' ने[1] दिया है।

५. प्रत्याक्षेप—कर्मग्रन्थोंके भाष्य विशेषावश्यक भाष्यकी तरह अविकल व्याख्यानात्मक न होकर आवश्यकनिर्युक्तिके मूल भाष्यकी तरह पूरक भाष्य हैं और

१. अनेकान्त वर्ष ३, किरण १, पृ. १२१-१२८, सन् १९३९।

इसलिए उनमें मूलग्रन्थके हर एक वाक्यका व्याख्यान करना आवश्यक नहीं है। इसीसे उनमें मंगलगाथाके सिवाय मध्यकी अनेक गाथाओंको भी अव्याख्यात छोड़ दिया है। परन्तु अकलंक और पूज्यपादके अखण्ड व्याख्याग्रन्थ–तत्त्वार्थवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि ऐसे भाष्य नहीं हैं, उनमें मूल ग्रन्थके 'च', 'तु' जैसे शब्दोंको भी अव्याख्यात नहीं छोड़ा। अतः इनके विषयमें मंगलश्लोकको अव्याख्यात छोड़नेकी बात कहना इनकी शैलीको न समझना है।

५. समाधान—पूरकभाष्य वे कहे जाते हैं, जो मात्र छूटे हुए,—पूर्वमें अव्याख्यात विषयपर ही व्याख्या करें। किन्तु ऊपर जिन भाष्योंका हवाला दिया गया है वे व्याख्यात विषयका भी प्रतिपादन करनेसे पूरक भाष्य नहीं कहे जा सकते हैं। और न सर्वार्थसिद्धि तथा तत्त्वार्थवार्तिक अखण्ड व्याख्याग्रन्थ हैं। इनमें भी उक्त भाष्योंकी तरह मंगलश्लोकके अतिरिक्त मध्यके अनेक सूत्रों, पदों और शब्दोंको भी छोड़ दिया गया है। 'च', 'तु' शब्दोंकी तो बात ही क्या है। ऐसी ही स्थिति तत्त्वार्थश्लोकवार्तिककी व्याख्यापद्धतिकी भी है, जिसपर आगेके प्रत्याक्षेपमें जोर दिया गया है। नीचेके कुछ उदाहरणोंपरसे यह विषय बिलकुल स्पष्ट हो जाता है और परिभाषित अखण्ड व्याख्यापद्धतिकी बात गलत ठहरती है।

(१) सर्वार्थसिद्धिके उदाहरण—

(क) अव्याख्यात सूत्र—'लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्'। (अ० ४, सू० ४२)।

(ख) वे सूत्र जिनके रेखांकित पद अव्याख्यात हैं—

१. 'प्रत्यक्षमन्यत्' (अ० १, सू० १२)।

२. 'तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ता.' (अ० ३ सू० २५)।

(३) 'आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन....' (अ० ४, सूत्र ३२)।

(ग) वे सूत्र जिनके उत्थानिका-वाक्य नहीं हैं—

अ० ७ सू० २६, २७, २८, २९, अ० ८ सू० २६।

(घ) वे सूत्र जिनमें प्रयुक्त हुए 'च' 'वा' 'इति' शब्द अव्याख्यात हैं—

अ० ३ सू० ३४, ३९। अ० ५ सू० ७, ३९। अ० ६ सू० १८, २१, २४। अ० ७ सू० १०, ११, १२। अ० ९ सू० ३२, ३३।

(२) तत्त्वार्थवार्तिकके उदाहरण—

(क) अव्याख्यात सूत्र—

'अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य' (अ० ८ सू० १८)

(ख) वे सूत्र, जिनके रेखांकित पद अव्याख्यात हैं—

१. 'शेषाणां संमूर्च्छनम्' (अ० २ सू० ३५)

२. 'आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन...' (अ० ४ सू० ३२)।

(ग) वे सूत्र, जिनके उत्थानिका-वाक्य नहीं हैं—

अ० ७ सू० २६, २७, २८, २९, अ० ८, सू० २६।

(घ) वे सूत्र, जिनमें प्रयुक्त हुए 'च' 'वा' 'इति' और 'अपि' शब्द अव्याख्यात हैं—

अ० २ सू० ४७, ४८। अ० ३ सू० ३९। अ० ५ सू० २०, ३६, ३८। अ० ६ सू० १८, २१, २४। अ० ७ सू० १०, ११, १२। अ० ९ सू० ३२, ३३।

(३) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके उदाहरण—

(क) अव्याख्यातसूत्र—

अ० ४ सू० २८, २९, ३०, ३९।

(ख) वे सूत्र, जिनके रेखांकित पद अव्याख्यात हैं—

१. 'भवनेषु च' (अ० ४ सू० ३७)।

२. 'अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य' (अ० ८ सू० १८)।

(ग) वे सूत्र, जिनमें प्रयुक्त हुए 'च' 'वा' 'इति' और 'अपि' शब्द अव्याख्यात हैं—

अ० २ सू० ४७, ४८। अ० ३ सू० ४०। अ० ५ सू० ७, २०, ३९। अ० ६ सू० २४। अ० ७ सू० १०, ११, १२। अ० ९ सू० ३२, ३३। अ० १० सू० ३।

(घ) वे सूत्र, जिनके वार्तिक नहीं हैं—

अ० २ सू० ३७, ३८, ४१। अ० ३ सू० ११, १२, १३ इत्यादि।

अ० ४ सू० १६, २८, २९, ३० इत्यादि। अ० ८ सू० १९।

(ङ) वे सूत्र, जिनके उत्थानिका-वाक्य नहीं हैं—

अ० २ सू० २५। अ० ३ सू० १, ७, ११, २१। अ० ४ सू० १, २, ३ इत्यादि। अ० ५ सू० १, २, ३ आदि। अ० ६ सू० १, २, १० आदि। अ० ७ सू० १, ३, ११, १२। अ० ८ सू० २५। अ० ९ सू० १ आदि। अ० १० सू० ५।

(च) वे सूत्र, जिनके वार्तिक और व्याख्यान न होनेके साथ-साथ उत्थानिका-वाक्य भी नहीं हैं :—

अ० ४ सू० २९, ३०।

ऐसी हालतमें सर्वार्थसिद्धि आदिको अखण्ड व्याख्या-ग्रन्थ एवं अविकल व्याख्यानात्मक बताकर मंगल-श्लोकके व्याख्यानपर जोर देना और श्वे० कर्मग्रन्थों-के भाष्योंको, जिनमें मंगल-गाथाका व्याख्यान नहीं है और न निर्देश ही है, पूरक भाष्य कहकर व्याख्यान न होनेकी पुष्टि करना तथा उनकी शैलीको न समझनेकी बात कहना समुचित नहीं है।

६. प्रत्याक्षेप—(क) वार्तिकका लक्षण कुछ भी क्यों न हो, पर प्रश्न तो यह है कि जब अकलंकदेव और विद्यानन्द दोनों उमास्वामीके एक भी शब्दको बिना व्याख्या या उत्थानिकाके नहीं छोड़ते, उनपर वार्तिक बनाते हैं, उत्थानिका लिखते हैं और अविकल व्याख्यापद्धतिसे उनकी व्याख्या करते हैं, तब मंगलश्लोक क्यों उन्होंने अछूता छोड़ा ?

(ख) अथवा यह मंगलश्लोक भी सूत्रग्रन्थका अवयव होनेसे सूत्र कहलाया, सूत्र पद्यात्मक भी होते हैं, अतः इसपर वार्तिक बनना न्यायप्राप्त है।

(ग) श्लोकवार्तिकमें किया गया वार्तिकका लक्षण प्रमाणवार्तिकमें अव्याप्त है। वार्तिकका एक व्यापक लक्षण है 'उक्तानुक्तदुरुक्तार्थचिन्ताकारि तु वार्तिकम्'। अतः

८. समाधान—तत्त्वार्थवृत्ति पद विवरण जब एक विवरण ग्रन्थ है तब उसमें केवल अव्यवस्थित रूपसे निर्देश कर देने मात्रको कोई विचारक विद्वान् 'यथावत् व्याख्यान' का रूप नहीं दे सकता। यदि 'यथावत् व्याख्यान' की उक्त परिभाषा मानी जाय, तो वह उस वाक्यार्थमें अतिव्यापक है जो एक ग्रन्थकारने अज्ञान या प्रमादसे अन्यथा किया है। इसी तरह यदि कोई अकलंक अथवा विद्यानन्दके किन्हीं वाक्योंका ठीक अर्थ न समझकर विपरीत व्याख्यान करता है तो उसका वह व्याख्यान भी 'यथावत् व्याख्यान' की कोटिमें आ जायेगा। परन्तु वह न यथावत् व्याख्यान है और न वह विद्वद्ग्राह्य। 'यथावत् व्याख्यान' शब्दका अर्थ व्यवस्थित एवं यथार्थ व्याख्यान ही है। तत्त्वार्थवृत्ति पद विवरणमें उपलब्ध 'अव्यवस्थित व्याख्यान' या 'निर्देशमात्र' यथावत् व्याख्यान नहीं कहा जा सकता।

अनुपपत्तियोंकी अनुपपत्ति—

अब हम उत्तर लेखके आरम्भमें 'कुछ अनुपपत्तियाँ' उपशीर्षकके साथ दी गयीं अनुपपत्तियोंपर भी विचार करते हैं। आश्चर्य है कि जब यह स्वीकार कर लिया गया है कि 'इस मंगलश्लोकको सूत्रकारकृत लिखनेवाले सर्वप्रथम आ. विद्यानन्द हैं' तो वे अनुपपत्तियाँ रहती ही कहाँ हैं? सच तो यह है कि जब उक्त मंगलश्लोकको विद्यानन्दको मान्यतानुसार तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण मान लिया गया तब 'मेरी तो यह अनुपपत्ति थी, जो अब भी कायम है,' 'तो भी अभी तीन प्रश्न अवशिष्ट रह जाते हैं जो इस (विद्यानन्दकी)' मान्यतामें अनुपपत्ति उत्पन्न करते हैं', 'पर प्रश्न तो यह है कि वे (विद्यानन्द) उसे (मंगलश्लोकको) स्पष्टतः तत्त्वार्थसूत्रका अंग भी मानते थे क्या? सन्देहात्मक प्रश्न दोलायमान चित्तवृत्तिके सूचक हैं। ऐसी दशामें वे अनुपपत्तियाँ विचार योग्य नहीं ठहरतीं। यथार्थमें किसी स्थिर पक्षपर ही विचार या विमर्श किया जा सकता है अस्थिर पर नहीं।

हाँ, यदि यही मान्यता कायम रखी जाय कि आ. विद्यानन्द उक्त मंगलश्लोकको तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण नहीं मानते थे, तो उक्त तीन अनुपपत्तियोंपर ही नहीं, अन्य अनुपपत्तियोंपर भी व्यवस्थित विचार किया जा सकता है। पर तब यह मान्यता कि 'इस मंगलश्लोकको सूत्रकार कृत लिखनेवाले सर्वप्रथम आ. विद्यानन्द हैं, समाप्त हो जायेगी। अतः अनुपपत्तियोंमें कोई दम न होनेसे वे विचारयोग्य नहीं हैं।

विद्यानन्द-मान्यताकी पूर्वपरम्परा और आधार

अब हम उक्त लेखकी अवशिष्ट दो बातोंको भी लेते हैं, जो नयी उपस्थित की गयी हैं और जिनमेंसे (१) एक है विद्यानन्दकी मान्यतामें पूर्व-परम्पराका अभाव और (२) दूसरी है विद्यानन्दकी उस मान्यताका आधार-विषयक प्रश्न। इन दोनों बातोंके द्वारा विद्यानन्दकी मान्यताके महत्त्वको कम करनेके लिए यह बतलानेका प्रयास किया गया है कि विद्यानन्दको अपनी इस मान्यताके लिए पूर्वाचार्य-परम्पराका कोई समर्थन प्राप्त नहीं है, वह उनकी निजी मान्यता एवं गलत धारणा है जो अकलंककी अष्टशतीके एक वाक्यके आधारपर उसका गलत अर्थ करके बना ली गयी है। और इसलिए विद्यानन्दने 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि मंगलश्लोकको जो उमास्वातिके

तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण प्रतिपादन किया है यह वास्तविक नहीं है।
आश्चर्य होना स्वाभाविक है। जिन विद्यानन्दको 'सूक्ष्मप्रज्ञ' बतलाया जाता है
न्यायकुमुदचन्द्र-द्वितीय भागकी प्रस्तावनामें 'अतुल तलस्पर्शी पाण्डित्य और
मुखी अध्ययन' के धनी तक प्रकट किया गया है और जिनके वचनोंको प्रमाण मा
उनके आधारपर कुछ ही समय पूर्व यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया था
विद्यानन्दने उक्त मंगलश्लोकको आ. पूज्यपादके द्वारा तत्त्वार्थशास्त्रकी भूमिका ब
समय सर्वार्थसिद्धिके मंगलरूपमें रचा हुआ बतलाया है, उन्हीं विद्यानन्दको
सन्देहकी दृष्टिसे देखा जाने लगा है। अस्तु! यहाँ इस नये मतपर भी विचार कि
जाता है। यद्यपि, विचार करते समय यह आशंका अवश्य हो सकती है कि इ
विचार द्वारा सन्तोष हो सकेगा या नहीं? क्योंकि वे कई शताब्दी पूर्वके बालचन्द्र,
योगीन्द्रदेव और श्रुतसागरादि टीकाकारोंके विषयमें कहा गया था कि उन्होंने उक्त
मंगलश्लोकको तत्त्वार्थसूत्रका जो मंगलाचरण बतलाया है यह उनकी कल्पना है—
उन्हें उसके लिए पूर्व परम्परा प्राप्त नहीं थी; जब विद्यानन्द तकको पूर्व परम्परा
बतला दी गयी तो अब विद्यानन्द-मान्यताकी भी पूर्व परम्पराका प्रश्न उठाया
गया है। यदि विद्यानन्द-मान्यताकी पूर्व परम्परा भी बतला दी गयी तो फिर उन
दूसरे उत्तरोत्तर आचार्योंकी मान्यताका प्रश्न उठाया जायेगा फिर भी उन दोनों
बातोंपर विचार किया जाता है।

१. पूर्वपरम्परा-विचार—

पूर्वपरम्पराके अभाव-सम्बन्धमें जो युक्तियाँ दी गयी हैं उनका सार यह है
कि—विद्यानन्दको तत्त्वार्थसूत्रपर अपने पूर्ववर्ती आचार्योंके दो ही टीकाग्रन्थ
उपलब्ध थे—एक आ. पूज्यपादकी 'सर्वार्थसिद्धि' और दूसरा श्रीअकलंकदेवका
'राजवार्तिक', इन दोनों टीकाग्रन्थोंमें 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' मंगलश्लोककी कोई
व्याख्या नहीं है। यदि यह मंगलश्लोक तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण होता तो पूज्यपाद
और अकलंकदेव इसकी व्याख्या जरूर करते, क्योंकि "आ. पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धिमें
तत्त्वार्थसूत्रके किसी भी अंशको बिना व्याख्या और उत्थानके नहीं छोड़ते। वे उसके
एक-एक शब्दका व्याख्यान करते हैं। यह उनकी व्याख्यापद्धति है।" "इसी तरह
अकलंकदेव राजवार्तिकमें तत्त्वार्थसूत्रके प्रत्येक अंशका या तो वार्तिक बनाकर या
उसका सीधा ही विशद व्याख्यान करते हैं।" इसके सिवाय, सर्वार्थसिद्धिकी भूमिकामें
तत्त्वार्थसूत्रकी उत्पत्ति एक भव्यके प्रश्नपर बतलाई है, "भूमिकाके अनुसार यदि
तत्त्वार्थसूत्रकी भव्यके प्रश्नपर उत्पत्ति हुई है तो सूत्रकारको मंगलाचरण करनेका
कोई अवसर या प्रसंग नहीं था"। "मूल तत्त्वार्थसूत्रकी कुछ प्रतियोंमें यह श्लोक
नहीं भी है।" अतः विद्यानन्दको अपनी मान्यताके लिए पूर्व परम्परा प्राप्त नहीं थी।

इस युक्तिवादके पिछले दो अंश पूर्व परम्पराके विचारके साथ कोई खास
सम्बन्ध नहीं रखते। मूलतत्त्वार्थसूत्रकी कुछ प्रतियोंमें इस मंगलश्लोकका न पाया
जाना प्रश्न विषय पर कोई असर नहीं डालता—खासकर ऐसी हालतमें जब कि
उनसे प्राचीनताका द्योतक समयका उल्लेख भी साथमें न हो और अधिकांश प्रतियों-
में यह मंगलश्लोक पाया जाता हो। रही भव्यके प्रश्नपर तत्त्वार्थसूत्रकी उत्पत्ति,

इसके विषयमें प्रथम तो आपत्ति सन्देह युक्त है इसीसे 'यदि' शब्दका साथमें प्रयोग है। दूसरे, तत्त्वार्थसूत्र प्रश्नोत्तरके रूपमें नहीं है—प्रश्नोत्तर रूपमें होनेपर उसमें उत्तरोंके साथ प्रश्न भी रहने चाहिए थे, परन्तु प्रश्न तो दूर रहे, प्रथम दो प्रश्नोंके उत्तर भी साथमें नहीं हैं। ग्रन्थकी सूत्रप्रकृतिको देखते हुए, सर्वार्थसिद्धिकी भूमिकामें ग्रन्थावतारका जो सम्बन्ध व्यक्त किया गया है उसका इतना ही आशय है कि किसी भव्य या सभी भव्य जीवोंको लक्ष्य करके आचार्य महोदयने इस ग्रन्थरत्नकी रचना की है—यह नहीं कि उस भव्य तथा आचार्य महोदयके मध्यमें जो साक्षात् प्रश्नोत्तर हुआ था उसीको निबद्ध कर दिया गया है। तीसरे, अवतार-कथा कुछ भिन्न प्रकारसे भी पाई जाती है। और चौथे, तत्त्वार्थवार्तिकमें श्रीअकलंकदेव "अपरे आरातीया...। नात्र शिष्याचार्यसम्बन्धो विवक्षितः। किन्तु...इति निश्चित्य मोक्षमार्गं व्याचिख्यासुरिदमाह।" इत्यादि प्रथम सूत्रके पीठिका वाक्यों द्वारा प्रश्नोत्तर रूप सम्बन्धके अभावका भी सूचन करते हैं। अतः मंगलाचरणको अनवसर प्राप्त तथा अप्रासंगिक नहीं कहा जा सकता और न ऐसा कहकर विद्यानन्दकी मान्यताके लिए पूर्वपरम्पराका अभाव ही बतलाया जा सकता है।

अब रह जाता है युक्तिवादका प्रथम अंश, इसके सम्बन्धमें निम्न विचार है:—

प्रथम तो यह कहना ठीक नहीं कि आ० विद्यानन्दको सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक ये हो दो टीकाग्रन्थ उपलब्ध थे; क्योंकि ऐसा कहना तभी बन सकता है जब पहले यह सिद्ध कर दिया जाय कि विद्यानन्दसे पहले तत्त्वार्थसूत्रपर इन दो टीकाग्रन्थोंके सिवाय और किसी भी दिगम्बर टीका ग्रन्थकी रचना नहीं हुई थी। परन्तु यह सिद्ध नहीं किया जा सकता; क्योंकि अनेक शिलालेखों आदि परसे यह प्रकट है कि पूर्वमें दूसरे भी टीकाग्रन्थ रचे गये हैं, जिनमें-से एक तो वही है, जिसका तत्त्वार्थवार्तिकमें प्रथम सूत्रके अनन्तर 'अपरे आरातीयाः' इत्यादि वाक्योंके द्वारा सूचन पाया जाता है; दूसरा स्वामी समन्तभद्रके शिष्य शिवकोटि आचार्यका टीकाग्रन्थ है, जिसका उल्लेख श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० १०५ के निम्न श्लोकमें मिलता है और जिसमें प्रयुक्त हुआ 'एतत्' शब्द इस बातको प्रकट करता है कि यह श्लोक उसी टीकाग्रन्थका वाक्य है और वहीसे लिया गया है—

"तस्यैव शिष्यश्शिवकोटिसूरिस्तपोलतालम्बनदेहयष्टिः।
संसारवाराकरपोतमेतत्तत्त्वार्थसूत्रं तदलंचकार॥"

यह भी नहीं कहा जा सकता कि दूसरे टीकाग्रन्थ विद्यानन्दको उपलब्ध नहीं थे, क्योंकि अनुपलब्धिका कोई कारण प्रदर्शित नहीं है। फिर जो ग्रन्थ गुरुको न उपलब्ध हो वह शिष्यको उपलब्ध हो जाय; जैसे कि प्रमाणसंग्रहादि जो ग्रन्थ पं० गोपालदासजीको उपलब्ध नहीं थे वे आज नयी खोजके कारण उनके शिष्योंको उपलब्ध हो रहे हैं। और इसलिए सम्भव तो यह भी है कि जो टीकाग्रन्थ पूज्यपाद तथा अकलंकको प्राप्त न हो वह विद्यानन्दके सामने मौजूद हो। अतः वर्तमानमें उपलब्ध इन दो

---

१. जैसा कि सर्वार्थसिद्धिके इन वाक्योंसे प्रकट है—'विनेयाशयवशात्तत्त्वदेशनाविकल्पः। केचित्संक्षेपरुचयः, अपरे नातिसंक्षेपेण नातिविस्तरेण प्रतिपाद्याः। सर्वसत्त्वानुग्रहार्थो हि सतां प्रयासः' इति अधिगमोपायभेदोद्देशः कृतः।—स. सि. १-८।

टीकाग्रन्थोंपर-से यह कल्पना कर लेना कि विद्यानन्दको भी ये ही दो टीकाग्रन्थ उपलब्ध थे—इनसे पुराना अथवा इनके समकालीन दूसरा कोई टीकाग्रन्थ उपलब्ध नहीं था—युक्तिसंगत नहीं है। और इसी तरह मात्र इन दो टीकाग्रन्थों परसे विद्यानन्द-मान्यताकी पूर्वपरम्पराकी खोजना भी युक्ति-युक्त नहीं है। उनकी मान्यताकी पूर्वपरम्पराके लिए दूसरे टीकाग्रन्थ, तत्त्वार्थटीकाओंसे भिन्न दूसरे ग्रन्थ, जिनमें आप्तपरीक्षादिकी तरह तत्त्वार्थसूत्रके मंगलाचरणका उल्लेख हो, और अपने साक्षात्गुरु, दादागुरु तथा समकालीन दूसरे वृद्ध आचार्योंसे प्राप्त हुआ परिचय ये सब भी कारण हो सकते हैं। इनके सिवाय, अपने समयसे ५००-७०० वर्ष पहलेकी लिखी हुई मूल तत्त्वार्थसूत्रकी ऐसी प्रामाणिक प्रतियाँ भी उस मान्यतामें कारण हो सकती हैं जिनमें उक्त मंगलश्लोक मंगलाचरणके रूपमें दिया हुआ हो। इतनी पुरानी—आ० उमास्वातिके समय तककी—प्रतियोंका मिलना उस समय कोई असम्भव नहीं था। आज भी हमे अनेक ग्रन्थोंकी ऐसी प्रतियाँ मिल रही हैं जो अबसे ६००-७०० वर्ष पहलेकी लिखी हुई हैं। ऐसी हालतमें मात्र सर्वार्थसिद्धि तथा तत्त्वार्थवार्तिकको विद्यानन्द-मान्यताकी पूर्वपरम्पराके निर्णयका आधार बनाना निर्बाध नहीं है।

दूसरे, सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकमे उक्त मंगलश्लोककी टीकाका न होना मंगलश्लोकको तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण माननेमें कोई बाधक नहीं है और न विद्यानन्दकी मान्यताकी पूर्वपरम्पराका समर्थन अप्राप्त होनेमें साधक है, क्योंकि टीकाकारोंके लिए यह अनिवार्य नहीं है कि वे *मंगलश्लोककी भी व्याख्या करें*—खासकर ऐसी हालतमे उनके लिए व्याख्या करना और भी अनावश्यक हो जाता है जबकि उन्होंने मूलके मंगलाचरणको अपनाकर उसे अपनी टीकाका मंगलाचरण बना लिया हो। सर्वार्थसिद्धि ऐसा ही टीकाग्रन्थ है जिसमे मूलके मंगलाचरणको अपना लिया गया है और तत्त्वार्थवार्तिक ऐसी ही सूत्रवार्तिकरूप टीकाप्रकृतिको लिये हुए है जो मंगलाचरणकी व्याख्याको अनावश्यक कर देती है। इस विषयका विशेष स्पष्टीकरण एवं पुष्टिकरण प्रथम लेखमे हो चुका है और रहा-सहा इस लेखमें 'आक्षेप-परिहार-समीक्षा' उपशीर्षकके नीचे कर दिया गया है। अतः यहाँपर उसको फिरसे दोहराना अनावश्यक है।

तीसरे, सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकमे मंगलाचरणकी व्याख्याको आवश्यक बतलानेमे जो कि मूल के किसी भी अंश अथवा शब्दको बिना व्याख्याके न छोड़नेरूप व्याख्यापद्धति हेतु दिया गया है, वह पक्षाव्यापक एवं सदोष है; क्योंकि इन दोनों ही टीका-ग्रन्थोंमें मूलके कितने ही पद-वाक्य तथा शब्द अव्याख्यात हैं और कितने ही सूत्रोंके उत्थान-वाक्य भी सामने नहीं हैं; जैसा कि 'आक्षेप-परिहार-समीक्षा' उपशीर्षकके नीचे प्रश्नाङ्क नं० ५, ६ के समाधानोंमें बतलाया जा चुका है। फिर मंगलाचरणकी व्याख्याकी तो बात ही क्या है, क्योंकि वह ग्रन्थका अंग नहीं होता और इसलिए उसकी व्याख्या करना अनिवार्य नहीं। उसका करना-न करना व्याख्याकारोंकी रुचिपर निर्भर है।

इस तरह पहली बातके समर्थनमें दिया गया युक्तिवाद सदोष होनेके कारण

विद्यानन्दकी मान्यताके विषयमें पूर्वपरम्पराके अभावको सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं है। अतः यह कहना कि 'उक्त मंगलश्लोकको सूत्रकारकृत लिखनेवालोंमें 'सर्वप्रथम' आचार्य विद्यानन्द हैं, उन्हें जब अपनी धारणाके पक्षमें पूर्वाचार्योंकी परम्परा नहीं मिली और श्लोकवार्तिकमें उस श्लोकका व्याख्यान करना प्रबल बाधक जँचा तो वे अन्य प्रकारसे उसके पदोकी व्याख्या कर जानेपर भी तत्त्वार्थसूत्रके अंगरूपसे उसे अव्याख्यात रखनेके कार्यमें पूज्यपाद और अकलंक आदिके साथ शामिल होगये हैं', निःसार है। ऐसा प्रतिपादन करके जाने-अनजाने एक ऐसी जिम्मेवारीको ले लिया गया है जिसका निर्वाह करना कठिन है, क्योंकि ऐसे प्रतिपादनकी समीचीनता अथवा यथार्थताको व्यक्त करनेके लिये यह बतलाना आवश्यक है कि आ० विद्यानन्द-के सामने मूल तत्त्वार्थसूत्रकी जो प्रतियाँ थीं, दूसरी टीकाएँ थी और तत्त्वार्थसूत्रके उल्लेख-विषयक दूसरे ग्रन्थ थे उन सबको देख लिया गया है और उनमे कही भी उक्त मंगलश्लोकको तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण अथवा सूत्रकारकृत नही लिखा है; तभी यह प्रतिपादन किया जा सकता है कि "इस मंगलश्लोकको सूत्रकारकृत लिखने-वाले सर्वप्रथम आ० विद्यानन्द हैं।" साथ ही, यह भी बतलाना होगा कि आ० विद्यानन्दपर जो यह गम्भीर आरोप लगाया गया है कि 'उन्होने यह जानते हुए भी कि उनकी उक्त मंगलश्लोक-विषयक धारणाको पूर्वाचार्यपरम्पराका समर्थन प्राप्त नहीं है, फिर भी उसे आप्तपरीक्षादिके द्वारा चलानेका प्रयत्न किया है' इस प्रकारके आरोपपर हमारा प्रश्न है न कि इस आरोपका क्या आधार है? क्या इसमें विद्या-नन्दका निजी स्वार्थादिक कोई कारण है? जब आ० विद्यानन्द अपनी मान्यताका अन्य ग्रन्थों द्वारा खुला प्रचार कर रहे थे तब उन्हे श्लोकवार्तिकमे उक्त श्लोकको तत्त्वार्थसूत्रका अंग मानकर उसकी खुली व्याख्या करनेमें किस बातका भय उपस्थित था? और वह भय खुली व्याख्या न करनेमात्रसे कैसे दूर हो गया, जबकि विद्यानन्द श्लोकवार्तिकमे ही प्रकारान्तरसे उसकी व्याख्या कर रहे हैं और उसकी सूचना भी अपनी आप्तपरीक्षा-टीकामें दे रहे हैं? लगता है कि उपर्युक्त सारा कथन पूर्वाग्रहसे प्रेरित है। और वह निश्चय ही विद्वद्ग्राह्य नही है।

(२) आधार-विचार—

अब रह जाती है मान्यताके आधारवाली दूसरी बात। उसके विषयमे हमारा कहना है कि जब यह स्वीकार कर लिया है कि "यह तो विद्यानन्द जैसे आचार्यके लिए कम सम्भव है कि वे ऐसी धारणा बिना किसी पूर्वाचार्यवाक्यके अवलम्बनके बना लेते," तो उस आधारकी खोज होनी चाहिए। अन्वेषण करनेपर अकलंककी अष्टशतीका निम्न वाक्य विद्यानन्दकी उस धारणा-मान्यताका आधार प्राप्त होता है—

"देवागमेत्यादि मंगलपुरस्सरस्तवविषयपरमाप्तगुणातिशयपरीक्षामुपक्षिप्तैव स्वयं.....।"

इस वाक्यसे ठीक पूर्ववर्ती दो मंगल-पद्योमें अकलंकदेवने क्रमशः अर्हत्समुदयकी, तद्वाणीकी और समन्तभद्रकी स्तुति करके समन्तभद्रकी 'देवागम' कृतिकी वृत्ति लिखनेकी प्रतिज्ञा की है और उसे 'भगवान्‌का स्तव' बतलाया है। 'देवागम' नाम 'देवागम' शब्दसे प्रारम्भ होनेके कारण भक्तामरादि स्तोत्रोंके नामोंकी तरह सार्थक है।

मत्येति मंगलपुरस्सरः शास्त्रावतारकालस्तत्र रचितः स्तवो मंगलपुरस्सरस्तवः इति व्याख्यानात्।"

अर्थात्—मंगलपुरस्सरस्तव ही शास्त्रावतार रचितस्तुति कहा जाता है; क्योंकि मंगल है पुरस्सर जिसके ऐसा जो शास्त्रावतार काल वह 'मंगलपुरस्सर' कहलाता है और उस शास्त्रावतार कालके अवसरपर रचा गया जो स्तव : स्तोत्र है उसे 'मंगलपुरस्सरस्तव' कहते हैं, ऐसा 'मंगलपुरस्सरस्तव' पदका व्याख्यान है।

'मंगलपुरस्सरस्तव' पदके इस व्याख्यानको 'अर्थ' तथा 'अनुवाद' नाम देकर और अर्थ-अनुवाद तथा व्याख्यानमें कोई भेद न करके 'सीधा अर्थ' तथा 'सीधा अनुवाद' न करना बतलाया गया है। यद्यपि स्पष्टरूपसे यह नहीं लिखा कि विद्यानन्दने अर्थ करनेमें गलती की, अथवा वह किसी तरह बनता ही नहीं, बल्कि अन्यपदार्थ-प्रधान बहुव्रीहि समासके द्वारा वैसा अर्थ बनता जरूर है इसे स्पष्ट स्वीकार किया है, फिर भी यह अर्थ सीधा नहीं, सीधा अर्थ पूर्वपक्षके अनुसन्धानसे दूसरा ही निकलता है और उस दूसरे—अपने द्वारा प्रस्तुत किये गये सीधे—अर्थको देकर प्रकारान्तरसे यह सूचित किया गया है कि विद्यानन्दने सीधा अर्थ न करके जो गलती खाई है उसीका यह परिणाम है कि वे उक्त मंगलश्लोकको तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण बतला रहे हैं। अस्तु, अष्टशतीके उक्तवाक्यका जो सीधा अर्थ प्रस्तुत किया गया है वह इस प्रकार है—

"देवागम आदि मंगलपूर्वक किया गया जो स्तव अर्थात् जिसमें देवागम नभोयान आदि मंगलसूचक पद विद्यमान हैं ऐसा जो स्तव उस देवागमस्तवके विषयभूत परमआप्तके गुणातिशयकी परीक्षाको स्वीकार करनेवाले ग्रन्थकार....।"

इस अर्थके द्वारा जहाँ यह सुझानेका प्रयत्न किया गया है कि समन्तभद्रके सामने दूसरा ऐसा कोई शास्त्र नहीं था, जिसके 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' जैसे मंगलाचरणमें आये हुए आप्तके गुणोंकी इस 'देवागम' ग्रन्थमें परीक्षा की गयी हो बल्कि *स्वयं यह देवागम ग्रन्थ आप्तकी परीक्षाको लिये हुए होने तथा स्तव कहा जानेसे उस* 'स्तव' शब्दका भी वाच्य है जो 'मंगलपुरस्सरस्तव' पदमें प्रयुक्त हुआ है। वहाँ बादको 'अतः' शब्दके प्रयोग द्वारा निष्कर्ष निकालते हुए यह भी फलित किया गया है कि—"अकलंकदेव देवागम आदि पदोंको मंगलार्थक मानकर देवागमस्तवको मंगलशून्य होनेकी आशंकाका निराकरण कर रहे हैं।" परन्तु ये दोनों ही बातें समुचित प्रतीत नहीं होतीं; क्योंकि प्रथम तो जबतक आप्तका कोई गुणस्तोत्र सामने न हो तबतक आप्तके उन गुणोंकी परीक्षामें प्रवृत्ति ही नहीं होती।

दूसरे, वह श्रद्धा भी चरितार्थ नहीं होती जिसे अकलंकने परीक्षामें एक आवश्यक प्रयोजनके तौरपर स्वीकार किया है।

तीसरे, अकलंकके 'शास्त्रन्यायानुसारितया तथैवोपन्यासात्' ये दोनों पद व्यर्थ जान पड़ते हैं।

चौथे, देवागमके प्रारम्भमें ऐसा कोई मंगलाचरण भी नहीं, जिसमें वर्णित आप्तके स्वरूपको लेकर ही अगली कारिकाओंमें उसकी परीक्षा की गयी हो।

मंगलाचरणका होना जानते थे—भले ही अपने वार्तिककी प्रकृतिके अनुसार उन्होंने उसकी व्याख्यादि करना आवश्यक नहीं समझा। दोनों ही हालतोंमें बाधा आती है। अतः उनका सीधा अर्थ ही नहीं किन्तु उस अर्थके द्वारा जो उक्त दो बातें सुझायी गयी हैं अथवा फलित की गयी हैं वे भी बाधित ठहरेंगी। और इसलिए उनके आधारपर यह नहीं कहा जा सकता कि विद्यानन्दने सीधा अर्थ न करके गलती अथवा भूल की है और वह गलती अथवा भूल ही उनकी उस मान्यताका आधार है।

इसके सिवाय, यहाँ यह प्रश्न पैदा होता है कि जब अष्टशतीके उक्त वाक्यका अभीष्ट अर्थ बन सकता था और वह सीधा-सरल अर्थ था, तो विद्यानन्दने उसे छोड़कर दूसरा अर्थ क्यों किया? इसके उत्तरमें यह तो नहीं कहा जा सकता कि विद्यानन्दको वह सीधा अर्थ मालूम नहीं था; क्योंकि प्रथम तो सीधा-सरल अर्थ सबसे पहले मालूम हुआ करता है—उसीपर पहली दृष्टि पड़ती है, गूढ़ तथा गम्भीर अर्थ बादको दृष्टिपथमें आता है। दूसरे ऐसा कहनेमें विद्यानन्दका तलस्पर्शी पाण्डित्य और सर्वतोमुख-अध्ययन, जिसे स्वीकार किया गया है, बाधक पड़ता है—उनका वह पाण्डित्य और सर्वतोमुखी अध्ययन हमें उनकी उक्त सरलार्थ-विषयक अनभिज्ञताकी ओर आकृष्ट नहीं होने देता। अकलंकको गूढ़से गूढ़ पंक्तियों, वाक्यों तथा पदोंके मर्मको और अकलंकके हार्द (हृद्गत भाव) को व्यक्त करनेवाले आचार्योंमें विद्यानन्दका ऊँचा स्थान है। इसीसे उन्हें 'सूक्ष्मप्रज्ञ' कहनेमें विद्वानोंको गर्व होता है। अतः उनपर अनभिज्ञताका आरोप तो नहीं किया जा सकता। तब यही कहना होगा कि उन्हें 'उक्त अर्थ भी हो सकता है' ऐसा मालूम जरूर था। परन्तु फिर भी उन्होंने उस सीधे-सरल अर्थको ग्रहण न करके जो दूसरा अर्थ स्वीकार किया है उसका कारण? कारण दो हो सकते हैं—एक तो यह कि विद्यानन्द उस सीधे अर्थको अबाधित और पूर्वपरम्पराके साथ संगत नहीं समझते थे बल्कि उस अर्थको ही अबाधित एवं पूर्व परम्पराके साथ संगत जानते थे जो उन्होंने किया है, और दूसरा कारण यह कि पूर्वपरम्पराके साथ संगति-असंगतिका कोई खयाल न रखकर उन्हें अपनी नयी कपोलकल्पना अथवा निराधार धारणाको चलाना ही इसके द्वारा इष्ट था। परन्तु इस पिछले कारणके सम्बन्धमें फिर यह प्रश्न पैदा होता है कि पूर्व-परम्पराका उल्लंघन करके अपनी नयी कपोलकल्पनाको चलानेमें विद्यानन्दका क्या हेतु था?—किस स्वार्थादिके वश उन्होंने ऐसा किया? इसका कोई उत्तर नहीं बनता। और इसलिए जबतक इस प्रश्नका समुचित समाधान न कर दिया जाय तब तक दूसरा कारण ग्राह्य नहीं हो सकता—खासकर ऐसी हालतमें वह और भी अग्राह्य हो जाता है जब हम विद्यानन्दके ग्रन्थोंपर-से यह देखते हैं कि उनकी प्रकृति और परिणति अपनी पूर्वाचार्य-परम्पराका अनुसरण करनेकी ओर ही पायी जाती है; यतः यह स्वीकार किया जाता है कि 'यह तो विद्यानन्द जैसे आचार्यके लिए कम सम्भव है कि वे ऐसी धारणा बिना किसी पूर्वाचार्यवाक्यके आलम्बनके बना लेते।' ऐसी हालतमें उपर्युक्त एक ही कारण रह जाता है और वही समुचित जान पड़ता है। सीधे अर्थ और फलितार्थमें जो सात बाधाएँ ऊपर उपस्थित की गयी हैं उनसे वह अबाधित नहीं रहता, और जब अबाधित नहीं तब पूर्वपरम्पराके साथ संगत भी कैसे हो सकता है। विद्यानन्दका अर्थ सीधा-साधारण अर्थ न होकर विशेषार्थ है और

४—"अत्रापीदमेव कारिका (अभिलापतदंशानामित्यादि) योज्या, अभिलापविवेकत इत्यभिलापनिश्चयत इति व्याख्यानात् ।"

—अष्टस., का. १३ पृ. १२१ ।

५—"प्रश्नवशादेकत्र वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी इति (त. वार्तिक) वचनात्... । १ विधिकल्पना, २ प्रतिषेधकल्पना, ३ क्रमतोविधिप्रतिषेधकल्पना, ४..., ७ क्रमाक्रमाभ्यां विधिप्रतिषेधकल्पना च सप्तभंगीति व्याख्यानात् ।"

—अष्टस., का. १४ पृ. १२५ ।

इन उदाहरणोंसे, जिनमें पहला समन्तभद्रके और शेष सब अकलंकके पदोंके गूढार्थ[1] अथवा विशेषार्थको व्यक्त करनेवाले हैं, विद्यानन्दके हार्दको भले प्रकार समझा जा सकता है। साथ ही यह भी देखा जा सकता है कि उन्होंने अकलंकदेवके 'मंगलपुरस्सरस्तव' इस गूढ़ (विशेष) पदका जो वह सामान्य अर्थ नहीं किया, जिसे सीधा अर्थ बतलाया जाता है, उसका कारण न तो तद्विषयक उनकी अनभिज्ञता है, न अपनी नयी कल्पनाको चलाना है, बल्कि यही है कि वे उसे बाधित तथा पूर्वपरम्पराके विपरीत जानते थे। इसीसे उन्होंने उसका परित्याग करके वह विशेष अर्थ किया है जो पूर्वपरम्पराकी मान्यतानुसार अकलंकको विवक्षित और सर्व प्रकारसे सुसंगत था। उक्त पदका जो व्याख्यान उन्होंने दिया है वह या तो उसी रूपमें पहलेसे किसी ग्रन्थमें मौजूद था—उन्होंने उसे वहाँसे उद्धृत किया है और या उसका स्रोत उन्हें पूर्वाचार्यपरम्परासे बीजरूपमें प्राप्त था—वे अपने गुरु, दादागुरु तथा दूसरे समकालीन वृद्ध आचार्योंके मुखसे वैसा सुन चुके थे; प्राचीन ग्रन्थोंके उल्लेखोंसे भी यह मालूम कर चुके थे कि 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि मंगलश्लोक तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण है और उसमें स्तुत आप्तको लक्ष्य कर स्वामी समन्तभद्रने 'आप्तमीमांसा' लिखी है। उनकी इस प्रामाणिक जानकारीमें मूल तत्त्वार्थसूत्रकी वे प्राचीन प्रतियाँ भी सहायक हो चुकी थीं, जो ६००-७०० वर्ष पहलेकी अथवा उमास्वामीके समय तककी लिखी हुई उन्हें प्राप्त थीं और उनमें उक्त मंगलाचरण मौजूद था। इन दोनों अवस्थाओंसे भिन्न वह व्याख्यान उनकी निजी कल्पना नहीं है। विद्यानन्द[2] जहाँ केवल अपनी ओरसे कोई व्याख्यान उपस्थित करते हैं वहाँ वे 'व्याख्यातुं शक्यत्वात्' जैसे पदोंका प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं।

१. अकलंकदेवके वचन कितने गूढ़ तथा गम्भीरार्थक होते हैं, यह बात नीचेके दो आचार्यवाक्योंसे जानी जा सकती है—

"गूढमर्थमकलङ्कवाङ्मयागाधभूमिनिहितं तदर्थिनाम् ।
व्यञ्जयत्यमलमनन्तवीर्यवाक् दीपवर्तिरनिशं पदे पदे ॥"

—वादिराजसूरि ।

"देवस्यानन्तवीर्योऽपि पदं व्यक्तुं तु सर्वतः ।
न जानीतेऽकलङ्कस्य चित्रमेतत्परं भुवि ॥" —प्रथम अनन्तवीर्य ।

२. यथा—'अर्थशब्देन प्रत्ययस्याभिधानाद्वा, क्वचिद्विषयेण विषयिणो वचनाद्धर्मकीर्तिकारिकाया एव तन्मतदूषणपरत्वेन व्याख्यातुं शक्यत्वात् । यथा च'''' ।

—अष्टस. पृ. १२२, का. १३ ।

अर्थ) की सिद्धिके लिए पक्ष और हेतु इन दोनों ही अनुमानका अंग माना उदाहरणको भी उन्होंने नहीं माना—उसे अनावश्यक बतलाया है। तात्पर्य यह तत्त्वार्थसूत्रकारके कालमें परोक्ष अर्थोंकी सिद्धिके लिए न्याय (युक्ति-अनुमान) आगमके साथ निर्णय-साधन माना जाने लगा था। यही कारण है कि उनके कु काल बाद हुए स्वामी समन्तभद्रने[1] युक्ति और शास्त्र दोनोंको अर्थके यथार्थ प्र के लिए आवश्यक बतलाया है। उन्होंने यहाँ तक कहा है कि वीरजिन इस आप्त हैं, क्योंकि उनका उपदेश युक्ति और शास्त्रसे अविरुद्ध है। तत्त्वार्थसूत्रके विवेचनसे स्पष्ट है कि उसमें न्यायशास्त्रके बीज समाहित हैं, जिनका उत्तर अधिक विकास हुआ है।

तत्त्वार्थसूत्रके पाँचवें अध्यायके पन्द्रह और सोलहवें सूत्रों द्वारा जीवोंका लोकाकाशके असंख्यातवें भागसे लेकर सम्पूर्ण लोकाकाशमें अवगाह प्रतिपादन किया गया है। यह प्रतिपादन भी अनुमानके उक्त तीन अवयवों द्वारा हुआ है। पन्द्रहवाँ सूत्र पक्षके रूपमें और सोलहवाँ सूत्र हेतु तथा उदाहरणके रूपमें प्रयुक्त है।[2] 'जीवोंका अवगाह लोकाकाशके असंख्यातवें भागसे लेकर सम्पूर्ण लोकाकाशमें है, क्योंकि उनके प्रदेशोंका संहार (संकोच) और विसर्प (विस्तार) होता है, जैसे प्रदीप।' दीपकको जैसा-जैसा स्थान मिलता है उसी प्रकार उसका प्रकाश हो जाता है। इसी तरह जीवोंको भी जैसा-जैसा आधार प्राप्त होता है वैसे ही वे उसमें समव्याप्त हो जाते हैं।

इस तरह तत्त्वार्थसूत्र धर्म, दर्शन और न्याय तीनोंका सम्यग्ज्ञान करानेवाला जैन वाङ्मयका अद्वितीय ग्रन्थ है। सम्भवतः इसीसे उसकी महिमा एवं गरिमाका गान करते हुए उत्तरवर्ती आचार्योंने कहा है[1] कि इस तत्त्वार्थसूत्रका जो एक भी बार पाठ करता या सुनता है उसे एक उपवास करने जितना फल प्राप्त होता है। तत्त्वार्थसूत्रकी इस महिमाको देखकर आज भी समाजमें उसका पठन-पाठन सबसे अधिक प्रचलित है और पर्युषण (दशलक्षण) पर्वमें तो उसपर व्याख्यान भी दिये जाते एवं सुने जाते हैं।

●

1. दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवैः॥ —प्रचलित तत्त्वार्थसूत्र।

तत्त्वार्थसूत्रकी परम्परा

'तत्त्वार्थसूत्र' जैन वाङ्मयका बहुत ही महत्त्वपूर्ण एव
द्वादशांग अथवा चारों अनुयोगोंके प्रायः सभी विषयोंका प्रतिपाद
भेद या क्रम-बद्ध सूत्रोंके साथ दोनों—दिगम्बर और श्वेताम्बर—
एवं प्रतिष्ठित है। यह सूत्रात्मक शैली और संस्कृत भाषामें लि
उसी तरह विभक्त है जिस तरह वैशेषिक दर्शनके प्रणेता कणादका
अध्यायोंमें विभाजित है।

इसमें जैन तत्त्वज्ञानको 'गागरमें सागर' की भाँति भर दिया
यतः इसीसे इसके मात्र पाठको या श्रवणको एक उपवास करनेके बर
इसका महत्त्व बतलाया गया है[1]। यही कारण है कि जैन परम्परामें इस
है जो हिन्दू परम्परामें गीताका, मुस्लिम सम्प्रदायमें कुरानका और ई
बिलका माना जाता है।

तत्त्वार्थसूत्रको इस महत्ताको देखकर दिगम्बर और श्वेताम्बर आ
इसपर छोटी-बड़ी दर्जनों व्याख्याएँ—टीका, भाष्य, वृत्ति, टिप्पणी आदि लि
इसे अपना सिद्ध करनेके लिए मतभेद-प्रदर्शक कतिपय बातें भी उसमें समाहि

जहाँ तक हमारा ख़याल है, सबसे पहले पण्डित सुखलालजी 'प्रज्ञा
तत्त्वार्थसूत्र और उसकी व्याख्याओं तथा कर्तृत्व विषयमें दो लेख लिखे थे और
द्वारा तत्त्वार्थसूत्र और उसके कर्ताको तटस्थ परम्पराका सिद्ध किया था।[2]

इसके कोई चार वर्ष बाद सन् १९३४ में उपाध्याय श्री आत्माराम
कतिपय श्वेताम्बर आगमोंके सूत्रोंके साथ तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रोंका तथोक्त समन्
करके 'तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय' नामसे एक ग्रन्थ लिखा और उसमें तत्त्वार्थसू
को श्वेताम्बर परम्पराका ग्रन्थ प्रसिद्ध किया।[3] जब यह ग्रन्थ पण्डित सुखलालजी
को प्राप्त हुआ, तो अपने पूर्व विचारको छोड़कर उन्होंने उसे मात्र श्वेताम्बर प
स्वीकार कर लिया तथा यह कहते हुए कि "उमास्वाति श्वेताम्बर परम्पराके थे
और उनका सभाष्य तत्त्वार्थ सचेल पक्षके श्रुतके आधारपर ही बना है।"—"वाचक
उमास्वाति श्वेताम्बर परम्परामें हुए, दिगम्बरमें नहीं।" निःसंकोच तत्त्वार्थसूत्र और
इसके कर्ताको श्वेताम्बर होनेका अपना निर्णय भी दे दिया है।[4]

---

1. दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति।
   फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुंगवैः ॥
   —अज्ञात टीकाकारकर्तृक।
2. 'तत्त्वार्थसूत्रके प्रणेता उमास्वाति' और 'तत्त्वार्थसूत्रके व्याख्याकार और व्याख्याएँ' शीर्षक
   [illegible] अनेकान्त, वर्ष १, किरण ६, ७, ११, १२, ई. सन् १९३०।
3. प्रकाशक लाला शादीराम गोकुलचन्द जौहरी, चाँदनी चौक, देहली, सन् १९३४।
4. तत्त्वार्थसूत्र, प. सुखलालजी, 'विवेचना' पृ. १८ और [illegible]
   ई. १९४०।

इस तरह तत्त्वार्थसूत्रको एक परम्पराके द्वारा अपना सिद्ध करने और उसे वैसा बनानेके क्रियात्मक प्रयत्नको देखकर दिगम्बर विद्वानोंने भी इस दिशामें विचार करना आवश्यक समझा।

पण्डित परमानन्दजी शास्त्रीने[1] 'तत्त्वार्थसूत्रके बीजोंकी खोज' शीर्षक एक गवेषणापूर्ण लेख लिखा और उसके द्वारा उन्होंने दिगम्बर परम्पराके प्राचीन आगम-ग्रन्थोंके उसमें सप्रमाण बीज प्रस्तुत कर उसे दिगम्बर परम्पराका सिद्ध किया।

पण्डित फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीने[2] भी 'तत्त्वार्थसूत्रका अन्तःपरीक्षण' शीर्षक दो लेख लिखे और उनमें उन्होंने साधार सिद्ध किया कि तत्त्वार्थसूत्र दिगम्बर मान्यताओंसे सम्बन्ध रखनेवाला है और इसलिए वह दिगम्बराचार्य द्वारा रचित दिगम्बर ग्रन्थ है।

पं. नाथूरामजी प्रेमीने[3] अपनी खोजके निष्कर्षोंके आधारपर तत्त्वार्थसूत्र और उसके कर्ताको यापनीय संघका[4] बतलाया।

इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्रकी वास्तविक मूल परम्परा क्या है, यह अभी तक भी विद्वानोंके सामने एक समस्या बनी हुई है।

डॉ. हीरालालजीके 'जैन इतिहासका एक विलुप्त अध्याय' नामक निबन्धगत निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्रको एक माननेके मतपर विचार करने तथा लेख[5] लिखनेके लिए भद्रबाहुको, जिनका श्वेताम्बर परम्परामें बहुत बड़ा स्थान है और जिनको निर्युक्तियाँ सीधी आगमसूत्रोंपर लिखी होनेके कारण आगमतुल्य मानी जाती हैं, निर्युक्तियोंके अध्ययन करनेका अवसर मिला। निर्युक्तियोंमें हमें कुछ ऐसी बातें मिली हैं, जो श्वेताम्बर आगमोंके तो अनुकूल हैं। पर आचार्य उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रके अनुकूल नहीं हैं। हमें लगा कि जब तत्त्वार्थसूत्रको श्वेताम्बर आगमोंके आधारपर बना हुआ बतलाया जाता है और उसे श्वेताम्बर ग्रन्थ प्रसिद्ध किया जाता है तो उसमें आगमोंसे भिन्न बातें क्यों प्रतिपादित हैं और दिगम्बर परम्पराके अनुकूल वे क्यों हैं? तत्त्वार्थसूत्रकार जब श्वेताम्बर परम्पराके हैं और उनका तत्त्वार्थ सचेल श्रुत (श्वेताम्बर आगम) के आधारपर बना है तब उन्होंने सचेल श्रुतका परित्याग कर अचेल श्रुतका अनुगमन क्यों किया? भद्रबाहुकी तरह उन्होंने पूर्व परम्परानुसार ही अपने तत्त्वार्थ (तत्त्वार्थसूत्र) की रचना क्यों नहीं की? ये प्रश्न ऐसे हैं, जो उपेक्षणीय नहीं हैं और जो हमें वास्तविक तथ्यको खोजनेके लिए इंगित करते हैं।

अतः यहाँ निर्युक्तिकार और तत्त्वार्थसूत्रकारके बीच पाये जानेवाले वैषम्यको प्रस्तुत किया जाता है, जिसके आधारपर तत्त्वार्थसूत्रकार और उनका तत्त्वार्थ-

---

१. अनेकान्त, वर्ष ४, किरण १।

२. अनेकान्त, वर्ष ४, किरण ११-१२ और अनेकान्त, वर्ष ५, किरण १-२।

३. जैन साहित्यका इतिहास, पृ. ५३३, द्वितीय संस्करण, १९५६।

४. यापनीय संघ दिगम्बर और श्वेताम्बरसे पृथक् संघ है।

५. यह लेख 'क्या निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र एक हैं?' शीर्षकसे अनेकान्त, वर्ष ६, किरण १०-११ में और आगे इसी ग्रन्थमें भी प्रकाशित है।

अभिक्खणं अभिक्खणं णाणोवजोगजुत्तदाए इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधंति।"—३-४१, पुस्तक ८।

४. निर्युक्तिकार भद्रबाहुने दशवैकालिकनिर्युक्तिमें बाह्य तपोंके निम्न ६ भेद गिनाये हैं—१. अनशन, २. ऊनोदर, ३. वृत्तिसंख्यान, ४. रसत्याग, ५. कायक्लेश, ६. संलीनता। जैसा कि उनकी गाथासे प्रकट होता है—

अणसणमूणोअरिया वित्तीसंखेवणं रसच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ॥

भद्रबाहु द्वारा वर्णित बाह्य तपोंके ये छहों भेद श्वेताम्बर श्रुतके ही अनुसार हैं। व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्रमें इसी प्रकार ६ भेद बतलाये हैं। यथा—

अणसण ऊणोयरिया भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो पडिसंलीणया बज्झो तवो होई॥

—व्याख्याप्र. श. २५, उ. ७, सू. ८ वृ.।

परन्तु तत्त्वार्थसूत्रकार निम्नप्रकारसे ६ भेद गिनाते हैं।

"अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः।"—तत्त्वार्थसूत्र ९-१९।

इनमें निर्युक्ति और श्वे० श्रुतसम्मत 'संलीनता' तप नहीं है, किन्तु उनके स्थानमें विविक्तशय्यासन है। यद्यपि हरिभद्रसूरिने 'संलीनता' के इन्द्रियसंलीनता, कषायसंलीनता, योगसंलीनता और विविक्तचर्या ऐसे चार भेद किये हैं। इन भेदोंमें भी *विविक्तशय्यासन नहीं है। यह* प्रकट करनेकी जरूरत नहीं है कि विविक्तचर्या द्वारा भी विविक्तशय्यासनका ग्रहण नहीं किया जा सकता है क्योंकि विविक्तचर्या दूसरी चीज है और विविक्तशय्यासन अलग चीज है। अतः स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रकारने श्वे. श्रुतसम्मत 'संलीनता' तपको अपने उल्लिखित बाह्य तपोंमें स्थान नहीं दिया है और इस तरह हम यहाँ भी उन्हें भद्रबाहुकी तरह श्वे. श्रुतका अनुसर्ता नहीं पाते हैं।

५. निर्युक्तिकारने उत्तराध्ययननिर्युक्तिमें 'अरई अचेल इत्थो' कहकर अचेल-परीषह बतलायी है। उत्तराध्ययनसूत्र (पृ. ८२) में भी 'अचेलपरीषह' ही दी गयी है। परन्तु तत्त्वार्थसूत्रकारने अचेलशब्दके स्थानमें 'नाग्न्य' शब्दको रखकर अचेल-परीषहको स्थानापन्न 'नाग्न्यपरीषह' कही है। यद्यपि अचेल और नाग्न्यमें कोई विशेष भेद नहीं है, आरम्भमें नाग्न्यके अर्थमें ही अचेल शब्दको रखा था और भ. महावीरने अचेलक धर्मका ही उपदेश दिया था[१]। परन्तु 'अचेल' शब्दके स्थानमें 'नाग्न्य' शब्दको रखना क्यों आवश्यक और इष्ट समझा गया? और यह परिवर्तन कब और कैसे हुआ? इस सम्बन्धमें एक बहुत बड़ा महत्त्वपूर्ण इतिहास छिपा हुआ है जो *यहाँ खास ध्यान देने योग्य है और* डेढ़-दो हजार वर्ष पूर्वकी स्थितिको जानने के लिए प्रेरित करता है।

१. पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री रचित 'भगवान् महावीरका अचेलक धर्म' नामक ट्रेक्ट, जैन-संघ, चौरासी, मथुरा।

उसका विनाश नहीं हो सकता और यदि असद्रूप ही हो तो उसका उत्पाद सम्भव नहीं है और चूँकि यह देखा जाता है कि जीव मनुष्यपर्यायसे नष्ट, देवपर्यायसे उत्पन्न और जीवसामान्यसे ध्रुव रहनेसे वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप है। इससे प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्दके समयमें जैन वाङ्मयमें दर्शनका रूप तो आने लगा था, पर उसका अभी विकास नहीं हो सका था। आ० गृद्धपिच्छके तत्त्वार्थसूत्रमें कुन्दकुन्द द्वारा प्रदर्शित दर्शनके रूपमें कुछ वृद्धि मिलती है। प्रथमतः उन्होंने प्राकृतमें सिद्धान्त-प्रतिपादनकी पद्धतिको संस्कृत-गद्यसूत्रोंमें बदला। दूसरे, उपपत्तिपूर्वक सिद्धान्तोंका निरूपण आरम्भ किया। तीसरे, आगम-प्रतिपादित ज्ञानमार्गणागत मत्यादि ज्ञानोंको प्रमाण-संज्ञा देकर उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद किये। चौथे, दर्शनान्तरोंमें पृथक् प्रमाणरूपमे स्वीकृत स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और अनुमानको मतिज्ञान कहकर उनका 'आद्ये परोक्षम्' (त० सू० १-११) सूत्र द्वारा परोक्षप्रमाणमें ही अन्तर्भाव किया और नैगमादि नयोंको अर्थाधिगमका उपाय बताया, आदि। इतना होनेपर भी दर्शनमें उन एकान्तवादों, संघर्षों और अनिश्चयोंका तार्किक समाधान नहीं हो पाया था, जो उस समयकी चर्चाके मुख्य विषय थे।

तत्कालीन स्थिति :

विक्रमकी दूसरी-तीसरी शताब्दीका समय भारतवर्षके इतिहासमें दार्शनिक क्रान्तिका समय रहा है। इस समय विभिन्न दर्शनोंमें अनेक क्रान्तिकारी विद्वान् हुए हैं। श्रमण और वैदिक दोनों परम्पराओंमे अश्वघोष, मातृचेट, नागार्जुन, कणाद, गौतम, जैमिनि जैसे प्रतिद्वन्द्वी विद्वानोंका आविर्भाव हुआ और ये सभी अपने मण्डन और दूसरेके खण्डनमें लग गये। शास्त्रार्थोंकी बाढ़-सी आगयी। सद्वाद-असद्वाद, शाश्वतवाद-उच्छेदवाद, अद्वैतवाद-द्वैतवाद और अवक्तव्यवाद-वक्तव्यवाद इन चार[1] विरोधी युगलोको लेकर तत्त्वकी मुख्यतया चर्चा होती थी और उनका चार कोटियों-से विचार किया जाता था। तथा वादियोंका अपनी इष्ट एक-एक कोटि (पक्ष) को ही माननेका आग्रह रहता था। इस खींचतानके कारण अनिश्चय (अज्ञान) वादी संजयके अनुयायी तत्त्वको अनिश्चित ही बतलाते थे।[2] उपर्युक्त युगलोंमें लगनेवाली चार कोटियाँ इस प्रकार होती थीं—

१. सदसद्वाद

(१) तत्त्व सत् है।
(२) तत्त्व असत् है।

---

१. 'सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः।
सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीह ते ॥
—स्वयम्भू० श्लो० १०१।

२. दीघनिकाय सामञ्ञफलसुत्तमें संजयका मत 'अमराविक्षेपवाद' के रूपमे मिलता है। अमरा एक प्रकारकी मछलीका नाम है। उसके समान विक्षेप (अस्थिरता) होना—मानना अमराविक्षेपवाद है।

अनेकान्तात्मक तत्त्व-सागरमे अनन्त लहरोंकी तरह लहरा रहे हैं और इसीसे उसमें अनन्त सप्तकोटियाँ (सप्तभंगियाँ) भरी पड़ी हैं। हाँ, द्रष्टाको सजग और समदृष्टि होना चाहिए। उसे यह ध्यान रहे कि वक्ता या ज्ञाता तत्त्वको जब अमुक एक कोटिसे कहे या जाने तो यह समझे कि तत्त्वमें वह धर्म अमुक अपेक्षासे रहता हुआ भी अन्य धर्मोंका निषेधक नही है। वह केवल विवक्षावश मुख्य है और अन्य धर्म गौण हैं।[1] इसे समझनेके लिए उन्होंने प्रत्येक कोटि (भंग—वचनप्रकार) के साथ 'स्यात्' निपात-पद लगानेकी सिफारिश की[2] और 'स्यात्' का अर्थ 'कथंचित्'—किसी एक दृष्टि—किसी एक अपेक्षा बतलाया।[3] साथ ही उन्होंने प्रत्येक कोटिकी निर्णयात्मकता को प्रकट करनेके लिए प्रत्येक वाक्यके साथ एवकार पदका प्रयोग भी निर्दिष्ट किया[4], जिससे उस कोटिकी वास्तविकता प्रमाणित हो, काल्पनिकता या सांवृतिकता नही। तत्त्वप्रतिपादनकी इन सात कोटियोंको उन्होने एक नया नाम भी दिया। वह नाम है भंगिनी प्रक्रिया—सप्तभंगी[5] अथवा सप्तभंगनय।[6] समन्तभद्रकी वह परिष्कृत सप्तभंगी इस प्रकार प्रस्तुत हुई—

(ख) विधेयं वार्यं चानुभयमुभयं मिश्रमपि तद्
विशेषैः प्रत्येकं नियमविषयैश्चापरिमितैः।
सदन्योन्यापेक्षैः सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा
त्वया गीतं तत्त्वं बहुनयविवक्षेतरवशात् ॥

—स्वयम्भू. ११८।

१. (क) विधिर्निषेधश्च कथञ्चिदिष्टौ विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था।

—स्वयम्भू. २५।

(ख) विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो गुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते।

—स्वयम्भू. ५३।

२. (अ) वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम्।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि ॥

—आप्तमी. का. १०३।

(आ) तद्द्योतनः स्याद् गुणतो निपातः।

—युक्त्य. ४३।

३. स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः।

—आप्तमी. १०४।

४. (क) यदेवकारोपहितं पदं तदस्वार्थतः स्वार्थमवच्छिनत्ति।

—युक्त्य. ४१।

(ख) अनुक्ततुल्यं यदनेवकारं व्यावृत्यभावान्नियमद्वयेऽपि।

—युक्त्य. ४२।

५. प्रक्रियां भङ्गिनीमेनां नयैर्नयविशारदः।

—आप्तमी. २३।

६. 'सप्तभङ्गनयापेक्षः''''''''''' आप्तमी. १०४।

जिन उपादानोंको उन्होंने सृष्टि करके उन्हें जैन दर्शनको प्रदान किया वे इस प्रकार हैं :

१. प्रमाणका स्वपरावभासि लक्षण[1]
२. प्रमाणके अक्रमभावि और क्रमभावि भेदोंकी परिकल्पना[2]
३. प्रमाणके साक्षात् और परम्परा फलोंका निरूपण[3]
४. प्रमाणका विषय[4]
५. नयका स्वरूप[5]
६. हेतुका स्वरूप[6]
७. स्याद्वादका स्वरूप[7]
८. वाच्यका स्वरूप[8]
९. वाचकका स्वरूप[9]
१०. अभावका वस्तुधर्म-निरूपण एवं भावान्तर स्वरूप कथन[10]
११. तत्त्वका अनेकान्तरूप प्रतिपादन[11]
१२. अनेकान्तका स्वरूप[12]
१३. अनेकान्तमें भी अनेकान्तकी योजना[13]
१४. जैनदर्शनमें अवस्तुका स्वरूप[14]
१५. स्यात् निपातका स्वरूप[15]
१६. अनुमानसे सर्वज्ञकी सिद्धि[16]
१७. युक्तियोंसे स्याद्वादकी व्यवस्था[17]

---

१. स्वयम्भूस्तोत्र का. ६३।
२. आप्तमीमांसा का. १०१।
३. उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादान-हान-धीः।
पूर्वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥ —आप्तमी. १०२।
४. आप्तमी. १०७।
५. ६. आप्तमी. १०६।
७. आप्तमी १०४।
८. आप्तमी. १११, ११२।
९. आप्तमी. १०९।
१०. 'भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मः,
भावान्तरं भाववदर्हतस्ते। —युक्त्यनु. ५९।
११. युक्त्यनु. २३।
१२. आप्तमी. १०७, १०८।
१३. स्वयम्भूस्तो. १०३।
१४. आप्तमी. ४८, १०५।
१५. स्वयम्भू. १०२।
१६. आप्तमी. ५।
१७. आप्तमी. ११३।

१८. आप्तका तात्त्विक स्वरूप ।[1]

१९. वस्तु (द्रव्य-प्रमेय) का स्वरूप ।[2]

जैन न्यायके इन उपादानोंका विकास अथवा उपस्थापन करनेके कारण ही समन्तभद्रको जैन न्यायका आद्य-प्रवर्तक कहा गया है ।[3]

कृतियाँ

समन्तभद्रकी ५ कृतियाँ उपलब्ध हैं :

१. देवागम—११४ श्लोकोंके द्वारा इसमें आप्तकी मीमांसा परीक्षा की है।

२ स्वयम्भूस्तोत्र—इसमें चौबीस तीर्थंकरोंका दार्शनिक शैलीमें गुणस्तवन है।

३. युक्त्यनुशासन—इसमें भी वीरकी स्तुतिके बहाने दार्शनिक निरूपण है। यह ६४ पद्योंमें समाप्त है ।

४. जिन-शतक (स्तुति-विद्या)—यह ११६ पद्योंकी आलंकारिक अपूर्व काव्य-रचना है। चौबीस तीर्थंकरोंकी इसमें स्तुति की गयी है ।

५. रत्नकरण्डकश्रावकाचार—यह उपासकाचार विषयक १५० पद्योंकी अत्यन्त प्राचीन और महत्त्वपूर्ण कृति है। इसपर प्रभाचन्द्रने संक्षिप्त और सरल संस्कृत-टीका लिखी है, जो माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमालासे बहुत पहले प्रकाशित हो चुकी है और अब वह मूल व हिन्दी रूपान्तरके साथ वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्टसे भी प्रकट हो चुकी है ।

इनमें आदिकी तीन दार्शनिक, चौथी काव्य और पाँचवीं धार्मिक कृतियाँ हैं।

इनके अतिरिक्त भी इनकी जीवसिद्धि जैसी कुछ कृतियोंके उल्लेख मिलते हैं। पर वे अनुपलब्ध हैं ।

---

१. आप्तमी. का. ४, ५, ६ ।

२. आप्तमी. १०७ ।

३. जैन दर्शन—स्याद्वादाङ्क वर्ष २, अंक ४-५, पृ. १७० ।

निर्युक्तिकार भद्रबाहु और समन्तभद्र

डॉ. हीरालालजीने 'जैन इतिहासका एक विलुप्त अध्याय' शीर्षक निबन्धमें कुछ ऐसे निष्कर्ष निकाले हैं, जो वे सभी विचारणीय हैं। उनमें एक निष्कर्ष यह है कि श्वेताम्बर आगमोंकी १० निर्युक्तियोंके कर्ता भद्रबाहु द्वितीय और आप्तमीमांसा (देवागम) के कर्ता स्वामी समन्तभद्र दोनों एक ही व्यक्ति हैं—भिन्न-भिन्न नहीं। इस निष्कर्षका प्रधान आधार है—श्रवणबेलगोलके प्रथम शिलालेखमें द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षकी भविष्यवाणी करनेवाले भद्रबाहु द्वितीयके लिए 'स्वामी' उपाधिका प्रयोग और उधर समन्तभद्रके लिए अनेक आचार्यों द्वारा 'स्वामी' पदसे उल्लिखित होना। डॉ. जैनने लिखा है—

"दूसरा (द्वितीय भद्रबाहु-द्वारा द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षकी भविष्यवाणीके अतिरिक्त[1]) महत्वपूर्ण संकेत इस शिलालेखसे यह प्राप्त होता है कि भद्रबाहुकी उपाधि स्वामी थी जो कि साहित्यमें प्रायः एकान्ततः समन्तभद्रके लिए ही प्रयुक्त हुई है। यथार्थतः बड़े-बड़े लेखकों जैसे विद्यानन्द[2] और वादिराजने[3] सूरिने तो उनका उल्लेख नाम न देकर केवल उनकी इस उपाधिसे ही किया है, और यह वे तभी कर सकते थे जब कि उन्हें विश्वास था कि उस उपाधिसे उनके पाठक केवल समन्तभद्रको ही समझेंगे, अन्य किसी आचार्यको नहीं। इस प्रमाणको उपर्युक्त अन्य सब बातोंके साथ मिलानेसे यह प्रायः निस्सन्देह रूपसे सिद्ध हो जाता है कि समन्तभद्र और भद्रबाहु द्वितीय एक ही व्यक्ति हैं।"

निष्कर्षपर विचार :

यहाँ उनके इस निष्कर्ष एवं आधारपर विचार किया जाता है।

यह आधार—प्रमाण कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता; क्योंकि 'स्वामी' उपाधि भद्रबाहु और समन्तभद्रके एक होनेकी गारण्टी नहीं है। दो व्यक्ति होकर भी दोनों 'स्वामी' उपाधिसे भूषित हो सकते हैं। यदि विद्यानन्द और वादिराजने मात्र 'स्वामी' पदका प्रयोग किया है और उससे उन्हें स्वामी समन्तभद्र विवक्षित हैं तो इससे भद्रबाहु और समन्तभद्र कैसे एक हो गये ?

---

१. यह ब्रैकटके भीतरका आशय-वाक्य लेखकका है।

२. 'स्तोत्रे तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितम् तत्' ॥

—आप्तपरीक्षा।

३. स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम्।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥

—पार्श्वनाथचरित।

शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि—"दूसरे समकालीन लेखकोंके द्वारा लिखी गयी विश्वस्त सामग्रीके अभावमें ग्रन्थोंके आन्तरिक परीक्षणको अधिक महत्त्व देना सत्यके अधिक निकट पहुँचनेका प्रशस्त मार्ग है। आन्तरिक परीक्षणके सिवाय अन्य बाह्य साधनोंका उपयोग तो खींचतान करके दोनों ओर किया जा सकता है, तथा लोग करते भी हैं"[1]।

अतः भद्रबाहु द्वितीयकी निर्युक्तियों और स्वामी समन्तभद्रकी आप्तमीमांसादि कृतियोंका अन्तःपरीक्षण आवश्यक है। समन्तभद्रको कृतियोंमें डॉ जैन रत्नकरण्ड-श्रावकाचारको उनकी कृति नहीं मानते। परन्तु आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन और स्वयम्भूस्तोत्र इन तीनको उनकी कृतियाँ स्वीकार करते हैं। अतएव समन्तभद्रके इन तीनों ग्रन्थोंके साथ भद्रबाहुकी निर्युक्तियों[2] का अन्तःपरीक्षण करके हमने जो कुछ अनुसन्धान एवं चिन्तन किया है उसे यहाँ प्रस्तुत किया जाता है, जिससे इन दोनों आचार्योंका अपना-अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व और विभिन्न समयवर्तित्व सहजमें ही जाना जा सकेगा और साथ ही यह भी ज्ञात हो जायेगा कि दोनों ही आचार्य दो भिन्न-भिन्न परम्पराओंमें हुए हैं :—

(१) निर्युक्तिकार भद्रबाहु केवलीके केवलज्ञान और केवलदर्शनको युगपत् नहीं मानते। उनका कहना है कि केवलीके केवलदर्शन होनेपर केवलज्ञान और केवलज्ञान होनेपर केवलदर्शन नहीं होता; क्योंकि दो उपयोग एक साथ नहीं बनते। जैसा कि उनकी आवश्यकनिर्युक्तिकी निम्न गाथा (नं० ९७९) से स्पष्ट है—

णाणंमि दंसणंमि अ इत्तो एगयरयंमि उवजुत्ता।
सव्वस्स केवलिस्सा[3] जुगवं दो नत्थि उवओगा॥

इसमें कहा गया है कि 'सभी केवलियोंके—चाहे वे तीर्थंकरकेवली हों या सामान्यकेवली आदि—ज्ञान और दर्शनमें कोई एक ही उपयोग एक समयमें होता है, दो उपयोग एक साथ नहीं होते'।

आवश्यकनिर्युक्तिकी यथाप्रकरण और यथास्थानपर स्थित यह गाथा ऐतिहासिक दृष्टिसे बड़े महत्त्वकी है और कितनी ही उलझनोंको सुलझाती है। इससे तीन बातें प्रकाशमें आती हैं—एक तो यह कि भद्रबाहु द्वितीय केवलीको ज्ञान और दर्शन उपयोगमेंसे किसी एकमें ही एक समयमें उपयुक्त बतला कर क्रमपक्षका सर्वप्रथम प्रस्थापन करते हैं। और इस लिए वे ही क्रमपक्षके प्रस्थापक[4] एवं प्रधान पुरस्कर्ता

---

१. अकलंकग्रन्थत्रय, प्रस्तावना पृ. १४।

२. भद्रबाहुकर्तृक दश निर्युक्तियाँ प्रसिद्ध हैं, और ये श्वेताम्बर परम्परामें प्रसिद्ध आचारांगसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र, आवश्यकसूत्र आदि आगमसूत्रोंपर लिखी गयी हैं। उनमेंसे सूर्यप्रज्ञप्ति-निर्युक्ति और ऋषिभाषितनिर्युक्ति अनुपलब्ध हैं। ओघनिर्युक्ति और संसक्तनिर्युक्ति वीरसेवामन्दिरमें नहीं हैं। बाकी ६ निर्युक्तियोंका ही अन्तःपरीक्षण किया गया है।

३. 'केवलिस्स वि' पाठान्तरम्।

४. यदि प्रज्ञापनासूत्र, पद ३०, सू. ३१४ को क्रमपक्षपरक माना जाये तो सूत्रकार क्रमपक्षके प्रस्थापक और निर्युक्तिकार भद्रबाहु उसके सर्व प्रथम समर्थक माने जायेंगे।

भद्रबाहु और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण तथा अकलंकका मध्यकाल अभेदपक्षके स्थापन और उसके प्रतिष्ठाता (सिद्धसेन) का समय होना चाहिए[1]।

तात्पर्य यह कि श्वेताम्बर परम्परामें केवलीके केवलज्ञान और केवलदर्शन उपयोगके सम्बन्धमें तीन पक्ष हैं—१. क्रमपक्ष, २. युगपत्पक्ष और ३. अभेदपक्ष। कुछ आचार्य केवलीके ज्ञान और दर्शन उपयोगको क्रमिक, कुछ दोनोंको युगपत् तथा कुछ दोनोंको अभिन्न—एक मानते हैं[2]। किन्तु दिगम्बर सम्प्रदायमें केवल एक ही पक्ष है और वह है यौगपद्यपक्ष।

आचार्य भूतबलिके षट्खण्डागमसे लेकर अब तकके उपलब्ध समस्त दिगम्बर वाङ्मयमें यौगपद्य-पक्ष ही एक स्वरसे स्वीकार किया गया है[3]। अकलंकदेवने तो

---

१. पं. सुखलालजीने सिद्धसेनसे भी पहले अभेदपक्षकी सम्भावना की है। —ज्ञानबिन्दु प्रस्ता. पृ. ६०। पर उसमें कितनी ही आपत्तियाँ उपस्थित होती हैं।

२. पिछले फुटनोटमें उल्लिखित विशेषणवतीकी १८४, १८५ नम्बरकी गाथा।

३. यथा—

(क) 'सयं भयवं उप्पण्णणाणदरिसी स...... सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदि...'

—षट्खण्डा., पयडिअणु., सू. ७८।

(ख) जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।
दिणयरपयासतापं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं ॥

—कुन्दकुन्द, नियम., गा. १५९।

(ग) पस्सदि जाणदि य तहा तिण्णि वि काले सपज्जए सव्वे।
तह वा लोगमसेसं पस्सदि भयवं विगदमोहो ॥
भावे सगविसयत्थे सूरो जुगवं जहा पयासेइ।
सव्वं वि तधा जुगवं केवलणाणं पयासेदि ॥

—शिवार्य, भगवती आराध. गा., २१४१, २१४२।

(घ) साकारं ज्ञानमनाकारं दर्शनमिति। तत् छद्मस्थेषु क्रमेण वर्तते। निरावरणेषु युगपत्।

—पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि १-९।

'जानन् पश्यन् समस्तं सममनुपरतं.........'।

—पूज्यपाद, सिद्धभ. ४।

(ङ) 'आवरणात्यन्तसंक्षये केवलिनि युगपत्केवलज्ञानदर्शनयोः साहचर्यम्। भास्करे प्रतापप्रकाशसाहचर्यवत्।' — अकलंक, तत्त्वार्थवा., ६-४-१२

(च) 'दंसणपुव्वं णाणं छदुमत्थाणं ण दुण्णि उवओगा।
जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि ॥

—नेमिचन्द्र, द्रव्यसं. गा. ४४

क्रमपक्ष[1] और अभेदपक्ष[2]का खण्डन भी किया है। इतना ही नहीं किन्तु क्रमपक्ष उन्होंने केवलीका अवर्णवाद भी कहा है[3]।

इतना प्रासंगिक कहनेके बाद अब मैं निर्युक्तिकार भद्रबाहुकी उपर्युक्त गा विरोध प्रकट करनेवाले समन्तभद्रके आप्तमीमांसा और स्वयंभूस्तोत्रगत उन वा को रखता हूँ, जिनमें केवलीके ज्ञान और दर्शन उपयोगके यौगपद्यका कथन गया है—

(क) 'तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।'

—आप्तमी., का. १०१।

(ख) 'नाथ युगपदखिलं च सदा त्वमिदं तलामलकवद्विवेदिथ।'

—स्वयंभूस्तोत्र श्लो. १२९।

'हे जिनेन्द्र, आपका ज्ञान एक साथ समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करता है। आपने समस्त चराचर जगत्‌को हस्तामलकवत्—हाथमें रखे हुए आंवलेको तरह युगपत्—एकसाथ जाना है और यह जानना आपका सदा—अर्थात् नित्य और निरन्तर है—ऐसा कोई भी समय नहीं जब आप सब पदार्थोंको युगपत् न जानते हों।'

यहाँ समन्तभद्रने युगपत्पक्षका प्रतिपादन किया है। उनके 'युगपत्' 'अखिलं' 'च' 'सदा' और 'तलामलकवत्' सब ही पद सार्थक और महत्त्वके हैं। उनका युगपत् पक्षका समर्थन करनेवाला 'सदा' शब्द तो विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य है, और जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वह स्पष्टतया केवलीके क्रमिक ज्ञान-दर्शनका विरोध करता है और उनके यौगपद्यका प्रबल समर्थन करता है, क्योंकि ज्ञान-दर्शन की क्रमिक दशामें ज्ञानके समय दर्शन और दर्शनके समय ज्ञान नहीं रहेगा। और इसलिए कोई भी ज्ञान सदाकालीन—शाश्वत नहीं बन सकेगा। पं. सुखलालजीने भी ज्ञानबिन्दुकी प्रस्तावना (पृ. ५५) में केवल आप्तमीमांसाके उक्त उल्लेखके आधारसे समन्तभद्रको एकमात्र यौगपद्यपक्षका समर्थक बतलाया है। इस मान्यतासे निर्युक्तिकार भद्रबाहु और आप्तमीमांसाकार समन्तभद्रमें सहज ही पार्थक्य हो जाता है। यदि भद्रबाहु और समन्तभद्र एक होते तो निर्युक्तिमें क्रमवादका स्थापन और

१. 'तज्ज्ञानदर्शनयोः क्रमवृत्तौ हि सर्वज्ञत्वं कादाचित्कं स्यात्' :

—अष्टशती, का. १०१।

२. 'तत्र ज्ञानमेव दर्शनमिति केवलिनोऽतीतानागतदर्शित्वमयुक्तं ? तत्र, किं कारणं ? निरावरणत्वात्। यथा भास्करस्य निरस्तघनपटलावरणस्य यत्र प्रकाशस्तत्र प्रतापः यत्र च प्रतापस्तत्र प्रकाशः। तथा निरावरणस्य केवलिभास्करस्याचिन्त्यमाहात्म्यविभूतिविशेषस्य यत्र ज्ञानं तत्रावश्यं दर्शनं यत्र च दर्शनं तत्र च ज्ञानम्।
किं च—तदागमात्। यथा हि असद्भूतमनुपदिष्टं च जानाति तथा पश्यति किमत्र भवतो हीयते। किं च—विकल्पात् ॥१६॥ × × इति सिद्धं केवलिनस्त्रिकालगोचरं दर्शनम्।

—तत्त्वार्थवा. १-४।

३. '...कामयेऽकृज्ञानदर्शिनः केवलिनः इत्यादिवचनं केवलिष्ववर्णवादः'।

—तत्त्वार्थवा., ६-१३-८।

युगपत्‌वादका खण्डन तथा आप्तमीमांसामें युगपत्‌वादका कथन और फलितरूपेण क्रमिकवादका खण्डन दृष्टिगोचर न होता।

इससे स्पष्ट है कि समन्तभद्र और निर्युक्तिकार भद्रबाहु अभिन्न नहीं हैं—भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं।

(२) निर्युक्तिकार भद्रबाहुने श्वेताम्बरीय आगमोंकी मान्यतानुसार चौबीसों तीर्थंकरोंको एक वस्त्रसे प्रव्रजित होना माना है। जैसा कि उनकी निम्न गाथासे प्रकट है—

> सव्वेऽवि एगदूसेण णिग्गया जिणवरा चउव्वीसं।
> न य नाम अण्णलिंगे नो गिहिलिंगे कुलिंगे वा॥

—आवश्य. नि., गा. २२७।

'सभी ऋषभ आदि महावीर पर्यन्त चौबीसों तीर्थंकर एक दूष्य—एक वस्त्रके साथ दीक्षित हुए।'

यहाँ भद्रबाहु तीर्थंकरोंको भी एक वस्त्ररूप उपधि[1] रखनेका उल्लेख करते हैं, अन्य साधुओंकी तो बात ही क्या। पर इसके विपरीत समन्तभद्र क्या कहते हैं, इसे भी देखें—

> अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं
> न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ।
> ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं
> भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः॥

—स्वयंभूस्तोत्र ११९।

यहाँ कहा गया है कि 'हे नमिजिन! प्राणियोंकी अहिंसा—उन्हें घात नहीं करना, प्रत्युत उनकी रक्षा करना लोकविदित परम ब्रह्म है—अहिंसा सर्वोत्कृष्ट आत्मा—परमात्मा है, यह अहिंसा उस साधुवर्गमें कदापि नहीं बन सकती है जहाँ अणुमात्र भी आरम्भ है। इसीलिए हे परम कारुणिक! आपने उस परम ब्रह्मस्वरूप अहिंसाकी सिद्धिके लिए उभय प्रकारके ग्रन्थका—परिग्रहका त्याग किया और विकृतवेष—अस्वाभाविक वेष (भस्माच्छादनादि रूपमें) तथा उपधि—वस्त्रमें या आभरणादिमें आसक्त नहीं हुए।'

जहाँ भद्रबाहु निर्युक्तिमें तीर्थंकरोंके उभय परिग्रहको छोड़ देनेपर भी उनके लिए एक वस्त्र रखनेका सुस्पष्ट विधान करते हैं वहाँ समन्तभद्र उभयपरिग्रहके छोड़ देने और अणुमात्र भी आरम्भ न करनेकी व्यवस्था करते हैं। साथ ही स्वाभाविक नग्नवेषके विरुद्ध वस्त्रादि धारणको विकृत वेष और उपधिका[2] धारण बतलाकर

---

१. यहाँ आ. हरिभद्रकी टीका द्रष्टव्य है—"सर्वेऽपि एकदूष्येण एकवस्त्रेण निर्गताः जिनवराश्चतुर्विंशतिः, + + किं पुनः तन्मतानुसारिणो न सोपधयः? ततश्च य उपधिरासेवितो भगवद्भिः स साक्षादेवोक्तः, य पुनर्विनयेभ्यः स्थविरकल्पिकादिभेदभिन्नेभ्योऽनुज्ञातः स खलु अपिशब्दात् ज्ञेय इति।'—आव. नि., टी. गा. २२७।

२. (क) भद्रबाहुको भी 'उपधि' का अर्थ वस्त्र विवक्षित है। यथा—'अप्पत्तेच्चिय वासे सव्वं उवहिं धुवति जयणाए'।—पिंडनि. २६।

नागार्जुन और समन्तभद्र

नागार्जुन ईसाकी दूसरी शताब्दी (१८१ ईस्वी) के एक प्रसिद्ध बौद्ध तार्किक विद्वान् माने जाते हैं[1]। ये शून्यवादके पुरस्कर्ता हैं। 'माध्यमिका', 'विग्रहव्यावर्तनी' 'युक्तिषष्ठिका' आदि तार्किक-कृतियाँ इनकी बनायी हुई हैं। इनमें प्रथम दो कृतियाँ तो प्रकाशित हो चुकी हैं और वे प्रायः सुलभ हैं, किन्तु 'युक्तिषष्ठिका' अब तक प्रकाशमें नहीं आयी और इसलिए उसका मिलना दुर्लभ बना हुआ है। इनके अतिरिक्त नागार्जुनकी और भी रचनाएँ सुनी जाती हैं, पर वे आज उपलब्ध नहीं हैं।

जब मैं 'समन्तभद्र और दिग्नाग, शीर्षक लेखकी[2] तैयारीमें लगा हुआ था, तब नागार्जुनकी 'माध्यमिका' और 'विग्रहव्यावर्तनी' के अध्ययन करनेका भी मुझे अवसर मिला। इन दोनों ग्रन्थोंके अध्ययनने मुझे स्वामी समन्तभद्रकी आप्त-मीमांसाके साथ इनका तुलनात्मक सूक्ष्म परीक्षण करनेके लिए भी प्रेरित किया। इन दोनों ग्रन्थकारोंकी कृतियोंका तुलनात्मक परीक्षण करनेके लिए तीव्र इच्छा तो पैदा हो गयी; पर कुछ कारणोंके वश उस समय वह पूरी न हो सकी। बादको मुझे पुनः कुछ बौद्धग्रन्थोंके अध्ययन करनेका मौका मिला, तो मेरा यह विचार स्थिर हो गया कि 'नागार्जुन और समन्तभद्र' शीर्षकके साथ इन दोनों तार्किकोंके साहित्यिक अन्तः-परीक्षणके रूपमें एक लेख अवश्य ही लिखा जाना चाहिए। उसीके परिणामस्वरूप आज यह लेख अपने पाठकोंके सामने उपस्थित कर रहा हूँ—

(१) नागर्जुन अपनी विग्रहव्यावर्तनीमें कहते हैं :—

> हेतोस्ततो न सिद्धिः नैःस्वाभाव्यात् कुतो हि ते हेतुः।
> निर्हेतुकस्य सिद्धिर्न चोपपन्नास्य तेऽर्थस्य ॥१७॥
> यदि चाहेतोः सिद्धिः स्वभाव-विनिवर्तनस्य ते भवति।
> स्वाभाव्यास्तित्वं ममापि निर्हेतुकं सिद्धम् ॥१८॥

स्वामी समन्तभद्र आप्तमीमांसामें नागार्जुनकी उपर्युक्त युक्तियोंको अपनाते हुए अद्वैतका खण्डन निम्न प्रकार करते हैं :—

> हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेत् द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः।
> हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम् ॥२६॥

यहाँ अद्वैतके खण्डन करनेके लिए समन्तभद्रने वही सरणि अपनायी है जो नागार्जुनने भावके खण्डन करनेमें प्रयुक्त की है। नागार्जुन कहते हैं कि 'हेतुसे भावकी सिद्धि करते हो या बिना हेतुके? हेतुसे तो भावकी सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि निस्वभाव होनेसे हेतु ही असिद्ध है। बिना हेतुके भावकी सिद्धि माननेपर हमारे

---

१. तत्त्वसंग्रहकी भूमिका LXVIII। वादन्यायमें २५० A. D. दिया है।

२. 'अनेकान्त' वर्ष ५, किरण १२। यह लेख इसी पुस्तकमें अन्यत्र प्रकाशित है।

आपेक्षिकसिद्धि माननेमें नागार्जुनने जो 'नास्त्युभयस्यापि ते सिद्धिः' शब्दों द्वारा दोनोंको भी सिद्धि न होने रूप दोष दिया है वही समन्तभद्रने 'न द्वयं व्यवतिष्ठते' शब्दों द्वारा प्रकट किया है।

(५) नागार्जुन पुनः विग्रहव्यावर्तिनी में लिखते हैं :—

यदि च प्रमेयसिद्धिरनपेक्ष्यैव भवति प्रमाणानि।
किन्ते प्रमाणसिद्धया तानि यदर्थं प्रसिद्धं तत् ॥४५॥

समन्तभद्र भी इसी मतका प्रतिपादन करते हैं :—

अनापेक्षिकसिद्धौ च न सामान्यविशेषता ॥—आप्तमी ७३॥

(६) नागार्जुन आगे चलकर पुनः कहते हैं—

यदि च स्वतः प्रमाणसिद्धिरपेक्ष्य ते प्रमेयाणि।
भवति प्रमाणसिद्धिः न परापेक्षा हि सिद्धिः ॥४१॥

इसपर समन्तभद्र आप्तमीमांसामें नागार्जुनको तरह स्वरूपसिद्धि तो परापेक्ष न ेका अपना भी मत प्रकट करते हैं। पर साथमें अनेकान्तदृष्टिसे अपेक्षा और ्पेक्षा दोनोंसे वस्तुसिद्धि (वस्तुके व्यवहार और स्वरूपकी सिद्धि) की सुन्दर एवं ्किक व्यवस्था भी करते हैं। यथा—

धर्मधर्म्यविनाभावः सिध्यत्यन्योन्यवीक्षया।
न स्वरूपं स्वतो ह्येतद् कारकज्ञापकाङ्गवत् ॥७५॥

अपेक्षा-अनपेक्षाकी समस्या नागार्जुनके लिए माध्यमिकामें भी रहती है। ा—

यदीन्धनमपेक्ष्याग्निरपेक्ष्याग्निं यदीन्धनम्।
कतरत् पूर्वनिष्पन्नं यदपेक्ष्याग्निरिन्धनम्।
यदीन्धनमपेक्ष्याग्निर्भवतीति प्रकल्प्यते।
एवं सतीन्धनञ्चापि भविष्यति निरग्निकम् ॥
योऽपेक्ष्य सिध्यते भावस्तमेवापेक्ष्य सिध्यति।
यदि योऽपेक्षितव्यः स सिध्यतां कमपेक्ष्यकः ॥
योऽपेक्ष्य सिध्यते भावः सोऽसिद्धोऽपेक्ष्यते कथम्।
अपेक्ष्येन्धनमग्नि न नानपेक्ष्याग्निमिन्धनम् ॥

—माध्यमि. पृ. ७०-७१।

यहाँ पाठक देखेंगे कि नागार्जुन अपेक्षा और अनपेक्षाके एकान्तोंको पकड़कर व उनके समन्वयका हल न निकाल सके, तो शून्यतत्त्वको मान बैठे। पर समन्तभद्र- इसका हल निकाल लिया और लोकमें दिख रही अपेक्षा-अनपेक्षासे सिद्धिको नकर अनेकान्तदृष्टिसे उसका व्यवस्थापन किया। जैसा कि उपर्युक्त वाक्योंसे प्रकट ता है।

इस थोड़े-से तुलनात्मक परीक्षण तथा ... ाता है कि समन्तभद्रपर नागार्जुनके साहित्यकी मय या निकट समयवर्ती हैं। अर्थात् दोनोंका ागार्जुनके तुरन्त बाद समन्तभद्र हुए जान

दिग्नाग और समन्तभद्र

समन्तभद्र और दिग्नाग दोनों ही दो भिन्न परम्पराओंके प्रधान आचार्य हैं—समन्तभद्र जैन परम्पराके और दिग्नाग बौद्ध परम्पराके। जो सम्मान और प्रतिष्ठा जैन परम्परामें स्वामी समन्तभद्रको प्राप्त है प्रायः वही सम्मान और प्रतिष्ठा बौद्ध परम्परामें आचार्य दिग्नागको उपलब्ध है। दोनों ही अपने-अपने दर्शनशास्त्रके प्रभावक विद्वानोंमें अग्रगण्य हैं। दिग्नागका समय प्रायः ईसाकी ४थी और ५वीं शताब्दी (३४५-४२५ ई०)[1] माना जाता है, जब कि समन्तभद्रके समय-सम्बन्धमें आमतौरपर दूसरी शताब्दी (शक सं० ६०) की मान्यता है[2]। यद्यपि इस मान्यतामें कुछ विद्वानोंको विवाद है, फिर भी इतना तो सुनिश्चित है कि स्वामी समन्तभद्र पूज्यपादाचार्यसे, जिनका समय अनेक प्रमाणोंके आधारपर ईसाकी पाँचवीं शताब्दी माना जाता है, पश्चाद्वर्ती नहीं हैं; किन्तु उनसे अथवा उनकी ग्रन्थ-रचनाके आरम्भसे, जिसका अनुमानकाल ई० सन् ४५० के लगभग जान पड़ता है,[3] पहले हो गये हैं; क्योंकि पट्टावलियोंके अतिरिक्त श्रवणबेलगोलके अनेक शिलालेखोंमें भी समन्तभद्रको पूज्यपादके पूर्वका विद्वान् बतलाया है। दूसरे, स्वयं पूज्यपादने अपने जैनेन्द्र-व्याकरणके 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' (५-४-१६८) इस सूत्रमें समन्तभद्रके मतका उल्लेख किया है। तीसरे, पूज्यपादके साहित्यपर समन्तभद्रके ग्रन्थोंका स्पष्ट प्रभाव पाया जाता है[4]।

विचारणीय यह है कि स्वामी समन्तभद्र आचार्य दिग्नागके भी पूर्ववर्ती हैं या नहीं, क्योंकि दिग्नाग और पूज्यपादके समयमें जो थोड़ा अन्तर जान पड़ता है उससे दिग्नाग पूज्यपादके पूर्ववर्ती मालूम होते हैं। इस विषयमें समन्तभद्र और दिग्नागके साहित्यका अन्तःपरीक्षण कर निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

(१) बौद्धदर्शनका प्रत्यक्ष-लक्षण प्रायः सभी बौद्ध-तार्किकों और इतर दार्शनिकोंके विचारकी वस्तु रहा है। बौद्ध दर्शनमें ही उसमें कितना ही संशोधन एवं परिवर्तन हुआ है। किन्तु इतना स्पष्ट है कि दिग्नागके पहिले भी बौद्ध-परम्परामें

---

१. न्यायप्रवेशकी भूमिका पृ० ७३ LXXIII तथा वादन्यायके परिशिष्ट A. और E।

२. 'स्वामी समन्तभद्र', जो हस्तलिखित संस्कृतग्रन्थोंके अनुसन्धान-विषयक डॉ० भाण्डारकरकी सन् १८८३-८४ की रिपोर्टमें पृ० ३२० पर प्रकाशित हुई है, तथा कर्नाटक-भाषाभूषण मि० लुईस राइसकी अंग्रेजी प्रस्तावना।

३. 'स्वामी समन्तभद्र' पृ० १४१ से १४३। पूज्यपादके शिष्य वज्रनन्दीने वि० सं० ५२६ (ई० सन् ४६९) में द्राविडसंघकी स्थापना की है (दर्शनसार, गा० २४-२८)।

४. 'स्वामी समन्तभद्र' पृ० १४३।

५. पं० जुगलकिशोर मुख्तारका 'सर्वार्थसिद्धि पर समन्तभद्रका प्रभाव', शीर्षक लेख, अनेकान्त वर्ष ५, कि० १०-११, पृ० ३४६-३५२।

प्रत्यक्ष[1] 'निर्विकल्पक', 'अकल्पक' या 'प्रत्यक्षबुद्धि' के नामसे प्रसिद्ध था। उस समय बौद्ध नैयायिकोंके सामने प्रत्यक्ष लक्षणकी एक अन्य परम्परा थी। वह थी 'इन्द्रिय-सन्निकर्ष'[2] या 'इन्द्रियजन्यव्यवसायात्मक'[3] ज्ञानको प्रत्यक्ष कहना। इसके विरोध-स्वरूप उन्हें प्रत्यक्षकी परिभाषा अपनी बनानी पड़ी। उन्होंने देखा कि 'इन्द्रिय-संनिकर्ष' और 'इन्द्रियजन्यव्यवसायात्मक ज्ञान' ये दोनों ही यथार्थ एवं वस्तुविषयक नहीं हैं, क्योंकि ये अर्थाभावमें भी हो जाते हैं और इसका कारण विकल्पवासना है। अतः विकल्पवासनासे शून्य अर्थजन्यबोध ही प्रत्यक्ष है और वही यथार्थ है—विकल्पात्मक इन्द्रियजन्य बोध या जड़ इन्द्रियसंनिकर्ष प्रत्यक्ष नहीं है। दिग्नागके पहले हमें ऐसे प्रत्यक्षकी मान्यताका आभास दिग्नागके प्रमाणसमुच्चयगत एक कारिकासे मिलता है जिसमें दिग्नागने उसे खण्डित किया है और कुछ अंशोंमें मान्य भी किया है। साथ ही एक कारिकामें 'जात्याद्यसंयुतं कल्पनापोढं' को प्रत्यक्षका लक्षण स्थिर किया है[4] और दूसरी कारिका द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञानमें इन्द्रियोंकी असाधारणता एवं प्रधानता होनेसे 'प्रत्यक्ष' नामकी सार्थकता और इन्द्रियजन्यता भी बतलायी है[5]। दिग्नागके द्वारा कदर्थित और उत्तरवर्ती अनेक ग्रन्थकारों[6] द्वारा भी खण्डित यह बौद्धप्रत्यक्षका लक्षण वाचस्पतिमिश्रने स्पष्टतया वसुबन्धुका बतलाया है[7]। किन्तु वसुबन्धु जिस समय 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' नामक प्रकरणग्रन्थकी रचना

---

१. (क) निर्विकल्पं यदि ज्ञानं वस्त्वहओऽपि न युज्यते।
यस्माच्चित्तं न रूपाणि निर्विकल्पं हि तेन तत् ॥
—लंकावतारसूत्र, सगाथक ११२।

(ख) यथाऽन्यैरेव तथागतैरनुगम्य यथावद्देशितं प्रज्ञप्तं विवृतमुत्तानीकृतं। यत्रानुगम्य सम्यगवबोधानुच्छेदाशाश्वतो विकल्पस्याप्रवृत्तिः स्वप्रत्यात्मार्यज्ञानानुकूलं तीर्थकरपक्ष-परपक्षश्रावकप्रत्येकबुद्धागतिलक्षणं तथागतज्ञानम्। ......किन्तु उपमानमात्रमे-तन्महामते यदुत गगानदीवालुकासमास्तथागता समा न विषमा अकल्पाविकल्पनतः।"
—लंकावतारसूत्र, पृ० २२८–३१।

(ग) प्रत्यक्षबुद्धिः स्वप्नादौ यथा सा च यदा तदा।
न सोऽर्थो दृश्यते तस्य प्रत्यक्षत्वं कथं मतम् ॥१६॥
—विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिविंशिका।

२. "आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसंनिकर्षात् यन्निष्पद्यते तदन्यदिति।" —वैशेषिकसूत्र ३, १, १८।

३. "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।"
—न्यायसूत्र १, १, ४।

४. "प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्।" —प्रमाणस०, का० ३।

५. "असाधारणहेतुत्वादक्षैस्तद्व्यपदिश्यते।" —प्रमाणस०, का० ४।

६. "अपरे पुनर्वर्णयन्ति ततोऽर्थाद्विज्ञानं प्रत्यक्षमिति। तन्न, ततोऽर्थादिति यस्यार्थस्य यद्विज्ञानं व्यपदिश्यते यदि तत एव तद्भवति नार्थान्तराद्भवति तत् प्रत्यक्षम्।"
—न्यायवार्तिक (उद्योतकर), पृ० ४०।

७. "तदेवं प्रत्यक्षलक्षणं समर्थ्य वासुबन्धवं तावत्प्रत्यक्षलक्षणं विकल्पयितुमुपन्यस्यति अपरे पुनरिति।" —न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, पृ० १५०।

करते हैं और उसमें विज्ञप्तिमात्र तत्त्वकी प्रतिष्ठा करते हैं[1] तो वे वहाँ रूपादि अर्थके बिना भी रूपादि-विज्ञप्तिरूप प्रत्यक्षको मानते हैं[2] और 'तैमिरिक' तथा 'स्वप्नवत्' दृष्टान्तके द्वारा अर्थाभावमें भी रूपादि विज्ञप्तिके होनेका समर्थन करते हैं, त सन्देह हो जाता है कि 'अर्थाद्विज्ञान' को प्रत्यक्ष माननेका सिद्धान्त वसुबन्धुका उनके पूर्ववर्ती या समकालीन अन्य किसी आचार्यका ? यह हो सकता है कि व जिस समय 'विज्ञप्तिमात्र तत्त्व' के प्रतिष्ठापक न रहे हों उस समय 'अर्थाद्विज्ञा प्रत्यक्ष माननेका उनका सिद्धान्त रहा हो। कुछ भी हो। यह निश्चित है कि दि पहिले वैसे प्रत्यक्ष लक्षणकी मान्यता थी और वह 'अकल्पक' 'निर्विकल्पक' 'प्रत्यक्ष 'रूपादिज्ञान' 'चक्षुरादिज्ञान' आदि नामोंसे ही प्रसिद्ध था। प्रमाणसमुच्चयकी प्रत्यक्षलक्षणको खण्डन करनेवाली वह कारिका इस प्रकार है—

ततोऽर्थाद्विज्ञानं प्रत्यक्षमिति तत्र तु ।
ततोऽर्थविति सर्वं तद्यत् तन्मात्रतो न हि ॥

—प्रमाणस०, का

इस तरह यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष 'निर्विक 'अकल्पक' के नामसे दिग्नागके पहिले भी माना जाता था और यह बौद्ध नैय की खास मान्यता थी। दिग्नागने इसमें सिर्फ अर्थजन्यताकी आलोचना क मुख्यतया इन्द्रियजन्यताका समर्थन किया। साथ ही कल्पनाका परिष्कार और परिभाषा भी बाँधी[3]। बादमें तो इसे परिष्कृत करने और परिभाषा बाँधनेके वह प्रत्यक्षका 'कल्पनापोढ' लक्षण दिग्नागका ही कहा जाने लगा। यहाँ उत्तरवर्ती अनेक ग्रन्थकारोंने दिग्नागके नामसे ही अपने ग्रन्थोंमें उसे उद्धृ खण्डन भी किया है[4]। दिग्नागसे कई शताब्दी बाद हुए प्रबल बौद्ध तार्कि कीर्तिने दिग्नागके तथाकथित प्रत्यक्षलक्षणमें 'अभ्रान्त' विशेषण लगाक संशोधित और परिवर्धित किया। इसके बादके दार्शनिकोंके खण्डन-मण्डनका तो प्रायः धर्मकीर्तिका 'अभ्रान्त'-विशेषण-विशिष्ट प्रत्यक्ष लक्षण ही हुआ है। हम देखते हैं कि बौद्ध परम्परामें प्रत्यक्ष-लक्षणके बारेमें तीन धाराएँ पा हैं—१. दिग्नागकी पूर्ववर्तिनी, २. दिग्नागीय और ३. धर्मकीर्तीय।

अब देखना है कि समन्तभद्रके साहित्यमें इन तीन धाराओंमें-से कौन-

१. "विज्ञप्तिमात्रमेवैतदसदर्थावभासनात् ।" —विंशति०, का० १ ।
२. विंशिकाकारिकाकी वृत्तिमें भी, जो स्वोपज्ञ जान पड़ती है, इस प्रकारका उ "यदि विना रूपाद्यर्थेन रूपादिविज्ञप्तिरुत्पद्यते न रूपाद्यर्थात् । कस्मात् क्वचिद्दे न सर्वत्र......।"
३. "[illegible] लिखते हैं कि—दिग्नागने कल्पनाके पाँच भेद कि [illegible], द्रव्य, गुण, क्रिया और परिभाषा।" —न्यायकु० भा० प्र०, प्रस्ता० पृ
४. (क) "अपरे तु मन्यन्ते प्रत्यक्षं कल्पनापोढमिति । अथ केयं कल्पना ? [illegible]—।" —न्यायवार्तिक,
(ख) "[illegible] । अपरे इति....।" —न्यायवा० तात्प०, पृ

लक्षित होती है ? इसके लिए हम यहाँ वे स्थल उपस्थित करते हैं जहाँ समन्तभद्रने बौद्धसम्मत प्रत्यक्षका निर्देश या आलोचन किया है। समन्तभद्रके स्थल निम्न प्रकार हैं—

(१) "प्रत्यक्षबुद्धिः क्रमते न यत्र।" —युक्त्यनुशासन, का० २२।

(२) "प्रत्यक्षनिर्देशवदप्यसिद्धमकल्पकं ज्ञापयितुं ह्यशक्यम्।"

—वही, का० ३३।

(३) "वीतविकल्पधीः का।" —वही, का० १७।

यहाँ समन्तभद्रका 'प्रत्यक्षबुद्धि' शब्दका प्रयोग उसी प्रकारका है जिस प्रकारका वह वसुबन्धु[1] की 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' की निम्न कारिकामें पाया जाता है—

प्रत्यक्षबुद्धिः स्वप्नादौ यथा सा च यदा तदा।
न सोऽर्थो दृश्यते तस्य प्रत्यक्षत्वं कथं मतम्॥

—विज्ञप्ति०, का० १६।

'अकल्पक' और 'वीतविकल्पधी' शब्दका प्रयोग भी उनका वैसा ही है, जैसा कि इसी लेखके आरम्भमें पाद-टिप्पणमें उद्धृत लंकावतारसूत्र[2] के गद्य और पद्य भागमें 'अकल्पाविकल्पतः' और 'निर्विकल्पं यदि ज्ञानं' वाक्योंमें उपलब्ध होता है।

इससे स्पष्ट है कि समन्तभद्र प्रथम धारा (दिग्नाग पूर्ववर्तिनी)के उल्लेखकर्ता हैं—वही उनके समयमें प्रवाहित थी। यदि दूसरी (दिग्नागीय) या तीसरी (धर्मकीर्तीय) धारा प्रवाहित होती तो वे मुख्यतया दिग्नागके 'जात्याद्यसंयुतकल्पनापोढं'रूप परिष्कृत लक्षणका या धर्मकीर्तिके 'अभ्रान्त'—विशेषणविशिष्ट लक्षणका अथवा दोनोंका उल्लेख एवं आलोचन करते जैसा कि दिग्नागके उत्तरवर्ती तार्किकोंने दिग्नागीय प्रत्यक्षलक्षण और धर्मकीर्तिके उत्तरवर्ती दार्शनिकोंने दिग्नागीय तथा धर्मकीर्तीय दोनों प्रत्यक्षलक्षणोंका निर्देश एवं खण्डन-मण्डन किया है। और इसलिए कहना होगा कि समन्तभद्र उस समय हुए हैं जबकि प्रत्यक्षके लक्षणविषयमें पिछली दो विचार-धाराओंका जन्म ही नहीं हुआ था। फलतः समन्तभद्र धर्मकीर्तिके ही नहीं किन्तु दिग्नागके भी पूर्ववर्ती हैं।

(२) दिग्नागने प्रमाणसमुच्चय-गत एक कारिकाके द्वारा प्रमाणके फलरूपमें 'अज्ञाननाश' का खण्डन किया है और यह बतलाया है कि फल सत् रूप होता है, 'अज्ञाननाश' असत् है और उसके सर्वत्र होनेका नियम भी नहीं है, इसलिए 'अज्ञान-नाश' प्रमाणका फल नहीं है। प्रमाणसमुच्चयकी उस कारिकाका प्रकृत अंश इस प्रकार है—

अज्ञानादेर्न सर्वत्र व्यवच्छेदः फलं न सत्॥२३॥

---

१. वसुबन्धुका समय तत्त्वसंग्रहकी भूमिकामें २८०–३६० A. D. दिया है, देखो, भूमि०, पृ० LXVI।

२. लंकावतारसूत्रका एक चीनी अनुवाद गुणभद्र द्वारा ई० सन् ४४३ (A. D.) में हुआ है, ऐसा प्रो० Bunyui Nanjio M. A. ने सन् १९२३ के संस्करण (जापान) में प्रकट किया है और इससे यह सूत्र ईसाकी ५वीं शताब्दीसे बहुत पहलेका बना हुआ जान पड़ता है।

विचारणीय है कि अज्ञान-व्यवच्छेदको प्रमाणका फल किस दार्शनिकने स्वी
किया है। न्याय[1] वैशेषिक,[2] मीमांसा[3] और बौद्ध[4] किसी भी परम्पराने 'अज्ञान
को प्रमाणका फल नहीं माना। यही पं० सुखलालजीने भी कहा है[5]।

दिग्नागने जिन न्यायसूत्रकार और वात्स्यायनके प्रत्यक्षलक्षणका खण्डन कि
है[6] उन्होंने भी 'अज्ञान-नाश' को प्रमाणका फल स्वीकार नहीं किया। उपलब्ध
जैनेतर दर्शन-साहित्यका अनुशीलन करनेपर ज्ञात होता है कि जैन मनीषी स
समन्तभद्रने ही सर्वप्रथम 'अज्ञान-नाश' को प्रमाणका फल कहा है और अपनी आ
मीमांसाकी निम्न कारिकाके द्वारा उसे स्पष्टतया घोषित किया है—

उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः।
पूर्वा वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥१०२॥

यहाँ कारिकाके पूर्वार्धमें प्रमाणका जो फल दिया हुआ है वह तो वात्स्या
के भाष्यमें भी पाया जाता है, जिनका समय लगभग ईसाकी तीसरी-चौथी शता
है। किन्तु उत्तरार्धमें जो 'अज्ञाननाश' फल दिया है वह समन्तभद्रकी स्वोप
जिसे पूज्यपादने भी अपनी सर्वार्थसिद्धिमें "उपेक्षा अज्ञाननाशो वा फलम्"
शब्दोंके द्वारा अपनाया है। और न्यायावतारकार सिद्धसेन ईसाकी ७-८वीं शता
ने समन्तभद्रकी उक्त कारिकाका निम्न प्रकारसे अनुसरण[7] किया है—

प्रमाणस्य फलं साक्षादज्ञानविनिवर्तनम्।
केवलस्य सुखोपेक्षे शेषस्यादानहानधीः ॥२८॥

---

१ "[illegible] ज्ञानं भवति यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्।" —न्यायभा० भा०, पृ०

२ "[illegible]।" —वैशेषिकसू० १. १. ३।

३ [illegible] ([illegible] न होनेसे प्रमा० मी० टि० के आधार [illegible] है)।

४ (क) "[illegible] [illegible]। [illegible] प्रमाणं तेन सा[illegible] ॥" —प्रमाणसमु० का० १०।
(ख) "[illegible] प्रमाणफलमिष्यते। [illegible] प्रमाणं तु [illegible] ॥" —तत्त्वसं० का० १३४४।

५ "[illegible], जिनका ईसाकी [illegible] परम्परामें [illegible]" —प्रमाण०, भा० पृ० ६८।

६ [illegible] का० १८, १९, २०, २१, २२, २३।

७ [illegible] 'न्यायावतार' [illegible] [illegible] है और [illegible] [illegible] है।

८ [illegible]

इस तरह 'अज्ञाननाश' को प्रमाणका फल बतलाना एक जैन मान्यता है, जिसके आद्यपुरस्कर्ता समन्तभद्र हैं। अतः इस मान्यताका खण्डन करनेवाले दिग्नाग समन्तभद्रसे पूर्ववर्ती न होकर उत्तरवर्ती ही सिद्ध होते हैं। यही कारण है कि समन्तभद्रके उत्तरवर्ती अकलंकदेव अपने पूर्वजके मतके उक्त खण्डनका सबल उत्तर अपनी उसी कारिकाकी व्याख्या अष्टशतीमें देते हुए लिखते हैं—

"मत्यादेः साक्षात्फलं स्वार्थव्यामोहविच्छेदः। तदभावे दर्शनस्यापि संनिकर्षाविशेषात्। क्षणपरिणामोपलम्भवदविसंवादकत्वासंभवात्।"

यहाँ अकलंकदेवकी पंक्तियाँ विशेष ध्यान देने योग्य हैं', जिनके द्वारा कहा गया है कि यदि 'अज्ञाननाश' को प्रमाणका फल नहीं मानोगे तो जिस सन्निकर्षका खण्डन करते हो उसमें और तुम्हारे निर्विकल्पक दर्शन-'कल्पनापोढप्रत्यक्ष'में कोई अन्तर नहीं रहता; क्योंकि दोनों ही विसंवादकताके अव्यावर्तक हैं। और अविसंवादी ज्ञान प्रमाण माना जाता है। इससे स्पष्ट है कि उक्त दिग्नागकृत खण्डन समन्तभद्रकी मान्यतासे ही सम्बन्ध रखता है, जिसका समुचित उत्तर उनके उत्तरवर्ती अकलंकदेवने दिया है।

(३) दिग्नागने 'प्रमाणसमुच्चय' गत ९वीं कारिकाकी वृत्तिमें प्रमाण और प्रमाण-फलके अभेदका प्रतिपादन एवं भेदका खण्डन निम्न प्रकारसे किया है—

"अत्र यथा बाह्यानां प्रमाणात्फलमर्थान्तरं तथा नास्ति। फलभूतं विषयाकार-मुत्पद्यमानं (ज्ञानं) सव्यापारं प्रतीयते।"

अर्थात् बाह्यों-बौद्धेतरोंके यहाँ जिस प्रकार प्रमाणसे फल भिन्न है वैसा यहाँ (बौद्धोंके) नहीं है।

यहाँ प्रमाण और फलके भेदका खण्डन किया गया है और प्रकारान्तरसे अभेदका प्रस्ताव किया है। दिग्नागके पहले वैशेषिक, नैयायिक, मीमांसक सभीके यहाँ प्रमाणसे फल सतत स्वीकार किया गया है। दिग्नागने उसका खण्डन करके उनमें अनर्थान्तरता मानी। यदि समन्तभद्र दिग्नागके उत्तरवर्ती होते तो वे इस प्रमाण और फल-विषयक भेदाभेदके सम्बन्धमें जैनदृष्टिकोणको दार्शनिकोंके सामने रखे बिना न रहते। कोई वजह नहीं कि समन्तभद्र भाव-अभाव, नित्य-अनित्य आदि अनेक मुद्दोंकी तो चर्चा करें और प्रमाण तथा फलके भेदाभेदविषयक मुद्देको यों ही छोड़ दें। इससे यह स्पष्ट मालूम होता है कि समन्तभद्रका अस्तित्व उस समयका है जब प्रमाण और फलका भेदाभेद उभरकर नहीं आया था—वे इसके पुरस्कर्ता दिग्नागसे पहिले हो चुके थे। यही कारण है कि समन्तभद्र और दिग्नागके उत्तरवर्ती आप्त-मीमांसाके व्याख्याकार अकलंकने सर्वप्रथम जैन-परम्परामें इस गुत्थीको सुलझाया और प्रमाण तथा फलके भेदाभेदके सम्बन्धमें जैनदृष्टिकोणको स्पष्ट किया[1]। समन्तभद्रके समयमें ऐसी कोई गुत्थी उपस्थित नहीं थी, इसीसे समन्तभद्रको सामान्य भेदाभेदका अनेकान्तदृष्टिसे स्पष्टीकरण करते हुए और प्रमाण तथा फलकी व्याख्या

१. "करणस्य क्रियायाश्च कथंचिदेकत्वं प्रदीपतमोविगमवत्। नानात्वं च परश्वादिवत्॥"
—अष्टशती, आप्तमी. का. १०२।

कुमारिल और समन्तभद्र

प्रसिद्ध मीमांसकवार्तिक कुमारिलभट्टने समन्तभद्रीय आप्तमीमांसाकी आलोचना की है और आप्तमीमांसाके कितने ही पद, वाक्यों तथा कारिकाओंका बिम्बप्रतिबिम्बरूपसे अनुसरण भी किया है। नीचे इसका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है—

यद्यपि सर्वज्ञत्व की मान्यता बहुत प्राचीन है और उसका साधन भी दार्शनिकोंने विविधरूपसे किया है। पर समन्तभद्रने उसके साधनका जो ढंग एवं सरणि अपनायी है वह अन्यत्र अलभ्य है। सातवीं शताब्दी तक के न्याय, वैशेषिक और बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थोंमें न तो समन्तभद्र जैसी सर्वज्ञकी सिद्धि उपलब्ध होती है[1] और न उन जैसी सर्वज्ञ-साधनमें अपनायी गयी सरणि ही पायी जाती है। समन्तभद्र अपनी आप्त-मीमांसामें सर्वप्रथम सामान्यरूपसे सर्वज्ञका प्रस्ताव करते हैं और कहते हैं—

> तीर्थकृत्समयानां च परस्परविरोधतः।
> सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरुः॥

अर्थात्—सभी तीर्थ-प्रवर्तकों और उनके उपदेशोंमें परस्परविरोध होनेसे सब तो आप्त नहीं हो सकते, कोई ही (एक) गुरु (आप्त-सर्वज्ञ) होना चाहिए।

भट्ट कुमारिल इसकी आलोचना करते हुए लिखते हैं—

> सर्वज्ञेषु च भूयस्सु विरुद्धार्थोपदेशिषु।
> तुल्यहेतुषु सर्वेषु को नामैकोऽवधार्यताम्॥
> सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा।
> अथोभावपि सर्वज्ञौ मतभेदः तयोः कथम्॥
>
> —तत्त्वसं., का. ३१४८-४९।

यहाँ समन्तभद्रके 'परस्परविरोधतः'के स्थानमें कुमारिलने 'विरुद्धार्थोपदेशिषु' पदका प्रयोग किया है और जिस विरोधकी समन्तभद्रने सूचना मात्र दी थी उस विरोधको कुमारिलने दूसरी 'सुगतो यदि सर्वज्ञः' इस कारिकाके द्वारा स्पष्ट किया है। साथ ही समन्तभद्रने जो यह कहा था कि 'कश्चिदेव भवेद्गुरुः'—'कोई ही एक

---

१. न्याय-वैशेषिक ईश्वरको ही सर्वज्ञ मानते हैं। युक्त और वियुक्त योगी आत्माओंको सर्वज्ञ मानते तो हैं, पर मोक्ष होनेके बाद, उनका ज्ञान योगजन्य होनेसे शेष नहीं रहता। सांख्य, योग और वेदान्त दर्शन भी न्यायवैशेषिककी ही तरह सर्वज्ञत्व मानते हैं अन्तर सिर्फ इतना है कि सांख्य, योग प्रकृति (बुद्धि) तत्त्वमें, वेदान्त बुद्धितत्त्वमें सर्वज्ञत्व मानते हैं।—देखो, प्रमाणमी. भा. टि., पृ. २९

२. इन कारिकाओंको शांतरक्षितने तत्त्वसंग्रहमें कुमारिलके नामसे उद्धृत किया है। अष्टसहस्री पृ. ५ में विद्यानन्दने भी दूसरी कारिका 'तदुक्तं' करके कुमारिलकी तरफसे उद्धृत की है।

सर्वज्ञ होना चाहिए' उसका विरोध कुमारिलने 'को नामैकोऽप्यपार्यताम्'—'किस एकका निश्चय करते हो' जैसे शब्दों द्वारा किया है।

समन्तभद्र जब अपने उपर्युक्त प्रस्तावानुसार एक दूसरी कारिकामें सर्वज्ञका सामान्यरूपसे 'अनुमेयत्व' हेतुके द्वारा संस्थापन करते हैं तो कुमारिल इसकी भी आलोचना करते हैं। समन्तभद्रकी वह सामान्य सर्वज्ञकी साधक कारिका निम्न प्रकार है—

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः॥

यहां समन्तभद्रने 'कस्यचित्' जैसे सामान्यवाची सर्वनाम शब्दका प्रयोग किया है जो 'सामान्य पुरुष' का वाचक होता है और उस सामान्य पुरुषमें 'अग्नि आदि पदार्थ' रूप दृष्टान्तकी सामर्थ्यसे 'अनुमेयत्व' (अनुमानके विषय) रूप हेतुके द्वारा सूक्ष्म, अन्तरित (कालव्यवहित) और दूरवर्ती पदार्थोंको प्रत्यक्षताकी सिद्धि (अनुमान द्वारा साधना) की है। इस तरह इस कारिकाके द्वारा सर्वज्ञ-सामान्यकी सिद्धि की गयी है। इसके पहले समन्तभद्रने एक अन्य कारिकाके द्वारा 'सर्वज्ञता' की कसौटी एवं नियामक 'वीतरागता' (दोष और आवरणोंकी रहितता) को बतलाया है और उसका साधन भी उन्होंने 'क्वचिद्यथा' जैसे सामान्य शब्दोंके प्रयोगपूर्वक किया है। समन्तभद्रकी वह कारिका इस प्रकार है—

दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः॥

इसमें बतलाया है कि 'किसी आत्मा-विशेषमें दोष (अज्ञानादि) और आवरणों (ज्ञानावरणादिकर्म) का सर्वथा क्षय होता है, क्योंकि इनकी न्यूनाधिकता देखी जाती है' और जिस आत्मामें यह 'वीतरागता' (निर्दोषता) प्रकट हो जाती है उसी आत्मामें पूर्वोक्त सर्वज्ञता सम्भवित है, अन्यमें नहीं। समन्तभद्र नीचेकी दो कारिकाओं द्वारा इसी बातको प्रकट करते हैं और पूर्वोक्त सामान्य-सर्वज्ञताका आश्रय 'अर्हन्तजिन' को ही बतलाते हैं। यद्यपि समन्तभद्रने आगेकी इन कारिकाओंमें भी जैनसम्मत 'अर्हन्त' या 'जिन' शब्दका प्रयोग नहीं किया है तथापि पूर्वापरके सम्बन्ध मिलाने पर यह मालूम हो जाता है कि जैनपरम्पराभिमत स्याद्वादनायक 'अर्हन्त-जिन' में ही उन्होंने विशेषरूपसे सर्वज्ञताका साधन किया है। समन्तभद्रकी वे दोनों कारिकाएँ भी इस प्रकार हैं—

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते॥
त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्।
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते॥

—आप्तमी०, का० ६, ७।

कुमारिलने समन्तभद्रके द्वारा प्रयुक्त 'कश्चित्' 'क्वचित्' और 'कस्यचित्' इन सामान्य शब्दोंको लेकर, उनके द्वारा प्रस्थापित इस सामान्य और विशेष सर्वज्ञताका खण्डन बड़े आवेश और युक्तिवादके साथ निम्न प्रकार किया है—

नरः कोऽप्यस्ति सर्वज्ञः तत्सर्वज्ञत्वमित्यपि ।
साधनं यत्प्रयुज्येत प्रतिज्ञान्यूनमेव तत् ॥
सिसाधयिषितो योऽर्थः सोऽनया नाभिधीयते ।
यस्तूच्यते न तत्सिद्धौ किञ्चिदस्ति प्रयोजनम् ॥
यदीयागमसत्यत्वसिद्धयै सर्वज्ञतोच्यते ।
न सा सर्वज्ञसामान्यसिद्धिमात्रेण लभ्यते ॥
यावद् बुद्धो न सर्वज्ञस्तावद् तद्वचनं मृषा ।
यत्र क्वचन सर्वज्ञे सिद्धे तत्सत्यता कुतः ॥
अन्यस्मिन्नहि सर्वज्ञे वचसोऽन्यस्य सत्यता ।
सामानाधिकरण्ये हि तयोरङ्गाङ्गिता भवेत् ॥

—तत्त्वसंग्रह का० ३२३० से ३२३४ तक ।

ये कारिकाएं कुमारिलने समन्तभद्रकी सामान्यसर्वज्ञ और विशेष-सर्वज्ञकी सिद्धिके खण्डनको लक्ष्य करके रची जान पड़ती हैं; क्योंकि कुमारिलके पूर्व समन्तभद्रके सिवाय किसी भी दार्शनिकने उक्त प्रकारसे सर्वज्ञका साधन नहीं किया है, जिसका यह कुमारिलकृत खण्डन कहा जाय। हाँ, बौद्ध परम्परामें बादको होने वाले बौद्धप्रवर शान्तरक्षित और उनके शिष्य कमलशीलने 'अस्ति कोऽपि सर्वज्ञः, कश्चिद्वा सर्वज्ञत्वं, प्रज्ञादीनां प्रकर्षदर्शनात्' रूपसे सामान्य-सर्वज्ञके साधनका निर्देश अवश्य किया है, पर वह उनका स्वतन्त्र उद्भावन नहीं है, वह तो कुमारिलकी उक्त कारिकाओंका अर्थस्फोट है। दूसरे, जब शान्तरक्षित कुमारिलके नामसे उनकी उक्त कारिकाएं उद्धृत करते हैं, तो कुमारिलकृत उक्त खण्डन शान्तरक्षित या उनके व्याख्याकार कमलशीलका खण्डन नहीं कहा जा सकता। तीसरे, शान्तरक्षित और कमलशील कुमारिलके उत्तरवर्ती विद्वान् हैं और उनका समय ईसाकी आठवीं शताब्दी है, जब कि कुमारिल सातवीं शताब्दीके विद्वान् हैं। चौथे, समन्तभद्रके कितने ही विचारों, पद-वाक्योंका अनुसरण या खण्डन तत्त्वसंग्रहमें पाया जाता है। यहाँ तक कि समन्तभद्रके उत्तरवर्ती पात्रस्वामी, सुमतिदेव आदि दिगम्बराचार्यों तकका खण्डन भी उपलब्ध है[2]। अतः तत्त्वसंग्रहमें पाया गया सामान्य और विशेष-सर्वज्ञका साधन और उसकी सरणि समन्तभद्रका ही अनुसरण है। यह अवश्य है कि कुमारिलने उक्त कारिकाओंमें 'सुगत' अथवा 'बुद्ध' का नामोल्लेख करके उनकी सर्वज्ञताका भी निरसन किया है, पर यह निरसन समन्तभद्रकी उक्त कारिकाओंको ही आधार बनाकर किया गया जान पड़ता है, क्योंकि बौद्धपरम्परामें कुमारिलके पहले रचा गया ऐसा कोई भी बौद्धग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता, जिसमें सामान्य और विशेष दोनों ही प्रकारके सर्वज्ञत्वका बुद्धमें साधन किया गया हो और जिसका कुमारिलने पूर्वोक्त खण्डन किया हो। यहाँ एक बात और भी ध्यान देने योग्य है और वह यह कि बौद्ध तार्किक जितना सुगतके धर्मज्ञ होनेमें जोर देते हैं उतना उनके

---

१. ये कारिकाएँ अष्टसहस्री, पृ० ७५ पर 'एतेन सुगतं भट्टेन' करके उद्धृत हैं।
२. देखो, तत्त्वसंग्रह, पृ० ३७९, ३८२, ३८३, ४०६, ४१५, ४९६।

अनुमानके द्वारा सर्वज्ञका साधन उपलब्ध नहीं होता। समन्तभद्रने ही अनुमानसे सर्वज्ञका साधन किया है। समन्तभद्रके उत्तरवर्ती अकलंकके द्वारा[1] कुमारिलको दिये गये समन्तभद्रके कुमारिलकृत खण्डनके उत्तरसे भी यही अभ्रान्तरूपसे मालूम होता है, जिसमें उन्होंने 'अनुमानविजृम्भितम्' पदका प्रयोग करके यह स्पष्ट किया है कि कुमारिलने मात्र जैन सम्मत केवलज्ञानका ही खण्डन नहीं किया, किन्तु जो केवलज्ञान (सर्वज्ञता) अनुमानके द्वारा विजृम्भित (समन्तभद्रद्वारा स्थापित) किया गया है उसका उन्होंने खण्डन किया है।

कुमारिलने समन्तभद्रके 'अनुमेयत्व' हेतुका खण्डन करनेके लिए भी अनुमेयत्व जैसे ही प्रमेयत्वादि हेतुओंको सर्वज्ञके सद्भावके बाधक बतलाकर जो यह कहा है[2] कि 'जब प्रमेयत्व आदि सर्वज्ञके बाधक हैं तब कौन उस सर्वज्ञकी कल्पना करेगा?' यह भी अकलंकको सहन नहीं हुआ और इसलिए वे समन्तभद्रके 'अनुमेयत्व' हेतुकी पुष्टि करते हुए कुमारिलको उनके उस खण्डनका निम्न प्रकार जवाब देते हैं।

"तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र हेतुलक्षणं पुष्णाति तं कथं चेतनः प्रतिषेद्धुमर्हति संशयितुं वा।" —अष्टश. आप्तमी. का. ५।

अर्थात्—प्रमेयत्व और सत्त्व आदि अनुमेयत्व हेतुका पोषण ही करते हैं तो कौन समझदार उनसे उस सर्वज्ञका निषेध या उसके सद्भावमें संदेह कर सकता है?

अकलंकके उत्तरवर्ती बौद्ध विद्वान् शांतरक्षितने भी कुमारिलके इस खण्डनका जवाब दिया है[3]। अवैदिक कहे जानेके कारण कुमारिलके लक्ष्य जैनोंके साथ बौद्ध भी हो सकते हैं। अतः कुमारिलके खण्डनका उत्तर अकलंक और शांतरक्षित दोनों दे सकते हैं।

कुमारिलने समन्तभद्रकी केवल आलोचना ही नहीं की, बल्कि अनेक स्थानोंपर उनकी विचारसरणि और उनके पद-वाक्योंका अनुसरण भी किया है। यहाँ उदाहरणार्थ एक स्थल उपस्थित किया जाता है, जिसपरसे भी यह सहजमें जाना जा सकता है कि समन्तभद्र वस्तुतः कुमारिलके पूर्ववर्ती विद्वान् हैं। वह स्थल निम्न प्रकार है—

> घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
> शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥
> पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
> अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम्॥—आप्तमी. का. ५९, ६०।

---

१. एवं यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम्।
नर्ते तदागमात् सिद्ध्येन्न च तेन विनागमः॥
सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मतः।
प्रभवः पौरुषेयोऽस्य प्रबन्धोऽनादिरिष्यते॥ —न्यायविनि० का० ४१२, ४१३।

२. प्रत्यक्षाद्यविसंवादि प्रमेयत्वादि यस्य च।
सद्भाववारणे शक्तं को नु तं कल्पयिष्यति॥ —मी. श्लो. चोदनासू. का. १३२।

३. 'एवं यस्य प्रमेयत्ववस्तुसत्त्वादिलक्षणाः।
निहन्तुं हेतवोऽशक्ताः को न तं कल्पयिष्यति॥'—तत्त्वसं. का. ८८५।

धर्मकीर्ति और समन्तभद्र

समन्तभद्रने अपनी आप्तमीमांसामें 'स्याद्वाद' (अनेकान्तवाद) का लक्षण निम्न प्रकार किया है—

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधिः।
सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥१०४॥

इसमें बतलाया है कि ''सर्वथा एकान्तके त्यागपूर्वक जो 'किंचित्' का विधान है वह स्याद्वाद है—अनेकान्तसिद्धान्त है।'' धर्मकीर्ति समन्तभद्रके इस स्याद्वाद-लक्षणकी आलोचना करते हैं और उनके द्वारा प्रयुक्त 'किंचित्' शब्दका उपहास करते हुए प्रमाणवार्तिकमें लिखते हैं—

एतेनैव यत्किञ्चिदयुक्तमश्लीलमाकुलम्।
प्रलपन्ति प्रतिक्षिप्तं तदप्येकान्तसंभवात् ॥ १-१८२।

अर्थात्—'कपिलमतके खण्डनसे ही अयुक्त, अश्लील और आकुल जो 'किंचित्' का प्रलाप—कथन है वह खण्डित हो जाता है, क्योंकि वह भी एकान्त संभवित है।'

यहाँ धर्मकीर्तिने स्पष्टतया समन्तभद्रके 'सर्वथा एकान्तके त्यागपूर्वक किंचित्के विधानरूप' स्याद्वादका खण्डन किया है। समन्तभद्रके पहले जैनदर्शनमें स्याद्वादका इस प्रकारसे लक्षण उपलब्ध नहीं होता। समन्तभद्रके पूर्ववर्ती आचार्य कुन्दकुन्दने सप्तभंगोंके नाम तो निर्देश किये हैं परन्तु स्याद्वादकी उन्होंने कोई परिभाषा नहीं दी। यहाँ धर्मकीर्तिके द्वारा खण्डनमें प्रयुक्त 'तदप्येकान्तसंभवात्' पद भी खास तौरसे ध्यान देने योग्य है, जिससे साफ ध्वनित होता है कि उनके सामने 'एकान्तके त्यागरूप अनेकान्तकी वह मान्यता रही है जो 'किंचित्' के विधान द्वारा व्यक्त की जाती थी तथा जिसका ही खण्डन उन्होंने 'वह भी एकान्त सम्भवित है' जैसे शब्दों द्वारा किया है।

इसके सिवाय, समन्तभद्रने 'सदेव सर्वं को नेच्छेत्' इत्यादि कारिका[1] के द्वारा सब पदार्थोंको सद् और असद् दोनों रूप माना है अर्थात् उन्होंने यह बतलाया है कि विश्वके सब ही पदार्थ सत् और असत् उभयरूप हैं। समन्तभद्रके इस कथनकी भी धर्मकीर्ति आलोचना करते हुए लिखते हैं—

सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ॥
सर्वात्मत्वे च सर्वेषां भिन्नौ स्यातां न धीध्वनी।
भेदसंहारवादस्य तदभावादसंभवः ॥ —प्रमाणवा० १-१८३, १८५।

---

१. सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥१५॥—आप्तमी०।

यहाँ 'सर्वस्योभयरूपत्वे' और 'सर्वात्मत्वे च सर्वेषां' ये पद ध्यान देने योग्य हैं, जो समन्तभद्रके द्वारा प्रतिपादित 'सब पदार्थोंके सद् और असद् दोनों रूप' वस्तु-स्वरूपका खण्डन करनेके लिए ही प्रयुक्त किये गये जान पड़ते हैं, क्योंकि धर्मकीर्तिने उक्त खण्डन जैनदर्शन-सम्मत उभयात्मकताका किया है और जैन परम्परामें समन्तभद्रके पहले तार्किकरूपसे उभयात्मकताका प्रतिपादन देखनेमें नहीं आता।

उल्लेखनीय है कि धर्मकीर्तिके इन दोनों आक्षेपोंका जवाब अकलंकदेवने न्यायविनिश्चयमें दिया है[1]। यदि समन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरकालीन या समकालीन होते तो निश्चय ही उनके इन आक्षेपोंका उत्तर वे देते और ऐसी हालतमें अकलंकको इनका जवाब देनेका अवसर ही न मिलता। इससे स्पष्ट है कि समन्तभद्र धर्मकीर्तिके पूर्ववर्ती हैं। धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंमें पाया जाने वाला विचार और शब्दका साम्य समन्तभद्रका ही आभारी है।

कुछ विद्वानोंने समन्तभद्रको धर्मकीर्तिका उत्तरवर्ती होनेका विचार व्यक्त किया है और अपने विचारके समर्थनमें कतिपय हेतु भी दिये हैं। यहाँ उनपर भी विचार प्रस्तुत है।

१. 'समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाके चौथे परिच्छेदमें वर्णित "विरूपकार्यारम्भाय" आदि कारिकाओंके पूर्वपक्षोंकी समीक्षा करनेसे ज्ञात होता है कि समन्तभद्रके सामने सम्भवतः दिग्नागके ग्रन्थ भी रहे हैं। बौद्ध दर्शनकी इतनी स्पष्ट विचारधाराकी सम्भावना दिग्नागसे पहले नहीं की जा सकती।' (न्यायकु. द्वि. भा. प्रस्ता. पृ. २७)

२ 'अधिक सम्भव तो यह है कि समन्तभद्र और अकलंकके बीच साक्षात् विद्याका ही सम्बन्ध हो; क्योंकि समन्तभद्रकी कृतिके ऊपर सर्व प्रथम अकलंककी ही व्याख्या है।' (अकलंकग्रन्थ. प्रा. पृ ९)

३. 'यह भी सम्भव है कि शान्तिरक्षितके तत्त्वसंग्रहगत पात्रस्वामी शब्द स्वामी समन्तभद्रका ही सूचक हो।' (अकलंकग्र. प्रा. पृ. ९)

४. समन्तभद्रके साथ धर्मकीर्तिका विचार और शब्दका साम्य पाया जाता है। दिग्नागके प्रमाण-समुच्चयगत मंगलश्लोकके ऊपर ही उसके व्याख्यानरूपसे धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकका प्रथम परिच्छेद रचा है, जिसमें धर्मकीर्तिने प्रमाणरूपसे

---

१. यथा:—

"ज्ञात्वा विज्ञप्तिमात्रं परमपि च बहिर्भासिभावप्रवादम्,
चक्रे लोकानुरोधात् पुनरपि सकलं नेति तत्त्वं प्रपेदे।
न ज्ञाता तस्य तस्मिन् न च फलमपरं ज्ञायते नापि किञ्चित्
इत्यश्लीलं प्रमत्तः प्रलपति जडधीराकुलं व्याकुलाप्तः॥" १७०॥
"दध्युष्ट्रादेरभेदत्वप्रसंगादेकचोदनम्।
पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोऽपि विदूषकः॥ १७२॥
सुगतोऽपि मृगो जातः मृगोऽपि सुगतः स्मृतः।
तथापि सुगतो वन्द्यो मृगः खाद्यो यथेष्यते॥ १७३॥
तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति॥ १७४॥

सुगतको ही स्थापित किया है। ठीक उसी तरहसे समन्तभद्रने भी पूज्यपादके 'मोक्ष-मार्गस्य नेतारम्' वाले मंगलको लेकर उसके ऊपर आप्तमीमांसा रची है और उसके द्वारा जैन तीर्थंकरको ही आप्त प्रमाण स्थापित किया है, यह तो विचार-साम्य हुआ। शब्द-साम्य भी है। 'धर्मकीर्तिने सुगतको 'युक्त्यागमाभ्यां विमृशन्' (प्रमाणवा. ।१३५) 'वैफल्याद् वक्ति नानृतम्' (प्रमाणवा. १।१४७) कहकर अविरुद्धभाषी कहा है। समन्तभद्रने भी 'युक्ति-शास्त्राविरोधिवाक्' (आप्तमी. का. ६) कहकर जैन तीर्थंकरको सर्वज्ञ स्थापित किया है।' (न्यायकु. द्वि. प्रा. पृ. १८, १९)

५. 'समन्तभद्रके 'द्रव्यपर्याययोरैक्यं' तथा 'संज्ञासंख्याविशेषाच्च' (आप्तमी. का. ७१, ७२) इन दो पद्योंके प्रत्येक शब्दका खण्डन धर्मकीर्तिके टीकाकार अर्चट (९०० ई.) ने किया है न कि धर्मकीर्तिने। अतः कम-से-कम समन्तभद्र धर्मकीर्तिके पूर्वकालीन तो हो ही नहीं सकते।' (न्याय. कु. द्वि. प्रा. पृ. १९, २०)

ये पांच हेतु हैं। प्रथम हेतुके प्रस्तोता न्यायाचार्य पं. महेन्द्रकुमारजी हैं और वे समन्तभद्रको दिग्नागका उत्तरकालीन अनुमानित करते हैं। शेष चार हेतुओंको पं. सुखलालजी संघवीने प्रस्तुत किया है और वे समन्तभद्रको धर्मकीर्तिका परवर्ती बतलाते हैं। यद्यपि ये सभी हेतु प्रायः अपने वर्तमान रूपमें सम्भावनारूप ही हैं—कोई निर्णयरूप नहीं हैं। फिर भी यहाँ उनपर विचार किया जाता है।

दिग्नागके उत्तरवर्तित्वकी मान्यतापर विचार—

१. समन्तभद्रकी 'विरूपकार्यारम्भाय' आदि जिन कारिकाओंकी समीक्षाके आधारपर समन्तभद्रको दिग्नागका उत्तरवर्ती प्रतिपादन किया है यदि उन कारिकाओं की समीक्षा दिग्नागके पूर्ववर्ती बौद्धतार्किक नागार्जुनके ग्रन्थोंके साथ की जाय तो यह सरलतासे ज्ञात हो जाता है कि समन्तभद्रके सामने दिग्नागसे पूर्व नागार्जुनके ग्रन्थ रहे हैं। इसके[1] लिए यहाँ एक उदाहरण उपस्थित किया जाता है।

बौद्ध विद्वान् नागार्जुन कहते हैं :—

> अथ ते प्रमाणसिद्धया प्रमेयसिद्धिः प्रमेयसिद्धया च।
> भवति प्रमाणसिद्धिः नास्त्युभयस्यापि ते सिद्धिः॥
>
> —विग्रहव्या० का० ४७।

स्वामी समन्तभद्र कहते हैं :—

> याद्यापेक्षिकसिद्धिः स्यान्न द्वयं व्यवतिष्ठते।
>
> —आप्तमी० का० ७३।

नागार्जुन कहते हैं :—

> यदि च प्रमेयसिद्धिरनपेक्ष्यैव भवति प्रमाणानि।
> किन्ते प्रमाणसिद्धया तानि यदर्थं प्रसिद्धं तत्॥
>
> —विग्रहव्या० का० ४५।

आ० समन्तभद्र भी इसी बातको कहते हैं :—

> अनापेक्षिकसिद्धौ च न सामान्यविशेषता।
>
> —आप्तमी० का० ७३।

---

१. विशेष जाननेके लिए 'नागार्जुन और समन्तभद्र' शीर्षक लेख इसी ग्रन्थमें देखें पृ. १०७।

नागार्जुन पुनः कहते हैं :—

> यदि च स्वतः प्रमाणसिद्धिरनपेक्ष्य ते प्रमेयाणि ।
> भवति प्रमाणसिद्धिः न परापेक्षा हि सिद्धिः ॥
>
> —विग्रहव्या० का० ४१।

समन्तभद्र उक्त वाक्योंके आधारपर अनेकान्तदृष्टिसे व्यवस्था करते हुए कहते हैं :—

> धर्मधर्म्यविनाभावः सिद्धयत्यन्योन्यवीक्षया ।
> न स्वरूपं स्वतो ह्येतत् कारकज्ञापकाङ्गवत् ॥
>
> —आप्तमी० का ७५।

यहाँ समन्तभद्र और नागार्जुनमें विचार और शब्दका कितना स्पष्ट साम्य है; जो हमें बतलाता है कि समन्तभद्रके समक्ष नागार्जुनके ग्रन्थ रहे। दिग्नागके ग्रन्थोंका सद्भाव तो उस हालतमें माना जा सकता था जब उनमें प्रतिपादित विचार दिग्नागसे पूर्व सम्भावित न होते और समन्तभद्रके ग्रन्थोंमें दिग्नागके ही किसी ऐसे विचारका आलोचन या अनुसरण पाया जाता, जो खास दिग्नागका ही होता; किन्तु ऐसे विचारोंका, जिनका उद्भव सीधा दिग्नागसे है, आलोचना या अनुसरण समन्तभद्रके ग्रन्थोंमें नहीं पाया जाता।

इसके विपरीत समन्तभद्रका आलोचन दिग्नागने किया है। दार्शनिक युगमें 'अज्ञान-निवृत्ति' को प्रमाणका फल कहनेवाले सर्व प्रथम जैन तार्किक स्वामी समन्तभद्र हैं और उसका खण्डन दिग्नागने 'अज्ञान-निवृत्ति' को असत् बतलाकर किया है।[1] अतः स्पष्ट है कि दिग्नागके ग्रन्थ समन्तभद्रके सामने नहीं रहे। बौद्धदर्शनकी जिस स्पष्ट विचार-धाराको दिग्नागसे मानते हैं और उसके पूर्व उसके न होनेकी सम्भावना प्रकट करते हैं वह ठीक नहीं है क्योंकि नागार्जुन और वसुबन्धुके 'माध्यमिका', 'विग्रहव्यावर्तनी', 'विंशतिका-विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' और 'त्रिंशिका-विज्ञप्तिकारिका' आदि प्रकरणग्रन्थोंका ध्यानसे सूक्ष्म समीक्षण किया जाय, तो हम उनमें उक्त बौद्धदर्शनकी स्पष्ट विचारधारा पाते हैं। वस्तुतः तर्कविकास यहींसे शुरू हुआ है जो दिग्नाग और धर्मकीर्ति आदिके द्वारा उसी प्रकार पूर्णताको प्राप्त हुआ है जिस प्रकार जैनदर्शनका तर्कविकास समन्तभद्र और सिद्धसेनसे आरम्भ होकर अकलंक और विद्यानन्द आदिके द्वारा चरम सीमाको पहुँचा दिया गया है। इसलिए समन्तभद्रको दिग्नागसे उत्तरकालीन माननेके लिए जो 'बौद्धदर्शनकी इतनी स्पष्ट विचारधाराकी सम्भावना दिग्नागसे पहिले नहीं की जा सकती' रूप हेतु प्रस्तुत किया गया है वह अव्यभिचारी नहीं है क्योंकि उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि नागार्जुन आदि प्रसिद्ध बौद्ध तार्किकोंके ग्रन्थोंमें बौद्धदर्शनकी स्पष्ट विचारधारा पायी जाती है और इसलिए समन्तभद्र दिग्नागके उत्तरवर्ती नहीं हैं, किन्तु दिग्नागके पूर्ववर्ती और नागार्जुनके (१८१ ई.) उत्तरकालीन या सम-सामयिक हैं।

---

1. पूर्वोल्लिखित 'समन्तभद्र और दिग्नागमें पूर्ववर्ती कौन ?' लेख, 'अनेकान्त' वर्ष ५, किरण ११ तथा यही ग्रन्थ पृ. ११२ ।

यहाँ इतना और स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि समन्तभद्रकी 'विरूपकार्यारम्भाय' आदि जिन कारिकाओंका हवाला दिया गया है और फलितार्थरूपमें यह कहा गया है कि उक्त कारिकाएँ दिग्नागके विचारोंका खण्डन करनेके लिए समन्तभद्रने रची हैं, वह भी ठीक नहीं जान पड़ता; क्योंकि जिन विचारोंका खण्डन उक्त कारिकाओंमें पाया जाता है वह विचार नागार्जुनकी निम्न कारिकामें भी है :—

सर्वेषां विसभागानां[1] सभागानां च कर्मणाम् ।
प्रतिसन्धौ सधातूनामेक उत्पद्यते तु सः ॥
—माध्यमिककारिका पृ० ११४ (कल० सं०) ।

समन्तभद्रकी उक्त कारिकागत 'विरूपकार्य' शब्द 'विसभाग' के लिए ही आया है। यदि दिग्नागके उन शब्दोंका भी उल्लेख कर दिया जाता, जिनके साथ समन्तभद्रकी उक्त कारिकाओंकी समीक्षा की गयी है, तो उन शब्दोंपर भी विचार कर लिया जाता। अतः प्रथम कारण समन्तभद्रको दिग्नागका उत्तरवर्ती सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं है।

धर्मकीर्तिके उत्तरवर्तित्वकी मान्यतापर विचार

२. अब दूसरे हेतुके सम्बन्धमें विचार किया जाता है:—

(१) किसीकी कृतिका सर्वप्रथम टीकाकार होना उन दोनोंके बीच साक्षात् विद्याके सम्बन्धका साधक नहीं है। (१) धर्मकीर्ति (६२५ ई.) के वादन्यायपर जो दो टीकाएँ उपलब्ध हैं वे विनीतदेव (७७५ ई.) और शान्तरक्षित (८२५ ई.) की हैं। इनमेंसे वादन्यायके सर्वप्रथम टीकाकार विनीतदेव हैं, किन्तु धर्मकीर्ति और विनीतदेवमें साक्षात् विद्याका सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि विनीतदेव धर्मकीर्तिसे प्रायः डेढ़ सौ वर्ष बाद हुए हैं।

(२) श्वेताम्बर परम्परामें प्रसिद्ध उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्यपर, जिनका समय विक्रमकी तीसरीसे पाँचवीं शताब्दी तकका अनुमानित किया जाता है[2], सर्वप्रथम टीकाएँ ८-९ वीं सदीके विद्वान् सिद्धसेन गणी और हरिभद्रकी हैं, किन्तु उमास्वातिके साथ इनका साक्षात् विद्याका सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि ये दोनों ही आचार्य उमास्वातिसे प्रायः ३००-४०० वर्ष बाद हुए हैं।

(३) समन्तभद्रके 'युक्त्यनुशासन' और 'स्वयम्भूस्तोत्र' के सर्वप्रथम टीकाकार क्रमशः विद्यानन्द (९वीं शताब्दी) और प्रभाचन्द्र (११ वी शताब्दी) हैं। पर इनका समन्तभद्रके साथ साक्षात्-विद्याका सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि ये दोनों ही आचार्य समन्तभद्रसे बहुत बादके विद्वान् हैं।

(४) सिद्धसेनके न्यायावतारके सर्वप्रथम टीकाकार सिद्धर्षि (१०वी शताब्दी)

---

१. (क) 'भिन्नसन्तानानि कर्माणि विसभागानि सदृशानि सभागानि...... ।' —माध्य० वृ० पृ० ११४ ।
(ख) 'विसदृशस्य विरूपं कार्यम्'.......'सभागविसभागावस्थासु प्रतिपत्त्यभिप्रायवशादस-मनुगच्छन् सहेतुकं विनाशं...... ।' —अष्टस० पृ० १९८, १९९ ।

२. पं. सुखलालजी, 'ज्ञानबिन्दु' प्रस्तावना, पृ. ५४ ।

कर ली। जब तत्त्वसंग्रहमें एक ही जगह नहीं, अनेकों जगह पात्रस्वामीके नामसे उनके वाक्यों और कारिकाओंको उद्धृत किया गया है तब पात्रस्वामी समन्तभद्र स्वामी कैसे सम्भवित हो सकते हैं? प्रथम, तो यह कि दिगम्बर साहित्यमें समन्तभद्र स्वामीसे पात्रस्वामी पृथक् स्वीकार किये गये हैं और दोनोंकी पृथक्-पृथक् कृतियाँ हैं। दूसरे यदि शान्तरक्षित जैसे बहुश्रुत बौद्ध विद्वान्की दृष्टिमें पात्रस्वामी और समन्तभद्र स्वामी एक होते तो वाचस्पति मिश्रकी तरह आप्तमीमांसाकी कारिकाओंको भी वे उद्धृत करते और उनका खण्डन करते। तीसरे, शान्तरक्षितने जिन वाक्यों और श्लोकोंको पात्रस्वामीके नामसे उद्धृत किया है वे वाक्य और श्लोक कोई भी समन्तभद्रकी वर्तमान आप्तमीमांसादि कृतियोंमेंसे किसीमें भी नहीं पाये जाते हैं। चौथे, शान्तरक्षितने पात्रस्वामीका कहकर जिस 'अन्यथानुपपन्नत्वं' आदि श्लोकको उद्धृत करके खण्डन किया है और जो पात्रस्वामीके 'त्रिलक्षणकदर्थन' नामक अनुपलब्ध ग्रन्थका माना जाता है, उसे अकलंक, विद्यानन्दादि जैनाचार्योंने भी पात्रस्वामीका ही स्पष्टतया प्रतिपादन किया है। यदि समन्तभद्र और पात्रस्वामी एक होते और 'अन्यथानुपपन्नत्वं' श्लोक आपकी दृष्टिमें समन्तभद्रका है तो ये जैनाचार्य भी उसे समन्तभद्रके नामसे ही प्रकट करते। किन्तु ऐसा नहीं है, सभीने समन्तभद्रसे पृथक् उसका उल्लेख किया है। ऐसी हालतमें उक्त सम्भावना 'तत्त्वसंग्रहगत पात्रस्वामी समन्तभद्र हैं' बिलकुल निराधार और निष्प्रमाणिक है। ऐसी कच्ची सम्भावनाओंके आधारपर निर्मित इतिहास भ्रामक एवं हानिप्रद होगा।

४. चौथे हेतुके विषयमें मेरा निम्न प्रकार कथन है:—

प्रथम तो समन्तभद्र जब दिग्नागके पूर्ववर्ती हैं तो दिग्नागके उत्तरवर्ती धर्मकीर्तिके ग्रन्थमें यदि किसी विषयमें समन्तभद्रके विचारके साथ मिलता जुलता उनका विचार पाया जाता है तो वह समन्तभद्रका ही आभारी है—अर्थात् उनकी आप्तमीमांसासे ही लिया हुआ वह धर्मकीर्तीय विचार है।

दूसरे विद्यानन्दके जिन आधारोंपर 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' को पूज्यपादका बतलाया जाता है वे सब आधार उसे सूत्रकारका बतलाते हैं[2], इस बातको अनेक प्रमाणोंके साथ 'तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण' शीर्षक दो लेखों द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है, जो इसी ग्रन्थमें अन्यत्र (पृ. ३१ से ६९) प्रकाशित हैं। अतः उसे अब पूज्यपादका बतलाना बड़ा भारी भ्रम है।[3]

---

१. देखो, तत्त्वसंग्रह पृ० ४०६, ४१५।

२. विद्यानन्दके उल्लेखोंके अलावा उक्त मंगलश्लोकको सूत्रकार-उमास्वामीकृत बतलानेवाला एक अतिस्पष्ट, अभ्रान्त उल्लेख और प्राप्त हुआ है। गोम्मटसार जीवकाण्डकी 'मन्दप्रबोधिका' नामक संस्कृत बड़ी टीकाके रचयिता सिद्धान्तचक्रवर्ती आ० अभयचन्द्र (१२, १३वीं सदी) उक्त मंगलस्तोत्रको उमास्वामी अपर नाम गृद्धपिच्छाचार्यका ही प्रकट करते हैं। यथा—

'गृद्धपिच्छाचार्येणापि तत्त्वार्थशास्त्रस्यादौ 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादिना अर्हन्नमस्कारस्यैव परममंगलतया प्रथममुक्तत्वात्'—गो० जी० मं० टी० पृ० १४।

३. आश्चर्य है कि इस भ्रमकी पुनरावृत्ति ज्ञानबिन्दुकी प्रस्तावना पृ० ५५ में भी की गयी है।

इस तरह 'विचार-साम्य' रूप चौथे हेतुके एक भागपर विचार करनेके
दूसरे भागके सम्बन्धमें जो शब्द-साम्यरूप है, विचार-साम्यकी तरह यह
जा सकता है कि वह समन्तभद्रीय है। दूसरे, वह शब्द-साम्य भी जैसा होना चा
वैसा नहीं है। सुगतको जहाँ एक जगह धर्मकीर्तिने 'युक्त्यागमाभ्यां विमृशन्' कह
युक्ति और आगमसे विचार करनेवाला बतलाया है और दूसरी जगह 'वैफल्याद्वक्ति
नानृतम्' के द्वारा मिथ्या भाषण न करनेवाला—सत्यभाषी बतलाया है वहाँ समन्त-
भद्रने एक ही जगह जैन तीर्थंकरको 'युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्' कहकर मात्र यथार्थवक्ता
प्रकट किया है—उसे धर्मकीर्तिकी तरह विचारक नहीं बतलाया। तीसरे, युक्ति और
आगम जैसे शब्द तो ऐसे हैं जिनका प्रयोग धर्मकीर्तिसे पहिले भी दृष्टिगोचर होता
है।[1] हाँ, यदि इन शब्दोंके प्रयोगका आद्य पुरस्कर्ता धर्मकीर्ति ही होता, उसके पहले
बौद्ध या बौद्धेतर साहित्यमें इनका प्रयोग उपलब्ध न होता, तो यह किसी अंशमें
मान्य भी था कि धर्मकीर्तिके अमुक शब्दोंको अपनानेके कारण समन्तभद्र धर्मकीर्तिके
उत्तरवर्ती हैं। किन्तु ऐसा नहीं है। अतः शब्दसाम्यवाली युक्ति भी निःसार ही
है और इसलिए वह समन्तभद्रको धर्मकीर्तिका उत्तरवर्ती सिद्ध करनेमें असमर्थ है।

५. पाँचवाँ हेतु भी विचारयुक्त नहीं है। प्रथम तो, यह कोई आवश्यक नहीं
है कि कोई उत्तरवर्ती ग्रन्थकार अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारका अपने ग्रन्थमें आलोचन
एवं खण्डन करे ही। दूसरे, समन्तभद्रके 'द्रव्यपर्याययोरैक्यं' तथा 'संज्ञासंख्या-
विशेषाच्च' इन दो पद्यों और उनके प्रत्येक शब्दका खण्डन यदि धर्मकीर्तिने नहीं
किया, उनके टीकाकार अर्चट (९०० ई.) ने किया है, तो इससे समन्तभद्र धर्म-
कीर्तिके उत्तरवर्ती सिद्ध नहीं हो जाते और न कहे जा सकते हैं। यदि नागार्जुनके
किसी विचार या पद-वाक्यका खण्डन अकलंकदेवने नहीं किया, उनके टीकाकार
विद्यानन्दने किया हो, तो क्या नागार्जुन अकलंकके उत्तरवर्ती हो जायेंगे? गौतमके
छल, जाति, निग्रहस्थानोंके सूत्रों और उद्योतकरके अमुक अमुक पद-वाक्योंका खण्डन
अकलंकदेवने नहीं किया है, पर विद्यानन्दने किया है।[2] इसी तरह भर्तृहरिके
'आख्यातशब्दः संघातो' और 'पदमाद्य पदश्चान्त्यं' (वाक्यप० २, १, २) इन दो
पद्योंका खण्डन अकलंकदेवने नहीं किया, उनके उत्तरवर्ती विद्यानन्द और प्रभाचन्द्रने
किया है।[3] ऐसी हालतमें इस तर्कानुसार गौतम, उद्योतकर और भर्तृहरिको भी
अकलंकके उत्तरवर्ती होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं है। तीसरे, यह भी सम्भव है
कि समन्तभद्रकी आप्तमीमांसा शान्तरक्षितकी तरह धर्मकीर्तिको भी उपलब्ध न
हो और इसीसे धर्मकीर्तिने आप्तमीमांसागत विचारों, पद-वाक्योंका खण्डन नहीं किया
है। जो ग्रन्थ आजसे कई सौ वर्ष पहलेके विद्वानोंको नहीं मिल सके वे आज
मिल रहे हैं। अतः अनुपलब्धिकी हालतमें धर्मकीर्तिका उक्त पद्योंका खण्डन न करना
भी पूर्णतया सम्भावित है। चौथे, धर्मकीर्तिने समन्तभद्रकी अन्य दो कारिकाओं
('स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधिः' और 'सदेव सर्वं को नेच्छेत्') का

१. देखो, सर्वार्थसि० पृ० १।
२. देखो, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १-३३ का 'तत्त्वार्थाधिगमभेद' प्रकरण।
३. देखो, अष्टस० पृ० २८४, न्यायकुमुद० पृ० ७३९।

'प्रमाणवार्तिक' (२-१८२ और १-१८३, १८५) में 'एतेनैव' 'सर्वस्योभयरूपत्वे' और 'सर्वात्मत्वे च सर्वेषां' इन कारिकाओं द्वारा खण्डन किया ही है। उसका जवाब अकलंकदेवने 'न्यायविनिश्चय' (का० ३७०, ३७१, ३७२, ३७३ और ३७४) में दिया है। यदि समन्तभद्र, धर्मकीर्तिके उत्तरकालीन या समकालीन होते तो वे निश्चय ही धर्मकीर्तिकी इन कारिकाओंका स्वयं जवाब देते और ऐसी हालतमें अकलंकको उनका जवाब देनेका अवसर ही न मिलता। इससे स्पष्ट है कि समन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरवर्ती नहीं हैं। यह दूसरी बात है कि धर्मकीर्तिने आप्तमीमांसाका खण्डन करनेके लिए उक्त कारिकाओंको चुना। 'द्रव्यपर्याययोरैक्यं' और 'संज्ञासंख्या-विशेषाच्च' इन दो पद्योंको नहीं चुना। वाचस्पति मिश्रने भी इन कारिकाओंसे भिन्न ही दो कारिकाओंको [1] उद्धृत करके उनका खण्डन किया है।[2] यह खण्डनका चुनाव खण्डनकारकी रुचि पर निर्भर है। अतः समन्तभद्रके उक्त दो पद्योंका धर्मकीर्तिके द्वारा खण्डन न किये जाने और उनके टीकाकार अर्चटके द्वारा किये जानेसे समन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरवर्ती सिद्ध नहीं किये जा सकते।

इस तरह हम देखते हैं कि समन्तभद्रको दिग्नाग और धर्मकीर्तिका उत्तर-कालीन सिद्ध करनेके लिए जो हेतु प्रस्तुत किये गये हैं, उनमें कोई भी हेतु समन्तभद्रको उक्त दोनों विद्वानोंका उत्तरवर्ती सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं है।

●

१. देखो, आप्तमी० १०३, १०४।
२. देखो, भामती पृ० ४८२।

विषयमें असन्दिग्ध प्रतीत नहीं होते। कारण, वे अकलंकदेवकी लघीयस्त्रयगत जिस कारिकाके 'अन्यत्र' पदका 'स्वामी समन्तभद्रादिसूरि' इसका अध्याहार करके 'तत्त्वार्थ-महाभाष्य' व्याख्यान करते हैं वह सूक्ष्म समीक्षण करनेपर अकलंकदेवको अभिप्रेत मालूम नहीं होता। बात यह है कि अकलंकदेव वहाँ 'अन्यत्र' पदके द्वारा कालादिके कथनको जाननेके लिए अपने पूर्व रचित तत्त्वार्थवार्तिकभाष्यकी सूचना करते जान पड़ते हैं, जहाँ (त० वार्तिक ४-४२) उन्होंने स्वयं कालादि आठका विस्तार-से विचार किया है।

यद्यपि प्रक्रियासंग्रहमें भी अभयचन्द्रसूरिने सामन्तभद्र महाभाष्यका उल्लेख किया है और इस तरह उनके ये दो उल्लेख हो जाते हैं। परन्तु इनका पूर्वाधार क्या है? सो कुछ भी मालूम नहीं होता। अतः प्राचीन साहित्यपरसे इसका अनुसन्धान करनेकी अभी भी आवश्यकता बनी हुई है।

२. अब तक जितने भी शिलालेखों आदिका संग्रह किया गया है उनमें महाभाष्य या तत्त्वार्थमहाभाष्यका उल्लेखवाला कोई शिलालेखादि उपलब्ध नहीं है, जिससे इस ग्रन्थके अस्तित्व-विषयमें कुछ सहायता मिल सके। तत्त्वार्थसूत्रके तो शिलालेख मिलते भी हैं,[1] पर उसके महाभाष्यका कोई शिलालेख नहीं मिलता।

३. जनश्रुति—परम्परा जरूर ऐसी चली आ रही है कि स्वामी समन्तभद्रने तत्त्वार्थसूत्रपर गन्धहस्ति नामका भाष्य लिखा है, जिसे महाभाष्य और तत्त्वार्थभाष्य या तत्त्वार्थमहाभाष्य भी कहा जाता है और आप्तमीमांसा उसका पहला प्रकरण है। परन्तु इस जनश्रुतिका पुष्ट और पुराना कोई आधार नहीं है। मालूम होता है कि इस जनश्रुतिके कारण पिछले ग्रन्थोल्लेख हो हैं। ३१ अक्तूबर सन् १९४४में कलकत्ते-में हुए वीर-शासन-महोत्सवपर श्री संस्कारण सेठी मिले। उन्होंने कहा कि गन्धहस्ति-महाभाष्य एक जगह सुरक्षित है और वह मिल सकता है। उनकी इस बातको सुनकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई और उनसे प्रेरणा की कि उसकी उपलब्धि आदिकी पूरी कोशिश करके उसकी सूचना हमें दें। इस कार्यमें होनेवाले व्ययके भारको उठानेके लिए वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा प्रस्तुत है। परन्तु उन्होंने आज तक कोई सूचना नहीं दी। इस तरह जनश्रुतिका आधारभूत पुष्ट प्रमाण नहीं मिलनेसे महाभाष्यका अस्तित्व सन्दिग्धकोटिमें आज भी स्थित है।

आ. अभिनव धर्मभूषणके सामने अभयचन्द्र सूरिके उपर्युक्त उल्लेख रहे हैं और उन्हींके आधारपर उन्होंने 'न्याय-दीपिका'में स्वामी समन्तभद्रकृत महाभाष्यका उल्लेख किया जान पड़ता है। उन्हें यदि इस ग्रन्थकी प्राप्ति हुई होती तो वे उसके भी किसी वाक्यादिको जरूर उद्धृत करते और अपने विषयको उससे ज्यादा प्रमाणित करते। अतः यह निश्चय रूपसे कहा जा सकता है कि आचार्य धर्मभूषण-यतिको उल्लेख महाभाष्यकी प्राप्ति-हालतका मालूम नहीं होता। केवल जनश्रुतिके

---

1. अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी।
   सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुंगवेन॥ —शि. १०८।
   श्रीमानुमास्वातिरयं यतीशस्तत्त्वार्थसूत्रं प्रकटीचकार।
   यन्मुक्तिमार्गाचरणोद्यतानां पाथेयमर्घ्यं भवति प्रजानाम्॥ —शि. १०५ (२५४)।

आधार और उसके भी आधारभूत पूर्ववर्ती ग्रन्थोल्लेखोंपर-से किया गया जान पड़
है।'—न्यायदी. प्रस्ता. पृ. ७३ से ७६।

इस विचारके बाद भी गन्धहस्ति महाभाष्यके विषयमें मेरा अनुसन्धान बर
बर चालू रहा। फलस्वरूप अनेक ग्रन्थोंके पन्ने पलटते हुए गन्धहस्ति-महाभाष्यकी
कल्पनाके उद्गमका स्थान ज्ञात हो गया। हमने इसपर बहुत गम्भीरतासे विचार
किया है और इस विषयका शीघ्र ही एक महत्त्वपूर्ण लेख लिखनेका प्रयत्न
रहे थे कि पं० सुमेरचन्दजी दिवाकर, सिवनीके द्वारा महाभाष्यके अस्तित्व
'जैनसन्देश', 'जैनबोधक' और 'जैन मित्र' में प्रसारित देख हमने उचित स
उक्त लेख इस अवसर पर लिखना समयोचित और सर्वथा उपयुक्त है। यही
प्रस्तुत लेख लिखा गया है।

मुख्तार साहबके संकलनके अनुसार 'तत्त्वार्थ-महाभाष्य' या 'ग
भाष्य'का समुल्लेख करनेवाले निम्नलिखित विद्वान् हैं—

१. कवि हस्तिमल्ल[1], २. जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदयके कर्ता अ
३. लक्ष्मीसेनाचार्यके शिष्य[3], ४. अभिनव धर्मभूषणयति[4], ५. अभयच
६. लघु समन्तभद्र[6] और ७. श्वेताम्बर विद्वान् मल्लिषेणसूरि[7]।

इनमें मल्लिषेणसूरिका उल्लेख इस प्रकार है—

"यद्यप्यवयवप्रदेशयोर्गन्धहस्त्यादिषु भेदोऽस्ति तथापि नात्र सूक्ष्
चिन्त्या।" —स्याद्वादमंजरी, पृ. ६३, श्लोक ९।

इस उल्लेखमें जिस 'गंधहस्ति' का मल्लिषेण सूरिने जिक्र किय
सिद्धसेनगणीकी तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति है। सन्मतिसूत्रके टीकाकार अभयदेव
सिद्धसेनगणीकी तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति और उनके लिए ही 'गंधहस्ति' पदका प्रयो
है और जो सन्दर्भादिसे युक्त प्रतीत होता है। अतः मल्लिषेणसूरिका उपर्यु
प्रकृतमें अनुपयुक्त है और इसलिए उससे स्वामी समन्तभद्रकृत 'गन्धहस्ति
अस्तित्वपर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

शेष विद्वानोंमें अभयचन्द्रसूरि और लघु समन्तभद्र कुछ प्राचीन हैं औ
उनके उत्तरवर्ती तथा अनुसर्ता हैं। लघु समन्तभद्रका उल्लेख यह है—

१. इनका समय विक्रमकी १४वीं शताब्दी माना जाता है।
२. इन्होंने अपना जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय शक सं. १२४९ में पूर्ण किया है, इसलि
समय शक सं. १३वीं और ईसाकी १४वीं शताब्दी है।
३. इनका समय भी ईसाकी १४वीं शताब्दी है।
४. इनका समय ईसाकी १४वीं सदीका उत्तरार्ध और १५वीं सदीका प्रथम पाद अ
१५वीं सदी सुनिश्चित है (न्यायदी. प्र. पृ. १००)।
५. डॉ. ए. एन. उपाध्येने इनका समय ईसाकी १३वीं शताब्दी (ईस्वी सन्
स्वर्गवास) परीक्षापूर्वक निश्चित किया है (अनेकान्त वर्ष ४, कि. १, पृ. ३१
६. मुख्तार सा. ने इनका समय विक्रमकी १४वीं शताब्दी अनुमानित किया है।
समन्तभद्र, पृ. २२९ का फुटनोट)।
७. इनका भी समय वि. की १४वीं शताब्दी है।

"इह हि पुरा भगवदुमास्वातिपादैराचार्यवर्यैरासूत्रितस्य तत्त्वार्थाधिगमस्य मोक्षशास्त्रस्य गन्धहस्त्याख्यं महाभाष्यमुपनिबध्नन्तः स्याद्वादविद्याग्रगुरवः श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्याः"—अष्टसहस्रीविषमपदटि. पृ. १।

ऐलक पन्नालाल सरस्वतीभवन बम्बईकी जो प्रति मेरे सामने है उसमें टिप्पण प्रारम्भ होनेके पहले उक्त भूमिकांश पाया जाता है। इसके बाद भी भूमिका है और इस भूमिकाके ठीक अनन्तर टिप्पण शुरू है—"श्रीपार्श्वनाथाय नमः" लिखकर और 'देवं स्वामिनममलं' इत्यादि मंगलाचरण पद्य देकर टिप्पण प्रारम्भ किया गया है। इससे यह मालूम होता है कि उक्त भूमिका टिप्पणकार लघु समन्तभद्रकी नहीं है, किसी अन्यकर्ता दूसरे विद्वान्‌की है, क्योंकि टिप्पणकारकी यदि होती तो उसे वे मंगलाचरणके बादमें ही निबद्ध करते, पहले नहीं। लेकिन भूमिकाके अन्तमें 'इति समन्तभद्रस्वामिसूरिः समाप्ता।६।' और भूमिकाके आदिमें 'अथाष्टसहस्री-विषमार्थकृत्प्रारम्भः। श्रीगणधरदेवाय नमः। श्रीवर्धमानपरमजिनमुनये नमः। शुभमस्तु।' पाठ पाये जाते हैं, जिससे यह भी प्रतीत होता है कि भूमिका भी टिप्पणकार लघु समन्तभद्रकी है। कुछ भी हो, फिर भी लघु समन्तभद्र अभयचन्द्रसूरिके उत्तरवर्ती होनेसे वे अभयचन्द्रसूरिके ही अनुगामी कहे जावेंगे। हम पहले बतला आये हैं कि अभयचन्द्रसूरि ईसाकी १३वीं, विक्रमकी १४वीं और शक सं. १२वीं शताब्दीके विद्वान् माने जाते हैं और लघु समन्तभद्रादिक उनके उत्तरकालीन हैं और इसलिए वे सब उनके ही अनुगामी हैं। अतः अभयचन्द्रसूरिके उल्लेख ही खास तौरसे विचारणीय हैं। उनके दो उल्लेख प्राप्त हैं—एक प्रक्रियासंग्रहमें और दूसरा अकलंकदेवके लघीयस्त्रयपर लिखी गयी स्याद्वादभूषण नामक तात्पर्यवृत्तिमें। प्रक्रियासंग्रहका उल्लेख इस प्रकार है—

'सूपोऽव्ययाद्युपसर्गे प्रथमतो ज्ञाते यथायोगं अव्ययसमो भवन्ति। अर्हता प्रथमतो कृतं आर्हतं प्रवचनम्। सामन्तभद्रं महाभाष्यमित्यादि।'

—प्रक्रियासंग्रह समिक सूत्र सं ७८९।

यहाँ सामन्तभद्र महाभाष्यका नामोल्लेख एक उदाहरणमें हुआ है और उसके द्वारा यह बतलाया गया है कि जैसे—समन्तभद्र द्वारा उक्त—स्वरचित महाभाष्य। इससे 'अभयचन्द्रसूरि समन्तभद्रोक्त महाभाष्यकी सूचना कर रहे हैं' इतना प्रकट है। परन्तु वह महाभाष्य कौनसे ग्रन्थपर लिखा गया है, इस बातकी यहाँ कोई सूचना अथवा संकेत नहीं किया गया है। लेकिन हाँ, इसकी सूचना उन्होंने स्याद्वादभूषण नामक लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्तिमें की है। वह इस प्रकार है:—

'परीक्षितं विचारितं स्वामिसमन्तभद्राद्यैः सूरिभिः। कथं? प्रपञ्चेन विस्तरेण। क्व? अन्यत्र तत्त्वार्थमहाभाष्यादौ...।' —लघी. ता., पृ. ६३।

इस उल्लेखको हम पहले भी उल्लिखित कर आये हैं। यहाँ अभयचन्द्रसूरिने यह बतलाया है कि स्वामी समन्तभद्रादि आचार्योंने कालादि आठका तत्त्वार्थ-महाभाष्यादिमें विस्तारसे विचार किया है।[1] इस स्पष्टोल्लेखसे यह मालूम हो जाता

---

१. कालादिलक्षणं न्यक्षेणान्यत्रेक्षं परीक्षितम्।
द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्मार्थनिष्ठितम्॥—लघीय० ४७।

संग्रहमें भी महाभाष्यका उल्लेख किया है, और फिर उनके उत्तरवर्तियों—लघु समन्तभद्र, कवि हस्तिमल्ल और अय्यार्य एवं अभिनव धर्मभूषण यति आदिने भी अपने-अपने ग्रन्थोंमें स्वामी समन्तभद्रकृत महाभाष्यके उल्लेख किये। और इस तरह स्वामी समन्तभद्रकृत गन्धहस्तिमहाभाष्यके अस्तित्वकी परम्परा चल उठी। आश्चर्य यह है कि वह न तो उन्हें प्राप्त हुआ और न उनके पूर्ववर्ती पूज्यपाद, अकलंक, वीरसेन, विद्यानन्द और प्रभाचन्द्र आदिको भी मिला। केवल ११वीं शताब्दी और १३वी शताब्दीके मध्य (अर्थात् दो सौ वर्षोंके बीच) में उसकी कल्पना उद्भूत हुई है।

पं. सुमेरुचन्द्रजी दिवाकरका समर्थन करते हुए उनके द्वारा प्रदर्शित जिस पद्यको[1] श्रीयुत मोतीचन्द्र गौतमचन्द्रजी कोठारी एम. ए. ने गन्धहस्तिमहाभाष्यके अस्तित्वका पोषक सबल प्रमाण बतलाया है और अपनी ओरसे यह प्रमाणपत्र भी दे दिया है कि 'इस श्लोककी भाषाशैलीको देखकर मुझे यह श्लोक समन्तभद्र-कर्तृक ही मालूम पड़ता है', उस पद्यकी न केवल समन्तभद्रकर्तृकतामें, किन्तु प्राचीनता और प्रामाणिकतामें भी सन्देह है। हो सकता है कि यह स्वयं दिवाकरजी का रचा हुआ हो या ग्रन्थान्तरोका हो। श्लोककी भाषाशैली ऐसी नहीं है कि समन्तभद्रकर्तृकताकी ही उसपर छाप लगायी जावे। पद्यमें आये 'सदा' और 'प्रतिदिन' जैसे पुनरुक्त पदोका प्रयोग आचार्य समन्तभद्र जैसे तार्किक, कवि और वैयाकरणके द्वारा प्रतीत नहीं होता। मुझे तो वह स्वयं दिवाकरजीकी रचना प्रतीत होती है। मैं शासनदेवताओके सामर्थ्य और चमत्कारमें विश्वास रखता हूँ। मैं यह भी मानता हूँ कि वे असंख्यातों मील दूरकी चीज ला सकते और ले जा सकते हैं।

यदि वस्तुतः शासनदेवताकी यह वाणी है कि "उसका अस्तित्व जर्मनीमें है—(कहीं है अवश्य?) यह भाष्यग्रन्थ बहुत जीर्ण-शीर्ण हो गया है।" तो मेरा उनसे कहना है कि वे जीर्ण-शीर्ण अवस्थामें ही सही उसे लाकर विद्वानों और समाजके सामने सिर्फ दर्शनोंके लिए ही प्रस्तुत करें। यदि ऐसा हुआ तो हम उनकी उक्त वाणीको सत्यतामें विश्वास करेंगे और तभी गन्धहस्ति महाभाष्यका अस्तित्व स्वीकार किया जा सकेगा।

[द्वितीय लेख]

स्वामी समन्तभद्र द्वारा रचित गन्धहस्तिमहाभाष्यके अस्तित्वकी समस्या विचारकोंके लिए एक पहेली जैसी बनी हुई चली आ रही है। अन्य विद्वानोंकी तरह हमने भी उसपर पर्याप्त विचार किया और उक्त प्रथम लेखमें हम इस निष्कर्षपर पहुँचे कि समन्तभद्रकृत गन्धहस्ति-महाभाष्य या महाभाष्य अथवा तत्त्वार्थमहाभाष्य एक कल्पनामात्र है और उस कल्पनाके जनक अभयचन्द्रसूरि हैं।

परन्तु हमने तत्सम्बन्धी अनुसन्धान बराबर जारी रखा—उसे छोड़ा नहीं। जब कोई समन्तभद्र या उनके ग्रन्थोंका उल्लेख दृष्टिमें आया, तो उसे उत्सुकतासे देखनेका पूरा प्रयत्न किया। हालमें 'लक्षणावली' के लिए लक्षणोंका संकलन करते

---

१. "श्रीजैनशासनधर्मनिम्बमनाघनन्तं भव्यौघतापशमनाय सुधाप्रवाहम्।
आनन्दचन्दमभिउदारविवर्धकं च वन्दे सदा प्रतिदिनं प्रभुधर्मतीर्थम् ॥"

समय भास्करनन्दिकी मैसूरसे प्रकाशित 'तत्त्वार्थवृत्ति' (तत्त्वार्थसूत्रटीका) हमें उपलब्ध हुई। इसकी प्रस्तावनामें पं. शान्तिराज शास्त्रीने ग्रन्थ और ग्रन्थकारका विचार करते हुए समन्तभद्रके भाष्यके सम्बन्धमें भी विमर्श किया है और उन्होंने समन्तभद्र-भाष्यके उल्लेखोंमें एक नया और प्राचीन उल्लेख प्रस्तुत किया है, जो यहाँ दिया जाता है—

अभिमतमागिरे 'तत्त्वार्थभाष्यमं तर्कशास्त्रमं' बरेदुवचो- ।
विभवविनिलेमेसेद 'समंतभद्रदेवर' समानरॅवरुमोळरे ॥५॥

यह उल्लेख चामुण्डरायके प्रसिद्ध त्रिषष्टि-लक्षणमहापुराणका है, जो कनड़ी भाषामें रचा गया है और जिसे उन्होंने शक सं. ९००, वि. सं. १०३५ में समाप्त किया है। चामुण्डराय गंगनरेश राचमल्लके प्रधान मन्त्री थे। राचमल्लका राज्यकाल वि. सं. १०३१ से १०४१ तक है। कनड़ी भाषाके प्रसिद्ध कवि रन्नने अपने वि. सं. १०५० में रचे गये 'पुराणतिलक' में चामुण्डरायकी विशेष कृपाका उल्लेख किया है[1]। यही चामुण्डराय प्रसिद्ध गोम्मटेश्वरकी मूर्तिके निर्माता और नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती द्वारा अतिशय प्रशस्य हुए हैं।

चामुण्डरायका यह उल्लेख बहुत कुछ सबल है। इसमें दो बातोंका स्पष्ट निर्देश है। एक तो यह कि समन्तभद्रदेवने तत्त्वार्थभाष्य रचा है और दूसरी यह कि वह तर्कशास्त्र ग्रन्थ है। नहीं कहा जा सकता कि चामुण्डरायने समन्तभद्रके भाष्यका उल्लेख किस आधारसे किया? क्या उन्हें उक्त ग्रन्थ प्राप्त था अथवा अनुश्रुति मात्र थी? फिर भी यह उल्लेख काफी महत्त्वपूर्ण है और अभयचन्द्रसूरिसे दो सौ वर्षके लगभग प्राचीन है।

इस सम्बन्धमें समन्तभद्रभाष्यप्रेमी विद्वानोंको अवश्य विचार करना चाहिए और उसका अनुसन्धान करते रहना चाहिए।

उक्त उल्लेखमें एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि समन्तभद्र वादिराजसूरिसे पूर्व भी 'देव' उपपदके साथ स्मृत होते थे और 'समन्तभद्रदेव' नामसे उनका विद्वान् गुण-कीर्तन करते थे।

•

---

१. पं. नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास।

निष्क्रिय होनेसे वे नाशोन्मुख व्यक्तिके नाश और उत्पादोन्मुख व्यक्तिके उत्पादके समय अन्यत्र (दूसरे व्यक्तियोंमें) जा नहीं सकते तथा नित्य होनेसे वे व्यक्तिके नाश न नष्ट हो सकते हैं और न उत्पन्न। अतः उनका विधान 'दुविधामें दोनों गये माया मिली न राम' कहावतको चरितार्थ करता है। अर्थात् सामान्य और समवाय दोनोंकी स्थिति भेदवादमें डवांडोल है। इसके अतिरिक्त सामान्य और समवायमें परस्पर सम्बन्ध सम्भव न होनेसे द्रव्य, गुण और कर्मका भी सम्बन्ध सम्भव नहीं है। सामान्य और समवायमें परस्पर सम्बन्ध क्यों सम्भव नहीं है? इसका कारण यह है कि वे द्रव्य न होनेसे उनमें संयोगसम्बन्ध तो स्वयं वैशेषिकोंको भी इष्ट नहीं है। समवाय भी उनमें सम्भव नहीं है, क्योंकि उन्हें अवयव-अवयवी गुण-गुणी आदि रूपसे स्वीकृत नहीं किया गया। 'सामान्यं समवायि'—सामान्य समवायवाला है, इस प्रकारसे उनमें विशेषण-विशेष्य सम्बन्धकी भी सम्भावना नहीं है, क्योंकि एक समवायके सिवाय अन्य समवायान्तर वैशेषिकोंने नहीं माना। अन्यथा अनवस्था दोषसे बच मुक्त नहीं हो सकता। हाँ, उनमें एकार्थसमवायकी कल्पना की जा सकती थी, पर वह भी नहीं की जा सकती, क्योंकि घटत्वादि सामान्य घटादिमें समवायसे रह जानेपर भी समवाय उनमें समवेत नहीं है। स्पष्ट है कि वैशेषिकोंने समवायके रहनेके लिए अन्य समवाय नहीं स्वीकार किया—एक ही समवाय उन्होंने माना है। इस तरह जब सामान्य और समवाय दोनोंमें परस्पर सम्बन्ध सम्भव नहीं है तो वे असम्बद्ध रहकर द्रव्यादिमें सम्बन्धित नहीं हो सकते। फलतः तीनों (सामान्य, समवाय और द्रव्यादि) बिना सम्बन्धके खपुष्प-तुल्य ठहरते हैं।

वैशेषिकोंमें कोई परमाणुओंमें पाक (अग्निसंयोग) होकर द्व्यणुकादि अवयवोंमें क्रमशः पाक मानते हैं और कोई परमाणुओंमें किसी भी प्रकारकी विकृति न होनेसे उनमें पाक (अग्निसंयोग) न मानकर केवल द्व्यणुकादि (अवयवी) में पाक स्वीकार करते हैं। जो परमाणुओंमें पाक नहीं मानते उनका कहना है कि परमाणु नित्य (अप्रच्युत-अनुत्पन्न-स्थिरैकरूप) हैं और इसलिए वे द्व्यणुकादि सभी अवस्थाओंमें एकरूप बने रहते हैं—उनमें किसी भी प्रकारकी अन्यता (भिन्नरूपता-रूप परिणति) नहीं होती सबमें सर्वदा अनन्यता (एकरूपता) विद्यमान रहती है। इसी (किन्हीं वैशेषिकोंकी) मान्यताको आ. समन्तभद्रने 'अणुओंका अनन्यतैकान्त' कहा है और कारिका ६७ के द्वारा उसकी भी समीक्षा की है[1]। उन्होंने इस मान्यतामें दोषोद्भावन करते हुए बताया है कि यदि अणु द्व्यणुकादि संघातदशामें भी उसी प्रकारके बने रहते हैं जिस प्रकार वे विभागके समयम हैं; (क्योंकि उनमें अन्यता भिन्नरूपता नहीं होती, अन्यथा उनमें अनित्यताका प्रसंग आयेगा), तो वे असंहत (अमिश्र—बिना मिले) ही रहेंगे और उस हालतमें अवयवीरूप पृथिवी आदि चारों भूत भ्रान्त (मिथ्या) ही होंगे। और जब पृथिवी आदि अवयवीरूप कार्य भ्रान्त ठहरते हैं तो उनके जनक परमाणु भी भ्रान्त स्वतः सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि

1. अष्टसहस्री (पृ. २२२) में इस ६७वीं कारिकाके उत्थानिकावाक्यके आरम्भिक 'अपरः प्राह' पदपर टिप्पण देते हुए टिप्पणकारने जो उसका अर्थ 'यौगाः' दिया है वह ठीक नहीं है। यहाँ सारा सन्दर्भ वैशेषिकोंका है, योगोंका नहीं।

जब वे मिथ्या हैं तो वे प्रमाणाभासकी कोटिमें प्रविष्ट हैं। किन्तु बिना उन्हें प्रमाणाभास भी कैसे कहा जा सकता है। तात्पर्य यह कि सर्वथा ज्ञानत स्वीकार करनेपर प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों ही नहीं बनते और उनके न किस तरह ज्ञानमात्रको वास्तविक और बाह्यार्थको अवास्तविक सिद्ध । सकता है।

८० के द्वारा साध्य और साधनकी विज्ञप्तिसे विज्ञप्तिमात्रतत्त्वकी सिद्धि प्रयासको भी निरर्थक बतलाया गया है, क्योंकि उक्त प्रकारसे सिद्धि करनेपर प्रतिज्ञादोष और हेतुदोष आते हैं। स्पष्ट है कि विज्ञप्तिमात्रतत्त्वको मानने वालोंके यहाँ न साध्य है और न हेतु। अन्यथा द्वैतका प्रसंग आयेगा।

८१ के द्वारा उन्हें दोष दिया गया है, जो केवल बाह्यार्थ स्वीकार करते हैं अन्तरंगार्थ (ज्ञान) को नहीं मानते। कहा गया है कि यदि सर्वथा बाह्यार्थ ही हो ज्ञान न हो, तो न संशय होगा, न विपर्यय और न अनध्यवसाय। इतना ही नहीं सत्यासत्यका निर्णय भी नहीं किया जा सकेगा। फलतः जो विरोधी अर्थका प्रतिपाद करते हैं उनके भी मोक्षादि कार्योंकी सिद्धि हो जायगी। इसके अतिरिक्त स्वप्न बुद्धियोंका स्वार्थके साथ सम्बन्ध न होनेसे उन्हें असंवादी नहीं कहा जा सकेगा।

कारिका ८२ के द्वारा सर्वथा उभयवादमें विरोध और सर्वथा अनुभयवाद 'अनुभय' शब्दसे भी उसका कथन न हो सकनेका दोष पूर्ववत् दिखाया गया है।

कारिका ८३ द्वारा स्याद्वादसे वस्तुव्यवस्था करनेपर कोई दोष नहीं आता यह दिखलाते हुए कहा गया है कि स्वरूपसंवेदनकी अपेक्षा कोई ज्ञान प्रमाणाभा नहीं है। पर बाह्य प्रमेयकी अपेक्षा प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों है। जिस ज्ञान बाह्य प्रमेय ज्ञात होनेके बाद वही उपलब्ध होता है वह प्रमाण है तथा जिसका बा प्रमेय ज्ञात होनेके बाद वही उपलब्ध नहीं होता, अपितु अन्य ही मिलता है व प्रमाणाभास है। इस तरह स्वरूपसंवेदनकी अपेक्षा सभी ज्ञान प्रमाण हैं, को प्रमाणाभास नहीं है। किन्तु बाह्य प्रमेयकी सत्यतासे प्रमाण और असत्यतासे प्रमाणा भास है। अतः प्रमाण और प्रमाणाभासकी व्यवस्था अन्तरंगार्थ (ज्ञान) बाह्यार्थ दोनोंको स्वीकार करनेसे होती है, किसी एकसे नहीं। यही अनेकान्त वस्तुतत्त्व है जिसको स्याद्वादसे उक्त प्रकार व्यवस्था होती है।

कारिका ८४ के द्वारा उन (बौद्धों) का समाधान किया गया है, जो बाह्या नहीं मानते, केवल उसकी शाब्दिक (काल्पनिक) प्रतीति स्वीकार करते हैं। उन लिए कहा गया है कि कोई भी शब्द क्यों न हो, उसका वाच्य बाह्यार्थ अवश्य हो है। उदाहरणार्थ जीवशब्दको ही लीजिए, उसका वाच्य बाह्यार्थ अवश्य है क्यों वह एक संज्ञा है। जो संज्ञा होती है उसका वाच्य बाह्यार्थ अवश्य होता है, जै हेतुशब्द अपने वाच्य हेतुरूप बाह्यार्थको लिये हुए है। यह भी उल्लेखनीय है कि जी शब्दका प्रयोग शरीरमें या इन्द्रियों आदिके समूहमें नहीं होता, क्योंकि ऐसा लो कहीं नहीं है। 'जीव गया, जीव मौजूद है' इस प्रकारका जिसमें व्यवहार होता चेतनमें यह लोकरूढ़ि निरत है। कोई भी व्यक्ति यह व्यवहार न शरीरमें करता क्योंकि वह अचेतन है, न इन्द्रियोंमें करता है, क्योंकि वे मात्र उपभोगकी साधन और न शब्दादि विषयोंमें करता है, क्योंकि वे भोग्यरूपसे व्यवहृत होते हैं। यह

भोक्ता आत्मामें 'जीव' यह व्यवहार करता है। अतः 'जीव' शब्द जीवरूप बाह्यार्थ सहित है। माया, अविद्या, अप्रमा आदि जो भ्रान्तिसूचक संज्ञाएँ हैं वे भी माया, अविद्या, अप्रमा आदि अपने भावात्मक अर्थोंसे सहित हैं। जैसे प्रमासंज्ञा अपने प्रमारूप अर्थसे सहित है। इन संज्ञाओंको मात्र वक्ताके अभिप्रायकी सूचिका भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि श्रोताओंको जो उन संज्ञाओं (नामों) को सुनकर उस-उस अर्थक्रियामें प्रवृत्तिका नियम देखा जाता है वह अभिप्रायसे सम्भव नहीं है। अतः संज्ञाओं (शब्दों) को अभिप्रायका सूचक नहीं मानना चाहिए, किन्तु उन्हें सत्यार्थ (बाह्यार्थ) का सूचक स्वीकार करना चाहिए।

अगली ८५-८७ तक तीन कारिकाओंके द्वारा ग्रन्थकार अपने उक्त कथनका सबल समर्थन करते हुए प्रतिपादन करते हैं कि प्रत्येक वस्तुकी तीन संज्ञाएँ होती हैं। बुद्धिसंज्ञा, शब्दसंज्ञा और अर्थसंज्ञा। तथा ये तीनों संज्ञाएँ बुद्धि, शब्द और अर्थ इन तीनकी क्रमशः वाचिका हैं और तीनोंसे श्रोताको उनके प्रतिबिम्बात्मक बुद्धि, शब्द और अर्थरूप तीन बोध होते हैं। अतः 'जीव' यह शब्द केवल जीवबुद्धि या जीवशब्दका वाचक न होकर जीवअर्थ, जीवशब्द और जीवबुद्धि इन तीनोंका वाचक है। वास्तवमें उनके प्रतिबिम्बात्मक तीन बोध होनेसे उन तीनों संज्ञाओंके वाच्यार्थ तीन हैं, यह ध्यान देनेपर स्पष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक पदार्थ तीन प्रकारका है—बुद्ध्यात्मक, शब्दात्मक और अर्थात्मक। और तीनोंकी वाचिका तीन संज्ञाएँ हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है और इस तरह समस्त संज्ञाएँ (शब्द) अपने अर्थ सहित हैं।

यद्यपि विज्ञानवादीके लिए ऊपर कहा गया हेतु (संज्ञा होनेसे) असिद्ध है, क्योंकि उसके यहाँ विज्ञानके अलावा संज्ञा (शब्द) नहीं है। उसके लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि जब हम कुछ कहते या सुनते या जानते हैं तो हम वक्ता, श्रोता या प्रमाता कहे जाते हैं और ये तीनों भिन्न-भिन्न हैं, एक नहीं हैं। तथा इन तीनोंके तीन कार्य भी अलग-अलग होते हैं। वक्ता अभिधेयका ज्ञान करके वाक्य बोलता है, श्रोता उसको श्रवण कर उसका बोध करता है और प्रमाता शब्द और अर्थरूप प्रमेयकी परिच्छित्ति (प्रमा) करता है। ये तीनों ही उन तीनोंके बिलकुल जुदे-जुदे कार्य हैं। विज्ञानवादी इन अनुभवसिद्ध पदार्थोंका अपह्नव करनेका साहस कैसे कर सकता है। ऐसी दशामें वह हेतुको असिद्धादि दोषोंसे युक्त नहीं कह सकता। यदि वह इन अनुभवसिद्ध पदार्थों (अभिधेय, अभिधेयके ग्राहक वक्ता और श्रोता) को विभ्रम कहे तो उसका विज्ञानवाद और साधक प्रमाण भी विभ्रमकोटिमें आनेसे कैसे बच सकते हैं। और प्रमाणके विभ्रम होनेपर उसे जो इष्ट अन्तर्ज्ञेय (ज्ञान) है वह और जो उसे इष्ट नहीं है ऐसा बहिर्ज्ञेय दोनों ही, जिन्हें तादृश (प्रमाणरूप) और इतर—अन्यादृश (अप्रमाणरूप) माना जाता है, विभ्रम ही सिद्ध होंगे। ऐसी हालतमें सर्वथा विज्ञानवादमें हेयोपादेयका तत्त्वज्ञान कैसे हो सकता है ?

यदि प्रमाणको अभ्रान्त कहें, तो उसके लिए बाह्यार्थका स्वीकार आवश्यक है। उसके बिना प्रमाण और प्रमाणाभासकी व्यवस्था सम्भव नहीं है; क्योंकि उन्हीं ज्ञानों तथा शब्दोंमें प्रमाणता होती है जिनका बाह्यार्थ होता है और जिनका बाह्यार्थ नहीं होता उन्हें प्रमाणाभास माना जाता है। यथार्थमें जिस बुद्धिका ज्ञात अर्थ

नवम परिच्छेद :

इस परिच्छेदमें पिछले परिच्छेदमें वर्णित दैवकारकोपायतत्त्वके पुण्य और पाप ये दो भेद करके उनकी स्थितिपर विचार किया गया है। पुण्य किन कारणोंसे होता है और पाप किन बातोंसे, यही इस परिच्छेदका विषय है, क्योंकि पुण्य और पापके सम्बन्धमें भी ऐकान्तिक मान्यताएँ हैं।

इसमें चार कारिकाएँ हैं। ९२वीं कारिकाके द्वारा उस मान्यताकी समीक्षा की है जिसमें दूसरेमें दुःख उत्पन्न करनेसे पापबन्ध और सुख उत्पन्न करनेसे पुण्यबन्ध स्वीकृत है। पर यह मान्यता युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर दूध आदि दूसरेमें सुख तथा कण्टकादि दुःख उत्पन्न करनेके कारण उनके भी पुण्यबन्ध और पापबन्ध मानना पड़ेगा। यदि कहा जाय कि चेतन ही बन्धयोग्य हैं, अचेतन दुग्धादि एवं कण्टकादि नहीं, तो वीतराग (कषायरहित) भी पुण्य और पापसे बँधेंगे, क्योंकि वे अपने भक्तोंमें सुख और अभक्तोंमें दुःख उत्पन्न करनेमें निमित्त पड़ते हैं। यदि कहा जाय कि उनका उन्हें सुख-दुःख उत्पन्न करनेका अभिप्राय न होनेसे उन्हें पुण्य-पाप-बन्ध नहीं होता, तो 'परमें सुख उत्पन्न करनेसे पुण्य और दुख उत्पन्न करनेसे पाप-बन्ध होता है' यह एकान्त मान्यता नहीं रहती।

९३वीं कारिकाके द्वारा उन वादियोंकी भी मीमांसा की है जो कहते हैं कि अपनेमें दुःख उत्पन्न करनेसे तो पुण्य और सुख उत्पन्न करनेसे पापका बन्ध होता है। कहा गया है कि ऐसा सिद्धान्त माननेपर वीतराग मुनि और विद्वान् मुनि भी क्रमशः कायक्लेशादि दुःख तथा तत्त्वज्ञानादि सुख अपनेमें उत्पन्न करनेके कारण पुण्य-पापसे बँधेंगे। फलतः वे कभी भी ससार-बन्धनसे छुटकारा न पा सकेंगे। अतः यह एकान्त भी संगत प्रतीत नहीं होता।

कारिका ९४ के द्वारा उभयैकान्तमें विरोध और अनुभयैकान्तमें 'अनुभय' शब्दसे भी उसका निर्वचन न हो सकनेका दोष पूर्ववत् प्रदर्शित किया गया है।

कारिका ९५ के द्वारा स्याद्वादसे पुण्य और पापकी व्यवस्था की गयी है। युक्तिपूर्वक कहा गया है कि सुख-दुःख, चाहे अपनेमे उत्पन्न किये जायें और चाहे परमें। यदि वे विशुद्धि (शुभ परिणामों) अथवा संक्लेश (अशुभ परिणामों) से पैदा होते हैं या उन परिणामोंके जनक हैं तो क्रमशः उनसे पुण्यास्रव और पापास्रव होता है। यदि ऐसा नहीं है तो जो दोष ऊपर दिया गया है उसका होना दुर्निवार है। यथार्थमें पुण्य और पाप अपनेको या परको सुख-दुःख पहुँचाने मात्रसे नहीं होते हैं, अपितु अपने शुभाशुभ परिणामोंपर उनका होना निर्भर है। जो सुख-दुःख शुभ परिणामोंसे जन्य हैं या उनके जनक हैं उनसे तो पुण्यका आस्रव होता है और जो अशुभपरिणामोंसे जन्य या उनके जनक हैं वे नियमसे पापास्रवके कारण या कार्य हैं। यह वस्तुव्यवस्था है। इस प्रकार स्याद्वादमे ही पुण्य और पापकी व्यवस्था बनती है, एकान्तवादमें नहीं।

दशम परिच्छेद :

इस अन्तिम परिच्छेदमें ९६-११४ तक बीस कारिकाएँ हैं। कारिका ९६ के द्वारा सांख्यदर्शनके उस सिद्धान्तकी समीक्षा की गयी है जिसमें कहा गया है कि

हैं, निरपेक्ष एकान्तोंके समूहको नहीं। उन्होने स्पष्टतया निरपेक्ष नयों (एकान्तों) को मिथ्या (असत्य) और सापेक्षोंको वस्तु (सम्यक्—सत्य) कहा है, क्योंकि वे ही अर्थक्रियाकारी हैं।

कारिका १०९ में वाचकके स्वरूपको भी स्याद्वाददृष्टिसे व्यवस्था की गयी है। जो विधिवाक्यको केवल विधिका और निषेधवाक्यको केवल निषेधका नियामक मानते हैं उनकी समीक्षा करते हुए कहा गया है कि चाहे विधिवाक्य हो, चाहे निषेधवाक्य, दोनों ही विधि और निषेधरूप अनेकान्तात्मक वस्तुका बोध कराते हैं। जब विधिवाक्य बोला जाता है तो उसके द्वारा अपने विवक्षित वि[illegible] धर्मका प्रतिपादन होनेके साथ प्रतिषेध धर्मका भी मौन अस्तित्व स्वीका[illegible] जाता है—उसका निराकरण या लोप करके वह मात्र विधिका ही बो[illegible] कराता। इसी प्रकार प्रतिषेधवाक्य भी अपने विवक्षित प्रतिषेध धर्मका करनेके साथ अविनाभावी विधि धर्मका भी मौन ज्ञापन करता है— निराग या उपेक्षा करके केवल निषेधको ही सूचित नहीं करता। इसका का[illegible] है कि प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मा है—तद् और अतद् इन विरोधी धर्मोको [illegible] समाये हुए है। अतः कोई भी वाक्य उसके इस स्वरूपका लोप करके मनमानं[illegible] कर सकता। हाँ, वह अपने विवक्षित वाच्यका मुख्यतया और शेषका गौण अवगम कराता है। इसी तथ्यको प्रस्तुत करनेके लिए स्याद्वाददर्शनमें वक्ता द्वारा गये प्रत्येक वाक्यमें 'स्यात्' निपात-पद कहीं प्रकट और कहीं अप्रकट रूपसे [illegible] रहता है। यदि विधिवाक्य या निषेधवाक्य केवल विधि या केवल निषे[illegible] नियामक हों, तो अन्य विरोधी धर्मका लोप होनेसे उसका अविनाभावी [illegible] धर्मका भी अभाव हो जायेगा और तब वस्तुमें कोई भी धर्म (विशेषण) न [illegible] पर वह अविशेष्य (शून्य) हो जायेगी।

११०-११३ तक चार कारिकाओंके द्वारा वाच्यके स्वरूपमें अंगीकृत एक[illegible] वादियोंके अभिनिवेशोंकी समीक्षा करते हुए स्याद्वादमें वाच्यके भी स्वरूपको स्या[illegible] की है। ग्रन्थकार कहते हैं कि प्रत्येक वचन (वाक्य) तद् और अतद् रूप वस्[illegible] कहता है, यह हम ऊपर देख चुके हैं, तो 'तद्रूप ही वस्तु है' ऐसा कथन करने [illegible] वचन सत्य नहीं है और जब वह सत्य नहीं तब असत्य वाक्यों [illegible] वस्तु) का उपदेश कैसे हो सकता है? विधिवादियोंको इसपर करना चाहिए।

'अन्य नहीं' इतना ही प्रत्येक वचन सूचन करते हैं, यह [illegible] युक्त नहीं है, क्योंकि वाणीका स्वभाव है कि वह अन्य वचन द्वा[illegible] निषेध करती हुई अपने अर्थसामान्यका भी प्रतिपादन करती [illegible] नहीं है वह खपुष्पके समान मिथ्या है।

वाणी केवल अन्यव्यावृत्तिका (अन्यापोह) सामान्यका [illegible] विशेष (स्वलक्षण) का नहीं, यह कथन भी सम्यक् नहीं है, [illegible] [illegible] [illegible] वह शब्दका अर्थ नहीं हो सकता। जिस शब्दसे [illegible] [illegible] और जिसमें प्रवृत्ति हो वही उस शब्दका अर्थ है [illegible] [illegible] किसी भी शब्दके द्वारा या ज्ञान नहीं होगी और न उस[illegible]

होती है। अतः वह शब्दका वाच्य नहीं है। चूँकि घटपटादि शब्दोंसे घटपटादि विशेष अभिप्रेतोंकी प्रतीति एवं प्राप्ति होती है और उन शब्दोंको सुनकर श्रोताकी उन्हींमें प्रवृत्ति होती है, अतः घटादि शब्दोंका वाच्य घटादि अभिप्रेत-विशेष हैं, अघटादिव्यावृत्ति नहीं। अतः 'स्यात्' पदसे अंकित वचन ही सत्यके सूचक एवं प्रकाशक हैं। जो वचन 'स्यात्' पदसे अंकित नहीं वे सत्यका प्रकाशन नहीं कर सकते।

जो अभीप्सित अर्थका कारण है और प्रतिषेध्य (विरोधी) का अविनाभावी है वही शब्दका विधेय है और वही आदेय तथा उसका प्रतिषेध्य हेय है। यथार्थमें वक्ताके लिए जो इष्ट हैं उसे कहने तथा जो इष्ट नहीं उसके निषेध करनेके लिए ही उसके द्वारा शब्दका प्रयोग किया जाता है और जिसके लिए शब्दप्रयोग है वही उसका वाच्य है। अतः शब्दका वाच्य न सर्वथा विधि है और न सर्वथा अन्यव्यावृत्ति (निषेध) है, अपितु उभयात्मक (अनेकान्तरूप) वस्तु उसकी वाच्य है। इस प्रकार सभी वस्तुएँ—प्रमाण, प्रमेय, वाचक, वाच्य आदि स्वभावतः स्याद्वाद-मुद्राकित हैं।

इस अन्तिम परिच्छेदकी अन्तिम कारिका ११४ है। इसमें ग्रन्थका उपसंहार करते हुए ग्रन्थकारने अपनी प्रस्तुत कृतिका प्रयोजन प्रदर्शित किया है। कहा है कि हमने यह आप्तमीमांसा कल्याणके इच्छुक लोगोंके लिए रची है, जिससे वे यह जान सकें, श्रद्धा कर सकें और समाचरण भी कर सकें कि सम्यक् कथन अमुक है और मिथ्या कथन अमुक है और इस तरह सम्यक् कथनकी सत्यता एवं उपादेयता तथा मिथ्या कथनकी असत्यता एवं हेयताका उन्हें अवधारण हो सके। इससे आचार्य महोदयके परहितसम्पादनप्रवण हृदयका और उनकी दर्शनविशुद्धि, प्रवचनवात्सल्य तथा मार्गप्रभावना जैसी उच्च भावनाओंका परिचय मिलता है।

देवागमकी व्याख्याएँ :

ऊपर देवागम और उसके प्रतिपाद्य विषयका कुछ परिचय दिया गया है। अब उसकी व्याख्याओंका भी परिचय देनेका प्रयास किया जाता है।

देवागमपर तीन व्याख्याएँ उपलब्ध हैं[1]—१. देवागम-विवृति (अष्टशती-भाष्य), २. देवागमालंकार (आप्तमीमांसालंकार–अष्टसहस्री) और ३. देवागम-वृत्ति।

---

१. आ. विद्यानन्दने अष्टसहस्रीके अन्तमें आ. अकलंकदेवके समाप्ति-मंगलसे पूर्व 'केचित्' शब्दोंके साथ देवागमके किसी व्याख्याकारका 'जयति जगति' आदि समाप्ति-मंगल पद्य दिया है। उससे प्रतीत होता है कि अकलंकदेवसे पूर्व भी देवागमपर किसी आचार्यकी व्याख्या रही है, जो विद्यानन्दको प्राप्त थी या उसकी उन्हें जानकारी थी और उसपरसे ही उन्होंने उल्लिखित समाप्ति-मंगलपद्य दिया है। लघुसमन्तभद्र (वि. सं. १३वीं शती) ने वादीभसिंह द्वारा देवागम (आप्तमीमांसा) के उपलालन—व्याख्यान करनेका उल्लेख अष्टसहस्री-टिप्पण (पृ. १) में किया है। पर वह भी आज अनुपलब्ध है। देवागमके महत्त्व और विश्रुतिको देखते हुए आश्चर्य नहीं कि उसपर विभिन्न कालोंमें विविध टीका-टिप्पणादि लिखे गये हों। अकलंकदेवने अष्टशती (का. ३३ की विवृति) में एक स्थानपर 'पाठान्तरमिदं बहु संगृहीतं भवति' शब्दोंका प्रयोग करके देवागमके पाठभेदों और उसकी अनेक व्याख्याओंकी ओर स्पष्ट संकेत किया है।

१. देवागम-विवृति (अष्टशती) :

इसके रचयिता आ अकलंकदेव हैं। यह देवागमकी उपलब्ध
सबसे प्राचीन और अत्यन्त दुरूह व्याख्या है। परिच्छेदोंके अन्तमें जो समाप्ति
वाक्य पाये जाते हैं उनमें इसका आप्तमीमांसाभाष्य (देवागम-भाष्य) के
उल्लेख हुआ है।[1] आ विद्यानन्दने अष्टसहस्रीके तृतीय परिच्छेदके आरम
ग्रन्थ-प्रशंसामें पद्य दिया है उसमें उन्होंने इसका 'अष्टशती' नाम भी निर्दिष्ट किय
सम्भवतः आठसौ श्लोकप्रमाण रचना होनेसे इसे उन्होंने 'अष्टशती' कहा है। ल
है कि इस अष्टशतीको ध्यानमें रखकर ही अपनी 'देवागमालंकृति' व्याख्या
उन्होंने आठ हजार श्लोकप्रमित बनाया और 'अष्टसहस्री' नाम रखा। जो ह
इस तरह यह अकलंकदेवकी व्याख्या देवागम-विवृति, आप्तमीमांसा-भाष्य (देवागम
भाष्य) और अष्टशती इन तीनों नामोंसे जैन वाङ्मयमें विश्रुत है। इसका प्राय:
प्रत्येक स्थल इतना जटिल एवं दुरवगाह है कि साधारण विद्वानोंका उसमें प्रवेश
सम्भव नहीं है। उसके मर्म एवं रहस्यको अष्टसहस्रीके सहारे ही ज्ञात किया जा
सकता है। भारतीय दर्शन-साहित्यमें इसकी जोड़की रचना मिलना दुर्लभ है। अष्ट-
सहस्रीके अध्ययनमें जिस प्रकार कष्टसहस्रीका अनुभव होता है उसी प्रकार इस
अष्टशतीके अभ्यासमें भी कष्टशतीका अनुभव उसके अभ्यासीको पद-पदपर होता है।

२. देवागमालंकृति (अष्टसहस्री) :

यह आ. विद्यानन्दकी अपूर्व एवं महत्त्वपूर्ण रचना है। इसे आप्तमीमांसा-
लंकृति, आप्तमीमांसालंकार और देवागमालंकार इन नामोंसे भी साहित्यमें उल्लि-
खित किया गया है। आठ हजार श्लोक प्रमाण होनेसे इसे लेखकने स्वयं 'अष्टसहस्री'
भी कहा है।[3] देवागमकी जितनी व्याख्याएँ उपलब्ध हैं उनमें यह विस्तृत और
प्रमेयबहुल व्याख्या है। इसमें देवागमकी कारिकाओं और उनके प्रत्येक पद-वाक्यादि-
का विस्तारपूर्वक अर्थोद्घाटन किया है। साथ ही उपर्युक्त अष्टशतीके प्रत्येक पद-
वाक्यादिका भी विशद अर्थ एवं मर्म प्रस्तुत किया है। अष्टशतीको अष्टसहस्रीमें इस
तरह आत्मसात् कर लिया गया है कि यदि दोनोंको भेद-सूचक पृथक्-पृथक् टाइपोंमें
न रखा जाय तो पाठकको यह जानना कठिन है कि यह अष्टशतीका अंश है और
यह अष्टसहस्रीका। विद्यानन्दने अष्टशतीके आगे, पीछे और मध्यकी आवश्य-
कतोपयोगी सान्दर्भिक वाक्यरचना करके अष्टशतीको अष्टसहस्रीमें मणि-प्र
वालकी तरह अनुस्यूत किया है और अपनी तलस्पर्शिनी अद्भुत प्रतिभाका चमत्
कार दिखाया है। वस्तुतः यदि विद्यानन्द यह देवागमालंकृति न रचते तो अष्टशती
का रहस्य अष्टशतीमें ही छिपा रहता और मेधावियोंके लिए वह रहस्यपूर्ण बना

...त्याप्तमीमांसाभाष्ये दशम: परिच्छेद: ॥छ॥१०॥'
...शती प्रविशार्थं साष्टसहस्री कृतापि संक्षेपात् ।
...सदकलङ्कविवर्णं. प्रा...निविज्ञातबोधा ॥—अष्टस. पृ. १७८ ।
...साष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः ।
...येव स्वसमय-परसमयसद्भावः ॥—अष्टस. पृ. १५७ ।

ती। देवागम और अष्टशतीके व्याख्यानोंके अतिरिक्त इसमें विद्यानन्दने कितना
नया विचारपूर्ण प्रमेय और अपूर्व चर्चाएँ भी प्रस्तुत की हैं। व्याख्याकारने अपनी
व्याख्याके महत्त्वकी उद्घोषणा करते हुए लिखा है कि 'हजार शास्त्रोंका पढ़ना-
नना एक तरफ है और एकमात्र इस कृतिका अध्ययन एक ओर है; क्योंकि इस
कके अभ्याससे ही स्वसमय और पर-समय दोनोंका ज्ञान हो जाता है।'
ख्याकारकी यह घोषणा न मदोक्ति है और न अतिशयोक्ति। अष्टसहस्री स्वयं
तकी निर्णायिका है। देवागममें यतः दश परिच्छेद है अतः उसके व्याख्यानस्वरूप
ष्टसहस्रीमें भी दश परिच्छेद हैं। प्रत्येक परिच्छेदका आरम्भ और समाप्ति दोनो
क-एक गम्भीर पद्य द्वारा किये गये हैं। इसपर लघुसमन्तभद्र (१३वी शती) ने
ष्टसहस्री-विषमपदतात्पर्यटीका' और श्वेताम्बर विद्वान् यशोविजय (१७वी शती) ने
ष्टसहस्रीतात्पर्यविवरण' नामकी व्याख्याएँ लिखी हैं, जो अष्टसहस्रीके विषमपदों,
त्रयों और स्थलोंका स्पष्टीकरण करती हैं। यह देवागमालकृति कोई ६५ वर्ष
र्व सन् १९१५ में सेठ नाथारंगजी गांधी द्वारा एकबार प्रकाशित हो चुकी है। पर
ह अब अप्राप्य है। अब आधुनिक सम्पादनके साथ इसका दूसरा शुद्ध संस्करण
कट होना चाहिए।

. देवागम-वृत्ति—

यह देवागमकी लघुपरिमाणकी व्याख्या है। यह न अष्टशतीकी तरह
रूह है और न अष्टसहस्रीके समान विस्तृत एवं गम्भीर है। कारिकाओंका
याख्यान भी लम्बा नही है और न दार्शनिक विस्तृत ऊहापोह है। मात्र कारिकाओं
रि उनके पद-वाक्योंका शब्दार्थ और कहीं-कहीं फलितार्थ अतिसंक्षेपमे प्रस्तुत किया
या है। पर हाँ, कारिकाओंका अर्थ समझनेके लिए यह वृत्ति पर्याप्त उपयोगी है।
सके रचयिता आ. वसुनन्दि हैं, जिन्होने वृत्तिके अन्तमे स्वयं लिखा है[1] कि 'मैं
न्दबुद्धि और विस्मरणशील व्यक्ति हूँ। मैंने अपने उपकारके लिए ही इस देवागमका
क्षिप्त विवरण किया है।' वृत्तिकारके इस स्पष्ट आत्मनिवेदनसे इस वृत्तिकी
घुरूपता और उसका प्रयोजन अवगत हो जाता है। उल्लेखनीय है कि वसुनन्दिके
मक्ष देवागमकी ११४ कारिकाओंपर ही अष्टशती और अष्टसहस्री उपलब्ध होते हुए
था 'जयति जगति' आदि कारिकाको विद्यानन्दके उल्लेखानुसार किसी पूर्ववर्ती
ाचार्यकी देवागम-व्याख्याका समाप्ति-मंगल-पद्य जानते हुए भी उन्होने उसे
देवागमकी ११५वी कारिका किस आधारपर माना और उसका विवरण किया? यह
चिन्तनीय है। हमारा विचार है कि प्राचीन कालमें साधुओंमें देवागमका पाठ करने
और उसे कण्ठस्थ रखनेकी परम्परा रही है। वसुनन्दिने देवागमको ऐसी प्रतिपरसे
कण्ठस्थ किया होगा, जिसमें मूलमात्र देवागमकी ११४ कारिकाओंके साथ उक्त
अज्ञात देवागम-व्याख्याका समाप्तिमंगल-पद्य भी अंकित कर दिया गया होगा और

१. 'श्रीमत्समन्तभद्राचार्यस्य...देवागमाख्याः कृतेः संक्षेपभूतं विवरणं कृतं श्रुतविस्मरणशीलेन वसुनन्दिना जडमतिनाऽऽत्मोपकाराय।'
—वसुनन्दि, देवागमवृत्ति पृ० ५०, सनातन जैन ग्रन्थमाला, कलकत्ता।

उसपर ११५ का अंक डाल दिया होगा। वसुनन्दिने अष्टशती और अष्टसहस्री टीकाओंपरसे जानकारी एवं अनुसन्धान किये बिना देवागमका अर्थ हृदयंगम रखनेके लिए यह देवागम-वृत्ति लिखी होगी और उसमें कण्ठस्थ सभी (११५) कारिकाओंका विवरण लिखा होगा। यही कारण है कि प्रस्तुत वृत्तिमें न कहीं अष्टशतीके वा वाक्यादिका निर्देश मिलता है और न कहीं अष्टसहस्रीके। अस्तु। यह देव कलकत्ताकी सनातन जैन ग्रन्थमाला द्वारा सन् १९१४ में एक बार प्रका चुकी है। यह अब अच्छे संस्करणके रूपमें पुनः मुद्रित होना चाहिए।

देवागमका मूलाधार :

देवागमकी व्याख्याओंका परिचय देनेके बाद उसकी रचनाके मूलाधारप यहाँ विचार किया जाता है।

आ. विद्यानन्दका जैन वाङ्मयमें सम्मानपूर्ण स्थान है और उनकी कृतियों आप्त-वचन जैसा माना जाता है। विद्यानन्दके उल्लेखानुसार स्वामी समन्तभद्रने देवागमकी रचना तत्त्वार्थसूत्रके आरम्भमें स्तुत आप्तकी मीमांसाके लिए की थी। उनके वे उल्लेख निम्न प्रकार हैं :—

(१) 'शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं कृतिः····'

—अष्टस. आदिमङ्गलश्लो. १, पृ. १।

(२) 'शास्त्रारम्भेऽभिष्टुतस्याप्तस्य मोक्षमार्गप्रणेतृतया कर्मभ् विश्वतत्त्वानां ज्ञातृतया च भगवदर्हत्सर्वज्ञस्यैवान्ययोगव्यवच्छेदेन व्यव परीक्षेयं विहिता।'—अष्टस., पृ. २९४।

(३) श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्‌भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्‌भवस्य,
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्।
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथित-पृथु-पथं स्वामि-मीमांसितं तत्
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या··························— ॥

—आप्तप. का. १२३, पृ

(४) '····इति संक्षेपतः शास्त्रादौ परमेष्ठिगुणस्तोत्रस्य मुनिपुङ्गवै स्यान्वयः सम्प्रदायाव्यवच्छेदलक्षणः पदार्थघटनालक्षणो वा लक्षणीयः, प्रप यस्याशेषसमाधानलक्षणस्य श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभिर्देवागमाख्याप्तमीमांसायां प्रका नात्।'—आप्तप. का. १२०, पृ. २६१-२६२।

इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थशास्त्र (तत्त्वार्थ, तत्त्वार्थसूत्र, निःश्रेयसशास्त्र या मोक्षशास्त्र) के आरम्भमें जिन 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि तीन असाधारण विशेषणोंसे आप्तकी वन्दना शास्त्रकार आ. उमास्वामीने की है, उन्हीं विशेषणोंकी मीमांसा (गोरपति विचारणा) स्वामी समन्तभद्रने आप्तमीमांसामें की है। तात्पर्य यह कि तत्त्वार्थसूत्रका 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मंगलस्तोत्र आप्तमीमांसाकी रचनाका मूलाधार है। विद्यानन्दके उक्त उल्लेखोंमें आये हुए 'शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं', 'शास्त्रकारैः कृतं यत् स्तोत्रं···स्वामिमीमांसितं तत्',···शास्त्रादौ परमेष्ठिगुणस्तोत्रस्य मुनिपुङ्गवैर्विधीयमानस्य····तदन्वयस्याशेषसमाधानलक्षणस्य

सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद-देवनन्दिकी रचना बतलाते हैं।[1] उनका प्रयास है कि प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार द्वारा खोजपूर्ण अनेकविध प्रमाणों से निर्णीत स्वामी समन्तभद्रके विक्रम सं. दूसरी-तीसरी शताब्दीके समयको वि. सं. सातवीं-आठवीं शताब्दी सिद्ध किया जाय।

यहाँ उनकी स्थापनाओंको देकर उनपर सूक्ष्म और गहराईसे विचार किया जाता है :—

(१) आप्तपरीक्षागत प्रयोगोंसे सिद्ध है कि सूत्रकार शब्द केवल गृद्धपिच्छ उमास्वामीके लिए ही प्रयुक्त नहीं होता था, दूसरे आचार्योंके लिए भी उसका प्रयोग किया जाता था।

(२) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकगत तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम सूत्रकी अनुपपत्ति-उत्थापन और उसके परिहारकी चर्चासे स्पष्ट फलित होता है कि विद्यानन्दके सामने तत्त्वार्थसूत्रके प्रारम्भमें 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक नहीं था।

(३) अष्टसहस्री तथा आप्तपरीक्षाके कुछ विशेष उल्लेखोंसे सिद्ध होता है कि इसी श्लोकके विषयभूत आप्तकी मीमांसा समन्तभद्रने अपनी आप्तमीमांसामें की।

समीक्षा

इन तीनों स्थापनाओंकी यहाँ समीक्षा की जाती है। प्रथम स्थापनाके समर्थनमें विद्यानन्दके ग्रन्थोंसे कोई ऐसा उल्लेख-प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया, जिसमें उन्होंने उमास्वामीके अतिरिक्त अन्य किसी आचार्यको सूत्रकार या शास्त्रकार कहा हो। तथ्य भी यह है कि विद्यानन्दने अपने किसी भी ग्रन्थमें उमास्वामीके सिवाय अन्य किसी ग्रन्थकारको सूत्रकार या शास्त्रकार नहीं लिखा। जहाँ कहीं अन्य ग्रन्थकारोंके [illegible] अवतरण दिये हैं उन्हें उन्होंने उनके नामसे या ग्रन्थनामसे या [illegible] 'आदुक्तम्' कहकर उल्लेखित किया है, सूत्रकार या शास्त्रकारके नामसे नहीं। सूत्रकार या शास्त्रकार शब्दका प्रयोग केवल उमास्वामीके लिए किया है। इस [illegible] [illegible] विद्यानन्दके ग्रन्थोंपरसे खोजकर ३३ अवतरण उदाहरणार्थ अन्यत्र दिये [illegible] गये हैं कि विद्यानन्दने प्रकृति अन्य आचार्योंको सूत्रकार या शास्त्रकार लिखते ही नहीं रहे, केवल उमास्वामीके लिए ही इन दोनों शब्दोंका उन्होंने प्रयोग किया है। [illegible] भी सूत्रकार 'सूत्रं हि सम्यं सयुक्तिकं चोत्पन्ने…' [illegible] [illegible] उद्धृत किया है उससे इतना ही सिद्ध करना उन्हें अभिप्रेत है कि [illegible] भी तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रोंके सूत्रता है। उससे यह अभिप्राय कदापि [illegible] जा सकता है कि उन्होंने अन्य [illegible] भी शास्त्रकार या सूत्रकार [illegible]

दूसरी स्थापनाके समर्थनमें भी यह कहा गया है कि उक्त मंगल[illegible] [illegible] द्वारा [illegible] न होनेसे वह तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण नहीं है [illegible] [illegible] है; क्योंकि [illegible] यह आवश्यक नहीं है कि वे [illegible]

[1] [illegible], '[illegible] नेतारम् के कर्ता पूज्यपाद देवनन्दि', [illegible] [illegible]

2 '[illegible]' [illegible], अनेकान्त वर्ष ५, किरण १-२, पृ० ११?।

मंगलाचरणकी भी व्याख्या करें। उदाहरणार्थ श्वेताम्बर 'कर्मस्तव' नामक द्वितीय कर्मग्रन्थ और 'षडशीति' नामके चतुर्थ कर्मग्रन्थको लीजिए। इनमें मंगलाचरण उपलब्ध हैं। पर उनके भाष्यकारोंने अपने भाष्योंमें उनका भाष्य या व्याख्यान नहीं किया। फिर भी वे मंगलाचरण उन्हीं ग्रन्थोंके माने जाते हैं। एक अन्य उदाहरण और लीजिए, श्वेताम्बर तत्त्वार्थाधिगमसूत्रमूलके साथ जो ३१ सम्बन्धकारिकाएँ पायी जाती हैं उनका स्वोपज्ञ भाष्यमें कोई व्याख्यान या भाष्य नहीं किया गया। फिर भी उन्हें सूत्रकार-रचित माना जाता है। बात यह है कि व्याख्याकार मूलके उन्हीं पदों और वाक्योंकी व्याख्या करते हैं जो कठिन होते हैं या जिनके सम्बन्धमें विशेष कहना चाहते हैं। जो पदवाक्यादि सुगम होते हैं उन्हें वे 'सुगमम्' कहकर या बिना कहे अव्याख्यात छोड़ देते हैं। 'मोक्षमार्गस्य' श्लोक भी सुगम है। इसीसे उसकी व्याख्याकारोंने व्याख्या नहीं की।[1] अतः उक्त श्लोकको अव्याख्यात होनेसे सूत्रकार-कृत असिद्ध नहीं कहा जा सकता।

इस स्थापनाके समर्थनमें एक बात यह भी कही गयी है कि विद्यानन्दको यदि उक्त मंगल-स्तोत्र उमास्वामी प्रणीत अभिप्रेत होता तो वे 'प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे' आदि सोत्थानिका वाक्य द्वारा अनुपपत्तिस्थापन और उसका परिहार न कर उसीका यहाँ निर्देश करते। इस सम्बन्धमें हम इतना ही पूछना चाहते हैं कि स्थापनाकारने उक्त उत्थानिकावाक्य सहित पद्योंसे उक्त अर्थ कैसे निकाला? क्योंकि विद्यानन्दने यहाँ केवल उस प्रसंगोपात्त अनुपपत्तिको प्रस्तुत करके उसका परिहार किया है जिसमें अनुपपत्तिकारने कहा है कि तत्त्वार्थशास्त्रका प्रथमसूत्र युक्त नहीं है, क्योंकि वह मोक्षमार्गका प्रवक्ताविशेष न होनेपर भी किसी प्रतिपाद्यविशेषकी जिज्ञासामें ही प्रवृत्त हुआ (रचा गया) है? इस अनुपपत्तिका परिहार करते हुए वे कहते हैं कि मुनीन्द्र (सूत्रकार) ने 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मंगल-स्तोत्र द्वारा सर्वज्ञ, वीतराग और मोक्षमार्गके नेताको स्तुति करके सिद्ध कर दिया है कि मोक्षमार्गका प्रवक्ता-विशेष है, उसके सद्भावमें प्रतिपाद्यविशेषकी जिज्ञासा होनेपर भावी श्रेयसे युक्त होने वाले ज्ञान-दर्शनस्वरूप आत्माके ज्ञानार्थ सूत्रकारद्वारा प्रथम सूत्रकी प्रवृत्ति (रचना) संगत ही है। विद्यानन्दका वह पूरा स्थल इस प्रकार है :—

'ननु च तत्त्वार्थशास्त्रस्यादिसूत्रं तावदनुपपन्नं प्रवक्तृविशेषस्याभावेऽपि प्रतिपाद्यविशेषस्य च कस्यचित्प्रतिपित्सायामेव प्रवृत्तत्वादित्यनुपपत्तिचोदनायामुत्तरमाह—

प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे साक्षात्प्रक्षीणकल्मषे।
सिद्धे मुनीन्द्रसंस्तुत्ये मोक्षमार्गस्य नेतरि॥
सत्यां तत्प्रतिपित्सायामुपयोगात्मकात्मनः।
श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य प्रवृत्तं सूत्रमादिमम्॥

तेनोपपन्नमेवेति तात्पर्यम्।'

—त. श्लो. पृ. ४१

विद्यानन्दने यहाँ 'प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे', 'साक्षात्प्रक्षीणकल्मषे' और 'मोक्षमार्गस्य

---

१. 'तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण' शीर्षक लेख, अनेकान्त, वर्ष ५, किरण ६-७, पृष्ठ २३२।

नेतारि' पदोंके द्वारा आप्तके जिन गुणोंका उल्लेख किया है वे वही हैं जो ... नेतारम्' आदि स्तोत्रमें अभिहित हैं—उन्हींका यहाँ उन्होंने अनुवाद ... किया है। 'सिद्धे मुनीन्द्रसंस्तुत्ये' पदके द्वारा तो उन्होंने स्पष्ट कर दिया ... (सूत्रकार) ने उक्त विशेषणोंसे आप्तकी स्तुति करनेके बाद ही आदिसूत्र ... आश्चर्य है कि विद्यानन्दके जो उल्लेख व्याख्याकारके रंचमात्र भी साधक ... उनके लिए 'स्वकपोल कल्पोत्पादन' रूप है उन्हें प्रस्तुत करनेका साहस ... जाता है।

तीसरी व्याख्यामें जो उक्त स्तोत्रके व्याख्यानरूप आप्तमीमांसा ... जानेकी बात कही गयी है उसमें कोई विवाद नहीं है। पर जब उस स्तोत्रको ... नन्दके उल्लेखों द्वारा, जो व्याख्याकारके अभिप्रायके लेशमात्र भी साधक न ... पूज्यपाद-देवनन्दिका सिद्ध करनेकी असफल चेष्टा की जाती है, तब भारी आ... होता है। 'प्रोत्थानारम्भकाले' इस आप्तपरीक्षागत पदका सीधा और प्रकरणसं... अर्थ है—प्रबन्धारम्भसमयमें अथवा अवतरणारम्भसमयमें। परन्तु इस सीधे अर्थ... अंगीकार न कर उसका अर्थ किया गया है कि 'उत्थान शब्दका अर्थ है पुस्तक... अतएव प्रोत्थान शब्दका अर्थ हुआ प्रकृष्ट उत्थान अर्थात् वृत्ति या व्याख्यान, अतएव 'प्रोत्थानारम्भकाले' का अर्थ हुआ व्याख्यानारम्भकाले'। प्रश्न है कि प्रकृष्टतासे वृत्ति या व्याख्यानका ग्रहण कैसे कर लिया गया? क्योंकि उसका समर्थन न किसी कोषसे होता है और न परम्परागत किसी स्रोतसे। यदि विद्यानन्दको उक्त स्तोत्र पूज्यपाद-देवनन्दिकी वृत्ति (सर्वार्थसिद्धि) का बताना इष्ट होता, तो वे इतना बुद्धि-व्यायाम न कर पाठकोंको उलझनमें न डालते और 'प्रोत्थानारम्भकाले' न लिखकर 'व्याख्यानारम्भकाले' लिख सकते थे। इसी तरह 'शास्त्रकारैः कृतं' के स्थानपर 'वृत्तिकारैः कृतं' दे सकते थे। इससे श्लोककी रचनामें कोई क्षति भी नहीं होती। किन्तु विद्यानन्दको यह सब इष्ट ही नहीं था। वे असन्दिग्ध रूपमें उक्त स्तोत्रको तत्त्वार्थशास्त्रका मानते थे और उसे शास्त्रकार—न कि वृत्तिकार रचित स्वीकार करते थे और शास्त्रकार या सूत्रकारसे उन्हें आ. गृद्धपिच्छ (उमास्वामी) ही अभिप्रेत थे।

अतः विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकगत उक्त उल्लेख, अष्टसहस्रीमें आये 'शास्त्रारम्भेऽभिष्टुतस्याप्तस्य मोक्षमार्गप्रणेतृतया...' आदि निर्देश और आप्तपरीक्षागत 'श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेः ...प्रोत्थानारम्भकाले...शास्त्रकारैः कृतं यत् स्तोत्रं...', 'इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्रस्तोत्रगोचरा।' आदि उल्लेखोंसे असन्दिग्ध है कि वे 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' स्तोत्रका कर्ता शास्त्रकारको मानते हैं और 'शास्त्रकार' से उन्हें एकमात्र तत्त्वार्थसूत्रकार आ. गृद्धपिच्छ ही विवक्षित हैं, सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद-देवनन्दि नहीं। विद्यानन्दने अपने सभी ग्रन्थोंमें 'शास्त्रकार' और 'सूत्रकार' पदोंका प्रयोग केवल तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताके लिए किया है। इसी प्रकार तत्त्वार्थ, तत्त्वार्थशास्त्र या निःश्रेयस-शास्त्र शब्दका प्रयोग भी उन्हींके तत्त्वार्थसूत्रके लिए हुआ है, व्यापक या अन्य अर्थमें नहीं, यह हम ऊपर देख चुके हैं।

युक्त्यनुशासन

(क) नाम

देवागमके उपरान्त स्वामी समन्तभद्रने जिस महत्त्वपूर्ण कृतिकी रचना की वह 'युक्त्यनुशासन' है। टीकाकार आचार्य विद्यानन्दने अपनी टीकाके आरम्भ, मध्य और अन्तमें इसका इसी नामसे उल्लेख किया है। आदिवाक्यमें,[1] जो मंगलाचरण या जयकारपद्यके रूपमें है, समन्तभद्रके इस स्तोत्रका जयकार करते हुए उन्होंने इसका नाम स्पष्टतया 'युक्त्यनुशासन' प्रकट किया है। कारिका ३९ की टीका-समाप्तिपर, जहाँ प्रथम प्रस्ताव पूर्ण हुआ है और जो प्रायः ग्रन्थका मध्य भाग है, एक पद्य[2] तथा पुष्पिका-वाक्यमें[3] भी विद्यानन्दने प्रस्तुत स्तोत्रका नाम 'युक्त्यनुशासन' बतलाया है। इसके अतिरिक्त टीकाके अन्तमें दिये गये दो समाप्तिपद्योंमेंसे दूसरे पद्यमें[4] और टीकासमाप्ति-पुष्पिकावाक्यमें[5] स्वामी समन्तभद्रकी कृतिके रूपमें इसका 'युक्त्यनुशासन' नाम स्पष्टतः निर्दिष्ट है।

हरिवंशपुराणके कर्ता आचार्य जिनसेन[6] (वि. सं. ८४०) ने भी अपने इसी पुराणके आरम्भमें पूर्ववर्ती आचार्योंके गुणवर्णन-सन्दर्भमें समन्तभद्रकी एक कृतिका नाम 'युक्त्यनुशासन' दिया है और उन्हें उसका कर्ता कहा है। आश्चर्य नहीं, उनको यह 'युक्त्यनुशासन' नामसे उल्लिखित कृति प्रस्तुत कृति ही हो।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि उक्त नाम स्वयं समन्तभद्रके लिए भी इष्ट है या नहीं? यदि इष्ट है तो उन्होंने ग्रन्थके आदि अथवा अन्तमें वह नाम निर्दिष्ट क्यों नहीं किया? इसका उत्तर यह है कि उपर्युक्त नाम स्वयं समन्तभद्रोक्त है। यद्यपि उन्होंने वह नाम ग्रन्थके न आरम्भमें दिया है और न अन्तमें, तथापि ग्रन्थके मध्यमें वह नाम उपलब्ध है। कारिका ४८ में[7] समन्तभद्रने 'युक्त्यनुशासन' पदका प्रयोग करके उसकी सार्थकता भी प्रदर्शित की है। उन्होंने बतलाया है कि 'युक्त्यनुशासन वह शास्त्र है, जो प्रत्यक्ष और आगमसे अविरुद्ध अर्थका प्ररूपक है। अर्थात् युक्ति (हेतु), जो प्रत्यक्ष और आगमके विरुद्ध नहीं है, पूर्वक सत्य (वस्तुस्वरूप) की

---

१. प्रमाण-नय-निर्णीत-वस्तुतत्त्वमबाधितम् ।
जीयात्समन्तभद्रस्य स्तोत्रं युक्त्यनुशासनम् ॥
—युक्त्य. टी. पृ. १, मा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई ।

२. स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपतेर्वीरस्य निःशेषतः ।—वही, पृ. ८९ ।

३. इति युक्त्यनुशासने परमेष्ठिस्तोत्रे प्रथमः प्रस्तावः ।—वही, पृ. ८९ ।

४. प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः स्याद्वादमार्गानुगैः ।—वही, पृ. १८२ ।

५. इति श्रीमद्विद्यानन्दाचार्यकृतो युक्त्यनुशासनालङ्कारः समाप्तः ।—वही, पृ. १८२ ।

६. जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनुशासनम् ।—हरि. पु. १-३०, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी ।

७. 'दृष्टागमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते ।'

है, क्योंकि वह उपाधि (विशेषण) के अनुसार भेदक होता है। तात्पर्य यह कि जि धर्मकी विवक्षा होती है वह मुख्य और जिसकी विवक्षा नहीं होती वह गौणरू 'स्यात्' शब्द द्वारा प्रकाशित होता है। यही कारण है कि प्रथम भंगमें विधिधर्म विवक्षा होनेसे वह मुख्यतया प्रतिपादित है और शेष निषेध आदि धर्मोंकी विवक्षा होनेसे वे गौणतया द्योतित हैं। इसी प्रकार द्वितीय भंगमें निषेधधर्म, तृतीयमें अ भिलाप्यताधर्म, चतुर्थमें विधि-निषेधधर्म, पंचममें विधि-अनभिलाप्यताधर्म, ष निषेध-अनभिलाप्यताधर्म और सातवें भंगमें विधि-निषेध-अनभिलाप्यताधर्म विवक्षा होनेसे वे प्रधानतया प्रतिपादित हैं तथा शेष धर्मोंकी विवक्षा न होनेसे गौणरूपसे सूचित है। इस प्रकारके वैशिष्ट्यका प्रकाशन प्रत्येक भंगमें प्रकट अप्रकटरूपमें रहनेवाला 'स्यात्' निपात ही करता है। यह सामर्थ्य किसी अन्य शब्द नहीं है। आचार्य समन्तभद्रने इसी तथ्यका 'धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मिण (देवा. का. २२)—अनन्तधर्मात्मक वस्तुके एक-एक धर्मका प्रयोजन अन्य ही है। अनन्त धर्मोंमेंसे अन्यतम धर्मको प्रधान होनेपर शेष सभी धर्म उसके अंग (अप्रधान हो जाते हैं—देवागमकी इस कारिकामें प्रकट किया है।

यहाँ ध्यातव्य है कि 'स्यात्' निपात जहाँ नयकी अपेक्षासे वस्तुधर्मों एकान्तोंका मुख्य-गौणभावसे प्रकाशन करता है वहाँ वह प्रमाणकी अपेक्षासे सं जीवादितत्त्व—अनेकान्तका भी बोध कराता है, क्योंकि तत्त्व दो प्रकारका है द्रव्यरूप और पर्यायरूप। अथवा विधिरूप और निषेधरूप। दोनोंके समुच्चयका ना अनेकान्त है और एक-एक किन्तु परस्पर-सापेक्ष दोनों एकान्त हैं। एकान्त नय विषय है और अनेकान्त प्रमाणका। नयवाक्यसे जिस प्रकार एकान्तका बोध है है उसी प्रकार प्रमाणवाक्यसे अनेकान्तका। 'सकलादेशः प्रमाणाधीनः, विकलादे नयाधीनः।' अतः नयवाक्यकी तरह प्रमाणवाक्यके साथ भी वक्ता 'स्यात्' निपात प्रयोग करता है। अतएव सप्तभंगी दो प्रकारकी मानी गयी है—१. नयसप्तभंगी औ २. प्रमाणसप्तभंगी। नयसप्तभंगीका विषय सम्यक् एकान्त है और प्रमाणसप्तभंगी सम्यक् अनेकान्त। इसी भावका प्रकाशन ग्रन्थकारने इस कारिकामें किया है।

कारिका ४७ में निर्देश है कि स्याद्वाद-शासनमें न सर्वथा द्रव्य व्यवस्थित क्योंकि पर्यायोंसे रहित केवल द्रव्यकी प्रतीति नहीं होती, न सर्वथा पर्यायें स्वीकृत क्योंकि द्रव्यसे रहित मात्र पर्यायोंका प्रत्यक्षादिप्रमाणसे अनुभव नहीं होता, न सर्व पृथग्भूत (परस्परनिरपेक्ष) द्रव्य और पर्यायें दोनों अंगीकृत हैं, क्योंकि उनकी किसी प्रमाणसे प्रतीति नहीं होती, और न सर्वथा द्वयात्मक एक तत्त्व अभिमत क्योंकि द्वयात्मकता और एकत्व दोनों विरुद्ध हैं। द्वयात्मक माननेपर उसे एक और एक माननेपर द्वयात्मक स्वीकार नहीं किया जा सकता। द्रव्य और पर्यायें दो प्रत्यक्षादिसे प्रतिभासमान होते हैं। अतः दोनों स्याद्वाद-दर्शनमें अभिमत हैं और तीन तरहसे स्वीकृत हैं—१. कथंचिद् भिन्न, २. कथंचिद् अभिन्न और ३. कथंचि भिन्नाभिन्न। उन्हें सर्वथा भिन्न, सर्वथा अभिन्न और सर्वथा भिन्नाभिन्न स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उसमें उपर्युक्त प्रकारसे प्रत्यक्षादिसे विरोध आता है। ज पर्यायार्थिकनयको प्रधानताको लक्ष्यमें रखा जाता है तब द्रव्य और पर्याय कथंचि

वीर सेवा मन्दिर-ट्रस्ट

संस्थापक व प्रवर्तक
आ० जुगल किशोर मुख्तार
युगवीर

१/१२८, डुमरावबाग, अस्सी,
वाराणसी-५

दिनांक १-६-८९

श्री शास्त्री जी,

जय जिनेन्द्र।

आज आपका पत्र मिला, बहुत आभार लिया। धन्यवाद।

आपका "जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन" ग्रन्थ आपको मिल गया होगा। आपके जो उपयोगी ग्रन्थ हों वे इसमें पाण्डित्य में भेज दें। [illegible] पहुँचे।

आशा है आप सानन्द एवं प्रसन्न हैं। [illegible]

धन्यवाद।

आपका

(दरबारीलाल कोठिया)

प्रात
परिहार
होता

अब द्रव्यार्थिकनयकी मुख्यताको दृष्टिमें लाया जाता है तब द्रव्यसे भिन्न हैं। और जब क्रमसे दोनों नयोंकी विवक्षा होती है तब द्रव्य कथंचिद् भिन्नाभिन्न हैं। इस प्रकार धर्मी (द्रव्य) और धर्म तीन प्रकारसे व्यवस्थित हैं।

४८ में उक्त कथनको युक्त्यनुशासन (प्रत्यक्ष और आगमाविरुद्ध एवं ...ित किया और दृष्टान्त द्वारा उसका समर्थन किया है।

४९ में भेद (नाना) को अभेद (एक) का और अभेद को भेदका ...ट करके उन्हें प्रधान तथा गौणरूपमें विभिन्न पदोंका वाच्य बतलाया कि जहाँ भेद है वहाँ अभेद भी रहता है और जहाँ अभेद है वहाँ भेद अभेदको छोड़कर केवल भेद और भेदको छोड़कर केवल अभेद नहीं ...वक्षावश वे मुख्य और गौण हो जाते हैं। जब एक पदके द्वारा भेद है तो भेद मुख्य और अभेद गौण हो जाता है—वहाँ अभेदका होता। तथा जब दूसरे पदके द्वारा अभेद विवक्षित होता है तो अभेद गौण हो जाता है—उस (भेद) का अपलाप नहीं होता।

...ा ५० में प्रतिपादन है कि धर्म यदि परस्परमें निरपेक्ष हों और धर्मोंसे ...है उसी प्रकार अर्थक्रियामें अक्षम हैं जिस प्रकार आतान-वितानरूप ...रपेक्ष होनेपर पटरूप कार्यकी निष्पत्तिमें असमर्थ हैं। अतः अंश अंशीसे ...ंशोंसे न सर्वथा पृथक् है, न सर्वथा अपृथक् और न सर्वथा पृथक्-अपृथक्, ...परमें कथंचिद् भिन्न, कथंचिद् अभिन्न और कथंचिद् भिन्नाभिन्न हैं। ...न्न) परस्परसापेक्ष होकर ही अर्थक्रियामें समर्थ हैं। इसी प्रकार उन ...ा नय भी अपने अस्तित्वरूप अर्थक्रियामें परस्पर सापेक्ष होकर सक्षम

...ा ५१ में कथन किया है कि एकान्तके आग्रहसे लोगोंको अहंकार और ...गादि उत्पन्न होते हैं। पर एकान्तके त्याग और अनेकान्तके स्वीकारसे, ...ाभाविक (यथार्थ-सम्यग्दर्शन) रूप है, न आग्रहमूलक अहंकार होता ...कारकारणक रागादि। फलतः स्याद्वादशासनमें लोगोंका मन समता ...) पूर्ण होता है।

...का ५२ में उस शंकाका सयुक्तिक समाधान है जिसमें कहा गया है कि ...नमें भी अनेकान्तके प्रति राग और सर्वथा एकान्तके प्रति द्वेष होता है, ...नमें भी लोगोंका मन समतापूर्ण कैसे हो सकता है? और उस हालतमें ...-मोक्षकी व्यवस्था भी कैसे सम्भव है? इसका उत्तर देते हुए समन्तभद्र कहते ...तिपक्ष (विरोधी धर्म) के निषेधकको अनेकान्तवचनोंद्वारा प्रतिपक्षके ...ासे रोका जाता है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु प्रतिपक्ष (विरोधी) धर्मको भी ...(होनेसे नानात्मक है। फलतः गलत वस्तुस्वरूपको माननेसे रोकने और वस्तुस्वरूपका निश्चय करानेके कारण स्याद्वादशासनमें एकान्तवादके प्रति ...र अनेकान्तके प्रति राग नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः अतत्त्वका परिहार ...त्वका निश्चय कराना रागद्वेष नहीं है। अतः स्याद्वादीका मन समतापूर्ण होता

यथार्थमें हमें, वस्तुमें अभेदबुद्धि और भेदबुद्धि दोनों होती हैं। अभेद-बुद्धिसे सामान्य (विधि) के सद्भावका और भेदबुद्धिसे विशिष्टता (विशेष-निषेध) के सत्त्वका निश्चय होता है। अभेदबुद्धिको अन्वयबुद्धि और भेदबुद्धिको व्यावृत्ति (व्यतिरेक) बुद्धि कहते हैं। इस प्रतिपादनसे स्पष्ट है कि वाच्य अनेकान्तात्मक है। और वाचक भी अनेकान्तरूप है।

६१-६४ तक चार कारिकाएँ उपसंहारके रूपमें हैं। वीरशासनकी विशेषता बतलाते हुए कारिका ६१ में कहा गया है कि उपर्युक्त प्रकारसे वीर-शासन सभी वस्तुधर्मोंका प्रतिपालक है—किसी धर्मका लोपक नहीं, तथा उन धर्मोंकी व्यवस्था वह मुख्य और गौणभावसे करता है। इसके विपरीत एकान्त (क्षणिकत्वादि) शासन उन वस्तुधर्मोंको परस्पर निरपेक्ष प्रतिपादित करते एवं एक-एक धर्मको ही पूर्ण वस्तु मानते हैं—या तो उसे सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक, सर्वथा सत् या सर्वथा असत्, सर्वथा एक (अद्वैत) या सर्वथा अनेक (द्वैत) आदि स्वीकार करते हैं। फलतः विरोधी धर्मका तिरस्कार (निषेध) होनेसे उनके अविनाभावी इष्ट धर्मका भी अभाव प्रसक्त होता है और इस तरह एकान्तशासन सभी धर्मोंसे शून्य हैं—उनमें उनका अभिमत धर्म भी व्यवस्थित नहीं होता। अतएव वीरशासन ही समस्त विपदाओं (दुःखों) का अन्त करनेवाला है, निरन्तर (अविच्छेद्य) है और 'सर्वोदय तीर्थ' (सभीके अभ्युदयका कारण होनेसे तीर्थरूप) है।

कारिका ६२में ग्रन्थकारने उन सभी दार्शनिकोंको, जो वीर-शासनके द्वेषी भी हों, वीरशासनकी समीक्षार्थ आह्वान किया है और उनसे घोषणापूर्वक कहा है कि वे उपपत्तिचक्षु (युक्तिरूप दृष्टिसे युक्त) और समदृष्टि (पूर्वाग्रहोंसे मुक्त निष्पक्ष) होकर वीर-शासनकी यथेच्छ मीमांसा करें—देखें-परखें। यदि उन्होंने ऐसा किया तो वे निश्चय ही अपने कदाग्रहरूप अभिमानका त्यागकर अभद्र होनेपर भी समन्तभद्र (स्वपरके कल्याणकर्ता) बन जायेंगे।

कारिका ६३में स्तुतिका सद्भावपूर्ण एवं शुद्ध लक्ष्य बतलाते हुए कहा है कि हमने न राग (पक्षपात)से वीर-जिनका स्तवन किया और न द्वेषसे 'दूसरोंके दोषोंको कहनेकी आदत द्वारा' खलत्व (दुष्टपन) दिखाया है—हमने केवल एक परीक्षकके कठोर कर्तव्यका पालन किया है। इसी कारण उन लोगोंके लिए, जो न्याय-अन्याय (युक्त-अयुक्त, सम्यक्-असम्यक्) तथा विचारणीय पदार्थके गुण-दोषों (लाभालाभ) को जाननेके इच्छुक हैं, वीर-जिनके गुण-कथनके आश्रयसे हितान्वेषण (हितकी खोज) का उपाय (मार्ग) बतलाया है।

इस प्रस्तावकी अन्तिम कारिका ६४ है। इसमें स्वामी समन्तभद्रने वीर-जिनके शासनको हितकारी और युक्तिशास्त्राविरोधी प्रमाणसे निर्णीत होनेके कारण उनमें ही अपनी भक्तिको स्थिर करनेकी उनसे कामना की है। वे कहते हैं कि हे जिन ! आप उन देवेन्द्रों एवं मुनिश्रेष्ठों द्वारा स्तुत्य हैं, जो स्वयं दूसरोंसे स्तुत हैं और एकाग्रमनसे आपका ही ध्यान करते हैं। आपने निःश्रेयसपद प्राप्त किया तथा पापरूप शत्रुसेनापर विजय पाकर अद्भुतशक्तिके धारक वीर और महावीर बने हैं। इन गुणोंके कारण आप मेरे द्वारा भी यथाशक्ति स्तुत हुए हैं। अर्थात् मैंने भी शक्त्यनुसार

यह व्याख्या न होती तो युक्त्यनुशासनके अनेक स्थल दुरधिगम्य बने रहते। व्याख्याकारने अपनी इस व्याख्याका नाम 'युक्त्यनुशासनालंकार' दिया है, जो युक्त्यनुशासनका अलंकरण करनेके कारण सार्थक है। इसे उन्होंने आप्तपरीक्षा और प्रमाणपरीक्षाके बाद रचा है, क्योंकि इसमें उन दोनोंके उल्लेख हैं।[1] यह मूल ग्रन्थके साथ कोई ६० वर्ष पूर्व वि. सं. १९७७ में माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमालासे एक बार प्रकाशित हो चुका है, परन्तु अब यह अप्राप्य है। यह अशुद्ध भी काफी छपा है। अतः इसका शुद्ध और सुन्दर आधुनिक संस्करण अपेक्षित है।

(छ) हिन्दी अनुवाद

युक्त्यनुशासनके मर्मको हिन्दी भाषामें प्रकट करनेके उद्देश्यसे स्वामी समन्तभद्रके अनन्य भक्त और उनके प्रायः सभी ग्रन्थोंके हिन्दी-अनुवादक, प्रसिद्ध साहित्य और इतिहासकार पण्डित जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' ने इसपर सर्वप्रथम हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किया है। यह अनुवाद उन्होंने विद्यानन्दकी उक्त संस्कृत-टीकाके आधारसे किया है। अनुवाद विशद, सुन्दर और ग्रन्थानुरूप है। दुरूह और क्लिष्ट पदोंका अच्छा अर्थ एवं आशय व्यक्त किया है। मूल ग्रन्थका अनुगम करनेके लिए यह अनुवाद बहुत उपयोगी और सहायक है। यह वीर-सेवा-मन्दिर दिल्लीसे सन् १९५१ में प्रकाशित हो चुका है।

इसकी एक हिन्दी व्याख्या पं. मूलचन्द्रजी शास्त्री श्रीमहावीरजीने भी लिखी है। व्याख्या विशद और उपादेय है।

●

१. युक्त्य. टी. पृ. १०, ११।

यो बन्धुराबन्धुरतुल्यचित्तो गृह्णाति भोज्यं नवकोटिशुद्धम् ।
उद्दिष्टवर्जी गुणिभिः स गीतो विभीलुकः संसृतिमातुधान्याः ॥
—अमित. श्रा. ७-७७।

यहाँ भी मुनिवनमें जाकर व्रतोंको ग्रहण करनेका इस प्रतिमाधारीके लिए कोई विधान निर्दिष्ट नहीं है।

(घ) पं. राजमल्लजीके दो पद्योंको ऊपर उद्धृत किया गया है। ऐलकके निवास-स्थानके विषयमें वे लिखते हैं—

तिष्ठेच्चैत्यालये संघे वने वा मुनिसन्निधौ ।
निरवद्ये तथा स्थाने शुद्धे शून्यमठादिषु ॥

इस तरह इन श्रावकाचारोंमें कथित ११वीं प्रतिमाधारीके लक्षणोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि रत्नकरण्डमें वह परम्परा पायी जाती है, जो उस समय पहलेसे चली आ रही थी और उसमें उस समय तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। अर्थात् रत्नकरण्डक उस समयकी रचना है जब मुनिगण वनमें ही रहा करते थे, मठों, चैत्यालयों आदिमें नहीं। दूसरे शब्दोंमें यह कह सकते हैं कि वह तबकी रचना है जब मुनियोंमें केवल वनवास था, चैत्यवास प्रचलित नहीं हुआ था—

अब विचारणीय है कि मुनि अपने प्राचीन निवासस्थान वनको छोड़कर चैत्यालयों आदिमें कबसे रहने लगे?

(१) जटासिंहनन्दिने, जिनका समय डॉक्टर ए. एन. उपाध्येने ऊहापोहपूर्वक ईस्वी ६५० से ७५० निर्धारित किया है, अपने वरांगचरितमें मुनियोंके निवासस्थानके सम्बन्धमें निम्न प्रकार लिखा है—

शून्यालये देवगृहे श्मशाने महाटवीनां गिरिगह्वरेषु ।
उद्यानदेशे द्रुमकोटरे वा निवास आसीद्वसतस्तमानाम् ॥
रात्रिंचरा भीमरवाः शकुन्ताः शार्दूलसिंहद्विपजम्बुकर्क्षाः ।
यत्राकुला भीमभुजंगमाश्च तत्रास वासो यतिपुंगवानाम् ॥
—वरांगच. अ. ३०—२६,२७,२८,२९,३० आदि पद्य।

यहाँ जटासिंहनन्दिने मुनियोंका निवास गिरिगुफाओं एवं वनोंके साथ देव-गृहादिमें भी बतलाया है। इससे यह जान पड़ता है कि उनके समयमें मुनि गिरिगुफाओं और वनोंके अलावा देवगृहादिमें भी रहने लगे थे।

(२) ९वीं शताब्दीके विद्वान् और आदिपुराणकार जिनसेनके प्रधान शिष्य उत्तरपुराणकार गुणभद्राचार्य आत्मानुशासनमें क्या लिखते हैं उसे भी देखें :—

इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्यां यथा मृगाः ।
वनाद्विशन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः ॥
—आत्मानु. श्लो. १९७।

'जैसे रात्रिमें मृग इधर-उधर डरते हुए वनसे गाँवके पास आ जाते हैं वैसे ही इस कलिकालमें तपस्वी (मुनि) वनसे गाँवके समीप आकर ठहर रहे हैं, यह दुःखकी बात है।'

यो बन्धुराबन्धुरतुल्यचित्तो गृह्णाति भोज्यं नवकोटिशुद्धम् ।
उद्दिष्टवर्जी गुणिभिः स गीतो विभीलुकः संसृतियातुधान्याः ॥
—अमित. श्रा. ७-७७ ।

यहाँ भी मुनिवनमें जाकर व्रतोंको ग्रहण करनेका इस प्रतिमाधारीके लिए कोई विधान निर्दिष्ट नहीं है ।

(घ) पं. राजमल्लजीके दो पद्योंको ऊपर उद्धृत किया गया है। ऐलकके निवास-स्थानके विषयमें वे लिखते हैं—

तिष्ठेच्चैत्यालये संघे वने वा मुनिसन्निधौ ।
निरवद्ये तथा स्थाने शुद्धे शून्यमठादिषु ॥

इस तरह इन श्रावकाचारोंमें कथित ११वीं प्रतिमाधारीके लक्षणोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि रत्नकरण्डमें वह परम्परा पायी जाती है, जो उस समय पहलेसे चली आ रही थी और उसमें उस समय तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। अर्थात् रत्नकरण्डक उस समयकी रचना है जब मुनिगण वनमें ही रहा करते थे, मठों, चैत्यालयों आदिमें नहीं। दूसरे शब्दोंमें यह कह सकते हैं कि वह तबकी रचना है जब मुनियोंमें केवल वनवास था, चैत्यवास प्रचलित नहीं हुआ था—

अब विचारणीय है कि मुनि अपने प्राचीन निवासस्थान वनको छोड़कर चैत्यालयों आदिमें कबसे रहने लगे ?

(१) जटासिंहनन्दिने, जिनका समय डॉक्टर ए. एन. उपाध्येने ऊहापोहपूर्वक ईस्वी ६५० से ७५० निर्धारित किया है, अपने वरांगचरितमें मुनियोंके निवासस्थानके सम्बन्धमें निम्न प्रकार लिखा है—

शून्यालये देवगृहे श्मशाने महाटवीनां गिरिगह्वरेषु ।
उद्यानदेशे द्रुमकोटरे वा निवास आसीद्विसत्तमानाम् ॥
रात्रिंचरा भीमरवाः शकुन्ताः शार्दूलसिंहद्विपजम्बुकर्क्षाः ।
यत्राकुला भीमभुजंगमाश्च सत्रास वासो यतिपुंगवानाम् ॥
—वरांगच. अ. ३०—२६,२७,२८,२९,३० आदि पद्य।

यहाँ जटासिंहनन्दिने मुनियोंका निवास गिरिगुफाओं एवं वनोंके साथ देवगृहादिमें भी बतलाया है। इससे यह जान पड़ता है कि उनके समयमें मुनि गिरिगुफाओं और वनोंके अलावा देवगृहादिमें भी रहने लगे थे।

(२) ९वीं शताब्दीके विद्वान् और आदिपुराणकार जिनसेनके प्रधान शिष्य उत्तरपुराणकार गुणभद्राचार्य आत्मानुशासनमें क्या लिखते हैं उसे भी देखें :—

इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्यां यथा मृगाः ।
वनाद्विशन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः ॥
—आत्मानु. श्लो. १९७ ।

'जैसे रात्रिमें मृग इधर-उधर डरते हुए वनसे गाँवके पास आ जाते हैं वैसे ही इस कलिकालमें तपस्वी (मुनि) वनसे गाँवके समीप आकर ठहर रहे हैं, यह दुःखकी बात है।'

और निर्वाणगिरि 'ऊर्ज्जयन्त' (गिरनार) पर्वतको 'तीर्थ' तथा 'विशाल हृदय ऋषियोंसे निरन्तर आसेवित' बतलाया गया है और कहा गया है कि 'लोकमें विश्रुत 'ऊर्जयन्त' पर्वत तीर्थंकर नेमिनाथका तपोगिरि तथा निर्वाण-गिरि होनेसे 'तीर्थ' संज्ञा (नाम) को वहन करता है, अर्थात् 'तीर्थ' कहा जाता है और जो चारों ओर बहुत परिमाणमें प्रीतिपूर्ण विशाल हृदयवाले ऋषियों (मुनियों) से निरन्तर आसेवित है तथा आज भी वह उनसे भरा हुआ है।'

यह पद्य ग्रन्थकारके समयके मुनियोंके निवास, आचार और तपस्वी जीवन-पर बहुत प्रकाश डालता है। इस पद्यके सभी पद महत्त्वपूर्ण और सांस्कृतिक इतिहासको दृष्टिसे मूल्यवान् हैं। 'अद्य' पद तो विशेष रूपसे बड़े महत्त्वका ऐतिहासिक पद है, जिसके द्वारा यह प्रकट किया गया है कि उनके (स्वयम्भूस्तोत्रकार स्वामी समन्तभद्रके) समयमें ऋषिगण बड़े परिमाणमें ऊर्जयन्तगिरि (गिरनार पर्वत) के चारों ओर निरन्तर वास करते थे। और वह भी स्वेच्छापूर्वक विशाल हृदयको लेकर। वहाँ रहनेमें उन्हें किसी प्रकारके भय, त्रास या कष्टका अनुभव नहीं होता था। गाँवके समीप अथवा वसतिकाओं, मठों या देवगृहोंमें रहना तो दूर रहा, उनमें रहनेकी उनकी न इच्छा रहती थी और न प्रवृत्ति ही थी—वे ऊर्जयन्त जैसे गिरिपर्वतों—वनोंमें ही रहनेकी अपनी प्राचीन परम्पराके प्रिय थे और उसे हृदयसे पालन किये हुए थे।

अब रत्नकरण्डके, 'मुनिवनमित्वा' और स्वयम्भूस्तोत्रके 'ऋषिभिश्च सतत-मभिगम्यतेऽद्य च' इन दोनों पद्योंकी तुलना करें और अत्यन्त बारीकीसे देखें। उससे मालूम हो जायेगा कि स्वयम्भूस्तोत्र और रत्नकरण्डश्रावकाचार दोनों वनवासकालकी रचनाएँ हैं। अर्थात् ये दोनों ग्रन्थ उस समयके हैं जब मुनियोंमें चैत्यवास नहीं था—वनवास ही उनमें प्रचलित था। यदि रत्नकरण्ड गुणभद्राचार्यके आत्मानुशासनके बाद लिखा गया होता, तो उसमें ११वीं प्रतिमावालेके लिए 'गृहतो मुनिवनमित्वा'—घरसे 'मुनिवनमें' जानेका निर्देश न आता, क्योंकि उस समय चैत्यवास होने लगा था और वनवास प्रायः छूटने लगा था। इसलिए ११वीं प्रतिमाको धारण करनेके लिए मुनियोंका सान्निध्य उस समय गाँवके पास वसतिकाओं, चैत्यालयों और मठोंमें मिल सकता था। वहीं जानेका उसे रत्नकरण्डककार निर्देश करते—वनमें निवास करनेवाले मुनियोंके पास नहीं अथवा कुछ भी न कहते या चैत्यवासको भी साथमें कहते।

अतएव इस विवेचनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि रत्नकरण्डश्रावकाचार जटासिंहनन्दि और गुणभद्राचार्यके बादकी रचना नहीं है। अपितु वह वनवासकाल (५वीं शताब्दीसे पहले—२री-३री शती) की रचना है।

उपसंहार :

इन तुलनात्मक उद्धरणों एवं अन्य प्रमाणोंसे रत्नकरण्डश्रावकाचारकी अति प्राचीनतापर निश्चय ही अभिनव प्रकाश पड़ता है। वह सिद्धसेन, सोमदेव, वादिराज और प्रभाचन्द्रसे पूर्वकी तथा मुनियोंके वनवासके समयकी प्रौढ़ रचना है।

अर्थात् रत्नकरण्ड विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीसे बहुत पहलेकी—२री-३री शतीकी रचना है।

निष्कर्ष यह कि रत्नकरण्डमें ११वीं प्रतिमाके स्वरूपमें उत्कृष्ट श्रावककी तीन शर्तें बतलायी गयी हैं। पहली शर्त यह है कि वह मुनिवनमें जाकर गुरुके पास व्रतोंको ग्रहण कर भिक्षावृत्तिपूर्वक आहार ले, दूसरी शर्त यह कि तपोंको करे और तीसरी यह कि खण्डवस्त्र (एकवस्त्र) धारण करे, यह उसकी चर्या है। यहाँ उसे व्रत ग्रहणके लिए वनमें जानेका स्पष्ट आदेश है। पर वह वहाँ रहे या न रहे, इस सम्बन्ध में अवश्य कुछ नहीं कहा, जैसा कि उत्तरवर्ती श्रावकाचारकारोंने उसके लिए इन मठ, चैत्यालय आदिमें रहनेका विशेष तौरसे उल्लेख किया है, इसलिए वह मुनिवनके अलावा दूसरी जगह भी रह सकता है। किन्तु मुनियोंके लिए वहाँ दो मार्ग नहीं हैं—उनके लिए एक ही मार्गका निर्देश है और वह 'वनमें रहना'—वनमें ही उन्हें 'ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी' होना चाहिए। यह भी ध्यातव्य है कि इस ग्रन्थमें 'रत्नमाला' आदि ग्रन्थों जैसी शिथिलाचारप्रवर्तक या पोषक मान्यता कोई नहीं है। अतः रत्नकरण्डकश्रावकाचार स्वयम्भूस्तोत्रके रचनाकाल (दूसरी-तीसरी शती) का ग्रन्थ है, यह स्पष्ट है।

•

रत्नकरण्डश्रावकाचार स्वामी समन्तभद्रकी कृति है

प्रो. हीरालालजीने 'जैन इतिहासका एक विलुप्त अध्याय' नामक निबन्धमे[1] रत्नकरण्डश्रावकाचारको आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्रकी कृति माननेमे सन्देह व्यक्त किया है और एक दूसरे समन्तभद्रकी कृति बतलायी है, जिन्हें आचार्य कुन्दकुन्दके उपदेशोंका समर्थक तथा रत्नमालाके कर्ता शिवकोटिका गुरु सम्भावित किया है। जैसा कि उनके उक्त निबन्धकी निम्न पंक्तियोंसे प्रकट है—

"रत्नकरण्डश्रावकाचारको उक्त समन्तभद्र प्रथम (स्वामी समन्तभद्र) की ही रचना सिद्ध करनेके लिए जो कुछ प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं उन सबके होते हुए भी मेरा अब यह मत दृढ़ हो गया है कि वह उन्ही ग्रन्थकारकी रचना कदापि नहीं हो सकती, जिन्होंने आप्तमीमांसा लिखी थी, क्योंकि उसमें दोषका[2] जो स्वरूप समझाया गया है वह आप्तमीमांसाकारके अभिप्रायानुसार हो ही नहीं सकता। मैं समझता हूँ कि रत्नकरण्डश्रावकाचार कुन्दकुन्दाचार्यके उपदेशोके पश्चात् उन्हीके समर्थनमें लिखा गया है। इस ग्रन्थका कर्ता उस रत्नमालाके कर्ता शिवकोटिका गुरु भी हो सकता है, जो आराधनाके कर्ता शिवभूति या शिवार्यकी रचना कदापि नही हो सकती।"

यहाँ मैं यह भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि प्रो. साहबने आजसे कुछ समय पहले 'सिद्धान्त और उनके अध्ययनका अधिकार' शीर्षक लेखमें, जो बादको धवलाकी चतुर्थ पुस्तकमें भी सम्बद्ध किया गया है, रत्नकरण्डश्रावकाचारको स्वामी समन्तभद्रकृत स्वीकार किया है और उसे गृहस्थोंके लिए सिद्धान्तग्रन्थोके अध्ययनविषयक नियन्त्रण न करनेमें प्रधान और पुष्ट प्रमाणके रूपमे प्रस्तुत किया है। यथा—

"श्रावकाचारका सबसे प्रधान, प्राचीन, उत्तम और सुप्रसिद्ध ग्रन्थ स्वामी समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डश्रावकाचार है, जिसे वादिराजसूरिने 'अक्षयसुखावह' और प्रभाचन्द्रने अखिल सागारधर्मको प्रकाशित करनेवाला 'सूर्य' कहा है। इस ग्रन्थमें श्रावकोंके अध्ययनपर कोई नियन्त्रण नहीं लगाया गया, किन्तु इसके विपरीत...."

—क्षेत्र स्पर्शन०, प्रस्ता० पृ. १२।

किन्तु अब मालूम होता है कि प्रो. साहबने अपनी वह पूर्व मान्यता छोड़ दी है और इसीलिए रत्नकरण्डको स्वामी समन्तभद्रकी कृति नही मान रहे हैं। अस्तु।

प्रो. साहबने अपने निबन्धकी उक्त पंक्तियोंमें रत्नकरण्डश्रावकाचारको स्वामी समन्तभद्रकृत सिद्ध करनेवाले जिन प्रस्तुत प्रमाणोंकी ओर संकेत किया है वे प्रमाण

---

१. काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें सन् १९४२में हुए प्राच्य-विद्या-सम्मेलनके जैन विद्या-विभागके अध्यक्षपदसे पठित निबन्ध।

२. क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥

—रत्नकरण्ड. श्लो. ६।

'श्रीसमन्तभद्रस्वामी रत्नानां रक्षणोपायभूतरत्नकरण्डकप्रख्यं सम्यग्दर्शनादिरत्नानां पालनोपायभूतं रत्नकरण्डकाख्यं शास्त्रं कर्तुकामो......'—रत्न० टी० पृ० १।

(३) आचार्य सोमदेव (वि. सं. १०१६) के यशस्तिलकमें रत्नकरण्डश्रावकाचारका कितना ही उपयोग हुआ है, जिसके दो उदाहरण इस प्रकार हैं—

(क) "स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥
—रत्नकर. श्लो. २६।

यो मदात्समयस्थानामवह्लादेन मोदते।
स नूनं धर्महा यस्मान्न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥
—यशस्तिलक, पृ. ४१४।

(ख) नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारे।
नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥
—रत्न. ८७।

यमश्च नियमश्चेति द्वे त्याज्ये वस्तुनी स्मृते।
यावज्जीवं यमो ज्ञेयः सावधिर्नियमः स्मृतः ॥
—यशस्ति., पृ. ४०३।

अतः रत्नकरण्ड और उसके कर्ताका अस्तित्व सोमदेव (वि. १०१६) से पूर्वका है।

(४) विक्रमकी ७-८वीं शताब्दीके ग्रन्थकार सिद्धसेनके न्यायावतारमें रत्नकरण्डश्रावकाचारका 'आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्य' श्लोक ज्यों-का-त्यों पाया जाता है। दोनों ही ग्रन्थोंके संदर्भोंका ध्यानसे समीक्षण करनेपर निःसन्देह रत्नकरण्डका ही वह पद्य स्पष्ट प्रतीत होता है। रत्नकरण्डमें जहाँ वह स्थित है वहाँ उसका मूलरूपमें होना अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु यह स्थिति न्यायावतारके लिए नहीं है, वहाँ यह श्लोक मूलरूपमें न भी रहे तो भी ग्रन्थका कथन भंग नहीं होता, क्योंकि वहाँ परोक्ष प्रमाणके 'अनुमान' और 'शाब्द' ऐसे दो भेदोंको बतलाकर स्वार्थानुमानके कथनके बाद स्वार्थ शाब्दका कथन करनेके लिए श्लोक ८ रखा गया है और इसके बाद उपर्युक्त 'आप्तोपज्ञ' श्लोक दिया गया है। परार्थ शाब्द और परार्थ अनुमानको बतलानेके लिए भी आगे स्वतन्त्र-स्वतन्त्र श्लोक हैं। अतः यह पद्य श्लोक ८ में उक्त विषयके समर्थनार्थ ही रत्नकरण्डसे लिया गया है[१] और उसे लेकर ग्रन्थकारने अपने ग्रन्थका उसी प्रकार अंग बना लिया है जिस प्रकार अकलंकदेवने आप्तमीमांसाके 'सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः' कारिकाको अपनाकर अपने न्यायविनिश्चयमें कारिका ४१५ के रूपमें ग्रन्थका अंग बना लिया है। इससे रत्नकरण्डका समय निश्चय ही सिद्धसेनसे पूर्व पहुँच जाता है।

(५) ईसाकी पाँचवीं (विक्रमकी छठी) शताब्दीके विद्वान् आ. पूज्यपाद-देवनन्दिने रत्नकरण्डश्रावकाचारके कितने ही पद, वाक्यों और विचारों

१. विशेषके लिए देखें, 'स्वामी समन्तभद्र' पृ १२० से १२२।

शब्दशः और अर्थशः अनुसरण किया है, जिसका मुख्तार श्री पं. जुगलकिशोरजीने अपने 'सर्वार्थसिद्धिपर समन्तभद्रका प्रभाव' नामक लेखमें अच्छा प्रदर्शन किया है[1]। यहाँ उसके दो उदाहरण दिये जाते हैं।

(क) तिर्यक्क्लेशवणिज्याहिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम्।
कथाप्रसङ्गप्रसवः स्मर्तव्यः पाप उपदेशः ॥ —रत्नक. श्लो० ७६।

तिर्यक्क्लेशवाणिज्यप्राणिवधकारम्भकादिषु पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेशः।
—सर्वार्थ. ७-२१।

(ख) अभिसंधिकृता विरतिः....व्रतं भवति' —रत्नक. श्लो० ८६।
व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः।'—सर्वार्थ. ७-१।

ऐसी स्थितिमें छठी शताब्दीसे पूर्व रचित रत्नकरण्डके कर्ता (समन्तभद्र) ११वीं शताब्दीके उत्तरवर्ती रत्नमालाकार शिवकोटिके गुरु कदापि नहीं हो सकते।

इस विवेचनसे जहाँ यह स्पष्ट है कि रत्नकरण्डके कर्ता रत्नमालाकार शिवकोटिके साक्षात् गुरु नहीं हैं वहाँ यह भी स्पष्ट है कि रत्नकरण्डश्रावकाचार सर्वार्थसिद्धिके कर्ता पूज्यपाद (ई० ४५०) से पूर्वकी कृति है।

अब हम प्रो. सा. के उस मतपर भी विचार करते हैं, जिसमें उन्होंने दोषके स्वरूपको लेकर रत्नकरण्डकश्रावकाचार और आप्तमीमांसाकारके अभिप्रायोंको भिन्न बतलाया है और कहा है कि 'रत्नकरण्डकमें जो दोषका स्वरूप समझाया गया है वह आप्तमीमांसाकारके अभिप्रायानुसार हो ही नहीं सकता।' इसका आधार आपने यह बतलाया है कि समन्तभद्रने आप्तमीमांसा (कारिका[2] ९३)में वीतराग मुनि (केवली) में सुख-दुःखकी वेदना स्वीकार की है। इसपर हम कहना चाहते हैं कि दोषके स्वरूपसम्बन्धमें रत्नकरण्डकार और आप्तमीमांसाकारका अभिप्राय भिन्न नहीं है—एक ही है, और न स्वामी समन्तभद्रने केवली भगवान्में सुख-दुःखकी वेदना स्वीकार की है। इसका खुलासा निम्न प्रकार है :—

रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लो० ५)में आप्तके लक्षणमें एक खास विशेषण 'उच्छिन्नदोष' दिया गया है और उसके द्वारा आप्तको दोषरहित बतलाया गया है। आगे दोषका स्वरूप समझानेके लिए निम्न श्लोक रचा गया है—

क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥६॥

इस श्लोकमें प्रायः उसी प्रकार क्षुधादि दोषोंको गिनाकर दोषका स्वरूप समझाया गया है, जिस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य (ईसाकी पहली शताब्दी) ने[3] नियमसारकी गाथा[4] नं. ६ में वर्णित किया है।

---

१. अनेकान्त वर्ष ५, किरण १०-११।

२. पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि। वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः॥

३. डा. ए. एन. उपाध्ये द्वारा सम्पादित प्रवचनसारकी भूमिका।

४. छुहतण्हभीरुरोसो रागो मोहो चिंता जरारुजामिच्चू।
स्वेदं खेदो मदो रइ विम्हियणिद्दा जणुव्वेगो॥

समन्तभद्रके पूरे अभिप्रायको जाननेके लिए क्यों आग्रह किया जाता है? और उसे ही दूसरे ग्रन्थकारके ऐसे उल्लेख उपस्थित किये जानेपर क्यों अवज्ञा की जाती है?

इसके साथ ही तीन हेतु-प्रमाणोंसे आप्तमीमांसामें भी उसकी कारिका देकर रत्नकरण्डोक्त दोषका स्वरूप प्रमाणित किया था। अब उन्होंने लिखा है कि 'जो ग्रन्थकार अपने एक ग्रन्थमें आप्तके गुणरूप लक्षण स्थापित करे और आप्तमीमांसा पर ही एक पूरा स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे, उससे स्वभावतः यह अपेक्षा की जाती है कि वह उस ग्रन्थमें उन्हीं लक्षणोंको व्यवस्थित मीमांसा करेगा।' मालूम होता है कि उन्होंने मेरे उन तीन हेतु-प्रमाणोंपर सर्वथा ही ध्यान नहीं दिया, जिनके द्वारा यह बतलाया गया है कि आप्तमीमांसा का. २ में दोषका लक्षण नहीं किया है जो रत्नकरण्डमें है। थोड़ी देरको यह मान भी लें कि आप्तमीमांसामें वह लक्षण स्पष्टतः नहीं है, तो यह जोर देना अनुचित है कि वह लक्षण भी उसमें स्पष्टतः ही होना चाहिए। इसके बारेमें आप्तपरीक्षा और उसकी आप्तपरीक्षालंकृति टीकाका हवाला भी दिया गया था, जहाँ मुख्यतः उक्त क्षुधादि दोषोंके अभावरूपसे आप्तका स्वरूप वर्णित नहीं किया गया है। फिर भी उससे यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता है कि उनके कर्ताको उक्त लक्षण इष्ट न होगा या उसे बाधित समझा होगा। किन्तु वह लक्षण फलित हो जानेसे वर्णनीय नहीं रहा। यही स्थिति आप्तमीमांसाके लिए है और इसलिए उन तीन विकल्पोंका कोई महत्त्व नहीं रहता, जो इस प्रसंगमें प्रस्तुत किये हैं क्योंकि आप्तमीमांसा और आप्तपरीक्षा दोनोंकी स्थिति एक है और दोनों ही ये दार्शनिक दृष्टिकोण मुख्यतः विवेचनीय है और आगमिक गौणतः। अतएव इस सम्बन्धमें और अधिक विवेचन अनावश्यक है। पूर्व लेखमें वह विस्तृत रूपसे किया जा चुका है।

क्षुधादिवेदनाएँ मोहनीयसहकृत वेदनीयजन्य कही गयी हैं :

पिछले लेखमें हमने क्षुधादि वेदनाओंको शास्त्रीय प्रमाणपूर्वक मोहनीयजन्य बतलाया है। यह हमने कहीं नहीं लिखा कि 'क्षुधादि वेदनाएँ सर्वथा मोहनीय-कर्मोत्पन्न हैं।' किन्तु प्रो. साहबको कुछ ऐसा भ्रम हुआ है कि मैं उन्हें सर्वथा मोहनीयकर्मोत्पन्न मानता हूँ। इसके लिए उन्होंने मेरे लेखके दो स्थलोंसे कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की हैं, जो अधूरे रूपमें उपस्थित की गयी हैं। वे पंक्तियाँ अपने पूरे रूपमें निम्न प्रकार हैं:—

'वास्तवमें आप्तमीमांसामें आप्तके राग, द्वेषादि दोष और आवरणोंका अभाव बतला देनेसे ही तज्जन्य क्षुधादि प्रवृत्तियों—लोकसाधारण दोषोंका अभाव सुतरां सिद्ध हो जाता है। उनके अभावको आप्तमें अलग बतलाना अमुख्य एवं अनावश्यक है।'

'तात्पर्य यह कि समन्तभद्रको आप्तमीमांसामें यथार्थ वक्तृत्व और उसके जनक वीतरागत्व तथा सर्वज्ञत्व रूपसे ही आप्तके स्वरूपका स्पष्टतः निर्वचन करना इष्ट है। क्षुधादि तुच्छ प्रवृत्तियोंके अभावकी सिद्धि तो आप्तमें मोहका अभाव हो जानेसे आनुषंगिक रूपमें स्वतः हो जाती है। अतः उसके साधनके लिए सीधा प्रयत्न या उपक्रम करना आवश्यक नहीं है। क्षुधादि प्रवृत्तियाँ वस्तुतः मोहनीय सहकृत

वेदनीयजन्य हैं। अतएव मोहनीयके बिना केवलीमें वेदनीय उन प्रवृत्तियोंको पैदा करनेमें सर्वथा असमर्थ है।'

मेरे इन पूरे वाक्योंपरसे प्रकट है कि मेरी मान्यता क्षुधादि वेदनाओंको केवल मोहनीय कर्मोत्पन्न माननेकी नहीं है। अपितु उन्हें मोहनीयसहकृत वेदनीयजन्य माननेकी है। वहाँ मोहनीयपर जो जोर दिया गया है, वह शास्त्रसम्मत है। यहाँ उसके समर्थक एक-दो शास्त्रीय प्रमाण भी प्रस्तुत हैं :—

मोहकर्मरिपौ नष्टे सर्वे दोषाश्च विद्रुताः।
छिन्नमूलतरोर्यद्वद् ध्वस्तं सैन्यमराजवत् ॥
नष्टं छद्मस्थविज्ञानं नष्टं केशादिवर्धनम्।
नष्टं देहमलं कृत्स्नं नष्टे घातिचतुष्टये ॥
नष्टाः क्षुत्तृड्भयस्वेदा नष्टं प्रत्येकबोधनम्।
नष्टं भूमिगतस्पर्शो नष्टं चेन्द्रियजं सुखम् ॥

—आप्तस्वरूप।

'यस्य हि क्षुदादिवेदनाप्रकर्षोदयस्तस्य तत्सहनात्परीषहजयो भवति। न च मोहोदयसहायानाभावे वेदनाप्रकर्षोऽस्ति, तदभावात्सहनवचनं भक्तिमात्रकृतम्।'

—तत्त्वार्थवार्तिक ९-१०।

इन उद्धरणोंमें मुख्यतः मोहनीयपर जोर दिया गया है, जो उसकी वेदनीयके लिये अनिवार्य सहायकताके रूपमें ही है और यही मेरा वहाँ अभिप्राय है। जहाँ क्षुधादिप्रवृत्तियोंके अभावको अतिशय बतलाया है और उन्हें घातिकर्मक्षयजन्य प्रतिपादित किया गया है वहाँ भी घातिकर्मोंकी वेदनीयमें अनिवार्य सहायकता वर्णित है। यथा—

'असद्वेद्योदयो घातिसहकारिव्यपायतः।
त्वय्यकिंचित्करो नाथ ! सामग्र्या हि फलोदयः ॥

—आदिपुराण २५ वाँ पर्व, श्लो. ४२।

'घातिकर्मोदयसहायाभावात् तत्सामर्थ्यविरहात्।'

—तत्त्वार्थवार्तिक ९-११।

अतएव हमने जो क्षुधादिवेदनाओंको मोहनीय या घातिकर्म सहकृत वेदनीय-जन्य बतलाया है वह संगत है।

केवल वेदनीयकर्म क्षुधादिवेदनाओंका जनक नहीं है :—

इस सन्दर्भमें प्रो. सा. ने दो बातोंपर विशेष जोर दिया है। एक तो यह कि वेदनीयकर्म फल देनेमें मोहनीय या घातिकर्मके अधीन नहीं है वह उनसे निरपेक्ष स्वतन्त्र फलदाता है। दूसरी यह कि शास्त्रज्ञोंने इन दोनों कर्मोंको विरोधी बतलाया है, अतः मोहनीय वेदनीयका सहकारी नहीं हो सकता? पहली बातके समर्थनमें आपने पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि (९-१६) और वीरसेन स्वामीकी धवला टीका (१, ९-१,७। १, ९-१, १८) गत कुछ पंक्तियोंको उद्धृत किया है। पर प्रो. सा. यह भूल जाते हैं कि ये दोनों ही आचार्य वेदनीयको फल देनेमें मोहनीय या घातिकर्माधीन ही मानते हैं। जैसा कि उनके निम्न उद्धरणोंसे स्पष्ट है :—

यदि घातिकर्मके नष्ट हो जानेपर भी वेदनीय कर्म दुःख उत्पन्न करता है तो केवलीको भूख और प्यासकी बाधा होनी चाहिये। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि भूख और प्यासमें भातविषयक और जलविषयक तृष्णाके होनेपर केवली भगवान्‌को मोहीपनेकी आपत्ति प्राप्त होती है।

यदि कहा जाय कि केवली तृष्णासे भोजन नहीं करते हैं किन्तु रत्नत्रयके लिये भोजन करते हैं, तो ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि वे पर्ण आत्मस्वरूपको प्राप्त कर चुके है, अत एव यह कहना कि वे रत्नत्रय (ज्ञान, संयम और ध्यान) के लिये भोजन करते हैं, सम्भव नहीं है। वह इस प्रकारसे है—केवली जिन ज्ञानकी प्राप्तिके लिये तो भोजन करते नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने केवलज्ञानको प्राप्त कर लिया है और केवलज्ञानसे बड़ा कोई दूसरा ज्ञान प्राप्त करने योग्य है नहीं, जिसके प्राप्त करनेके लिये वे भोजन करें। संयमके लिये भी वे भोजन नहीं करते, क्योंकि यथाख्यात संयम, जो सबसे बड़ा और अन्तिम है, उन्हें प्राप्त है। ध्यानके लिए वे भोजन करते हैं, यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि उन्होंने सब पदार्थोंको जान लिया है, इसलिए उनके ध्यान करने योग्य कोई पदार्थ ही नहीं रहा है। अतएव भोजन करनेका कोई कारण नहीं रहनेसे केवली जिन भोजन नहीं करते हैं, यह सिद्ध हो जाता है।

दूसरी बात यह है कि यदि केवली भोजन करते हैं तो वे संसारी जीवोंके समान ही बल, आयु, स्वाद, शरीरकी वृद्धि, तेज और सुखके लिए ही भोजन करते हैं, ऐसा समझा जायगा, परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि वे मोहयुक्त हो जायेंगे और ऐसी हालतमें उनके केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी।

यदि कहा जाय कि अकेवली पुरुषोंके वचन ही आगम हैं, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर राग, द्वेष और मोहसे कलंकित उनमें हरिहरादिकी तरह सत्यताका अभाव हो जायगा और सत्यताके अभाव हो जानेपर आगमका अभाव हो जायगा और आगमका अभाव हो जानेपर रत्नत्रयकी प्रवृत्ति नहीं बन सकेगी, जिससे तीर्थका विच्छेद ही हो जायगा। परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि निर्बाध बोधके द्वारा ज्ञान तीर्थकी उपलब्धि बराबर होती है। अतएव यह सिद्ध हुआ कि घातिकर्मोंकी अपेक्षाके बिना वेदनीय कर्म अपने फलको नहीं देता है।'

वीरसेन स्वामीके इस युक्तिपूर्ण विशद विवेचनसे प्रकट है कि वेदनीयको मोहनीय एवं घातिकर्म निरपेक्ष फल देनेवाला जो वीरसेन स्वामीके वचनोंसे प्रमाणित करनेका प्रयत्न किया गया है वह सर्वथा भ्रान्त है और उनकी विभिन्न स्थलीय विवक्षाओंको न समझने एवं उनका समन्वय न कर सकनेका ही वह परिणाम है।

इसी प्रकारकी भूल उन्होंने अपनी दूसरी बात (वेदनीय और मोहनीयके पारस्परिक विरोध) के समर्थनमें की है। आप लिखते हैं—'परन्तु कर्मसिद्धान्तके शास्त्रज्ञोंको वैसा इष्ट नहीं है, और वे मोहनीयको वेदनीयका सहचारी न मानकर उसका विरोधी ही बतलाते हैं। उदाहरणार्थ, तत्त्वार्थसूत्र ८, ४ की टीकामें कर्मोंके नामनिर्देशक्रमकी सार्थकता बतलाते हुए राजवार्तिककार ज्ञानावरण और दर्शनावरणका साहचर्य प्रकट करके कहते हैं।' आगे राजवार्तिककी कुछ पंक्तियाँ उद्धृत

न्धका कारण मानते हैं और अपने शरीरको आराम पहुँचानेमें पापबन्ध मानते हैं। नको कहा गया है कि केवल दुःखसे पुण्य और केवल सुखसे पापका बन्ध नहीं होता, न्यथा वीतराग एवं विद्वान् मुनि भी पुण्य-पापसे युक्त माने जायेंगे, पर ऐसा नहीं । जैन सिद्धान्तमें संक्लेशादि युक्त दुःख-सुखको ही पुण्य-पापबन्धका कारण स्वीकार कया गया है और इसलिए केशोत्पाटनादिमें वे संक्लेशादिका अनुभव नहीं करते हैं। सा कि स्वयं आप्तमीमांसाकारकी निम्न ९५वीं कारिकासे स्पष्ट है।

> विशुद्धि-संक्लेशाङ्गं चेत् स्वपरस्थं सुखासुखम्।
> पुण्य-पापास्रवो युक्तो न चेद्व्यर्थस्तवार्हतः ॥

आप्तमीमांसाकारके अनुवर्ती आचार्य पूज्यपादके उस सर्वार्थसिद्धिगत महत्त्वपूर्ण तिपादनसे भी हमारे उक्त कथनका समर्थन होता है, जो उन्होंने असद्वेद्यकर्मास्रव-र्णनके प्रसंगमें किया है और जो निम्न प्रकार है:—

"अत्र चोद्यते—यदि दुःखादीन्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यास्रवनिमित्तानि, कमर्थमार्हतैः केशलुञ्चनानशनातपस्थानादीनि दुःखनिमित्तान्यास्थीयन्ते परेषु च निपाद्यन्ते इति; नैव दोषः; अन्तरंगक्रोधाद्यावेशपूर्वकाणि दुःखादीन्यसद्वेद्यास्रव-निमित्तानि, इति विशिष्योक्तत्वात्। यथा कस्यचिद्भिषजः परमकरुणाशयस्य निःशल्यस्य संयतस्योपरि गण्डं पाटयतो दुःखहेतुत्वे सत्यपि न पापबन्धो बाह्यनिमित्त-मात्रादेव भवति। एवं संसार-विषयमहादुःखादुद्विग्नस्य भिक्षोस्तन्निवृत्त्युपायं प्रति समाहितमनस्कस्य शास्त्रविहिते कर्मणि प्रवर्तमानस्य संक्लेशपरिणामाभावात् दुःख-निमित्तत्वे सत्यपि न पापबन्धः।

> उक्तञ्च—न दुःखं न सुखं यद्वद्धेतुर्दृष्टश्चिकित्सिते।
> चिकित्सायां तु युक्तस्य स्यात् दुःखमथवा सुखम् ॥
> न दुःखं न सुखं तद्वद्धेतुर्मोक्षस्य साधने।
> मोक्षोपाये तु युक्तस्य स्यात् दुःखमथवा सुखम् ॥२॥"

अतः आप्तमीमांसाकारको आप्तमीमांसाकी उक्त कारिकामें केवल दुःख-सुखसे पुण्य-पापका बन्ध नहीं होता, यह दिखाना है और उसे दिखाकर पूर्वपक्षीके एकान्त मतको छुड़ाना है तथा छुड़ाया भी गया है। जिस आपत्ति (बन्धकत्व) के कारण प्रो. सा. 'वीतरागो मुनिर्विद्वान्'से छठे आदि गुणस्थानवर्ती मुनिका ग्रहण नहीं कर रहे—उसके ग्रहण करनेमें हिचकिचा रहे हैं वही आपत्ति (बन्धकत्व) उसका केवली अर्थ करनेमें भी मौजूद है। इसलिए पहले जो हम कह आये हैं कि पूर्वपक्षी प्रमाद और कषाय (अथवा योग) को बन्धका कारण न मानकर केवल एकान्ततः दुःखोत्पत्ति और सुखोत्पत्तिको ही कर्म-बन्धका कारण कहना चाहता है और उसके इस कथनमें ही उक्त दोष दिये गये हैं, वही युक्त है—उसमें कोई भी बाधा नहीं है। अतः कारिकागत 'वीतरागो मुनिर्विद्वान्' पदोंसे छठे गुणस्थानवर्ती मुनि (साधु और उपाध्याय परमेष्ठी) का ही ग्रहण करना आप्तमीमांसाकारको इष्ट है। जैसा कि विद्यानन्दके अष्टसहस्रीगत व्याख्यानसे स्पष्ट है।

आपने अज्ञानसे मलोत्पत्ति कही है? यह प्रश्न नहीं है कि अज्ञान स्वयं मल है ? क्योंकि उसे मल होनेमे विवाद ही नहीं है और इसलिए उसे मल सिद्ध करनेके (जो आप्तमीमांसाकार आदिके वाक्योंको उपस्थित किया गया है वह सर्वथा र्थक है। आपको तो अज्ञानसे मलोत्पत्तिकी अपनी बातको साबित करनेवाले ण उपस्थित करना चाहिए था, पर उन्हें उपस्थित न कर इधर-उधर दौड़ना मानी नहीं है। बुद्धिमानी तो इसमे है कि जो अज्ञानसे मलोत्पत्तिकी बात कही है वह भूलसे कही गयी है, इस प्रकारसे अपनी भूल स्वीकार कर ली जाय, के एक भूलको पुष्टिके लिए नई और अनेकों भूलें की जाये। इससे यह पाठकोंपर कुल स्पष्ट हो जाता है कि प्रो. सा. ने अज्ञानसे मलोत्पत्ति स्पष्टतः कही है।

(२) जब अज्ञानसे मलोत्पत्ति कही है तो उससे प्रकट है कि उन्होंने सैद्धान्तिक की है क्योंकि सिद्धान्तमें बिना मोहके अज्ञानको मलोत्पत्तिका जनक नहीं माना और इसलिए यह भूल मैंने उसके सिर जबर्दस्ती नहीं मढ़ी—उन्होने उसे स्वयं की, लिए वह उनके सिर मढ़ी गयी।

(३) और जब उनको यह सैद्धान्तिक भूल है; तो उसे बतलाना क्या अनुचित हीन प्रवृत्ति है? महापुरुषोंका लक्षण यह है कि वे प्रायः भूल नहीं करते और यदि चित् हो जावे, तो मालूम पड़ने पर उसे तुरन्त स्वीकार करके प्रायश्चित्त ले ते हैं।

रिकाके वीतराग और विद्वान् पद :

हमने यह कहा था कि 'कारिकामें जो वीतरागो मुनिर्विद्वान्' शब्दका प्रयोग है एक पद नहीं है और न एक व्यक्ति उसका वाच्य है किन्तु ९२वीं कारिकामें आये 'अचेतनाकषायौ' की तरह इसका प्रयोग है और उसके द्वारा 'वीतरागमुनि' तथा द्वान्मुनि' इन दोका बोध कराया गया है। आचार्य विद्यानन्दने तो 'वीतरागो द्वांश्च मुनिः' कहकर और 'च' शब्दका साथमें प्रयोग करके इस बातको बिल्कुल ष्ट कर दिया है।' इसपर प्रो. सा. का कहना है कि 'वीतराग और विद्वान् गुण स्पर विरोधी भी नहीं हैं जो एक व्यक्तिमें न पाये जाते हों। इस कारिकामें क्रिया एकवचन है। तब फिर यहाँ वीतराग और विद्वान् दोनोके विशेष्य दो अलग-ग मुनि माननेकी क्या सार्थकता है और उसके लिए कारिकामें क्या आधार है?'

इसपर हमारा निवेदन है कि यद्यपि वीतरागता और विद्वत्ता ये दो गुण स्पर विरोधी नहीं हैं, पर यदि वक्ताकी उन दो गुणोंसे दो व्यक्तियोंका बोध रानेकी विवक्षा हो, तो उसे कौन रोक सकता है? आचार्य, उपाध्याय और साधु तीन परमेष्ठियोंमें भी तो कोई मौलिक भेद नहीं है। साधुके अट्ठाईस मूलगुण क्या पाध्याय और आचार्य नही पालते? अथवा उपाध्यायके स्वाध्यायका काम आचार्य र साधु नही करते? या आचार्यके पंचाचारादिका पालन उपाध्याय और साधु ही करते? यदि करते हैं, तो ये जुदे-जुदे तीन परमेष्ठी फिर क्यों कहे गये? अरहन्त र सिद्ध इन दोके सिवाय एक साधु परमेष्ठीका ही सिद्धान्तमे बतलाना उचित था र इस तरह पाँच परमेष्ठी न कहे जाकर तीन ही परमेष्ठी कहे जाना उपयुक्त था, किन ऐसा नहीं है। वास्तवमें बात यह है कि ये तीन परमेष्ठी अपनी-अपनी मुख्य

प्रकृतने क्या अपराध किया ? 'देवदत्तः, जिनदत्तः, गुरुदत्तः भोज्यताम्' अथवा 'चैत्रः मैत्रश्च स्वकार्यं कुर्यात्' इत्यादि वाक्योंको किसने पढ़ा और सुना नहीं है ?

इससे साफ है कि एकवचनकी क्रिया सविभक्तिक अनेक कर्ताओंके लिए भी आती है। दूसरे, यदि उक्त पदसे केवल एक केवली व्यक्ति ही ग्रन्थकारको विवक्षित होता, तो उसी केवली पदके रखनेमें उन्हें क्या बाधा थी ? केवली अर्थके बोधक गुरुभूत 'वीतरागो मुनिर्विद्वान्' पदकी अपेक्षा 'केवली' पद तो लघु ही था। अतः इन सब बातों तथा उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट है कि कारिकामें 'वीतरागो मुनिर्विद्वान्' शब्दोंसे अलग-अलग साधु और उपाध्याय मुनिरूप दो व्यक्ति ही विवक्षित हैं।

केवलीमें सुख-दुःखकी वेदनाएँ सिद्धान्तसम्मत नहीं हैं :

केवलीमें सुख-दुःखकी वेदनाएँ माननेपर मैंने आपत्ति दी थी और लिखा था कि 'केवलीके सुख-दुःखकी वेदना माननेपर उनके अनन्त सुख नहीं बन सकता, जिसे स्वयं आप्तमीमांसाकारने भी 'शर्म शाश्वतमवाप शङ्करः' शब्दों द्वारा स्वीकार किया है; क्योंकि सजातीय-व्याप्यवृत्ति दो गुण एक साथ एक जगह नहीं रह सकते।'

प्रो सा. ने मेरी इस आपत्तिको 'आशंका'[1] कहकर उसमेंसे पहली पंक्तिको ही उद्धृत किया है और उसका कुछ उत्तर दिया है। पर मेरे उक्त हेतुका उन्होंने न खण्डन किया है और न उसका उत्तर ही दिया है, क्योंकि उक्त हेतुका उनके पास कोई खण्डन ही नहीं है और इसीलिए वे मेरे द्वारा उसका समाधान करनेकी बार-बार प्रेरणा करनेपर भी उसे छोड़ते आ रहे हैं। वास्तवमें सुख व्याप्यवृत्ति गुण है—प्रादेशिक नहीं है, इसलिए केवलीमें जब शाश्वत 'अकर्मज अतीन्द्रिय' सुख हो चुका है तो फिर उसके साथ साता-असाताजन्य सुख-दुःख कदापि नहीं हो सकते, यह एक निर्णीत तथ्य है, जिसे प्रो. सा. नहीं मान रहे और उसकी उपेक्षा करते जा रहे हैं।

अब हम उनके उत्तरको भी देखें, जो उन्होंने मेरी पहली साध्यरूप पंक्तिका दिया है। आप लिखते हैं कि 'यदि ऐसा होता तो फिर कर्मसिद्धान्तमें केवलीके साता और असाता वेदनीयकर्मका उदय माना ही क्यों जाता ? और यदि सुख-दुःखकी वेदनामात्रसे किसी जीवके गुणका घात होता, तो वेदनीयकर्म अघातिया क्यों माना जाता ?' क्यों सा., यदि अग्निसे कभी धूम उत्पन्न नहीं होता और कोई अग्निसे सदैव धूम माननेपर यह आपत्ति करे कि यदि अग्निसे सदैव धूमोत्पत्ति मानी जायगी तो अग्निसे कादाचित्क धूमोत्पत्ति नहीं हो सकेगी, तो क्या उसका परिहार यह किया जायेगा कि यदि ऐसा न होता तो अग्निको धूमका कारण माना ही क्यों जाता ? नहीं, क्योंकि यद्यपि अग्नि धूमका कारण है, पर आर्द्रेन्धनसंयुक्त होकर ही वह धूमको उत्पन्न करती है। दूसरे, कारणके लिए यह आवश्यक ही नहीं है कि वह कार्योत्पत्ति नियमसे करे ही—करे, न करे। हाँ, कार्य कारणपूर्वक ही होता है। अतएव यह कहा भी

---

१. आपत्ति और आशंकाको एक कहना ठीक नहीं है क्योंकि आपत्ति दोषापादनको और आशंका प्रश्नको कहते हैं, जो दोनों अलग-अलग हैं।

[षष्ठ लेख]

प्रो. सा. का विक्षोभ :

हमने अपने पिछले लेखोंमें वादिराजके पार्श्वनाथचरितका रत्नकरण्डक-सम्बन्धी उल्लेख विवेचन-सहित उपस्थित किया था और उसके द्वारा यह प्रमाणित किया था कि रत्नकरण्डक पार्श्वनाथचरितके रचनाकाल (वि. सं. १०८२) से बहुत पहलेकी रचना है और उसका कर्त्ता उसमें 'योगीन्द्र' उपाधि द्वारा स्वामी समन्तभद्र (आप्तमीमांसाकार) को बतलाया है। इसपर प्रो. सा. अपने उत्तर-लेखमें बहुत ही क्षुब्ध हो उठे हैं। मेरे प्रमाण-युक्त कथनका उत्तर न देकर मात्र अपना रोष व्यक्त किया है। पर हम उसका विचार न करके उनके लेखकी शेष बातोंपर विमर्श करेंगे और इसके बाद अपनी प्रस्तुत चर्चाको समाप्त कर देंगे।

पार्श्वनाथचरितके उल्लेखपर विस्तृत विचार :

आचार्य वादिराजने पार्श्वनाथचरितमें अपने पूर्ववर्ती गृध्रपिच्छादि अनेक प्रसिद्ध आचार्यों और उनकी कुछ खास कृतियोंका पद्य नं. १६ से ३० तक उल्लेख किया है। इन पद्योंमें 'देव' और 'योगीन्द्र' के उल्लेखोंको छोड़कर शेष उल्लेख तो प्रायः स्पष्ट हैं और इसलिए उनमें कोई विवाद नहीं है। परन्तु 'देव' और 'योगीन्द्र' के दो उल्लेख ऐसे हैं, जिनके वाच्यार्थमें विवाद है। जैन साहित्य और इतिहासके प्रसिद्ध विद्वान् पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार उनका वाच्यार्थ स्वामी समन्तभद्र (देवागमकार) को मानते हैं और अपनी इस मान्यताके समर्थनमें वे प्रमाण देते हुए कहते हैं कि 'समन्तभद्रके साथ 'देव' उपपद भी जुड़ा हुआ पाया जाता है, जिसका एक उदाहरण देवागमकी वसुनन्दिवृत्तिके अन्त्यमङ्गलका निम्न पद्य है :—

समन्तभद्रदेवाय परमार्थविकल्पिने।
समन्तभद्रदेवाय नमोऽस्तु परमात्मने॥

और इसलिये उक्त (पार्श्वनाथचरितके) मध्यवर्ती (१८वें) श्लोकमें प्रयुक्त हुए 'देव' पदके वाच्य समन्तभद्र भी हो सकते हैं, इसमें कोई बाधा नहीं है।

ब्रह्म नेमिदत्तने अपने 'आराधनाकथाकोश' में समन्तभद्रकी कथाका वर्णन करते हुए, जब योगि-चमत्कारके अनन्तर समन्तभद्रके मुखसे उनके परिचयके दो पद्य कहलाए हैं तब उन्हें स्पष्ट शब्दोंमें 'योगीन्द्र' लिखा है[2], जैसा कि निम्न वाक्यसे प्रकट है—

'स्फुटं काव्यद्वयं चेति योगीन्द्रः समुवाच सः।'

ब्रह्म नेमिदत्तका यह कथाकोश आचार्य प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशके आधारपर निर्मित हुआ है, और इसलिए स्वामी समन्तभद्रका इतिहास लिखते समय दो वर्ष हुए का उक्त गद्यकथाकोशपरसे ब्रह्म नेमिदत्त वर्णित कथाका मिलान करके 'योगीन्द्र'

---

१. अनेकान्त, वर्ष ८, किरण १०-११ ([illegible])।
२. इसके अलावा इस कथाके और भी अनेक जगह 'योगीन्द्र' पदका प्रयोग हुआ है।

नोटकर भेजनेकी प्रेरणा की थी। तदनुसार उन्होंने मिलान करके मुझे जो पत्र लिखा था उसका तुलनात्मक वाक्योंके साथ उल्लेख मैंने एक फुटनोटमें उक्त इतिहासके पृ. १०५, १०६ पर कर दिया था। उसपरसे मालूम होता है कि—"दोनों कथाओंमें कोई विशेष फर्क नहीं है। नेमिदत्तकी कथा प्रभाचन्द्रकी गद्यकथाका प्रायः पूर्ण अनुवाद है।" और जो साधारण-सा फर्क है वह उक्त फुटनोटमें पत्रकी पंक्तियोंके उद्धरण द्वारा व्यक्त है। अतः उसपरसे यह कहनेमें कोई आपत्ति मालूम नहीं होती कि प्रभाचन्द्रने भी अपने गद्यकथाकोशमें स्वामी समन्तभद्रको 'योगीन्द्र' रूपमें उल्लेखित किया है। चूँकि प्रेमीजीके कथनानुसार ये गद्यकथाकोशके कर्ता प्रभाचन्द्र भी वे ही प्रभाचन्द्र हैं जो प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और 'रत्नकरण्डकश्रावकाचार' की टीका-के कर्ता हैं। अतः स्वामी समन्तभद्रके लिये 'योगीन्द्र' विशेषणके प्रयोगका अनुसंधान प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी रचनाके समय अथवा वादिराजसूरिके पार्श्वनाथचरितकी रचनासे कुछ पहले तक पहुँच जाता है[1]।'

मुख्तार सा. के इस सप्रमाण कथनसे अपनी सहमति प्रकट करते हुए हमने पिछले (द्वितीय) लेखमें लिखा था—

'मुख्तार साहबका यह प्रमाणसहित किया गया कथन जो को लगता है और अब यदि इन तीनों श्लोकोंके[2] यथास्थित आधारसे भी यह कहा जाय कि वादिराज देवागम और रत्नकरण्डकका एक ही कर्ता—स्वामी समन्तभद्रको मानते थे, तो कोई बाधा नहीं है—दो श्लोकोंके मध्यका व्यवधान भी अब नहीं रहता।'

इसपर प्रो. सा. लिखते हैं—'किन्तु मेरा पण्डितजीसे कहना है कि उक्त बात उनके जी को भले ही लगे, परन्तु बुद्धि और विवेकसे काम लेनेपर आपका निर्णय बहुत कच्चा सिद्ध होता है। पार्श्वनाथचरितके जिस मध्यवर्ती श्लोकमें देवकृत शब्दशास्त्रका उल्लेख आया है उसे समन्तभद्रपरक मान लेनेमें केवल वसुनन्दि-वृत्तिका 'समन्तभद्रदेव' मात्र उल्लेख पर्याप्त प्रमाण नहीं है। एक तो यह उल्लेख अपेक्षाकृत बहुत पीछेका है। दूसरे, उक्त वृत्तिके अन्त्य मंगलमें जो वह पद दो बार आ गया है उससे यह सिद्ध नहीं होता कि स्वामी समन्तभद्र 'देव' उपनामसे भी साहित्यिकोंमें प्रसिद्ध थे। वहाँ तो उस पदको दो बार प्रयुक्त कर यमक और परमात्मदेवके साथ श्लेषका कुछ चमत्कार दिखलानेका प्रयत्न किया गया है। तीसरे, समन्तभद्रको उक्त 'देव' का वाच्य बना लेनेपर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि उस श्लोकमें वादिराजने उनके कौनसे शब्दशास्त्रका संकेत किया है?'

आगे चलकर 'योगीन्द्र' के सम्बन्धमें आप कहते हैं—"मुख्तार सा. तथा न्यायाचार्यजीने जिस आधारपर 'योगीन्द्र' शब्दका उल्लेख प्रभाचन्द्रकृत स्वीकार कर लिया है वह भी बहुत कच्चा है। उन्होंने जो कुछ उसके लिए प्रमाण दिये हैं उनसे जान पड़ता है कि उक्त दोनों विद्वानोंमेंसे किसी एकने भी अभी तक न प्रभा-चन्द्रका कथाकोश स्वयं देखा है और न कहीं यह स्पष्ट पढ़ा या किसीसे सुना कि

---

१. अनेकान्त, वर्ष ७, किरण ५-६।

२. पार्श्वनाथचरित, सर्ग १, श्लोक १७, १८, १९।

प्रभाचन्द्रके कथाकोशमें समन्तभद्रके लिए 'योगीन्द्र' शब्द आया है
कोई बीस वर्ष पूर्व यह लिख भेजा था कि 'दोनों कथाओंमें कोई
नेमिदत्तकी कथा प्रभाचन्द्रकी गद्यकथाका प्रायः पूर्ण अनुवाद है।'
आज उक्त दोनों विद्वानोंको यह कहनेमें कोई आपत्ति मालू
प्रभाचन्द्रने भी अपने गद्यकथाकोशमें स्वामी समन्तभद्रको 'योगीन्द्र
किया है।"

'देव' और 'योगीन्द्र' पदपर विचार :

प्रो. सा. की उक्त दोनों बातोंपर हम यहाँ कुछ विचार

(क) सबसे पहले हम उनकी 'देव' शब्दवाली पहली बात
शब्दका 'समन्तभद्रदेव' अर्थ करनेमें आप केवल वसुनन्दिवृत्ति
उल्लेखको पर्याप्त प्रमाण नहीं मानते। इसमें आपने जो तीन हेतु दि
हेतु तो बहुत ही कमजोर और बेदम है, क्योंकि किसी उल्लेखके
होनेसे ही उसकी प्रामाणिकता नष्ट नहीं होती और पूर्ववर्ती होनेसे
णिकता नहीं आती। प्रामाणिकताके लिए तो विरोधादि दोषोंका
आवश्यक है और वसुनन्दिके उक्त उल्लेखमें विरोधादि कोई दोष न
उस उल्लेखपर अस्वरस एवं सन्देह व्यक्त करना उचित नहीं है।
उक्त उल्लेखको वादिराजके पार्श्वनाथचरितसे पीछेका बतलाना
जैन साहित्य और इतिहासके दो महान् विद्वानों—प्रेमीजी[1] और
वसुनन्दिका समय विक्रमकी ११वीं शताब्दी अनुमानित किया है; क्यो
(सुभाषितरत्नसं.) के आचार्य अमितगतिने अपनी संस्कृत भगवती
(श्लोक २२७१) में अपनी आराधनाको वसुनन्दि योगीसे महित (
है और इन वसुनन्दि योगी तथा देवागमवृत्तिके कर्ता वसुनन्दिको प्रेमी
सा. ने अभिन्न सम्भावित किया है और इसलिए देवागमवृत्तिकार वसु
(वि. सं. १०५०, ई. ९९३) के समकालीन सिद्ध होते हैं। ऐसी ह
(वि. सं. १०५०) के उक्त उल्लेखको, जो वादिराजके पार्श्वनाथ
१०८२) से पूर्वका है, वादिराज (वि. १०८२) के पीछे ढकेलना अ

(ख) दूसरा हेतु भी सर्वथा अयुक्त एवं असिद्ध है, क्योंकि स
साहित्यिकोंमें 'देव' उपनामसे भी प्रसिद्ध रहे हैं। इसके लिए मैं व
उल्लेखके अलावा पाँच उल्लेखोंको और यहाँ उपस्थित करता हूँ :—

(१) पं. आशाधरजीने सागारधर्मामृत-टीका (पृ. ८२) में स
'देव' पदका उल्लेख निम्न प्रकार किया है:—

"एतेन यदुक्तं स्वामिसमन्तभद्रदेवैः- 'दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्य
प्रतिमालक्षणं तदपि संगृहीतम्...।"

---

१. 'जैन साहित्य और इतिहास'—पृष्ठ ४६३।
२. पुरातन जैन वाक्य-सूची, प्रस्तावना

ही उसमें प्रमाण है; अपितु उपर्युक्त विवेचन तथा पं० आशाधरजी, आचार्य जयसेन, नरेन्द्रसेन, चामुण्डराय आदिके सुस्पष्ट अन्य उल्लेख भी उसमें प्रमाण हैं।

यह दूसरी बात है कि जैन साहित्यमें 'देव' पदसे देवनन्दि पूज्यपादका भी एक दो जगह उल्लेख किया गया है, परन्तु 'जैनेन्द्र' व्याकरणका स्पष्ट नामोल्लेख साथमें न होनेके कारण यह कहना कि वादिराजने 'देव' पदसे उन्हींका उल्लेख पार्श्वनाथचरितमें किया है, निर्बाध प्रतीत नहीं होता; क्योंकि वादिराजने प्रमाण-निर्णय और न्यायविनिश्चयविवरणमें 'देव' पदका प्रयोग अकलंकदेवके लिए भी अनेक जगह किया है और इसलिए बिना साधकप्रमाणके उक्त 'देव' पदका वाच्य देवनन्दि (पूज्यपाद) को नहीं बतलाया जा सकता है। हाँ, यह प्रश्न हो सकता है कि फिर पार्श्वनाथचरितमें देवनन्दिका उल्लेख किस पद द्वारा ज्ञात किया जाय? इसका उत्तर यह है कि किसी ग्रन्थकारके लिए यह जरूरी नहीं है कि उसे अपने पूर्ववर्ती समस्त आचार्योंका उल्लेख करना ही चाहिए। यह तो ग्रन्थकारकी इच्छापर निर्भर है। अतः वादिराजने 'देव' पदके द्वारा स्वामी समन्तभद्रका ही उल्लेख किया है; क्योंकि कारिका १७-१८ के दोनों पद्य उन्हींसे सम्बन्धित हैं और यह अन्य प्रमाणोंसे सिद्ध है तथा एकसे ज्यादा—दो और तीन आदि पद्योंमें किसी आचार्यविशेषका स्मरण करना अद्भुत एवं अनौचित्य भी नहीं है। आचार्य जिनसेनने आदिपुराणमें वीरसेनका, कवि हस्तिमल्लने विक्रान्तकौरवमें और अय्यार्यने अपने जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदयमें स्वामी समन्तभद्रका एकसे अधिक पद्योंमें स्मरण तथा यशोगान किया है। अतः प्रो० सा० का 'देव' पद-सम्बन्धी उक्त कथन बहुत ही शिथिल और गम्भीर विचारसे शून्य प्रमाणित होता है।

(२) अब हम उनकी 'योगीन्द्र' पदवाली दूसरी बातको भी लेते हैं। उसमें निम्न दो बातें विचारणीय हैं—

(क) एक तो यह कि हमने और मुख्तार सा० ने जिस आधारसे 'योगीन्द्र' शब्दका उल्लेख प्रमाचन्द्रकृत गद्य-कथाकोश-गत स्वीकार किया है वह आधार प्रमाणभूत एवं विश्वसनीय है अथवा नहीं?

(ख) दूसरी यह कि प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशमें उक्त उल्लेख वस्तुतः मौजूद है या नहीं?

(क) पहली बातके सम्बन्धमें मेरा निवेदन है कि प्रेमीजी जब स्वयं नेमिदत्त-की कथाको प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशपरसे स्वयं—दूसरोंके द्वारा भी नहीं—मिलान करके पूर्ण असन्दिग्ध शब्दोंमें यह लिखें कि—"दोनों कथाओंमें कोई विशेष फर्क नहीं है, नेमिदत्तकी कथा प्रभाचन्द्रकी गद्यकथाका प्रायः पूर्ण अनुवाद है।" तो उनके कथनको प्रमाणभूत एवं विश्वसनीय कैसे नहीं माना जा सकता है? हम नहीं समझते कि प्रो० सा० बिना किसी विरोध-प्रदर्शनके प्रेमीजीके उक्त लेखको क्यों अप्रमाण, अविश्वसनीय अथवा सन्दिग्ध प्रकट कर रहे हैं? केवल यह लेख बीस वर्ष पुराना हो जानेसे ही अप्रमाण एवं अविश्वसनीय और सन्देहका कारण नहीं बन सकता है। अन्यथा कोई भी पुराना लेख अथवा ग्रन्थ प्रमाण और विश्वसनीय नहीं हो सकेगा। मान लीजिये कि उक्त प्रभाचन्द्रका गद्यकथाकोश हमने अथवा मुख्तार सा० ने स्वयं

(२) 'भो योगीन्द्र ! कुरु देवस्य नमस्कारं...'—पत्र ११ उ. पं. ४।

ऐसी दशामें प्रो. सा. के उक्त कथनका कुछ भी महत्त्व नहीं रहता। अतः द्र भलीभाँति प्रमाणित है कि प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशमें स्वामी समन्तभद्रके लिए गोगीन्द्र' पदका प्रयोग हुआ है और इसलिए मुख्तार सा. के पूर्वोक्त प्रतिपादन और मारे उसके समर्थनमें जरा भी सन्देहके लिए स्थान नहीं है।

ादिराज और प्रभाचन्द्र प्रायः समकालीन हैं :

प्रो. सा. ने आगे चलकर अपने इसी लेखमें वादिराजसे प्रभाचन्द्रको उत्तरकालीन बतलाया है और पार्श्वनाथचरित तथा रत्नकरण्डटीकामें तीस-पैंतीस र्षका अन्तर प्रकट किया है। जहाँ तक इन रचनाओंके पौर्वापर्यका प्रश्न है उसे हम ान सकते हैं, पर यह तथ्य भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि 'योगीन्द्र' दका प्रयोग करने वाले ये दोनों ही आचार्य प्रायः समकालीन हैं—आचार्य ादिराज प्रो. सा. के मतानुसार ही धारानरेश भोजदेव (वि. सं. १०७५-१११०) ो पराजित करने वाले चालुक्यवंशी जयसिंह (वि. सं. १०८०) के समयमें हुए हैं ौर उन्होंने अपना पार्श्वनाथचरित वि. सं. १०८२ में रचा है तथा शेष रचनाएँ ागे पीछे रची होंगी। और प्रभाचन्द्र उक्त धारानरेश भोजदेव एवं उनके उत्तराधिकारी परमारवंशी जयसिंह (वि. सं. १११२) दोनों के राज्यकालमें हुए हैं तथा अपनी रचनाएँ इन्हींके राज्य-समयमें बनायी हैं। अतः ये दोनों आचार्य प्रायः समकालिक हैं—यदि दस-बीस वर्षका अन्तर भी हो, तो उससे दोनोंके 'योगीन्द्र' पदके उल्लेखोंपर कोई असर नहीं पड़ता। और इसलिए प्रभाचन्द्र जिन पूर्व-आचार्य-अनुश्रुति आदि प्रमाणोंके आधारपर उक्त 'योगीन्द्र' पदका उल्लेख अपने गद्यकथाकोशमें स्वामी समन्तभद्रके लिए करते हैं और रत्नकरण्डकको, उसकी अपनी रत्नकरण्डक-टीकामें, 'योगीन्द्र' उपनाम विशिष्ट स्वामी समन्तभद्रकी रचना बतलाते हैं, तो उनके समकालीन वादिराज भी अपने पार्श्वनाथचरितमें उन्हीं पूर्व आचार्य-अनुश्रुति आदि प्रमाणोंके आधारपर 'योगीन्द्र' पदका प्रयोग स्वामी समन्तभद्रके लिए करें और उसके द्वारा रत्नकरण्डकको उनकी कृति बतलायें, तो कोई आश्चर्य नहीं है। इससे स्पष्ट है कि प्रभाचन्द्रकी तरह वादिराजने भी 'योगीन्द्र' पदका प्रयोग स्वामी समन्तभद्रके लिए ही किया है—अन्यके लिए नहीं।

यदि प्रो. सा. का यही आग्रह अथवा मत हो कि वादिराजको उक्त 'योगीन्द्र' पदसे आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्रसे भिन्न दूसरा ही व्यक्ति रत्नकरण्डकका कर्ता विवक्षित है, जिनकी 'योगीन्द्र' उपाधि थी और समन्तभद्र कहलाते थे तथा जो रत्नमालाकार शिवकोटिके गुरु थे, तो मेरा उनसे अनुरोध है कि वे ऐसे व्यक्तिका जैन साहित्यमें अस्तित्व दिखलावें। मैं इस बारेमें पहले भी उनसे अनुरोध कर चुका हूँ और 'योगीन्द्र' उपनामके धारक कतिपय विद्वानोंको प्रदर्शित भी कर चुका हूँ, जिनमेंसे एक भी रत्नकरण्डका कर्ता सिद्ध नहीं होता। परन्तु प्रो. सा. ने उसपर कोई

---

१. न्यायाचार्य पं. महेन्द्रकुमारजीने भी न्यायकुमुद द्वितीय भागकी अपनी प्रस्तावना (पृ ५७) में इन दोनों आचार्योंको समकालीन और समव्यक्तित्वशाली बतलाया है।

(२) 'भो योगीन्द्र ! कुरु देवस्य नमस्कारं ..'—पत्र ११ उ. पं. ४।

ऐसी दशामें प्रो. सा. के उक्त कथनका कुछ भी महत्व नहीं रहता। अतः यह भलीभाँति प्रमाणित है कि प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशमें स्वामी समन्तभद्रके लिए 'योगीन्द्र' पदका प्रयोग हुआ है और इसलिए मुख्तार सा. के पूर्वोक्त प्रतिपादन और हमारे उसके समर्थनमें जरा भी सन्देहके लिए स्थान नहीं है।

वादिराज और प्रभाचन्द्र प्रायः समकालीन हैं :

प्रो. सा. ने आगे चलकर अपने इसी लेखमें वादिराजसे प्रभाचन्द्रको उत्तर-कालीन बतलाया है और पार्श्वनाथचरित तथा रत्नकरण्डकटीकामें तीस-पैंतीस वर्षका अन्तर प्रकट किया है। जहाँ तक इन रचनाओंके पौर्वापर्यका प्रश्न है उसे हम मान सकते हैं, पर यह तथ्य भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि 'योगीन्द्र' पदका प्रयोग करने वाले ये दोनों ही आचार्य प्रायः समकालीन हैं[1]—आचार्य वादिराज प्रो. सा. के मतानुसार ही धारानरेश भोजदेव (वि. सं. १०७५-१११०) को पराजित करने वाले चालुक्यवंशी जयसिंह (वि. सं. १०८०) के समयमें हुए हैं और उन्होंने अपना पार्श्वनाथचरित वि. सं. १०८२ में रचा है तथा शेष रचनाएँ आगे पीछे रची होंगी। और प्रभाचन्द्र उक्त धारानरेश भोजदेव एवं उनके उत्तराधिकारी परमारवंशी जयसिंह (वि. सं. १११२) दोनोंके राज्यकालमें हुए हैं तथा अपनी रचनाएँ इन्हींके राज्य-समयमें बनायी हैं। अतः ये दोनों आचार्य प्रायः समकालिक हैं—यदि दस-बीस वर्षका अन्तर भी हो, तो उससे दोनोंके 'योगीन्द्र' पदके उल्लेखोंपर कोई असर नहीं पड़ता। और इसलिए प्रभाचन्द्र जिन पूर्व-आचार्य-अनुश्रुति आदि प्रमाणोंके आधारपर उक्त 'योगीन्द्र' पदका उल्लेख अपने गद्यकथा-कोशमें स्वामी समन्तभद्रके लिए करते हैं और रत्नकरण्डकको, उसकी अपनी रत्न-करण्डक-टीकामें, 'योगीन्द्र' उपनाम विशिष्ट स्वामी समन्तभद्रकी रचना बतलाते हैं, तो उनके समकालीन वादिराज भी अपने पार्श्वनाथचरितमें उन्हीं पूर्व आचार्य-अनुश्रुति आदि प्रमाणोंके आधारपर 'योगीन्द्र' पदका प्रयोग स्वामी समन्तभद्रके लिए करें और उसके द्वारा रत्नकरण्डकको उनकी कृति बतलायें, तो कोई आश्चर्य नहीं है। इससे स्पष्ट है कि प्रभाचन्द्रकी तरह वादिराजने भी 'योगीन्द्र' पदका प्रयोग स्वामी समन्तभद्रके लिए ही किया है—अन्यके लिए नहीं।

यदि प्रो. सा. का यही आग्रह अथवा मत हो कि वादिराजको उक्त 'योगीन्द्र' पदसे आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्रसे भिन्न दूसरा ही व्यक्ति रत्नकरण्डकका कर्ता विवक्षित है, जिनकी 'योगीन्द्र' उपाधि थी और समन्तभद्र कहलाते थे तथा जो रत्नमालाकार शिवकोटिके गुरु थे, तो मेरा उनसे अनुरोध है कि वे ऐसे व्यक्तिका जैन साहित्यमें अस्तित्व दिखलावें। मैं इस बारेमें पहले भी उनसे अनुरोध कर चुका हूँ और 'योगीन्द्र' उपनामके धारक कतिपय विद्वानोंको प्रदर्शित भी कर चुका हूँ, जिनमेंसे एक भी रत्नकरण्डका कर्ता सिद्ध नहीं होता। परन्तु प्रो. सा. ने उसपर कोई

१. न्यायाचार्य पं. महेन्द्रकुमारजीने भी न्यायकुमुद द्वितीय भागकी अपनी प्रस्तावना (पृ. ५७) में इन दोनों आचार्योंको समकालीन और समव्यक्तित्वशाली बतलाया है।

पण्डितजीको प्रतीत होती है ? वीतकलंक और अकलंक सर्वथा पर्यायवाची शब्द बहुधा और विशेषतः श्लेषकाव्यमें प्रयुक्त किये जाते हैं। " विद्यानन्दको 'विद्या' शब्दसे व्यक्त किये जानेमें तो कोई आपत्ति हो नहीं है। 'सर्वार्थसिद्धि' में तन्नामक ग्रन्थके उल्लेखको पहचाननेमें कौनसी विचित्रता है और उसके लिए किस शास्त्रका आधार अपेक्षित है।'

यह मेरी प्रथम आपत्तिका परिहार नहीं है। मेरी आपत्तिका परिहार तो तब

ग्रन्थका ग्रहण हो जायेगा ? यदि नहीं तो इन शब्दोंसे रत्नकरण्डमें भी उक्त विद्यानन्दादिका ग्रहण कैसे किया जा सकता है। अतः यह दिखाना चाहिए कि अमुक पूर्वाचार्यने भी इस पद्यमे 'विद्या' से विद्यानन्द, 'वीतकलंक' से अकलंकदेव और 'सर्वार्थसिद्धि' से तन्नामक पूज्यपादका ग्रन्थ अर्थ किया है। परन्तु उसे न दिखाकर अपनी कल्पनाओंसे ही उसका समर्थन करना विद्वद्ग्राह्य नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि उक्त पद्यका आपका कल्पित अर्थ होता, तो टीकाकार प्रभाचन्द्र उसे भी प्रदर्शित करते अथवा अन्य दूसरे आचार्य भी वैसा लिखते। लेकिन ऐसा किसीने नहीं लिखा है।

दूसरी आपत्तिका परिहार करते हुए प्रो. सा. लिखते हैं कि 'मेरा ख्याल था कि वहाँ तो किसी नयी कल्पनाकी आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि वहाँ उन्हीं तीन स्थलोंकी संगति सुस्पष्ट है जो टीकाकारने बतला दिये हैं अर्थात् दर्शन, ज्ञान और चारित्र।'

यह ध्यान रहे कि प्रो. सा. 'त्रिषु विष्टपेषु'का अर्थ तीन टीकाएँ करते थे। जब तीन टीकाओंरूप अर्थ मेरे द्वारा उक्त प्रकारसे बाधित कर दिया गया तो अब उसका अर्थ दर्शन, ज्ञान और चारित्र किया गया है। अब उनके इस अर्थकी भी परीक्षा कर लेना चाहिए। वे इस अर्थको टीकाकार प्रभाचन्द्रका बतलाते हैं। पर उसमें उन्होने 'त्रिषु विष्टपेषु' का अर्थ दर्शन, ज्ञान और चारित्र नहीं किया ? टीकागत 'त्रिषु विष्टपेषु' के अर्थ वाला अंश इस प्रकार है—

'क्व ? त्रिषु विष्टपेषु त्रिभुवनेषु।'

इसके अतिरिक्त टीकाकारने कुछ नहीं लिखा। हमे आश्चर्य है कि प्रो. सा. अपनी भूल व गलतीको स्वीकार करनेके बजाय अपने आग्रहका ही समर्थन करते जा रहे हैं, यह प्रवृत्ति प्रशस्य नहीं कही जा सकती है।

दूसरे, यदि 'त्रिषु विष्टपेषु' का श्लेषार्थ दर्शन, ज्ञान और चारित्र हो, तो 'विद्या-दृष्टि-क्रियारत्नकरण्डभावं' का उनके साथ कैसे सम्बन्ध बैठेगा ? क्योंकि यहाँ भी तो वे ही तीन दर्शन, ज्ञान और चारित्र प्रतिपादित हैं। और ऐसी हालतमें न तो विभिन्न विभक्ति (सप्तमी और प्रथमा) बन सकेगी और न आधाराधेयभाव बन

कहीं आप्तमीमांसाकारके निर्देशसे बाहर व कर्म-सिद्धान्तकी सुस्पष्ट व्यवस्थाओंके विपरीत प्रतिपादन करते पाये जाते हैं तो हमें मानना ही पड़ेगा कि वे एक दूसरी ही विचारधारासे प्रभावित हैं जिसका पूर्णतः समीकरण उक्त व्यवस्थाओंसे नहीं होता।'

प्रो. सा. के द्वारा फलित की गयी उक्त मान्यताएँ आप्तमीमांसाकारका मत है या नहीं, इसपर विचार करनेके पहले हम उनकी अन्तिम पंक्तियोंके सम्बन्धमें कुछ कह देना उचित समझते हैं। आपने अपने पिछले एक लेखमें आप्तमीमांसाकारका तात्त्विक अभिप्राय समझनेके लिए दो उपायोंकी सूचना करते हुए लिखा था कि 'आप्तमीमांसाकारके पदोंका तात्त्विक अर्थ समझनेके हमें दो उपाय उपलब्ध हैं—एक तो स्वयं उसी ग्रन्थका सन्दर्भ और दूसरे उनका टीकाकारों द्वारा स्पष्टीकरण।' परन्तु उक्त पंक्तियोंसे जान पड़ता है कि अब उनका टीकाकारोंके स्पष्टीकरणपर भी विश्वास नहीं रहा, क्योंकि वे उनके पक्षका समर्थन नहीं करते और इसलिए अब वे यह प्रतिपादन कर रहे हैं कि वे जो अर्थ कर रहे हैं वही आप्तमीमांसाकारका मत है और उसीको जैन सिद्धान्त बतलाते हैं। परन्तु यह सब स्वग्रहमात्र है और वे किन्हीं मर्यादाओंसे बँधे हुए नहीं हैं। अतएव आज वे अकलंक, विद्यानन्द जैसे प्रामाणिक महान् टीकाकारोंके स्पष्टीकरणको सन्देहकी दृष्टिसे देखने लगे हैं और कल स्वयं आप्तमीमांसाकारके कथनको भी विपरीत बतला सकते हैं। अस्तु।

अब हम उनकी मान्यताओंपर क्रमशः विचार करते हैं:—

(१) यह ठीक है कि देवागमन आदि विभूतियाँ और विग्रहादिमहोदय आदि आप्तके लक्षण नहीं हैं, परन्तु उसका मतलब यह नहीं कि वे आप्तमें नहीं हैं, आप्तमें ये बातें जरूर हैं—आप्तमीमांसाकारने उन्हें स्वयम्भूस्तोत्रगत 'प्रातिहार्यविभवैः परिष्कृतो' इत्यादि पद्य नं. ७३ द्वारा भी स्पष्टतः स्वीकार किया है। लेकिन वे साधारण होनेसे लक्षण नहीं हैं क्योंकि लक्षण असाधारण होता है। हमें खुशी है कि मेरे मतानुसार प्रो. सा. ने क्षुत्पिपासादिके अभावको विग्रहादिमहोदय (अतिशयों) के अन्तर्गत ही स्वीकार कर लिया है। और यह विग्रहादिमहोदय लक्षण न होनेपर भी उपलक्षण रूपसे आप्तमें विद्यमान है। अतः इस मान्यतासे प्रो. सा. को जो आप्तमें क्षुधा-तृषाकी वेदनाका सद्भाव सिद्ध करना इष्ट था वह अब सिद्ध नहीं हो सकता।

(२) आप्तका लक्षण निर्दोषता है, इसमें कोई विवाद नहीं, उसके वचन युक्तिशास्त्राविरोधी होते हैं और वह सर्वज्ञ होता है तथा उसकी सर्वज्ञता दोषों और आवरणोंकी आत्यन्तिक निवृत्तिसे होती है, *ये सब बातें भी ठीक हैं।* आप्तमीमांसाकारके इस अभिप्रायको हम भी पिछले लेखोंमें प्रकट कर चुके हैं।

(३-४) जहाँ तक आपकी समझ है उस समझसे आपने 'दोषावरणयोः हानिः' का अर्थ दिया है और इसलिए द्विवचनके प्रयोगसे यह कल्पना भी कर ली है कि वहाँ आप्तमीमांसाकारकी दृष्टिमें एक ही दोष—अज्ञान और एक ही आवरण—ज्ञानावरण प्रधान है—अन्य तो उन्हींके साथ अविनाभूत हैं। अतः उन्हीं दोका अभाव आप आप्तमें बतलाते हैं। परन्तु इस कथनका आपके पूर्व कथनके साथ ही विरोध आता

रत्नकरण्डकमें दोषका स्वरूप 'आप्तमीमांसाकारके अभिप्रायसे भिन्न नहीं है और इसलिए वह उन्हींकी कृति है।

(२) वादिराजने समन्तभद्रके लिए 'देव' और 'योगीन्द्र' पदके प्रयोग किये हैं और इसलिए देव और योगीन्द्र पदके वाच्य पार्श्वनाथचरितमें स्वामी समन्तभद्र विवक्षित हैं। वादिराजके पूर्व अन्य 'योगीन्द्र' समन्तभद्रका साहित्यमें अस्तित्व नहीं है।

(३) आ. प्रभाचन्द्र वादिराजके प्रायः समकालीन हैं। अतः जहाँ प्रभाचन्द्र द्वारा रत्नकरण्डकको स्वामी समन्तभद्रकृत बतलाया गया है और अपने आराधना-कथाकोषमें उन्होंने उनका 'योगीन्द्र' पदसे उल्लेख किया है वहाँ उनके ही प्रायः समकालीन वादिराजने रत्नकरण्डकको 'योगीन्द्र' कृत बतलाया है। इसलिए वादिराजको भी प्रभाचन्द्रकी तरह 'योगीन्द्र' पदसे स्वामी समन्तभद्र ही विवक्षित हैं; क्योंकि रत्नकरण्डकको स्वामी समन्तभद्रसे भिन्न योगीन्द्र-कृत बतलानेवाला वादिराजका पोषक एक भी प्रमाण नहीं है और प्रभाचन्द्रके स्वामी समन्तभद्रकृत बतलानेवाले उल्लेखोंके पोषक एवं समर्थक कतिपय प्रमाण हैं।

(४) रत्नकरण्डकके उपान्त्य पदमें अकलंक, विद्यानन्द और सर्वार्थसिद्धिकी कल्पना अवास्तव और असंगत है और इसलिए उक्त कल्पना रत्नकरण्डकको विद्यानन्दके बादकी रचना सिद्ध नहीं कर सकती है। विद्यानन्दसे पूर्व ७-८ वीं शताब्दीके न्यायावतारमें रत्नकरण्डका 'आप्तोपज्ञ' पद पाया जाता है। अतः वह विद्यानन्दके बादकी रचना कदापि नहीं है।

अतः रत्नकरण्डक अपने मौलिक एवं प्रौढ़ साहित्य, विभिन्न उल्लेख-प्रमाणों और प्रामाणिक साहित्यिक अनुश्रुतियों व स्रोतों आदिसे आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्रकी ही कृति प्रमाणित होती है।

रत्नकरण्डकमें दोषका स्वरूप 'आप्तमीमांसाकारके अभिप्रायसे भिन्न नहीं है और इसलिए वह उन्हींकी कृति है।

(२) साहित्यकारोंने समन्तभद्रके लिए 'देव' और 'योगीन्द्र' पदके प्रयोग किये हैं और इसलिए देव और योगीन्द्र पदके वाच्य पार्श्वनाथचरितमें स्वामी समन्तभद्र विवक्षित हैं। वादिराजके पूर्व अन्य 'योगीन्द्र' समन्तभद्रका साहित्यमें अस्तित्व नहीं है।

(३) आ. प्रभाचन्द्र वादिराजके प्रायः समकालीन हैं। अतः जहाँ प्रभाचन्द्र द्वारा रत्नकरण्डकको स्वामी समन्तभद्रकृत बतलाया गया है और अपने आराधना-कथाकोषमें उन्होंने उनका 'योगीन्द्र' पदसे उल्लेख किया है वहाँ उनके ही प्रायः समकालीन वादिराजने रत्नकरण्डकको 'योगीन्द्र' कृत बतलाया है। इसलिए वादिराजको भी प्रभाचन्द्रकी तरह 'योगीन्द्र' पदसे स्वामी समन्तभद्र ही विवक्षित हैं; क्योंकि रत्नकरण्डकको स्वामी समन्तभद्रसे भिन्न योगीन्द्र-कृत बतलानेवाला वादिराजका पोषक एक भी प्रमाण नहीं है और प्रभाचन्द्रके स्वामी समन्तभद्रकृत बतलानेवाले उल्लेखोंके पोषक एवं समर्थक बीसियों प्रमाण हैं।

रत्नकरण्डकमें दोषका स्वरूप 'आप्तमीमांसाकारके अभिप्रायसे भिन्न नहीं है और इसलिए यह उन्हींकी कृति है।

(२) साहित्यकारोंने समन्तभद्रके लिए 'देव' और 'योगीन्द्र' पदके प्रयोग किये हैं और इसलिए देव और योगीन्द्र पदके वाच्य पार्श्वनाथचरितमें स्वामी समन्तभद्र विवक्षित हैं। वादिराजके पूर्व अन्य 'योगीन्द्र' समन्तभद्रका साहित्यमें अस्तित्व नहीं है।

(३) श्री प्रभाचन्द्र वादिराजके प्रायः समकालीन हैं। अतः जहाँ प्रभाचन्द्र द्वारा रत्नकरण्डकको स्वामी समन्तभद्रकृत बतलाया गया है और उनके आराधना-कथाकोशमें उन्होंने उनका 'योगीन्द्र' पदसे उल्लेख किया है वहीं उनके ही प्रायः समकालीन वादिराजने रत्नकरण्डकको 'योगीन्द्र' कृत बतलाया है। इसलिए वादिराजको भी प्रभाचन्द्रकी तरह 'योगीन्द्र' पदसे स्वामी समन्तभद्र ही विवक्षित हैं; क्योंकि रत्नकरण्डकको स्वामी समन्तभद्रसे भिन्न योगीन्द्र-कृत बतलानेवाला वादिराजका बोधक एक भी प्रमाण नहीं है और प्रभाचन्द्रके स्वामी समन्तभद्रकृत बतलानेवाले उल्लेखोंके पोषक एवं समर्थक अनेकों प्रमाण हैं।

(४) रत्नकरण्डकके उपान्त्य पद्यमें अकलंक, विद्यानन्द और सर्वार्थसिद्धिकी कल्पना मनःकल्पित और असंगत है और इसलिए उक्त कल्पना रत्नकरण्डकको विद्यानन्दके बादकी रचना सिद्ध नहीं कर सकती है। विद्यानन्दसे पूर्व ८-९ वीं शताब्दीके न्यायावतारमें रत्नकरण्डकका 'आप्तोपज्ञ' पद्य पाया जाता है। अतः यह विद्यानन्दके बादकी रचना कदापि नहीं है।

अतः रत्नकरण्डक उसके मौलिक एवं प्रौढ़ साहित्य,, विभिन्न उल्लेख प्रमाणों और प्रामाणिक साहित्यिक अनुश्रुतियों व शोधों आदिसे आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्रकी ही कृति प्रमाणित होती है।

●

देवस्यानन्तवीर्योऽपि पदं व्यक्तुं तु सर्वतः ।
न जानीतेऽकलङ्कस्य चित्रमेतत्परं भुवि ॥३॥

अर्थात्—मैं अनन्तवीर्य होकर भी अकलंकदेवके पदोंको पूर्णतः व्यक्त करना नहीं जानता, यह आश्चर्यकी बात है।

उस समय ऐसे संक्षिप्त और अर्थबहुल प्रकरणोंका रचयिता धर्मकीर्तिको ही मुख्यतया माना जाता था। अनन्तवीर्य उनकी अकलंकके साथ तुलना करते हुए लिखते हैं—

सर्वधर्मस्य नैरात्म्यं कथयन्नपि सर्वथा ।
धर्मकीर्तिः कथं गच्छेदकलङ्कं पदं ननु ॥५॥

अर्थात्—सर्व धर्मकी निरात्मकताका कथन करता हुआ भी धर्मकीर्ति अकलंक-पदको—अकलंककी बराबरीको कैसे पा सकता है? अर्थात् नहीं।

वास्तवमें अकलंकदेव भारतीय वाङ्मयके तेजस्वी, अप्रतिम प्रतिभाशाली विद्वान् हैं। यदि अकलंकदेवको 'अकलंकदेव' बनानेमें प्रधानतया धर्मकीर्तिकी समालोचना-पद्धति और विचार-क्रान्ति ही मुख्य कारण है। धर्मकीर्ति न हुए होते और वे न्यायशास्त्रपर अपने विविध निबन्ध[1] (ग्रन्थ) न लिखते, तो अकलंकदेवकी बहुमुखी विद्वन्मनःतोषकारिणी प्रतिभा जाग्रत होती और वे धर्मकीर्तिके निबन्धोंको भी मात कर देनेवाले न्यायशास्त्रपर अपने विविध गहन निबन्ध लिखते, इसमें कुछ सन्देह ही था। इसलिए मौलिकता, संक्षेपमें बहुवक्तव्यता आदिकी अपेक्षा अकलंककी तुलना धर्मकीर्तिके साथ कर सकते हैं और उनके न्यायविनिश्चिय, सिद्धिविनिश्चय, तत्त्वार्थवार्तिकको धर्मकीर्तिके प्रमाणविनिश्चय, प्रमाणवार्तिक आदिके साथ मिला सकते हैं तथा जिस प्रकार धर्मकीर्तिके प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर, अर्चट, कर्णकगोमी, शान्तरक्षित आदि समर्थ टीकाकार हुए हैं उसी प्रकार अकलंकदेवके भी अनन्तवीर्य, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, वादिराज, अभयचन्द्र आदि प्रौढ़ मर्मोद्‌घाटक टीकाकार हुए हैं। किन्तु तथ्यपूर्ण और सन्तुलित समालोचना एवं कुछ अधिक गहन विचारणामें अकलंकदेवको हम धर्मकीर्तिसे बहुत आगे पाते हैं[2]। अकलंकदेवका प्रमाणसंग्रह तो अतुलनीय है—उसकी गहराई, जटिलता और अतिसंक्षिप्तता धर्मकीर्तिके प्राप्त किसी भी निबन्धमें देखनेको नहीं मिलती। इसीसे अकलंक और धर्मकीर्तिके साहित्यका सूक्ष्म अध्ययन करनेवाले आ. अनन्तवीर्यको 'धर्मकीर्तिः कथं गच्छेदकलङ्कं पदं ननु' यह कहना पड़ा है। और यह अनन्तवीर्यका प्रयोगमात्र या श्रद्धापूर्ण ही कथन नहीं है किन्तु वह तात्त्विक है। जो भी निष्पक्ष विद्वान् अकलंकके साहित्यका—न्यायविषयक प्रकरणोंका धर्मकीर्तिके न्यायग्रन्थोंके साथ सूक्ष्मता और गहराईसे तुलनात्मक अध्ययन करेंगे, उन्हें

---

१. धर्मकीर्तिके निम्न ७ निबन्ध प्रसिद्ध हैं—
न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु, सम्बन्धपरीक्षा (सवृत्ति), वादन्याय, सन्तानान्तरसिद्धि, प्रमाणविनिश्चय और प्रमाणवार्तिक (स्व. परि. सवृत्ति)।

२. न्यायविनिश्चय का. ९०, ९२, ९३, १६९३, ३७२, ३७३, ३७४, ३७८, ३७९ आदि कारिकाएँ द्रष्टव्य हैं।

प्रमाणवार्तिकालंकारके तो अनेक स्थलोंको उद्धृत करके उसका सर्वाधिक समालोचन किया है। हमारा तो ख्याल है कि अनन्तवीर्यने सर्वप्रथम जो प्रमाणसंग्रहालंकार या प्रमाणसंग्रहभाष्य लिखा था वह प्रज्ञाकर गुप्तके प्रमाणवार्तिकालंकार या प्रमाणवार्तिकभाष्यके जवाबमें ही लिखा होगा। दोनोंका नामसाम्य भी यही प्रकट करता है। कुछ भी हो, यह अवश्य है कि अनन्तवीर्यने सबसे ज्यादा प्रज्ञाकर गुप्तका ही खण्डन किया है, जैसे अकलंकने धर्मकीर्तिका। अतः जैनसाहित्यमें अकलंकके टीकाकारोंमें अनन्तवीर्यका वही गौरवपूर्ण स्थान है जो बौद्ध न्याय-साहित्यमें धर्मकीर्तिके टीकाकारोंमें प्रधान टीकाकार प्रज्ञाकर गुप्तको प्राप्त है और इसलिए उन्हें (अनन्तवीर्यको) जैनसाहित्यका 'प्रज्ञाकर' कहा जा सकता है।

व्यक्तित्व, गुरुपरम्परा और ग्रन्थरचना :

जैन साहित्यमें प्रस्तुत टीकाके कर्ता अनन्तवीर्यका जो सम्मान और व्यक्तित्व है वह इसीसे जाना जा सकता है कि उनके उत्तरवर्ती आचार्य प्रभाचन्द्र, आचार्य वादिराज जैसे महान् ग्रन्थकारोंने उनके प्रति अपनी अनन्य श्रद्धा व्यक्त की है और अपने मार्गदर्शकके रूपमें बड़ा सबहुमान अपने ग्रन्थोंमें नामोल्लेखपूर्वक स्मरण किया है तथा अकलंकपदोंका उन्हें मर्मज्ञ व्याख्याकार बतलाया है। वास्तवमें उन्होंने जिस योग्यता और बुद्धिमत्तासे अकलंकके पदोंका मर्म खोला है वह स्तुत्य है। अकलंकके वाङ्मयमें सबसे अधिक क्लिष्ट और दुर्बोध उनका प्रमाणसंग्रह है। सिद्धि-विनिश्चय-टीकाके अध्ययनसे उनका सिद्धिविनिश्चय भी प्रमाणसंग्रह जैसा ही क्लिष्ट और दुर्बोध प्रतीत होता है। अनन्तवीर्यने इन्हीं दोनोंपर अपनी व्याख्याएँ—भाष्य-ग्रन्थ लिखे हैं। लघीयस्त्रय और न्यायविनिश्चय यद्यपि उनके सामने थे और दोनों ही अटीक थे, परन्तु अपेक्षाकृत सुगम जानकर उन्हें उन्होंने छोड़ दिया और उनपर व्याख्या नहीं लिखी। इससे अनन्तवीर्यके बुद्धिवैभव, विद्वत्ता, अदम्य साहस और कर्मण्यताका पता लगाया जा सकता है। अतः उनका जैन साहित्यमें सम्मानपूर्ण व्यक्तित्व है और वे 'बड़े अनन्तवीर्य' कहे जाते हैं।

टीकाकारने टीकामें अपनी विस्तृत गुरुपरम्परा तो कुछ नहीं दी, किन्तु केवल अपने साक्षात् गुरुका टीकाके प्रायः प्रत्येक प्रस्तावके अन्तमें सन्धिवाक्योंमें 'रविभद्र' नाम दिया है[1] और अपनेको उनका पादोपजीवी—शिष्य बतलाया है। इससे इतना ही प्रकट होता है कि आचार्य अनन्तवीर्य आचार्य रविभद्रके शिष्य थे। ये रविभद्र कौन थे? इसका परिचय न टीकाकारने कराया और न अन्य साधनसे प्राप्त होता है। इतना ही मालूम होता है कि ये उस समयके अच्छे ख्यातिनामा आचार्य थे और अनन्तवीर्य उनके शिष्य माने और कहे जाते थे। अर्थात् प्रस्तुत अनन्तवीर्य 'रविभद्र-शिष्य अनन्तवीर्य' के नामसे प्रसिद्ध थे। इससे एक बात यह भी मालूम होती है कि इन अनन्तवीर्यके पहले या समसमयमें कोई दूसरे अनन्तवीर्य भी हो गये या रहे, जिनसे वे अपनेको व्यावृत्त करते हुए 'रविभद्र-शिष्य अनन्तवीर्य' बतलाते हैं। पहले हम एक

---

१. 'इति श्रीरविभद्रपादोपजीव्यनन्तवीर्यविरचितायां सिद्धिविनिश्चयटीकायां प्रत्यक्षसिद्धिः प्रथमः प्रस्तावः ।' आ। —सि. वि. टी. मु. पृ. ११९।

फुटनोटमें सिद्धिविनिश्चयटीकामें उल्लिखित 'अनन्तवीर्य' की सम्भावना कर आये हैं। हो सकता है वे ही कोई विश्रुत अनन्तवीर्य हों और व्याख्याकार या ग्रन्थकार भी माने जाते हों। जो हो, इतना निश्चित है कि प्रस्तुत टीकाके कर्ता अनन्तवीर्यके गुरु 'रविभद्र' थे और वे उनके शिष्य कहलाते थे।

आ. अनन्तवीर्यने जो ग्रन्थ रचे हैं वे व्याख्याग्रन्थ हैं। उन्होंने मौलिक ग्रन्थ भी कोई रचा या नहीं, इसका कोई पता नहीं। आ. प्रभाचन्द्र और आ. वादिराजके तो व्याख्या और मौलिक दोनों तरहके ग्रन्थ पाये जाते हैं। सम्भव है उन्होंने भी कोई मौलिक ग्रन्थ रचा हो और जो आज प्राप्त नहीं है। व्याख्याग्रन्थ उनके दो हैं— (१) प्रमाणसंग्रहभाष्य और (२) सिद्धिविनिश्चयटीका। प्रमाणसंग्रहभाष्यके सिद्धिविनिश्चयटीकामें केवल उल्लेख मिलते हैं। उन उल्लेखोंसे इस ग्रन्थकी विशालता और महत्ता जानी जाती है, क्योंकि सिद्धिविनिश्चयटीका जैसे विस्तृत ग्रन्थमें भी उसको देखनेकी प्रेरणा की गयी है और यह कहा गया है कि प्रपंच प्रमाणसंग्रहभाष्यसे जानना चाहिए। इससे प्रमाणसंग्रहभाष्यकी महत्ता और अपूर्वता प्रकट होती है। अन्वेषकोंको इस अपूर्व ग्रन्थका पता लगाना चाहिए।

सिद्धिविनिश्चयटीका :

अनन्तवीर्यका दूसरा टीकाग्रन्थ प्रस्तुत सिद्धिविनिश्चयटीका है, जिसका यहाँ कुछ परिचय कराना इष्ट है।

यह टीका अकलंकदेवके उसी महत्त्वपूर्ण स्वोपज्ञवृत्ति सहित सिद्धिविनिश्चय ग्रन्थपर लिखी गयी है, जिसके माहात्म्यको जिनदासगणि महत्तरने 'निशीथचूर्णि' और मोचन्द्रसूरिने 'जीतकल्पचूर्णि' में प्रकट किया है और उसे दर्शनप्रभावक शास्त्र बतलाया है[1]।

इस टीकाकी उपलब्धिका दिलचस्प और दुःखपूर्ण इतिहास—परिचय श्री जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपने 'पुरानी बातोंकी खोज' शीर्षक लेखमें[2] दिया है। पहले यह कहा जा चुका है कि अकलंकदेवने अपने सभी न्यायग्रन्थोंपर स्वोप

---

१. नन्दिचूर्णि भी इन्हीं जिनदासगणि महत्तरकी रची मानी जाती है। और उसे इन्होंने उसका रचनासमय शक सं. ५९८ (ई. ६७६) दिया है। न्यायाचार्य पं. महेन्द्रकुमारजी (अकलंकग्रन्थत्रय, प्रस्ता. पृ. १५) इसके एक कर्तृत्वमें और मुनि जिनविजयजी (अकलंकग्रन्थत्रय; प्रास्ताविक, फुटनोट पृ. ४-५) के उल्लेखानुसार 'कुछ [illegible]' चूर्णिके प्रान्तमें पायी जानेवाली रचनाकालनिर्देशक पंक्तिको लेकर इसके रचनाकालमें सन्देह प्रकट करते हैं, किन्तु जिनविजयजीका यह कथन कि 'हमने जितनी प्रतियाँ इस (नन्दिचूर्णि) ग्रन्थकी यहाँ वहाँ भण्डारोंमें देखी हैं, उन सबमें यह (रचनाकाल निर्देशक) पंक्ति बराबर लिखी हुई मिली है।' कोताहं नहीं है और इसलिए [illegible] उसको सहसा अशुद्ध अथवा उस पंक्तिको 'प्रक्षिप्त' नहीं कहा जा सकता। इससे [illegible] कर्तृत्वके साथ यह निकलती है कि अकलंकदेवका समय निकलकी [illegible] जाता वह ऐतिहासिक उल्लेखोंसे युक्त प्रतीत होता है।

२-३. अनेकान्त वर्ष १, किरण ३।

तयाँ लिखी हैं । कुछ विद्वान् पहले सिद्धिविनिश्चयकी स्वोपज्ञवृत्तिमें सन्देह
ते थे। किन्तु अब यह माना जाने लगा है[1] कि उनको सिद्धिविनिश्चयपर भी
ोपज्ञवृत्ति है । इसके लिए एक अतिस्पष्ट प्रमाण नीचे दिया जाता हैः—

"ननु कारिकायां 'अस्ति प्रधानम्' इत्यस्यसाध्यं निर्दिष्टं वृत्तौ तु 'भेदानामेक-
ारणपूर्वकत्वम्' अन्यदिति कथं वृत्तिसूत्रयोः साङ्गत्यम्, सूत्रानुरूपया च वृत्या
वितव्यमिति चेदत्र केचित्परिहारमाहुः"—पृ. ७०९ ।

यहाँ स्पष्ट है कि सिद्धिविनिश्चयपर स्वयं अकलंकदेवकी स्वोपज्ञवृत्ति है,
योंकि टीकामें कारिका तथा वृत्तिको एक असंगतिकी आशंका करके 'केचित्'
ब्दोंके साथ उसका परिहार किया गया है । टीकाकारने कितनी ही जगह मूल
ारिकाओंको 'सूत्र' और उनके विवरणको 'वृत्ति' कहा है । अतः सिद्धिविनिश्चय-
ी स्वोपज्ञवृत्तिमें अब कोई सन्देह नहीं रहता ।

टीकाके प्रारम्भमें मंगलाचरणके बाद अकलंकके वचनोंकी इस कलिकालमें
र्लभता प्रकट करते हुए और उन्हींमें अपनी मति—श्रद्धाको स्थिर होनेकी भावना
्यक्त करते हुए टीकाकारने बड़े ही महत्त्वका एक निम्न पद्य दिया है—

अकलंकवचः काले कलौ न कलयाऽपि यत् ।
नृषु लभ्यं क्वचिल्लब्ध्वा तत्रैवास्तु मतिर्मम ॥२॥

इसके आगे एक अन्य पद्य द्वारा अकलंकके वाङ्मयको सद्रत्नाकर—समुद्र
तलाया है और उसके सूक्त-रत्नोंको अनेकों द्वारा यथेच्छ ग्रहण किये जानेपर भी कम
होनेका कारण उसे सद्रत्नाकर ही प्रकट किया है । वह सुन्दर पद्य इस प्रकार है—

अकलंक-वचोम्भोधेः सूक्तरत्नानि यद्यपि ।
गृह्यन्ते बहुभिः स्वैरं सद्रत्नाकर एव सः ॥४॥

इस ग्रन्थमें बारह प्रस्ताव हैं और वे स्वयं अकलंकदेवकृत ही जान पड़ते हैं,
योंकि उनके दूसरे ग्रन्थोंमें भी उन्होंने इसी प्रकारसे प्रस्ताव-विभाजन किया है ।
्रस्ताव परिच्छेदको कहते हैं । धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकमें परिच्छेद नाम चुना है
ौर अकलंकदेवने परिच्छेदार्थक 'प्रस्ताव' नाम पसन्द किया है । वे बारह प्रस्ताव
िम्न प्रकार हैं—

(१) प्रत्यक्षसिद्धि, (२) सविकल्पकसिद्धि, (३) प्रमाणान्तरसिद्धि, (४) जीव-
िद्धि, (५) जल्पसिद्धि, (६) हेतुलक्षणसिद्धि, (७) शास्त्रसिद्धि, (८) सर्वज्ञसिद्धि, (९)
ब्दसिद्धि, (१०) अर्थनयसिद्धि, (११) शब्दनयसिद्धि और (१२) निक्षेपसिद्धि । इन
्रस्तावोंमें विषयका वर्णन उनके नामोंसे ही अवगत हो जाता है ।

टीकामें मूलभाग उस प्रकारसे अन्तर्निहित नहीं हैं जिस प्रकार प्रभाचन्द्रके
्यायकुमुदचन्द्रमें लघीयस्त्रय और उसकी वृत्ति है । किन्तु कारिका और वृत्तिके
ादि अक्षरोंके प्रतीकमात्र दिये गये हैं, जिससे यह जानना बड़ा कठिन है कि यह
ूलभाग है और वह सम्बद्ध इतना है । टीकासे अलग दूसरी जगह मूलभाग
पलब्ध भी अभी तक नहीं हुआ, जिसकी सहायतासे वह मूल भाग टीकापरसे पृथक्
िया जा सके । और ऐसी हालतमें मूलभागको टीकापरसे पृथक् उद्धृत कर सकना

---

1. न्यायकुमुद, प्रथम भाग, प्रस्तावना ।

आचार्य विद्यानन्द

तार्किकचूडामणि आचार्य विद्यानन्दका यहाँ परिचय दिया जाता है। यद्यपि उनका परिचय देना दुष्कर कार्य है, क्योंकि उनके लिए जिस विपुल सामग्रीकी जरूरत है वह नहींके बराबर है। उनकी न कोई गुर्वावली प्राप्त है और न उनके अथवा उत्तरवर्ती दूसरे विद्वान् द्वारा लिखा गया उनका कोई जीवनवृत्तान्त उपलब्ध है। उनके माता-पिता कौन थे? वे किस कुलमें पैदा हुए थे? उनके कौन गुरु थे? उन्होंने कब और किससे मुनिदीक्षा ग्रहण की थी? आदि बातोंका ज्ञान करनेके लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है। फिर भी विद्यानन्द और उनके ग्रन्थवाक्योंका उल्लेख करनेवाले उत्तरवर्ती ग्रन्थकारोंके समुल्लेखों, विद्यानन्दके स्वयंके ग्रन्थोंके अन्तःपरीक्षणों और प्राप्त विश्वसनीय इतर सामग्रीसे उनके सम्बन्धमें जो भी हम जान सके हैं उसे प्रस्तुत करनेका प्रयास करेंगे।

विद्यानन्द नामके अनेक विद्वान् :

प्राप्त जैन-साहित्यपरसे पता चलता है कि जैनपरम्परामें विद्यानन्द नामके एकसे अधिक विद्वानाचार्य हो गये हैं। एक विद्यानन्द वे हैं जिनका और जिनके जैनधर्मकी प्रभावना सम्बन्धी अनेक कार्योंका उल्लेख शक सं. १४५२, ई. १५३० में उत्कीर्ण हुम्बुच्चके, जो मैसूर राज्यके अन्तर्गत नगरताल्लुकेमें है, एक शिलालेख (नं. ४६) में[2] विस्तारके साथ पाया जाता है और वर्द्धमान मुनीन्द्रने[3], जो इन्हीं विद्यानन्दके प्रशिष्य और बन्धु थे, अपने शक सं. १४६४ में समाप्त हुए 'दशभक्त्यादि-महाशास्त्र' में[4] खूब विरद और स्तवन किया है तथा जिनके स्वर्गवासका समय शक सं. १४६३, ई. १५४१ इसी ग्रन्थमें[5] दिया है। ये विद्यानन्द विजयनगर साम्राज्यके

---

१. 'राजावलीकथे' से, जो शक सं. १७६१ (वि. सं. १८९६ और ई. सन् १८३९) में देवचन्द्र द्वारा रचा गया एक कनडी कथा-ग्रन्थ है, विद्यानन्दके सम्बन्धमें एक कथा पायी जाती है। परन्तु इस कथाका ग्रन्थकार विद्यानन्दके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

२. यह शिलालेख कनडी और संस्कृत भाषाका एक बहुत बड़ा शिलालेख है। इस शिलालेखका परिचय प्राप्त करनेके लिए देखिए, मुख्तारसा.का 'स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्द' शीर्षक लेख, अनेकान्त वर्ष १, किरण २ पृ. ७०।

३. प्रशस्तिसं. (पृ १२०) में परिचय प्राप्त 'दशभक्त्यादिमहाशास्त्र'।

४. 'शाके वेदखराब्धिचन्द्रकलिते संवत्सरे श्रीप्लवे, सिंहश्रावणिके प्रभाकरदिवे कृष्णाष्टमीवासरे। रोहिण्यां दशभक्तिपूर्वकमहाशास्त्रं पदार्थोज्ज्वलम्, विद्यानन्दमुनिस्तुतं व्यरचयत् सद्वर्द्धमानो मुनिः ॥'—प्रशस्तिसं. पृ. १४३ से उद्धृत।

५. 'शाके वह्निरसाब्धिचन्द्रकलिते संवत्सरे शार्वरे, शुद्धश्रावणमासकृष्णपरणीतुर्ग्गेश्वमेवे रवौ। कर्कस्थे सगुरौ जिनस्मरणतो वादीन्द्रवृन्दार्चितः विद्यानन्दमुनीश्वरः स गतवान् स्वर्गं चिदानन्दकः ॥'—प्रशस्तिसं. पृ. १२८ से उद्धृत।

विद्यानन्द-संस्मरण

ऋजुसूत्रं स्फुरद्रत्नं विद्यानन्दस्य विस्मयः ।
शृण्वतामप्यलङ्कारं दीप्तिरङ्गेषु रङ्गति ॥

—वादिराज, पार्श्वनाथचरित श्लो. २८ ।

× × ×

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः ।
विज्ञायेत ययैव स्वसमय-परसमयसद्भावः ॥

—विद्यानन्द, अष्टस. पृ. १५७ ।

× × ×

विद्यानन्द-हिमाचल-मुखपद्म-विनिर्गता सुगम्भीरा ।
आप्तपरीक्षाटीका गङ्गावच्चिरतरं जयतु ॥१॥
भास्वद्भासितदोषा कुमतमल-ध्वान्त-भेदनपटिष्ठा ।
आप्तपरीक्षालंकृतिराचन्द्रार्कं चिरं जयतु ॥२॥
स जयतु विद्यानन्दो रत्नत्रय-भूरि-भूषणः सततम् ।
तत्त्वार्थार्णवतरणे सदुपायः प्रकटितो येन ॥३॥

—विद्यानन्द, आप्तपरीक्षालङ्कृति, पृ. २६५, २६६ ।

आचार्य विद्यानन्द[1]

तार्किकचूडामणि आचार्य विद्यानन्दका यहाँ परिचय दिया जाता है। यद्यपि उनका परिचय देना दुष्कर कार्य है, क्योंकि उसके लिए जिस विपुल सामग्रीकी जरूरत है वह नहींके बराबर है। उनकी न कोई गुर्वावली प्राप्त है और न उनके अथवा उत्तरवर्ती दूसरे विद्वान् द्वारा लिखा गया उनका कोई जीवनवृत्तान्त उपलब्ध है। उनके माता-पिता कौन थे ? वे किस कुलमें पैदा हुए थे ? उनके कौन गुरु थे ? उन्होंने कब और किससे मुनिदीक्षा ग्रहण की थी ? आदि बातोंका ज्ञान करनेके लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है। फिर भी विद्यानन्द और उनके ग्रन्थवाक्योंका उल्लेख करनेवाले उत्तरवर्ती ग्रन्थकारोंके समुल्लेखों, विद्यानन्दके स्वयंके ग्रन्थोंके अन्तःपरीक्षणों और प्राप्त विश्वसनीय इतर सामग्रीसे उनके सम्बन्धमें जो भी हम जान सके हैं उसे प्रस्तुत करनेका प्रयास करेंगे।

विद्यानन्द नामके अनेक विद्वान् :

प्राप्त जैन-साहित्यपरसे पता चलता है कि जैनपरम्परामें विद्यानन्द नामके एकसे अधिक विद्वानाचार्य हो गये हैं। एक विद्यानन्द वे हैं जिनका और जिनके जैनधर्मकी प्रभावना सम्बन्धी अनेक कार्योंका उल्लेख शक सं. १४५२, ई. १५३० में उत्कीर्ण हुम्मचके, जो मैसूर राज्यके अन्तर्गत नगरताल्लुकेमें है, एक शिलालेख (नं. ४६) में[2] विस्तारके साथ पाया जाता है और वर्द्धमान मुनीन्द्रने[3], जो इन्हीं विद्यानन्दके प्रशिष्य और बन्धु थे, अपने शक सं. १४६४ में समाप्त हुए 'दशभक्त्यादि-महाशास्त्र' में[4] खूब विरद और स्तवन किया है तथा जिनके स्वर्गवासका समय शक सं. १४६३, ई. १५४१ इसी ग्रन्थमें[5] दिया है। ये विद्यानन्द विजयनगर साम्राज्यके

---

१. 'राजावलीकथे' में, जो शक सं. १७६१ (वि. सं. १८९६ और ई. सन् १८३९) में देवचन्द्र द्वारा रचा गया एक कन्नडी कथा-ग्रन्थ है, विद्यानन्दके सम्बन्धमें एक कथा पायी जाती है। परन्तु इस कथाका ग्रन्थकार विद्यानन्दके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

२. यह शिलालेख कनडी और संस्कृत भाषाका एक बहुत बड़ा शिलालेख है। इस शिला-लेखका परिचय प्राप्त करनेके लिए देखिए, मुख्तारसा.का 'स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्द' शीर्षक लेख, अनेकान्त वर्ष १, किरण २ पृ. ७०।

३. प्रशस्तिसं. (पृ. १२०) में परिचय प्राप्त 'दशभक्त्यादिमहाशास्त्र'।

४. 'शाके वेदखराब्धिचन्द्रकलिते संवत्सरे प्लवे, सिंहश्रावणिके प्रभाकरदिने कृष्णाष्टमीवासरे। रोहिण्यां दशभक्तिपूर्वकमहाशास्त्रं पदार्थोज्ज्वलम्, विद्यानन्दमुनिस्तुतं व्यरचयत् सद्वर्द्धमानो मुनिः ॥'—प्रशस्तिसं. पृ. १४१ से उद्धृत।

५. 'शाके वह्निरसाब्धिचन्द्रकलिते संवत्सरे शार्वरे, शुद्धश्रावणभाक्कृतान्तधरणीसुग्मेश्वमेघे रवौ। कर्किस्थे सगुरौ जिनस्मरणतो वादीन्द्रवृन्दार्चितः विद्यानन्दमुनीश्वरः स गतवान् स्वर्गं चिदानन्दकः ॥'—प्रशस्तिसं. पृ. १२८ से उद्धृत।

समकालीन हैं। इन्होंने नञ्जराज, देवराज, कृष्णराज आदि अनेक राजाओंकी सभाओंमें जा-जाकर इतर विद्वान् वादियोंसे शास्त्रार्थ किये थे और उनमें विजय तथा यश दोनों प्राप्त किये थे। ये वादी होनेके साथ तार्किक, कवि, समालोचक और जैनधर्मके प्रभावशाली प्रचारक भी थे। इन्होंने गेरुसोप्पे, कोपण, श्रवणबेलगोल आदि स्थानोंमें अनेक धार्मिक कार्य किये हैं। इनके देवेन्द्रकीर्ति, वर्द्धमानमुनीन्द्र, अकलंक, विद्यानन्दमुनीश्वर आदि अनेक शिष्य हुए हैं और इन सभी गुरु-शिष्योंने विजयनगर के राजाओंको खूब प्रभावित किया है तथा जैनधर्मकी उनमें अतिशय प्रभावना की है। श्री. पं. के. भुजबलीजी शास्त्रीके उल्लेखानुसार[1] स्वर्गीय आर. नरसिंहाचार्यका अनुमान है कि ये विद्यानन्द मल्लातकीपुर अर्थात् गेरुसोप्पेके रहनेवाले थे और इन्होंने कन्नडभाषामें 'काव्यसार'के अतिरिक्त एक और ग्रन्थ रचा था। शास्त्रीजीने इनके बारेमें यह भी लिखा है कि 'गेरुसोप्पेमें इन (विद्यानन्द)का एकछत्र आधिपत्य था।' उपर्युक्त शिलालेखमें इन्हीं विद्यानन्दको 'बुधेशभवनव्याख्यान'का कर्ता बतलाया है[2]।

दूसरे विद्यानन्द वे हैं जिनका उल्लेख उपर्युक्त हुम्बुच्चके शिलालेख और 'दशभक्त्यादिमहाशास्त्र' दोनोंमें हुआ है और जिन्हें उक्त विद्यानन्दका ही शिष्य बतलाया गया है[3]। आश्चर्य नहीं, ये वही विद्यानन्द हों जिन्हें श्रुतसागरसूरि (वि. सं. १६वीं शती) ने अपने प्रायः सभी ग्रन्थोंमें गुरुरूपसे स्मरण किया है और उन्हें देवेन्द्रकीर्तिका शिष्य बतलाया है[4]। परन्तु इसमें दो बाधाएँ आती हैं। एक यह कि श्रुतसागरसूरिके गुरु विद्यानन्दिका भट्टारक-पट्ट गुजरातमें ही किसी स्थान (सम्भवतः सूरत) में बतलाया जाता है[5] जबकि इन दूसरे विद्यानन्दका अस्तित्व विजयनगर (कर्णाटकदेश) में पाया जाता है। दूसरी बाधा यह है कि श्रुतसागरसूरिने अपने गुरु विद्यानन्दिको देवेन्द्रकीर्तिका और देवेन्द्रकीर्तिको पद्मनन्दिका शिष्य और

---

१. इनके विशेष परिचयके लिये देखिए, डा. सालेतोर 'Vadi Vidyananda A Renowned Jain Guru of Karnataka' नामक महत्त्वपूर्ण लेख, जो 'जैनएन्टिक्वेरी' भाग ४, नं. १ में प्रकट हुआ है, तथा देखिए, प्रशस्ति सं. पृ. १२५-१४१।
२. प्रशस्ति सं. पृ. १२८।
३. वही पृष्ठ १४४।
४. 'अनेकान्त' वर्ष १, किरण २, पृ. ७१।
५. 'विद्यानन्दार्यतनयो भाति शास्त्रधुरन्धरः।
वादिराजशिरोरत्नं विद्यानन्दमुनीश्वरः ॥'—प्रशस्ति सं. पृ. १२७।
६. 'श्रीदेवेन्द्रकीर्तिविबुधमनुष्यस्तस्य पट्टाब्धिचन्द्रो,
विद्यानन्दी गुरुरमलतपा भूरिभव्याब्जभानुः।
[illegible] क्रियासः ॥४७॥' —[illegible]
७. 'जैन साहित्य और इतिहास' पृष्ठ ४०१।

उत्तराधिकारी प्रकट किया है[1] जबकि वर्द्धमान मुनीन्द्रके 'दशभक्त्यादिमहाशास्त्र' और हुम्बुच्चके शिलालेख (नं. ४६) में दूसरे विद्यानन्दिको प्रथम वादिविद्यानन्दका तनय—शिष्य तथा इन्हीका शिष्य देवेन्द्रकीर्तिको बतलाया है। इन दो बाधाओंसे सम्भव है कि उक्त दूसरे विद्यानन्द श्रुतसागरसूरिके गुरु न हों और श्रुतसागरसूरिके गुरु विद्यानन्द उनसे अलग ही हों। यदि यह सम्भावना ठीक हो[2] तो कहना होगा कि तीन विद्यानन्दोंके अलावा चौथे विद्यानन्द भी हुए हैं, जो श्रुतसागरसूरिके गुरु, देवेन्द्रकीर्तिके शिष्य और पद्मनन्दिके प्रशिष्य थे और गुजरातके किसी स्थानपर भट्टारकपट्टपर प्रतिष्ठित थे। हमें यह भी सन्देह होता है कि दूसरे विद्यानन्दका उल्लेख भ्रान्त न हो, क्योंकि प्रथम विद्यानन्दकी तरह दूसरे विद्यानन्द मुनीश्वरका दशभक्त्यादिमहाशास्त्र और हुम्बुच्चके शिलालेखमें नामोल्लेखके सिवाय विशेष कथन कुछ भी नहीं किया गया है और इसलिये आश्चर्य नहीं कि प्रथम और दूसरे विद्यानन्द एक हों। जो हो[3]।

तीसरे विद्यानन्द प्रस्तुत ग्रन्थके कर्ता प्रसिद्ध और पुरातनाचार्य तार्किक शिरोमणि विद्यानन्दस्वामी हैं जो तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि सुप्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थों के निर्माता हैं और जिनके सम्बन्धमें ही यहाँ विचार प्रस्तुत है।

---

१. 'स्वस्ति श्रीमूलसंघे भवदमरनुतः पद्मनन्दी मुनीन्द्रः,
शिष्यो देवेन्द्रकीर्तिर्लसदमलतया भूरिभट्टारकेज्य' ।
श्रीविद्यानन्दिदेवस्तदनु मनुजराजार्च्यरम्यपुग्म-
स्तच्छिष्येणारचीदं श्रुतजलधिना शास्त्रमानन्दहेतुः' ॥९६॥—चन्दनषष्ठिकथा।

२. ठीक होनेका एक पुष्ट प्रमाण भी है। वह यह कि श्रुतसागरसूरिके गुरु विद्यानन्दिने, जिन्हें मुमुक्षु विद्यानन्दि भी कहा जाता है, अपने सुदर्शनचरितकी रचना गांधारपुरी (गुजरात) में वहाँके जिनमन्दिरमें की है। जैसाकि उनके सुदर्शनचरितके निम्न दो प्रशस्तिपद्योंसे प्रकट है—

गान्धारपुर्यां जिननाथचैत्ये छत्रध्वजाभूषितरम्यदेशे ।
कृतं चरित्रं स्वपरोपकार-कृते पवित्रं हि सुदर्शनस्य ॥१०६॥

—उद्धृत जैनप्रशस्तिसंग्रह पृ. १२।

इससे ज्ञात होता है कि श्रुतसागरसूरिके गुरु और देवेन्द्रकीर्तिके शिष्य विद्यानन्दि गुजरातमें सम्भवतः सूरत या गान्धारपुरीके, जिसे गांधारमहानगर भी कहा गया है (श्रीप्रशस्तिसंग्रह द्वि. भा. पृ. १८, प्रति ७३), पट्टाधीश होंगे और इसलिए ये विद्यानन्दि उक्त दूसरे विद्यानन्दसे, जिनका अस्तित्व विजयनगर (कर्नाटक देश) में पाया जाता है, भिन्न सम्भव हैं। —सम्पादक।

३. मुख्तारसाहबके पुस्तकभण्डारमें 'दशभक्त्यादिमहाशास्त्र' की एक प्रति मौजूद है, जो हमें उनसे देखनेको प्राप्त हुई है। यह प्रति आराकी प्रतिपरसे तैयार की गई है। इसमें बहुत ही घुटाला, पुनरुक्तियाँ और स्खलन हैं। इसमें उल्लिखित विद्वानोंका क्रमबद्ध निर्णय करनेके लिए बड़े परिश्रम और समयकी अपेक्षा है। —सम्पादक।

विद्यानन्द और पात्रकेसरी (पात्रस्वामी) की एकताका भ्रम :

आजसे कोई सोलह-सतरह वर्ष पहले तक यह समझा जाता था कि आ. विद्यानन्दस्वामी और पात्रकेसरी अथवा पात्रस्वामी एक हैं—एक ही विद्वान्के ये दो नाम हैं[1] परन्तु यह एक भारी भ्रम था। इस भ्रमको श्री पं. जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपने 'स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्द' शीर्षक एक खोजपूर्ण लेखद्वारा दूर कर दिया है।[2] इस लेखमें आपने अनेक प्रबल और दृढ प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया है कि "स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्द दो भिन्न आचार्य हुए हैं—दोनोंका व्यक्तित्व भिन्न है, ग्रन्थसमूह भिन्न है और समय भी भिन्न है।" स्वामी पात्रकेसरी अकलंकदेव (वि. की ७वीं-८वीं शती) से बहुत पहले हो चुके हैं और विद्यानन्द उनके बाद हुए हैं। और इसलिये इन दोनों आचार्योंके समयमें शताब्दियोंका—कमसे कम दो-सौ वर्षका—अन्तर है। मुख्तारसा. ने 'सम्यक्त्वप्रकाश' आदि कतिपय ग्रन्थोंके भ्रामक उल्लेखोंका, जो उक्त दोनों आचार्योंकी अभिन्नताको सूचित करते थे और जिनपरसे दोनों विद्वानाचार्योंकी अभिन्नताकी भ्रान्ति फैल गई थी, अच्छा निरसन किया है और उनकी भूलें दिखलाई हैं। हम ऊपर कह आये हैं कि हुम्मचके शिलालेख नं. ४६ (ई० १५३०) में जिन विद्यानन्दके शास्त्रार्थों और विजयोंका उल्लेख किया गया है वे प्रथम नं. के वादि विद्यानन्द हैं, जिनका समय ११वीं शती है—ग्रन्थकार विद्यानन्दका उन शिलालेखगत शास्त्रार्थों और विजयोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है और इसलिये जो विद्वान् उक्त शिलालेखको ग्रन्थकार विद्यानन्दके परिचयमें प्रस्तुत करके दोनों विद्यानन्दोंको अभिन्न समझते थे, यह भी एक भ्रम था और वह भी मुख्तारसा० के उक्त लेख तथा इस स्पष्टीकरणद्वारा दूर हो जाता है। और इस तरह अब सभी विद्वान्[3] एक मत हैं कि स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्द जुदे-जुदे दो आचार्य हैं और दोनों भिन्न-भिन्न समयमें हुए हैं। तथा वादी विद्यानन्द भी इनसे पृथक् हैं और विभिन्नकालीन हैं।

जीवन-वृत्त :

कुमारजीवन और जैनधर्मग्रहण :

आ० विद्यानन्दके ब्राह्मणोचित प्रखर पाण्डित्य और महती विद्वत्तासे प्रतीत होता है कि वे ब्राह्मण और जैन विद्वानोंकी प्रसवभूमि दक्षिणके किसी प्रदेश (मैसूर अथवा उसके आस-पास[4]) में ब्राह्मणकुलमें पैदा हुए होंगे और इसलिए यह अनुमान किया जा सकता है कि वे बाल्यकालमें प्रतिभाशाली होनहार विद्यार्थी थे।

1. पं. नाथूरामजी प्रेमी द्वारा लिखित 'स्याद्वादविद्यापति विद्यानन्दि' [illegible] जैन हितैषी वर्ष ९, अंक ९।
2. अनेकान्त वर्ष १, किरण २।
3. [illegible] वर्ष ३, किरण ३ [illegible]
4. मालूम होता है कि आ. विद्यानन्द 'मैसूर' देशके रहने वाले थे।

साहित्यसे ज्ञात है[1] कि उनकी वाणीमें माधुर्य और ओजका मिश्रण था, व्यक्तित्वमें निर्भयता और तेजका समावेश था, दृष्टिमें नम्रता और आकर्षण था। धार्मिक जनसेवा और विनय उनके सहचर थे। ज्ञान-पिपासा और जिज्ञासा तो उन्हें सतत बनी रहती थी, जो भी विशिष्ट विद्वान्, चाहे बौद्ध हो, चाहे जैन, अथवा ब्राह्मण, मिलता उसीसे कुछ-न-कुछ ज्ञान प्राप्त करनेकी उनकी अभिलाषा रहती थी। ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न होनेके कारण वैशेषिक, न्याय, मीमांसा, वेदान्त आदि वैदिक दर्शनोंका कुमार अवस्थामें ही उन्होंने अभ्यास कर लिया था। इसके अलावा, वे बौद्धदर्शनके मन्तव्योंसे विशेषतया दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर आदि बौद्ध विद्वानोंके ग्रन्थोंसे भी परिचित हो चुके थे। इसी बीचमें समय-समयपर होनेवाले ब्राह्मण, बौद्ध और जैन विद्वानोंके शास्त्रार्थोंको देखने और उनमें भाग लेनेसे उन्हें यह भी जान पड़ा कि अनेकान्त और स्याद्वादसम्बन्धी जैन विद्वानोंकी युक्तियाँ एवं तर्क अत्यन्त सबल और अकाट्य हैं और इसलिए स्याद्वाददर्शन ही वस्तुदर्शन है। फिर क्या था, उन्हें जैनदर्शनको विशेष जाननेकी भी तीव्र आकांक्षा हुई और स्वामी समन्तभद्रका देवागम, अकलंकदेवकी अष्टशती, आचार्य उमास्वाति (श्रीगृद्धपिच्छाचार्य) का तत्त्वार्थसूत्र और कुमारनन्दिका वादन्याय आदि जैनदार्शनिक ग्रन्थ उनके हाथ लग गये। परिणामस्वरूप विद्यानन्दने जैनदर्शन अंगीकार कर लिया और नन्दिसंघके[2] किसी अज्ञातनाम जैनमुनिद्वारा जैनधर्म तथा जैनसाधुकी दीक्षा ग्रहण कर ली। प्रतीत होता है कि विद्यानन्द अब तक गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट नहीं हुए थे और ब्रह्मचर्य-पूर्वक रह रहे थे, क्योंकि प्रथम तो वे अभीतक लगभग अठारह-बीस वर्षके ही हो पाये थे और विद्याध्ययनमें ही लगे हुए थे। दूसरे, उन्होंने जिन नव (९) महान् दार्शनिक ग्रन्थोंकी रचना की है उनको देखकर हम ही नहीं, कोई भी विचारशील यह अनुमान कर सकता है कि वे अखण्ड ब्रह्मचारी थे, अखण्ड क्योंकि ब्राह्म तेजके बिना इतने विशाल और सूक्ष्म पाण्डित्यपूर्ण एवं प्रखर विद्वत्तासे भरपूर ग्रन्थोंका प्रणयन सम्भव नहीं है। स्वामी वीरसेन और जिनसेन अखण्ड ब्रह्मचारी रहकर ही धवला, जय-धवला जैसे विशाल और महान् ग्रन्थ बना सके हैं। दक्षिणी ब्राह्मणोंमें यह अब भी प्रथा मौजूद है कि बच्चेके उपनयन और विद्याभ्यास संस्कारके बाद जब तक उसका विद्याभ्यास पूरा नहीं हो लेता तब तक वे उसका विवाह—पाणिग्रहण नहीं करते हैं। इस तथ्यको अथवा सम्प्रदायविशेषके रीति-रिवाजको जब हम सामने रखते हैं तो यह

---

१. विद्यानन्दके अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थोंको देखिये उन सबमें उनकी वाणीमें, व्यक्तित्वमें और शैलीमें ये सभी गुण देखनेको मिलते हैं। उनके श्लोकवार्तिक (पृ. ४५३) गत निम्न स्वोपज्ञ पद्यमें भी इन गुणोंका कुछ आभास मिलता है—

अर्हत्सूक्तपरता वैयावृत्योद्यमो विनीतत्वम्।
आर्जव-मार्दव-धार्मिक-जनसेवा-मित्रभावाद्याः ॥

२. शक सं. १३२० के उत्कीर्ण एक शिलालेख (नं. १०५) में, नन्दिसंघके मुनियोंमें विद्यानन्दको भी गिनाया है और उनका वहाँ सन्दन्त नामोंवाले आचार्योंमें प्रथम स्थान है। इससे जान पड़ता है कि विद्यानन्द नन्दिसंघमें दीक्षित हुए थे।

मालूम होता है कि कुमार विद्यानन्दका भी उस समय जब वे लगभग बीस वर्षके और विद्याभ्यास चल रहा था, विवाह नहीं हुआ था और जब वे जैनधर्ममें दीक्षित हो गये तथा जैनसाधु बन गये तब उनके विवाह होनेका प्रसंग ही नहीं आया। अतः यदि यह कल्पना ठीक हो तो कहना होगा कि विद्यानन्दने गृहस्थाश्रममें प्रवेश नहीं किया और वे जीवनपर्यन्त अखण्ड ब्रह्मचारी रहे।

यहाँ कहा जा सकता है कि विद्यानन्दने जिस तीक्ष्णतासे वैशेषिक आदि वैदिक दर्शनोंका निरसन किया है और जैनदर्शनका बारीकी तथा मर्मज्ञतासे समर्थन किया है उससे यह जान पड़ता है कि विद्यानन्द वैदिक ब्राह्मण न होंगे, जैनकुलोत्पन्न होंगे। इसका समाधान यह है कि यदि नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि बौद्ध विद्वान् वैदिक ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न होकर कट्टरता और तीक्ष्णतासे वैशेषिक आदि वैदिक दर्शनोंके मन्तव्योंका खण्डन और बौद्धदर्शनका बड़ी सूक्ष्मतासे समर्थन कर सकते हैं, तथा इसी तरह यदि सिद्धसेन दिवाकर प्रभृति विद्वान् ब्राह्मणकुलमें पैदा होकर तीक्ष्णतासे ब्राह्मण दर्शनोंकी मान्यताओंकी आलोचना और जैनदर्शनका सूक्ष्मतासे प्रतिपादन कर सकते हैं तो विद्यानन्दके ब्राह्मणकुलोत्पन्न होकर ब्राह्मणदर्शनोंका निरसन करने और जैनदर्शनका सूक्ष्म विवेचन एवं समर्थन करनेमें कोई आश्चर्य अथवा सन्देहकी बात नहीं है। यह तो विचारपरिवर्तनकी चीज है, जो प्रत्येक विचारवान् व्यक्तिको सम्प्राप्त हो सकता है। दूसरे, 'विद्यानन्द' नामपरसे भी ज्ञात होता है कि उन्हें ब्राह्मण होना चाहिए, क्योंकि ऐसा नामकरण अक्सर ब्राह्मणों विशेषतया वेदान्तियोंमें होता है। आजकल भी प्रायः उन्हींमें विवेकानन्द, विद्यानन्द जैसे नाम पाये जाते हैं जब कि जैनोंमें उनका अभाव-सा है।

मुनिजीवन और जैनाचारपरिपालन तथा आचार्यपद

विद्यानन्दके मुनिजीवनपर भी एक दृष्टि डाल लेना चाहिए। जान पड़ता है, गुरुभक्तिविवेकी विद्यानन्द जैन-मुनि हो जानेके बाद लगातार कई वर्षों (कम-से-कम दस पाँच वर्ष) तक जैन-मुनिचर्या और जैनतत्त्वज्ञानके आकण्ठपान अभ्यासमें लगे रहे और यह ठीक भी है क्योंकि पहलेके संस्कारोंको एकदम परिवर्तित करना और जैनमुनिकी कठिनतम चर्याका निर्दोष शास्त्रविहित पालन करना नवदीक्षितके लिए पहले-पहल बड़ा कठिन प्रतीत होता है। अतएव यदि वे अपने दार्शनिक ग्रन्थोंके रचनाकालसे पूर्व कुछ वर्षों तक मुनिचर्या और विभिन्न शास्त्रोंके अध्ययन (पठन-पाठन-मनन) आदिमें रत रहे हों तो कोई असम्भव नहीं है। यद्यपि उन्होंने दार्शनिक ग्रन्थोंके सिवाय चारित्र सम्बन्धी कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं रचा, जिसपरसे उनके साधुजीवनके बारेमें कुछ विशेष जाना जाता, फिर भी उनके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और अष्टसहस्रीके दर्शित व्याख्यानोंपरसे उनके साधुजीवन अथवा साधुचर्याके बारेमें उनके किन्हीं विचार और आचारनिष्ठ विचार जाननेको मिलते हैं। यहाँ हम उनके दो विचारोंको प्रस्तुत करते हैं जिनसे उनकी चर्याका पाठक कुछ अनुमान कर सकते हैं।

है। केवल अकेले शरीरकी पीड़ा तो स्त्रीग्रहणमें स्त्रीकी अभिलाषाका कारण हो और वस्त्रादि ग्रहणमें ठण्डा आदिकी अभिलाषाका कारण न हो, इसमें नियामक कारण नहीं है। नियामक कारण तो मोहोदयका ही अन्तरंग कारण है जो वस्त्रग्रहण और स्त्रीग्रहण दोनोंमें समान है। अतः यदि स्त्रीग्रहणमें मूर्छा मानी जाती है तो वस्त्रग्रहणमें भी मूर्छा अनिवार्य है, क्योंकि बिना मूर्छाके वस्त्रग्रहण हो ही नहीं सकता।

शंका—यदि मुनि खण्डवस्त्रादि ग्रहण न करें—वे नग्न रहें तो उनके लिंगको देखनेसे कामिनियोंके हृदयमें विकारभाव पैदा होगा। अतः उस विकारभावको दूर करनेके लिए खण्डवस्त्रका ग्रहण उचित है?

समाधान—यह कथन भी शरीर विवेचनसे खण्डित हो जाता है, क्योंकि विकारभावको दूर करनेका भाव पैदा हो वस्त्राभिलाषाका कारण है। तात्पर्य यह कि यदि विकारभावको दूर करनेके लिए वस्त्रग्रहण होता है तो वस्त्राभिलाषाका होना अनिवार्य है। दूसरे, नेत्रादि सुन्दर अंगोंके देखनेसे भी कामिनियोंको विकारभाव उत्पन्न होना सम्भव है, अतः उनको ढकनेके लिए भी कपड़ेके ग्रहणका प्रसंग आवेगा, जैसे लिंगको ढकनेके लिए कपड़ेका ग्रहण किया जाता है। आश्चर्य है कि मुनि अपने हाथसे बुद्धिपूर्वक खण्डवस्त्रादिको लेकर धारण करता हुआ भी कामवासनादिकी मूर्छारहित बना रहता है? और जब यह अदोष एवं सम्भव माना जाता है तो स्त्रीका आलिंगन करता हुआ भी वह मूर्छारहित बना रहे, यह भी अदोष और सम्भव मानना चाहिए। यदि इसे अदोष और सम्भव नहीं माना जाता तो उसे (वस्त्रग्रहण करनेपर भी मूर्छा नहीं होती, इस बातको) भी अदोष एवं सम्भव नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह युक्ति और अनुभव दोनोंसे विरुद्ध है। अतः सिद्ध हुआ कि मूर्छाके बिना वस्त्रादिका ग्रहण सम्भव नहीं है, क्योंकि वस्त्रादिग्रहण मूर्छाजन्य है—वस्त्रादिका ग्रहण कार्य है और मूर्छा उसका कारण है और कार्य, कारणके बिना नहीं होता। पर, कारण कार्यके अभावमें भी रह सकता है और इसलिए मूर्छा तो वस्त्रादिग्रहणके अभावमें भी सम्भव है, जैसे भस्माच्छन्न अग्नि धूमके अभावमें।

शंका—यदि ऐसा है तो पिच्छी आदिके ग्रहणमें भी मूर्छा होना चाहिए?

समाधान—इसीलिए परमनिर्ग्रन्थता हो जानेपर परिहारविशुद्धिसंयमवालोंके उसका (पिच्छी आदिका) त्याग हो जाता है, जैसे सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यातसंयमवाले मुनियोंके हो जाता है। किन्तु सामायिक और छेदोपस्थापनासंयमवाले मुनियोंके संयमका उपकरण होनेसे प्रतिलेखन (पिच्छी आदि) का ग्रहण सूक्ष्म मूर्छाके सद्भावमें भी युक्त ही है। दूसरे, उसमें जैनमार्गका विरोध नहीं है। तात्पर्य यह कि जिन सामायिक और छेदोपस्थापना संयमवाले मुनियोंके पिच्छी आदिका ग्रहण है उनके सूक्ष्म मूर्छाका सद्भाव है और शेष तीन संयमवाले मुनियोंके पिच्छी आदिका त्याग हो जानेसे उनके मूर्छा नहीं है। दूसरी बात यह है कि मुनिके लिए पिच्छी आदिका ग्रहण जैनमार्गके अविरुद्ध है, अतः उसके ग्रहणमें कोई दोष नहीं है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि मुनि वस्त्र आदि भी ग्रहण करने लगें; क्योंकि वस्त्र आदि नाग्न्य और संयमके उपकरण नहीं हैं। दूसरे, वे जैनमार्गके विरोधी हैं। तीसरे, वे शरीरके उपभोगके साधन हैं। इसके अलावा, केवल तीन-चार पिच्छ व केवल

अलाबूपात्र—तूमरी (कमण्डलु) प्रायः मूल्यमें नहीं मिलते, जिससे उन्हें भी अनं
का साधन कहा जाय। निःसन्देह मूल्य देकर यदि पिच्छादिका भी
तो वह न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि उसमें सिद्धान्तविरोध है। मतलब यह कि पिच्छि
आदि न तो मूल्यवान् वस्तुएँ हैं और न दूसरोंके उपभोगकी चीजें हैं। अतः दू
लिए उनके ग्रहणमें मूर्छा नहीं है। लेकिन वस्त्रादि तो मूल्यवाली चीजें हैं और दूस
के उपभोगमें भी वे आती हैं, अतः उनके ग्रहणमें ममत्वरूप मूर्छा होती है।

शंका—क्षीणमोही बारहवें आदि तीन गुणस्थानवालोंके शरीरका ग्रहण सि
न्तमें स्वीकृत है, अतः समस्त परिग्रह मोह—मूर्छाजन्य नहीं है ?

समाधान—नहीं; क्योंकि उनके पूर्वभव सम्बन्धी मोहोदयसे प्राप्त आयु कर्म
कर्म-बन्धके निमित्तसे शरीरका ग्रहण है—वे उस समय उसे बुद्धिपूर्वक ग्रहण नहीं कि
हैं। और यही कारण है कि मोहनीयकर्मके नाश हो जानेके बाद उसको छोड़नेके लि
परमचारित्रका विधान है। अन्यथा उसका आत्यन्तिक त्याग सम्भव नहीं है। मतल
यह कि बारहवें आदि गुणस्थानवाले मुनियोंके शरीरका ग्रहण आयु आदि कर्मोंके
निमित्तसे है—इच्छापूर्वक नहीं है।

शंका—शरीरकी स्थितिके लिए जो आहार ग्रहण किया जाता है उससे मुनि
अल्प मूर्छा होना युक्त ही है ?

समाधान—नहीं; क्योंकि वह आहार ग्रहण रत्नत्रयकी आराधनाका कारण
स्वीकार किया गया है। यदि उससे रत्नत्रयकी विराधना होती है तो वह म
लिए अनिष्ट है। स्पष्ट है कि भिक्षाशुद्धिके अनुसार नवकोटि विशुद्ध आहार
करनेवाला मुनि कभी भी रत्नत्रयकी विराधना नहीं करता। अतः किसी प
ग्रहण मूर्छाके अभावमें किसीके सम्भव नहीं है और इसलिए तमाम परिग्रह
ही होता है, जैसे अब्रह्म।

विद्यानन्द इसी ग्रन्थमें एक दूसरी जगह और भी लिखते हैं[1] कि "जो वस
ग्रन्थ रहित हैं वे निर्ग्रन्थ हैं और जो वस्त्रादि ग्रन्थसे सम्पन्न हैं वे निर्ग्रन्थ नहीं
सग्रन्थ हैं, क्योंकि प्रकट है कि बाह्य ग्रन्थके सद्भावमें अन्तर्ग्रन्थ (मूर्छा) नाश न
होता। जो वस्त्रादिकके ग्रहणमें भी निर्ग्रन्थता बतलाते हैं उनके स्त्री आदिके ग्रहण

---

1. "वस्त्रादिग्रन्थसम्पन्नास्ततोऽन्ये नेति गम्यते
बाह्यग्रन्थस्य सद्भावे ह्यन्तर्ग्रन्थो न नश्यति ॥
ये वस्त्रादिग्रहेऽप्याहुर्निर्ग्रन्थत्वं यथोदितम्।
मूर्च्छानुद्भूतितस्तेषां स्त्र्याद्यादानेऽपि किं न तत् ॥
विषयग्रहणं कार्यं मूर्छा स्यात्तस्य कारणम्।
न च कारणविध्वंसे जातु कार्यस्य सम्भवः ॥
विषयः कारणं मूर्छा तत्कार्यमिति यो वदेत्।
तस्य मूर्छोद्भवोऽप्यत्वे विषयस्य न सिद्ध्यति ॥
तस्मान्मोहोदयान्मूर्छा स्वार्थे तस्य ग्रहस्ततः।
स, वस्त्रादिव स्वयं तस्य न नैर्ग्रन्थ्यं कदाचन ॥"—तत्त्वार्थश्लो., पृ. ५०७।

मूर्छाके अभावका प्रसंग आवेगा। विषयग्रहण कार्य है और मूर्छा उसका कारण है और इसलिए मूर्छारूप कारणके नाश हो जानेपर विषयग्रहणरूप कार्य कदापि सम्भव नहीं है। जो कहते हैं कि 'विषय कारण है और मूर्छा उसका कार्य है' तो उनके विषयके अभावमें मूर्छाकी उत्पत्ति सिद्ध नहीं होगी। पर ऐसा नहीं है, विषयोंसे दूर वनमें रहनेवालेके भी मूर्छा देखी जाती है, अतः मोहोदयसे अपने अभीष्ट अर्थमें मूर्छा होती है और मूर्छासे अभीष्ट अर्थका ग्रहण होता है। अतएव वह जिसके है उसके निर्ग्रन्थता कभी नहीं बन सकती। अतः जैनमुनि वस्त्रादि ग्रन्थ रहित ही होते हैं।"

मुनिप्रवर विद्यानन्दके इन युक्तिपूर्ण सुविशद विचारोंसे प्रकट है कि उनकी चर्या कितनी विवेकपूर्ण और जैनमार्गाविरुद्ध रहती थी और वे नाग्न्यको कितना अधिक महत्त्व प्रदान करते थे तथा मुनिमार्गके लिए उसका युक्ति और शास्त्रसे निर्बाध समर्थन करते थे। वे यह सदैव अनुभव करते थे कि यदि साधु लज्जा अथवा अन्य किसी कारणसे नाग्न्यपरीषहको नहीं जीत सकते हैं और इसलिए वस्त्रादि ग्रहण करते हैं तो वे कदापि निर्ग्रन्थ और अप्रमत्त नहीं हो सकते हैं; क्योंकि वस्त्रादिग्रहण तभी होता है जब मूर्छा होती है। मूर्छाके अभावमें वस्त्रग्रहण हो ही नहीं सकता। अतः जैनमार्ग तो पूर्ण नग्नताके आचरण और धारण करनेमें है। जब वे आहार (भिक्षा) के लिए जाते तो वे उसे रत्नत्रयकी आराधनाके लिए ही ग्रहण करते थे और इस बातका ध्यान रखते थे कि वह भिक्षाशुद्धिपूर्वक नवकोटि विशुद्ध हो और इस तरह वे रत्नत्रयकी विराधनासे बचे रहते थे। कदाचित् रत्नत्रयकी विराधना हो जाती तो उसका वे शास्त्रानुसार प्रायश्चित्त भी ले लेते थे। इस तरह मुनि विद्यानन्द रत्नत्रयरूपी भूरि भूषणोंसे सतत आभूषित रहते थे[1] और अपनी चर्याको बड़ी ही निर्दोष तथा उत्तमरूपसे पालते थे। ईसाकी ११वीं शताब्दीके विद्वान् आ. वादिराजने भी इन्हें न्यायविनिश्चयविवरणमें[2] एक जगह 'अनवद्यचरण' विशेषणके साथ समुल्लेखित किया है। यही कारण है कि मुनि-संघमें उन्हें श्रेष्ठ स्थान प्राप्त था और आचार्य जैसे महान् उच्चपदपर भी वे प्रतिष्ठित थे।

गुणपरिचय-दिग्दर्शन

दर्शनान्तरीय अभ्यास—यहाँ विद्यानन्दके कतिपय गुणोंका भी कुछ परिचय दिया जाता है। सबसे पहले उनके दर्शनान्तरीय अभ्यासको लेते हैं। आ. विद्यानन्द केवल उच्च चारित्राराधक तपस्वी आचार्य ही नहीं थे, बल्कि वे समग्र दर्शनोंके विशिष्ट अभ्यासी भी थे। वैशेषिक, न्याय, मीमांसा, चार्वाक, सांख्य और बौद्धदर्शनोंके मन्तव्योंको जब वे अपने ग्रन्थोंमें पूर्वपक्षके रूपमें जिस विद्वत्ता और प्रामाणिकतासे रखते हैं तब उससे लगने लगता है कि अमुक दर्शनकार ही अपना पक्ष उपस्थित कर रहा है। वे उसकी ओरसे ऐसी व्यवस्थित कोटि-उपकोटियाँ रखते हैं कि पढ़नेवाला कभी उकताता नहीं है और वह अपने आप आगे खिंचता हुआ चला जाता है तथा

---

१. 'स जयतु विद्यानन्दो रत्नत्रयभूरिभूषणः सततम्'—आप्तप० टीका, प्रश. पद्य १।

२. न्यायवि. वि. लि. पत्र ३८२।

फल जाननेके लिए उत्सुक रहता है। उदाहरणार्थ हम प्रस्तुत ग्रन्थके हो एक स्थल को उपस्थित करते हैं। प्रकट है कि वैशेषिकदर्शन ईश्वरको अनादि, सर्वज्ञ और सृष्टिकर्ता मानता है। विद्यानन्द उसकी ओरसे लिखते हैं :—

'नन्वीश्वरस्यानुपायसिद्धत्वमनादित्वात्साध्यते। तदनादित्वं च तनुकरणभुवनादौ निमित्तकारणत्वादीश्वरस्य। न चैतदसिद्धम्। तथा हि—तनुकरणभुवनादिकं विवादापन्नं बुद्धिमन्निमित्तकम्, कार्यत्वात्। यत्कार्यं तद्बुद्धिमन्निमित्तकं दृष्टं यथा वस्त्रादि। कार्यं चेदं प्रकृतम्, तस्माद् बुद्धिमन्निमित्तकम्। योऽसौ बुद्धिमांस्तद्धेतुः स ईश्वर इति प्रसिद्धं साधनं तदनादित्वं साधयत्येव। ......इति वैशेषिकाः समभ्यमंसत।'

अब उनका उत्तरपक्ष देखिए—

'तेऽपि न समञ्जसवाचः, तनुकरणभुवनादयो बुद्धिमन्निमित्तका इति पक्षस्य व्यापकानुपलम्भेन बाधितत्वात् कार्यत्वादिहेतोः कालात्ययापदिष्टत्वाच्च। तथा हि—तन्वादयो न बुद्धिमन्निमित्तकाः तदन्वयव्यतिरेकानुपलम्भात्। यत्र यदन्वयव्यतिरेकानुपलम्भस्तत्र न तन्निमित्तकत्वं दृष्टम्, यथा घटघटीशरावोदञ्चनादिषु कुविन्दाद्यन्वयव्यतिरेकाननुविधायिषु न कुविन्दादिनिमित्तकत्वम्, बुद्धिमदन्वयव्यतिरेकानुपलम्भश्च तन्वादिषु, तस्मान्न बुद्धिमन्निमित्तकत्वमिति व्यापकानुपलम्भः। तत्कारणकत्वस्य तदन्वयव्यतिरेकोपलम्भेन व्याप्तत्वात्, कुलालकारणकस्य घटादेः कुलालान्वयव्यतिरेकोपलम्भप्रसिद्धेः सर्वत्र बाधकाभावात्तस्य तद्व्यापकत्वव्यवस्थानात्। न चायमसिद्धः, तन्वादीनामीश्वरव्यतिरेकानुपलम्भस्य प्रमाणसिद्धत्वात्। स हि न तावत्कालव्यतिरेकः, शाश्वतिकत्वादीश्वरस्य कदाचिदभावासम्भवात्। नापि देशव्यतिरेकः, तस्य विभुत्वेन क्वचिदभावानुपपत्तेरीश्वराभावे कदाचित्[illegible]कार्याभावानिश्चयात्।'

उत्तरपक्षमें पूर्वपक्षकी तरह वही शैली और वही पंचावयववाक्यप्रयोग यहाँ मिलेंगे। हाँ, बौद्धों आदिके पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षमें उनकी मान्यतानुसार द्व्यवयव आदि वाक्यप्रयोग मिलेंगे। विद्यानन्दका वैशेषिक दर्शनका अभ्यास वस्तुतः विशेष प्रतीत होता है और उसकी विशदतम छटा उनके सभी ग्रन्थोंमें उपलब्ध होती है। जब मीमांसादर्शनकी भावना-नियोग और वेदान्तदर्शनकी विधिसम्बन्धी दुरूह चर्चा अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और अष्टसहस्रीमें विस्तारसे करते हैं तो उनका मीमांसा और वेदान्तदर्शनोंका गहरा और सूक्ष्म पाण्डित्य भी विदित हुए बिना नहीं रहता। जहाँ तक हम जानते हैं, जैनवाङ्मयमें यह भावना-नियोग-विधिकी दुरूह चर्चा सर्वप्रथम तीक्ष्णबुद्धि विद्यानन्द द्वारा ही लाई गयी है और इसलिए जैनदर्शनके लिए यह उनकी एक अपूर्व देन है। मीमांसादर्शनका जैसा और जितना साङ्गोपाङ्ग [illegible] तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें पाया जाता है वैसा और उतना जैनवाङ्मयकी अन्य रचनाओंमें दृष्टिगोचर नहीं है। इससे हम विद्यानन्दके मीमांसादर्शन और वेदान्तदर्शनके [illegible] अध्ययनका पता लगा सकते हैं। न्याय, सांख्य और चार्वाक दर्शनोंकी [illegible] विद्यानन्दको उन दर्शनोंका कितना भी [illegible] है। उनका बौद्धदर्शनका अभ्यास तो इसीसे मालूम हो जाता है कि [illegible]

ग्रन्थोंका प्रायः बहुभाग बौद्धदर्शनके मन्तव्योंकी विशद आलोचनाओंसे भरा हुआ है और इसलिए हम कह सकते हैं कि उनका बौद्धशास्त्र सम्बन्धी भी विशाल ज्ञान था। इस तरह विद्यानन्द भारतीय समग्र दर्शनोंके गहरे और विशिष्ट अध्येता थे। संक्षेपमें यों समझिये कि आचार्य विद्यानन्दने कणाद, प्रशस्तपाद, व्योमशिव, शंकर इन वैशेषिक ग्रन्थकारोंके, अक्षपाद, वात्स्यायन, उद्योतकर इन नैयायिक विद्वानोंके जैमिनि, शबर, कुमारिलभट्ट, प्रभाकर इन मीमांसक दार्शनिकोंके, ईश्वरकृष्ण, माठर, पतंजलि, व्यास इन सांख्ययोग विद्वानोंके, मण्डनमिश्र, सुरेश्वरमिश्र इन वेदान्त विद्वानोंके और नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर, जयसिंह-राशि इन बौद्ध तर्कग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंको विशेषतया अध्ययन और आत्मसात् किया था। इससे स्पष्ट है कि उनका दर्शनान्तरीय अभ्यास महान् और विशाल था।

जैनसाहित्याभ्यास—आ. विद्यानन्दको अपने पूर्ववर्ती जैनग्रन्थकारोंसे उत्तराधिकारके रूपमें जैनदर्शनकी भी पर्याप्त ग्रन्थराशि प्राप्त थी। आचार्य गृद्धपिच्छाचार्यका लघु, पर महागम्भीर और जैनवाङ्मयके समग्र सिद्धान्तोंका प्रतिपादक तत्त्वार्थसूत्र, उसकी पूज्यपादीय तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धि), अकलंकदेवका तत्त्वार्थवार्तिक और श्वेताम्बर परम्परामें प्रसिद्ध तत्त्वार्थभाष्य ये तीन तत्त्वार्थसूत्रकी टीकाएँ, आचार्य समन्तभद्रस्वामीके देवागम(आप्तमीमांसा), स्वयम्भूस्तोत्र और युक्त्यनुशासन ये तीन दार्शनिक ग्रन्थ और रत्नकरण्डश्रावकाचार यह उपासकग्रन्थ उन्हें प्राप्त थे। इनके अतिरिक्त, सिद्धसेनका सन्मतिसूत्र, अकलंकदेवके अष्टशती, न्यायविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह, लघीयस्त्रय, सिद्धिविनिश्चय ये जैनतर्कग्रन्थ, पात्रस्वामीका त्रिलक्षणकदर्थन, श्रीदत्तका जल्पनिर्णय और वादन्यायविचक्षण, कुमारनन्दिका वादन्याय ये जैनन्यायग्रन्थ उन्हें उपलब्ध थे। इनके अलावा, आ. भूतबलि तथा पुष्पदन्तकृत षट्खण्डागम, गुणधराचार्यकृत कषायपाहुड, यतिवृषभाचार्यकृत 'तिलोयपण्णत्ति', कुन्दकुन्दाचार्यकृत प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार आदि आगमग्रन्थ और पर्याप्त श्वेताम्बर ग्रन्थ उन्हें सुलभ थे। सैकड़ों ऐसे भी जैनाचार्य ग्रन्थकारोंके ग्रन्थ उन्हें प्राप्त थे, जिनका अथवा जिनके ग्रन्थोंका कोई नामोल्लेख न करके केवल उनके वाक्योंको 'उक्तं च' जैसे शब्दों द्वारा अपने प्रायः सभी ग्रन्थोंमें उन्होंने उद्धृत किया है। उदाहरणार्थ पत्रपरीक्षामें जिन्हीं पूर्वाचार्योंकी कुछ कारिकाएँ उन्होंने "तदुक्तं" करके उद्धृत की हैं। और प्रमाणपरीक्षामें 'अत्र संग्रहश्लोकाः' रूपसे सात कारिकाएँ उपस्थित की हैं जो पूर्वाचार्योंकी हेतुभेदोंका प्रतिपादन करनेवाली हैं। तात्पर्य यह कि जैनदार्शनिक, जैन आगमिक और जैनतात्त्विक साहित्य भी उन्हें विपुल मात्रामें प्राप्त

---

१. माधवके 'सर्वदर्शनसंग्रह' में जिन सोलह दर्शनोंका वर्णन किया गया है उनमें प्रसिद्ध छह दर्शनोंको छोड़कर शेष दर्शन आ. विद्यानन्दके बहुत पीछे प्रचलित हुए हैं और इसलिए उन दर्शनोंकी चर्चा उनके ग्रन्थोंमें नहीं है। दूसरे, उन शेष दर्शनोंका प्रसिद्ध वैदिक दर्शनोंमें ही समावेश है। यही कारण है कि आ. हरिभद्र आदिने प्रसिद्ध छह दर्शनोंका ही 'षड्दर्शनसमुच्चय' आदिमें संकलन किया है। अतः प्राचीन समयमें प्रसिद्ध छह दर्शन ही भारतीय समग्र दर्शन कहलाते थे। —सम्पा.।

था और उसका उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें खूब उपयोग किया है तथा अपने जैनदर्शन ज्ञानभण्डारको समृद्ध बनाया है।

सूक्ष्मप्रज्ञताविगुण-परिचय—अब हम विद्यानन्दके सूक्ष्मप्रज्ञता, [illegible] विचारणा आदि दो-एक गुणोंका दिग्दर्शन और कराते हैं।

जैनदर्शनमें गुण और पर्याययुक्तको द्रव्य कहा गया है[1]। इसपर शंका की [illegible] कि 'गुण' संज्ञा तो जैनेतरोंकी है, जैनोंकी नहीं है। जैनोंके यहाँ तो द्रव्य और [illegible] रूप ही तत्त्व वर्णित किया गया है और इसीलिए द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक [illegible] ही नयोंका उपदेश दिया गया है। यदि गुण भी कोई वस्तु है तो तद्विषयक [illegible] गुणार्थिक मूल नय भी होना चाहिए। परन्तु जैनदर्शनमें उसका उपदेश नहीं है?

इस शंकाका उत्तर सिद्धसेन, अकलंक और विद्यानन्द इन तीनों [illegible] तार्किकोंने दिया है। सिद्धसेन कहते हैं[2] कि गुण पर्यायसे भिन्न नहीं है—[illegible] ही 'गुण' शब्दका प्रयोग जैनागममें किया गया है और इसलिए गुण और [illegible] एकार्थक होनेसे पर्यायार्थिक और द्रव्यार्थिक इन दो ही नयोंका उपदेश है, गुणा[illegible] नयका नहीं, अतः उक्त शंका युक्त नहीं है।

अकलंकका कहना है[3] कि द्रव्यका स्वरूप सामान्य और विशेष है। सामान्य, उत्सर्ग, अन्वय, गुण ये सब पर्यायवाची हैं। तथा विशेष, भेद, प[illegible] एकार्थक शब्द हैं। उनमें सामान्यको विषय करनेवाला नय द्रव्यार्थिक नय है। विशेषको विषय करनेवाला नय पर्यायार्थिक नय है। सामान्य और विशे[illegible] दोनोंका अपृथक् सिद्धरूप समुदाय द्रव्य है। इसलिए गुणविषयक भिन्न तीसरा [illegible] नहीं है, क्योंकि नय अंशग्राही हैं और प्रमाण समुदायग्राही। अथवा, गुण और [illegible] अलग-अलग नहीं हैं—गुणोंका नाम ही पर्याय है। अतः उक्त दोष नहीं है।

सिद्धसेन और अकलंकके इस समाधानके बाद फिर प्रश्न उठाया हुआ [illegible] यदि गुण और पर्याय दोनों एक हैं—भिन्न नहीं हैं तो द्रव्यलक्षणमें उ[illegible] निवेश किस लिये किया जाता है? इस प्रश्नका सूक्ष्मप्रज्ञतासे भरा हुआ उत्तर [illegible] हुए विद्यानन्द कहते हैं[4] कि सहानेकान्तकी सिद्धिके लिए तो गुणयुक्तको द्र[illegible] गया है और क्रमानेकान्तके ज्ञानके लिए पर्याययुक्तको द्रव्य बतलाया गया है। [illegible] इसलिए गुण तथा पर्याय दोनोंका द्रव्यलक्षणमें निवेश युक्त है।

विद्यानन्दके इस युक्तिपूर्ण उत्तरसे उनकी सूक्ष्मप्रज्ञता और तीक्ष्ण बुद्धि[illegible] पता चलता है। उनके स्वतन्त्र और उदार विचारोंका भी हमें कितना ही [illegible] मिलता है। प्रकट है कि अकलंकदेव[5] और उनके अनुगामी आ. माणिक्यनन्दि [illegible]

---

1 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्।' —तत्त्वार्थसू. ५-३८।
2. सन्मतिसूत्र ३-९, १०, ११, १२, आदि की गाथाएँ।
3 तत्त्वार्थवा. ५-३७ पृ. २४३।
4 'गुणवद् द्रव्यमित्युक्तं सहानेकान्तसिद्धये। तथा पर्यायवद् द्रव्यं क्रमानेकान्तवित्तये ॥२॥' —तत्त्वार्थश्लोक., पृ. ४३८।
5. [illegible], का. ३१।
6 [illegible] ३-८ से ३-१०।

जैसे सूत्रोंद्वारा तर्कका भी समावेश हुआ है। यह दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओंमें कुछ पाठभेदके साथ समानरूपसे मान्य है और दोनों परम्पराओंके विद्वानोंने इसपर अनेक टीकाएँ लिखी हैं। उनमें आ. पूज्यपादकी तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धि), अकलंकदेवका तत्त्वार्थवार्तिक, प्रस्तुत आप्तपरीक्षाकार विद्यानन्दका तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (सभाष्य), श्रुतसागरसूरिकी तत्त्वार्थवृत्ति, श्वेताम्बर परम्परामें प्रसिद्ध तत्त्वार्थभाष्य और उसकी टीकाएँ तत्त्वार्थसूत्रकी विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण व्याख्याएँ हैं। विद्यानन्दने अपने प्रायः सभी ग्रन्थोंमें इसके सूत्रोंको बड़े आदरके साथ उद्धृत किया है। और प्रस्तुत 'आप्तपरीक्षा' का प्रासाद तो इसीके 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मंगलाचरण पद्यपर खड़ा किया गया है। ग्रन्थकारने अपने ग्रन्थोंमें सिर्फ एक ही जगह (तत्त्वार्थश्लोकवा., पृ. ६) आचार्यका 'गृद्धपिच्छाचार्य' नामसे उल्लेख किया है और सर्वत्र 'सूत्रकार' आदि नामोंसे ही उनका उल्लेख हुआ है।

२. समन्तभद्र स्वामी—ये विक्रमकी दूसरी-तीसरी शतीके महान् आचार्य[1] ये वीरशासनके प्रभावक, सम्प्रसारक और खास युगके प्रवर्तक हुए हैं। अकलंकदेवने इन्हें कलिकालमें स्याद्वादरूपी पुण्योदधिके तीर्थका प्रभावक बतलाया है।[2] आचार्य जिनसेनने इनके वचनोंको भ. वीरके वचनतुल्य प्रकट किया है[3] और एक शिलालेखमें तो भ. वीरके तीर्थकी हजारगुनी वृद्धि करनेवाला भी उन्हें कहा है।[4] वास्तवमें स्वामी समन्तभद्रने वीरशासनकी जो महान् सेवा की है वह जैनवाङ्मयके इतिहासमें स्मरणीय एवं अमर रहेगी। आ. विद्यानन्दने इनकी आप्तमीमांसा (देवागम) पर अकलंकदेवकी अष्टशतीको समाविष्ट करते हुए आठ हजार प्रमाण 'अष्टसहस्री' टीका लिखी है जिसे आप्तमीमांसालंकार और देवागमालंकार भी कहा जाता है। इनके दूसरे ग्रन्थ युक्त्यनुशासनपर भी इन्होंने 'युक्त्यनुशासनालंकार' नामक मध्यपरिमाणकी अत्यन्त विशद टीका रची है। विद्यानन्दने अपने सभी ग्रन्थोंमें इनकी देवागम, युक्त्यनुशासन और स्वयम्भूस्तोत्र इन दार्शनिक कृतियोंके उद्धरण दिये हैं। श्लोकवार्तिक (पृ. ४९७) में इनके उपासक ग्रन्थ रत्नकरण्डश्रावकाचारका भी अनुसरण किया है।[5]

---

१. स्वामीसमन्तभद्र और न्यायदी., प्रस्तावना, पृ. ८५।
२. अष्टश., पृ. २।
३. हरि., पृ. १-३०।
४. वेलूरताल्लुकेका शि. नं. १७।
५. तुलना कीजिए—
"त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये।
मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः ॥
अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि।
नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥
यदनिष्टं तद्व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्।
अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद्व्रतं भवति ॥"—रत्न. श्राव., श्लो. ८४,८५,८६।

रहित जल्पको वाद बतलाकर दोनोंको एक प्रकट किया है तथा विद्यानन्दके[1] उल्लेखानुसार उसमें उन्होंने तात्त्विक वादमें जय कही है। अतः सम्भव है कि श्रीदत्तके जल्पनिर्णयका अकलंकके 'जल्पसिद्धि' प्रस्तावपर प्रभाव हो। इस तरह आचार्य श्रीदत्तका समय वि. की तीसरीसे पाँचवीं शताब्दीका मध्यकाल पड़ता है।

४. सिद्धसेन—स्वामी समन्तभद्रके बाद और अकलंकदेवके पूर्व इनका उदय हुआ है। ये जैन परम्पराके प्रभावशाली जैन तार्किक हैं। ये जैनवाङ्मयमें सिद्धसेन दिवाकरके नामसे विशेष विश्रुत हैं[2]। इनका 'सन्मतिसूत्र' नामका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ स्वामी समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाकी तरह बहुत प्रसिद्ध है। इसमें उन्होंने स्वामी समन्तभद्र द्वारा प्रतिष्ठित स्याद्वाद और अनेकान्तवादका नयोंके विशद और विस्तृत विवेचन पूर्वक विभिन्न नयोंमें विभिन्न दर्शनोंका समावेश करके समर्थन किया है। अर्थात् स्वामी समन्तभद्रने जो आप्तमीमांसामें निरपेक्ष नयोंको मिथ्या और सापेक्ष नयोंको सम्यक् बतलाकर अनेकान्तवादकी प्रतिष्ठा की है उसीका समर्थन आ. सिद्धसेन दिवाकरने अपने हेतुवाद द्वारा इसमें किया है और एक-एक नयको लेकर हो[illegible] विभिन्न दर्शनोंके समन्वयकी अद्भुत प्रक्रिया प्रस्तुत की है। वास्तवमें जैनवाङ्मयमें जो उल्लेखनीय कृतियाँ हैं उनमें एक यह भी है। स्वामी वीरसेनने अपनी विशाल टीका धवलामें इसके वाक्योंको प्रमाणरूपमें प्रस्तुत किया है[3] और उसे 'सूत्र' रूपसे उल्लेखित किया है। अकलंकदेवने इनके इसी ग्रन्थगत केवलीके ज्ञान-दर्शन-अभेदवाद की, जो इन्हीं आ. सिद्धसेन द्वारा प्रतिष्ठित हुआ है, अपने तत्त्वार्थवार्तिक (पृ. [illegible]) में इनके [illegible] मे आलोचना की है। आ. विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ. ३) में इनके सन्मतिसूत्रके तीसरे काण्डगत "जो हेउवायपक्खम्मि" आदि ४५वीं गाथा उद्धृत की है। एक दूसरी जगह (तत्त्वार्थश्लो., पृ. ११४) 'जावदिया वयणवहा तावदिया होंति णयवाया' (सन्म. ३-४७) गाथाका संस्कृत रूपान्तर भी दिया है। न्यायावतार और द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशतिका ये दो ग्रन्थ भी इन्हीं सिद्धसेनके समझे जाते हैं। परन्तु ये दोनों ग्रन्थ एक-कर्तृक प्रणीत नहीं होते। न्यायावतारमें धर्मकीर्ति (ई. ६३५) के प्रमाणवार्तिक और न्यायबिन्दुगत शब्द और अर्थका अनुसरण पाया जाता है[4]। इससे अवग[illegible]

---

1. "तत्रेह तात्त्विके वादेऽकलङ्कैः कथितो जयः।
स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः ॥४६॥" —तत्त्वार्थश्लो., पृ. २८१।
2. हरिभद्र (८वीं, ९वीं शती) कृत तत्त्वार्थवृत्ति, पृ. २१।
3. धवला, पहली जिल्द, पृ. १५, ८०, १४६।
4. (क) 'न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य सम्भवः।
तस्मात् प्रमेयद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते ॥' —प्रमाणवा. ३-६३।
'प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्विधा मेयविनिश्चयात्।' —न्यायाव., श्लो. १।
(ख) 'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्' —न्यायबिन्दु, पृ. ११।
'अनुमानं तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात् समक्षवत्।' —न्यायाव., श्लो. ५।

कुमारिल[1] और पात्रस्वामी[2] का भी अनुसरण किया गया है। और ये तीनों विद्वान् ईसाकी सातवीं शताब्दीके माने जाते हैं। अतः न्यायावतार और उसके कर्ताको उनके बादका अर्थात् ८वीं शतीका होना चाहिए। अकलंकदेवने सन्मतिसूत्रगत केवलीके ज्ञानदर्शनोपयोगके अभेदवादका खण्डन किया है और पूज्यपादने केवल पूर्वागत केवलीके ज्ञानदर्शनोपयोगके युगपत्वादका समर्थन किया है—उन्होंने अभेदवादका खण्डन नहीं किया। यदि अभेदवाद पूज्यपादके पहले प्रचलित हो गया होता तो उनके द्वारा उसका आलोचन सम्भव था। अतः सन्मतिसूत्र और उसके कर्ताका समय अकलंक (७वी शती) और पूज्यपाद (६वीं शती) का मध्यवर्ती होना चाहिए अर्थात् ६ठी का उत्तरार्ध और ७वींका पूर्वार्ध (ई. ५७१ से ६५०) उनका समय मानना चाहिए। तीसरी द्वात्रिंशतिकाके १६वें पद्यका पहला चरण पूज्यपाद (६वीं शती) की सर्वार्थसिद्धिमें उद्धृत है। दूसरे, सन्मतिसूत्रमें केवलदर्शन तथा केवलज्ञानके अभेदवादका प्रतिपादन है और द्वात्रिंशतिकाओंमें उनके युगपत्वादका समर्थन है[3] जो पूर्वागत है। अतः इन दोनो कृतियोंमें विरोध तथा विभिन्न काल है—सन्मतिसूत्र पूज्यपादके उत्तरवर्ती रचना है और द्वात्रिंशतिकाएं (सब नहीं—प्रायः कुछ) उनके पूर्ववर्ती कृतियां हैं। इसके सिवाय न्यायावतार और सन्मतिसूत्र इन दोनोंका भी द्वात्रिंशतिकाओंके साथ विरोध है। प्रकट है कि न्यायावतार और सन्मतिसूत्रमें मति और श्रुत दोनोंको अभिन्न नहीं बतलाया—दोनों वहाँ भिन्नरूपमें ही निर्दिष्ट हैं। परन्तु निश्चयद्वा. (१९) में मति और श्रुत दोनोंको अभिन्न प्रतिपादन किया गया है[4]। यदि ये तीनों कृतियाँ एक व्यक्तिकी होतीं तो उनमें परस्पर विरुद्ध प्रतिपादन न होता। मालूम होता है कि यह बात प्रज्ञानयन पं. सुखलालजीको दृष्टिमें भी आयी है और इसलिए उन्होंने उसके समन्वयका प्रयास करते हुए लिखा है कि 'यद्यपि दिवाकरश्रीने अपनी बत्तीसी (निश्चय. १९) में मति और श्रुतके अभेदको स्थापित किया है फिर भी उन्होंने चिरप्रचलित मति-श्रुतके भेदकी सर्वथा अवगणना नहीं की है। उन्होने न्यायावतारमें आगम प्रमाणको स्वतन्त्ररूपसे निर्दिष्ट किया है। जान पड़ता है इस जगह दिवाकरश्रीने प्राचीन परम्पराका अनुसरण किया है और उक्त बत्तीसीमें अपना स्वतन्त्र मत व्यक्त किया है[5]।' परन्तु उनका यह समन्वय बुद्धिको नहीं लगता। कोई भी स्वतन्त्र विचारक अपने स्वतन्त्र विचारको प्राचीन परम्पराको अवगणनाके भयसे एक जगह उसका त्याग और दूसरी जगह अत्याग नहीं कर सकता। आ. विद्यानन्दने श्लोकवार्तिकमें प्रत्यभिज्ञानके दो भेद प्रतिपादन किये हैं और यह उनका स्वतन्त्र विचार है—अकलंकदेव आदिसे उनका यह भिन्न मत है। परन्तु उन्होने प्राचीन परम्पराको अवगणनाके भयसे किसी कृतिमें अपने इस स्वतन्त्र विचारको नहीं

---

१ कुमारिलका और न्यायावतारका प्रमाणलक्षणगत 'बाधवर्जित' विशेषण।

२. पात्रस्वामीकी 'अन्यथानुपपन्नत्वं' इत्यादि कारिका और न्यायावतारकी 'अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम्' कारिकाकी तुलना।

३. बत्तीसी २–२७, २–३०, १–३२।

४. 'वैयर्थ्यातिप्रसङ्गाभ्यां न मत्यभ्यधिकं श्रुतम्'–१९–१२।

५. ज्ञानबि, प्रस्ता., पृ. २४ का फुटनोट।

होता है—इसके अतो दूसरे ग्रन्थों (धवला टीका आदि) में भी पद्धति प्रतिपादित है। अतः दिगम्बरों अतो श्वेताम्बर विद्वानको गत
रखनेके लिए स्वतन्त्र थे। अतः उक्त तीनों ग्रन्थ एक सिद्धसेनद्वारा
इन्हें विभिन्नकालवर्ती तीन सिद्धसेनोंद्वारा अथवा तीन विद्वानोंद्वारा होने
'न्यायावतार'को सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेनकी रचना माननेमें जो
वैमेनस्य आता है वह नहीं आवेगा। विद्वानोंको इसपर सूक्ष्म और
करना चाहिए।

५ पात्रस्वामी—इनका दूसरा नाम पात्रकेसरी भी है। ये
दिङ्नाग (३४५-४२५ ई.) के उत्तरवर्ती और अकलंकदेव (७वीं शती)के पू
छठी, सातवीं शताब्दीके प्रौढ़ विद्वानाचार्य हैं। इन्होंने दिङ्नागके त्रिलक्षण
करनेके लिए 'त्रिलक्षणकदर्थन' नामका महत्त्वपूर्ण तर्कग्रन्थ रचा है, जो आ
है और जिसके उद्धरण तत्त्वसंग्रहादि विविध ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं। त्रिल
खण्डन करनेवाली 'अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्'।' आदि सुप्रसिद्ध
इन्हींकी है। अकलंकदेवने इस कारिकाको न्यायविनिश्चय (का. ३२३ के
दिया है और सिद्धिविनिश्चयके 'हेतुलक्षणसिद्धि' नामके छठें प्रस्तावके
उसे स्वामी (पात्रस्वामी) का 'अमलालीढ पद' कहा है। बौद्धविद्वान् शान्त
भी अपने तत्त्वसंग्रहमें उसे तथा उनकी कितनी ही दूसरी कारिका
'पात्रस्वामी' के नामसे दी हैं।[1] आ. विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ २०
'तथाह' और पृ. २०५ में 'हेतुलक्षणं वार्तिककारेणैवमुक्तं' तथा प्रमाणपरीक्षा, पृ
में 'तथोक्तं' शब्दोंके साथ उक्त कारिकाको दिया है। अन्य कितने ही ग्रन्थकारोंने
इस कारिकाको अपने ग्रन्थोंमें उद्धृत किया है।[2] न्यायावतारकार आ. सिद्धसेनने
उक्त कारिकाको सामने रखकर अपने न्यायावतारकी 'अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमी-
रितम्' आदि २२वीं कारिकाके पूर्वार्द्धका निर्माण ही नहीं किया, बल्कि 'ईरित'
शब्दके प्रयोगद्वारा उसकी प्रसिद्धि एवं अनुसरण भी ख्यापित किया है। इस तरह
पात्रस्वामीकी उक्त कारिका समग्र जैनवाङ्मयमें सुप्रतिष्ठित हुई है। पात्रस्वामीकी
दूसरी रचना पात्रकेसरीस्तोत्र (जिनेन्द्रगुणस्तुति) है जो एक स्तोत्रग्रन्थ है और
जिसमें आप्तस्तुतिके बहाने सिद्धान्तमतका प्रतिपादन किया गया है। इसमें कुल
पद्य हैं जो अत्यन्त गम्भीर और मनोहर हैं। इसपर एक संस्कृत टीका भी है।
टीकाके साथ यह स्तोत्र माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे तत्त्वानुशासनादिसंग्रहमें प्रकाशित हो
चुका है और केवल मूल प्रथमगुच्छकमें तथा मराठी अनुवाद सहित 'धीरुपासरंतांच'

---

१. का. १३६४ से १३७९ तककी १६ कारिकाएँ। तत्त्वसंग्रहकारने जिस शैलीसे इन
कारिकाओंको, जिनके मध्यमें 'नान्यथानुपपन्नत्वं' (१३६९) प्रसिद्ध कारिका भी है,
वहाँ दिया है उससे ये सोलह कारिकाएँ 'त्रिलक्षणकदर्थन' से उद्धृत हुई प्रतीत होती
और इसलिए ये सब पात्रस्वामीकी ही कृति जान पड़ती हैं।—सम्पा.।

२. अनन्तवीर्यकृत सिद्धिवि. टी. ।, धवला हे. प. १८५३, जैनतर्कवा., पृ. १३६, सूत्र
टी. २२५, प्रमाणमी, पृ. ४०, सन्मतिसूत्रटी., पृ. ६१ और ५६६, स्या. रत्ना.
पृ. ५२१।

त्र' के साथ प्रकट हो गया है। संस्कृतटीकाकारने इस स्तोत्रका दूसरा नाम हत्पंचनमस्कारस्तोत्र' भी दिया है।

६. भट्टाकलंकदेव—ये विक्रमकी सातवीं शतीके महान् प्रभावशाली और नवाङ्मयके अतिप्रकाशमान् उज्ज्वल नक्षत्र हैं। जैनसाहित्यमें इनका वही स्थान है ो बौद्धसाहित्यमें धर्मकीत्तिका है। जैनपरम्परामें ये 'जैनन्यायके प्रस्थापक' के रूपमें मृत किये जाते हैं। इनके द्वारा प्रतिष्ठित 'न्यायमार्ग' पर ही उत्तरवर्ती समग्र जैन किक चले हैं। आगे जाकर तो इनका वह न्यायमार्ग 'अकलंकन्याय' के नामसे ही सिद्ध हो गया। तत्त्वार्थवार्तिक, अष्टशती, न्यायविनिश्चय, लघीयस्त्रय और प्रमाण-ग्रह आदि इनकी अपूर्व और महत्त्वपूर्ण रचनाएं हैं। ये प्रायः सभी दार्शनिक कृतियाँ और तत्त्वार्थवार्तिकभाष्यको छोड़कर सभी गूढ एवं दुरवगाह हैं। अनन्तवीर्यादि टीकाकारोंने इनके पदोंकी व्यख्या करनेमें अपनेको असमर्थ बतलाया है। वस्तुतः अकलंकदेवका वाङ्मय अपनी स्वाभाविक जटिलताके कारण विद्वानोंके लिए आज भी दुर्गम और दुर्बोध बना हुआ है, जबकि उनपर टीकाएं भी उपलब्ध हैं। विद्यानन्दने पद-पदपर इनका अनुसरण किया है। अकलंकदेवकी अष्टशतीके गहरे प्रकाशमें ही

[illegible]

देवको उन्होंने एक जगह 'महान् न्यायवेत्ता' तक कहा है।[1] वस्तुतः अकलंकदेवके प्रति उनकी श्रद्धा और पूज्यबुद्धिके उनके ग्रन्थोंमें जगह-जगह दर्शन होते हैं और सर्वत्र अकलंकदेवके सूत्रात्मक कथनपर किया गया उनका विशद भाष्य मिलता है। इस तरह आ. भट्टाकलंकदेवका उनपर असाधारण प्रभाव है और इस प्रभावमें ही उन्होंने अपनी अलौकिक प्रतिभाको जागृत किया है।

७. कुमारनन्दि भट्टारक[2]—ये अकलंकदेवके उत्तरवर्ती और आ. विद्यानन्दके पूर्ववर्ती अर्थात् ८वीं, ९वीं शताब्दीके विद्वान् हैं। विद्यानन्दने इनका और इनके 'वादन्याय' का अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, प्रमाणपरीक्षा और पत्रपरीक्षामें नामोल्लेख किया है तथा वादन्यायसे कुछ कारिकाएँ भी उद्धृत की हैं। एक जगह तो विद्यानन्दने इन्हें 'वादन्यायविचक्षण' भी कहा है।[3] इससे उनका वादन्यायवैशारद्य जाना जाता है। इनका 'वादन्याय' नामका महत्त्वपूर्ण तर्कग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है, जिसके केवल उल्लेख ही मिलते हैं। बौद्ध विद्वान् धर्मकीत्तिने भी 'वादन्याय' नामका एक तर्कग्रन्थ बनाया है और जो उपलब्ध भी है। आश्चर्य नहीं, कुमारनन्दिके वादन्यायपर धर्मकीत्तिके वादन्यायके नामकरणका असर हो और इसीसे उन्हें अपना वादन्याय बनानेकी प्रेरणा मिली हो।

---

१. तत्त्वार्थश्लो., पृ. २७७।

२. 'न्यायदीपिका' प्रस्तावना, पृ. ८७।

३. 'कुमारनन्दिनश्चाहुर्वादन्यायविचक्षणाः।'—तत्त्वार्थश्लो., पृ. २८०।

विद्यानन्दका उत्तरवर्ती ग्रन्थकारोंपर प्रभाव :

अब हम आ. विद्यानन्दके उत्तरवर्ती उन ग्रन्थकार जैनाचार्यो... परिचय दे देना आवश्यक समझते हैं जिनपर विद्यानन्द और उनके... प्रभाव पड़ा है। वे ये हैं :—

१ माणिक्यनन्दि, २. वादिराज, ३. प्रभाचन्द्र, ४. अभयदेव, ... ६ हेमचन्द्र, ७ अभिनव धर्मभूषण और ८. उपाध्याय यशोविजय आदि...

१. माणिक्यनन्दि—ये नन्दिसंघके प्रमुख आचार्योंमें हैं। विन्ध्यगिरि... लेखोंमें-से सिद्धरवस्तीमें उत्तरकी ओर एक स्तम्भपर जो विस्तृत शिलालेख[1] है और जो शक सं. १३२०, ई. सन् १३९८ का है उसमें नन्दिसंघके वि... आचार्योंका उल्लेख है उनमें आ. माणिक्यनन्दिका भी नाम है।[2] ये अकलंक... कृतियोंके मर्मज्ञ और अध्येता थे। इनकी एकमात्र कृति 'परीक्षामुख' है। यह ... मुख अकलंकदेवके जैनन्यायग्रन्थोंका दोहन है और जैनन्यायका अपूर्व तथा प्रथम सूत्र... ग्रन्थ है। यद्यपि अकलंकदेव जैनन्यायकी प्रस्थापना कर चुके थे और ... अनेक महत्त्वपूर्ण न्यायविषयक स्फुट प्रकरण भी लिख चुके थे। परन्तु गौतमके न्याय... सूत्र, दिङ्नागके न्यायमुख, न्यायप्रवेश आदिकी तरह जैनन्यायको सूत्रबद्ध करनेवाला... 'जैनन्यायसूत्र' ग्रन्थ जैनपरम्परामें अबतक नहीं बन पाया था। इस कमीकी पूर्ति ... प्रथम आ. माणिक्यनन्दिने अपना 'परीक्षामुखसूत्र' लिखकर की जान पड़ती है। उनकी यह अपूर्व अमर रचना भारतीय न्यायग्रन्थोंमें अपना विशिष्ट स्थान रखती है। प्रमेयरत्नमालाकार लघु अनन्तवीर्य (वि. ११वीं, १२वी शती) ने तो इसे अकलंक... वचनरूप समुद्रको मथकर निकाला गया 'न्यायविद्यामृत'—न्यायविद्याका अमृत बतलाया है[3]। वस्तुतः इसमें अकलंकदेवके द्वारा प्रस्थापित जैनन्याय, जो उनके विभिन्न न्यायग्रन्थोंमें विप्रकीर्ण था, बहुत ही सुन्दर ढंगसे ग्रथित किया गया है। उत्तरवर्ती आ. वादिदेवसूरिके प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार और आ. हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमांसापर इसका अमिट प्रभाव है[4]। वादिदेवसूरिने तो इसका शब्दशः और अर्थशः पर्याप्त अनुसरण किया है। इस ग्रन्थपर आ. प्रभाचन्द्रने १२ हजार श्लोक... 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' नामकी विशालकाय टीका लिखी है। इनके कुछ ही पीछे... लघु अनन्तवीर्यने प्रसन्न रचनाशैलीवाली 'प्रमेयरत्नमाला' नामकी मध्यम परिमाण... पुष्ट सुविशद टीका लिखी है। इस प्रमेयरत्नमालापर भी अजितसेनाचार्यकी ...

---

१. शि नं. १०५ (२५४), शिलालेखसं., पृ. २००।
२. यथा—'विद्यानन्देन्द्र पद्माकर-वसु-गुण-माणिक्यनन्द्याह्वयाश्च।'
३. "अकलंकवचोऽम्भोधेरुद्दध्रे येन धीमता।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने ॥"—प्रमेयर. पृ. २।
४. 'अकलंकके वचनोंसे 'परीक्षामुख' कैसे उद्धृत हुआ है, इसके लिए देखो ... न्यायसूत्र और उसका उद्गम' शीर्षक लेख देखो, अनेकान्त वर्ष ५, किरण १-४ ... १२८।
... इन ग्रन्थोंको तुलना कीजिए।

तिदीपिका[1], पण्डिताचार्य चारुकीर्ति नामके एक अथवा दो विद्वानोंकी अर्थ-
काशिका[2] और प्रमेयरत्नमालालंकार[3] ये तीन टीकाएँ उपलब्ध होती हैं और जो
अभी अमुद्रित हैं। परीक्षामुखसूत्रके प्रथम सूत्रपर शान्तिवर्णीकी भी एक प्रमेय-
कण्ठिका[4] नामक अति लघु टीका पायी जाती है, यह भी अभी अप्रकाशित है।

आ. माणिक्यनन्दिका समय

यहाँ हमें आ. माणिक्यनन्दिके समय-सम्बन्धमें कुछ विशेष विचार करना इष्ट है। आ. माणिक्यनन्दि लघु अनन्तवीर्यके उल्लेखानुसार अकलंकदेव (७वीं शती) के वाङ्मयके मन्थनकर्ता हैं। अतः ये उनके उत्तरवर्ती और परीक्षामुखटीका (प्रमेयकमलमार्तण्ड) कार प्रभाचन्द्र (११वीं शती) के पूर्ववर्ती विद्वान् सुनिश्चित हैं। अब प्रश्न यह है कि इन तीन-सौ वर्षकी लम्बी अवधिका क्या कुछ संकोच हो सकता है ? इस प्रश्नपर विचार करते हुए न्यायाचार्य पं. महेन्द्रकुमारजीने लिखा है[5] कि 'इस लम्बी अवधिको संकुचित करनेका कोई निश्चित प्रमाण अभी दृष्टिमें नहीं आया। अधिक सम्भव यही है कि ये विद्यानन्दके समकालीन हो और इसलिए इनका समय ई. ९वीं शताब्दी होना चाहिए।' लगभग यही विचार अन्य विद्वानोंका भी है[6]।

मेरी विचारणा

१. अकलंक, विद्यानन्द और माणिक्यनन्दिके ग्रन्थोंका सूक्ष्म अध्ययन करनेसे प्रतीत होता है कि माणिक्यनन्दिने केवल अकलंकदेवके न्यायग्रन्थोंका ही दोहन कर अपना परीक्षामुख नहीं बनाया, किन्तु विद्यानन्दके प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि तर्कग्रन्थोंका भी दोहन करके उसकी रचना की है। नीचे हम दोनों आचार्योंके ग्रन्थोंसे कुछ तुलनात्मक वाक्य उपस्थित करते हैं—

(क) आ. विद्यानन्द प्रमाणपरीक्षामें प्रमाणसे इष्टसंसिद्धि और प्रमाणाभाससे इष्टसंसिद्धिका अभाव बतलाते हुए लिखते हैं :—

'प्रमाणादिष्टसंसिद्धिरन्यथाऽतिप्रसंगतः :'—पृ. ६३।

आ. माणिक्यनन्दि भी अपने परीक्षामुखमें यही कहते हैं :—

'प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः।'—पृ. १।

(ख) विद्यानन्द प्रमाणपरीक्षामें ही प्रामाण्यकी ज्ञप्तिको लेकर निम्न प्रतिपादन करते हैं :—

'प्रामाण्यं तु स्वतः सिद्धमभ्यासात्परतोऽन्यथा।'—पृ. ६३।

माणिक्यनन्दि भी परीक्षामुखमें यही कथन करते हैं :—

'तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च।'—१-१३।

१-४. प्रश. सं., पृ. १, ९६, ६८, ७२।

५. प्रमेयक. मा. प्रस्ता., पृ. ५।

६. न्यायकुमु. प्र. भा. प्रस्ता. (पृ. ११३) आदि।

३. मुनि नयनन्दिने अपभ्रंशमें एक 'सुदंसणचरिउ' लिखा है, जिसे उन्होंने
में रहते हुए भोजदेवके राज्यमें वि. सं. ११००, ई. सन् १०४३ में बनाकर
त किया है। इसकी प्रशस्तिमें[1] उन्होंने अपनी गुर्वावली भी दी है और उसमें
ा विद्यागुरु माणिक्यनन्दिको बतलाया है तथा उन्हें महापण्डित और अपनेको
ा विद्याशिष्य प्रकट किया है। प्रशस्तिमें उन्होंने यह भी बतलाया है कि धारा-
ी उस समय विद्वानोंके लिए प्रिय थी अर्थात् विद्याभ्यासके लिए विद्वान् दूर-दूरसे
र वहाँ रहते थे और इसलिए वह विद्वानोंको केन्द्र बनी हुई थी। प्रशस्तिगत
गुर्वावली इस प्रकार है—

आ. कुन्दकुन्दकी आम्नायमें
|
पद्मनन्दि
|
वृषभनन्दि (सम्भवतः चतुर्मुखदेव)
|
रामनन्दि
|
माणिक्यनन्दि (महापण्डित)
|
नयनन्दि (सुदंसणचरिउके कर्ता)
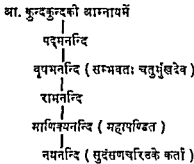
आ. प्रभाचन्द्र इन नयनन्दि (ई. १०४३)के समकालीन हैं, क्योंकि उन्होंने भो
ा (मालवा)में रहते हुए राजा भोजदेवके राज्यमें आ. माणिक्यनन्दिके परीक्षामुख-

---

[1] इस प्रशस्तिकी ओर मेरा ध्यान मित्रवर पं. परमानन्दजी शास्त्रीने खींचा है और यह मुझे अपने पास से दी है। मैं उसे साभार यहाँ दे रहा हूँ—

प्रशस्ति—जिणंदस्स वीरस्स तित्थे महंते। महाकुंदकुंदन्नए एंत संते।
सुणरक्खाहिहाणो तहा पोमणंदि। खमाजुत्त सिद्धंतउ विसहणंदी॥
जिणिंदागमाहासणो एयचित्तो। तवायारणिट्ठाए लद्धीयजुत्तो।
णरिंदामरिंदेहि सोणंदवंदी। हुऊ तस्स सीसो गणी रामणंदी॥
महापंडिऊ तस्स माणिक्कणंदी। भुजंगप्पहाऊ इमो णाम छंदी।

घत्ता—पढमसीसु तहो जायउ जगविक्खायउ मुणि णयणंदि अणिंदउ।
चरिउ सुदंसणणाहहो तेण अवाहहो विरइउ बुहअहिणंदिउ।
आरामगामपुरवरणिवेसे। सुपसिद्ध अवंती णामदेसे।
सुरवइपुरि व्व विबुहयणइट्ठु। तहि अत्थि धारणयरी गरिट्ठु।
रणउद्धवर अरिवरसेलवज्ज। रिद्धि देवासुर जणि चोज्ज रज्ज।
तिहुवणणारायण सिरिणिकेउ। तहि णरवइपुंगम, भोयदेउ।
मणिगणपहदूसियरविगभत्थि। तहि जिणहरु पउरि विहारु अत्थि।
णिवविक्कमकालहो ववगएसु। एयारह (११००) संवच्छरसएसु।'

'एत्थ सुदंसणचरिए पंचणमोक्कारफलपयासयरे माणिक्कणंदितइविज्जसीसुणयणंदिणा रइए....। संधि १२।'

२. आ. वादिराज—इन्होंने अपना 'पार्श्वनाथचरित' नामका काव्यग्रन्थ शक ९४७, ई. १०२५ में समाप्त किया है। अतः इनका समय ई. १०२५ सुनिश्चित है। कवि और तार्किक दोनों थे। न्यायविनिश्चयविवरण, प्रमाणनिर्णय ये दो तर्कग्रन्थ पार्श्वनाथचरित, यशोधरचरित ये दो काव्यग्रन्थ तथा एकीभावस्तोत्र आदि की रचनाएँ हैं। इन्होंने आ. विद्यानन्दका पार्श्वनाथचरित[1] और न्यायविनिश्चय-विवरण[2] (अन्तिम प्रशस्ति) में स्मरण किया है और उनके तत्त्वार्थालंकार (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक) तथा देवागमालंकार (अष्टसहस्री) की प्रशंसा करते हुए कहा है कि 'आश्चर्य है विद्यानन्दके इन दीप्तिमान् अलंकारोंको सुननेवालोंके भी अंगोंमें दीप्ति (आभा) आ जाती है—उन्हें धारण करनेवालोंकी तो बात ही क्या ?' न्यायविनिश्चयविवरणमें ये एक जगह लिखते हैं[3] कि यदि गुणचन्द्रमुनिर्न (?),

---

इससे स्पष्ट है कि नयनन्दिको यहाँ महापण्डित माणिक्यनन्दिके लिए न्यायशास्त्रका धुरन्धर विद्वान् बतलाना अभीष्ट है और ये माणिक्यनन्दि वे ही माणिक्यनन्दि होने चाहिए जो प्रत्यक्षपरोक्षप्रमाणप्रतिपादक परीक्षामुखके कर्ता हैं।

पण्डित परमानन्दजीसे 'सुदंसणचरिउ' की एक दूसरी प्रशस्ति भी प्राप्त हुई है। इस प्रशस्तिमें माणिक्यनन्दिकी जो गुरु-परम्परा दी है वह इस प्रकार है—कुन्दकुन्दकी आम्नायमें पद्मनन्दि, पद्मनन्दिके बाद विष्णुनन्दि, विष्णुनन्दिके बाद नन्दनन्दि, नन्दनन्दिके बाद विश्वनन्दि और विश्वनन्दिके बाद वृषभनन्दि हुए। इन वृषभनन्दिका शिष्य रामनन्दि हुए, जो अशेष ग्रन्थोंके पारगामी थे। इनका शिष्य त्रैलोक्यनन्दि हुए, जो गुणोंके आवास थे। इन त्रैलोक्यनन्दि के शिष्य ही प्रस्तुतमें 'महापण्डित' माणिक्यनन्दि थे, जो सुदर्शनचरितकार नयनन्दि (वि. सं. ११००) के गुरु थे और न्यायशास्त्रके बड़े विद्वान् थे।

"ऋजुसूत्रं स्फुरद्रत्नं विद्यानन्दस्य विस्मयः।
शृण्वतामप्यलङ्कारं दीप्तिरङ्गेषु रङ्गति ॥श्लोक २८॥"

"विद्यानन्दमनन्तवीर्यसुखदं श्रीपूज्यपाद दया-
पालं सन्मतिसागरं कनकसेनाराध्यमभ्युद्यमी।
शुद्ध्यन्नीतिनरेन्द्रसेनमकलङ्कं वादिराजं सदा
श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्रमतुलं वन्दे जिनेन्द्रं मुदा ॥२॥"

"देवस्य शासनमतीवगभीरमेतत्तात्पर्यतः क इव बोद्धुमतीवदक्षः।
विद्वान्न चेद् सद्गुणचन्द्रमुनिर्न विद्यानन्दोऽनवद्यचरणः सदनन्तवीर्यः॥
—न्यायवि. वि. लिखित पत्र ३८२।

मालूम नहीं, ये गुणचन्द्रमुनि कौन हैं और उन्होंने अकलङ्कदेवके कौन-से ग्रन्थकी व्याख्यादि की है? शायद यह पद अशुद्ध हो। फिर भी उक्त उल्लेखसे अकलंकके शासनके व्याख्याताके रूपमें उन्हें पृथक् व्यक्ति जरूर होना चाहिए। विद्यानन्दने अष्टशतीका अष्टसहस्री द्वारा, अनन्तवीर्यने सिद्धिविनिश्चयका सिद्धिविनिश्चयटीका द्वारा, वादिराजने न्यायविनिश्चयका न्यायविनिश्चयविवरण द्वारा और प्रभाचन्द्रने लघीयस्त्रयका लघीयस्त्रयालंकार (न्यायकुमुदचन्द्र) द्वारा अकलंकदेवके शासन (वाङ्मय) का तात्पर्य स्फोट किया है। प्रभाचन्द्र वादिराजके उत्तरवर्ती हैं और इसलिए 'सद्गुणचन्द्रमुनि' पदसे प्रभाचन्द्रका तो

अनवद्यचरण विद्यानन्द और सज्जन अनन्तवीर्य (रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्य) ये तीनों विद्वान् देव (अकलंकदेव) के गम्भीर शासनके तात्पर्यका स्फोट न करते तो उसे कौन समझानेमें समर्थ था?' प्रकट है कि आ. विद्यानन्दने अकलंककी अष्टशतीके तात्पर्यको अपनी अष्टसहस्रीद्वारा प्रकट किया है। इससे स्पष्ट है कि वादिराजसूरि आचार्य विद्यानन्द और उनके ग्रन्थोंसे काफी प्रभावित थे।

३. आ. प्रभाचन्द्र—ये जैनसाहित्यमें तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रके नामसे विश्रुत हैं। पहले कहा जा चुका है कि ये धारा (मालवा) में रहते थे और भोजदेव तथा जयसिंहदेवके समकालीन हैं। अतः इनका समय ई. १०१० से ई० १०६५ अनुमानित है। शिलालेखादिमें इनके पद्मनन्दि सैद्धान्त, चतुर्मुखदेव और ... ये तीन गुरु कहे गये हैं। इन्होंने प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण, शाकटायनन्यास, शब्दाम्भोजभास्कर, प्रवचनसारसरोजभास्कर, गद्यकथाकोष, रत्नकरण्डश्रावकाचारटीका, महाकवि पुष्पदन्तकृत महापुराणका टिप्पण, और समाधितन्त्रटीका आदि ग्रन्थोंकी रचना की है। इनमें गद्यकथाकोष स्वतन्त्र कृति है और शेष टीकाकृतियाँ हैं। विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा आदि ग्रन्थोंका इनके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें सर्वत्र प्रभाव व्याप्त है और उनके सन्दर्भके सन्दर्भ इनमें पाये जाते हैं। यहाँ हम दोनों आचार्योंके एक-दो ग्रन्थोंके दो सन्दर्भोंको नमूनेके तौरपर नीचे देते हैं :—

''ननु वादे सतामपि निग्रहस्थानानां निग्रहबुद्ध्योद्भावनाभावात् विजिगीषुत्वाभावः। तदुक्तं—तर्कशब्देन भूतपूर्वगतिन्यायेन वीतरागकथात्वमापनाद्भावनियमो ... तेन सिद्धान्ताविरुद्धः पंचावयवोपपन्न इति चोत्तरपदयोः समस्तनिग्रहस्थानानुपादानार्थत्वादेव प्रमाणबुद्ध्या परेण छलजातिनिग्रहस्थानानि प्रयुक्तानि न निग्रहबुद्ध्योद्भाव्यन्ते किन्तु निवारणबुद्ध्या तत्त्वज्ञानायावयवः प्रवर्तितं न सर्वदा ... दूषणाभावे वा तत्त्वज्ञानहेतुरतो न तत्प्रयोगो युक्तः इति तदेतदसंगतं। जल्पवितण्डयोरपि तयोर्दूषणनियमप्रसङ्गात्तयोस्तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणाय स्वयमभ्युपगमात्। छलजातिनिग्रहस्थानैः कर्तुमशक्यत्वात्। परस्य तूष्णीभावार्थं जल्पवितण्डयोरुपपादनमिति चेन्न, तथा परस्य तूष्णीभावाभावादसदुत्तराणामानन्त्यात्।'—तत्त्वार्थश्लो०, पृ. २७२।

'ननु वादे सतामप्येषां निग्रहबुद्ध्योद्भावनाभावान्न विजिगीषुत्वम्। तदुक्तम्—' तर्कशब्देन भूतपूर्वगतिन्यायेन वीतरागकथात्वज्ञापनादुद्भावननियमोपलक्षणम्, [ ] तेन सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः इति चोत्तरपदयोः ... निग्रहस्थानाद्युपलक्षणार्थत्वादप्रमाणबुद्ध्या परेण छलजातिनिग्रह...

पढ़ा नहीं किया जा सकता है। अतः इस पदका बाहर कोई अन्य पूर्वार्थ अर्थ होना चाहिए। परन्तु अब तक जैन साहित्यमें विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, ... इन चार विद्वानाचार्योंके सिवाय अकलंकके व्याख्याकार्य अन्य कोई दृष्टिगोचर नहीं होता। विद्वानोंको इस पदपर विचार करना चाहिए।—सम्पा०।

१. यह पद हमने संशोधन के लिए लगाया है।—सम्पा०।

कानि न निग्रहबुद्ध्योद्भाव्यन्ते किन्तु निवारणबुद्ध्या। तत्त्वज्ञानार्थयोः तेनं च साधनाभासो दूषणाभासो वा तदधेतुः। अतो न तत्प्रयोगो युक्त इति। यसाम्प्रतम्; जल्पवितण्डयोरपि तयोद्भावननियमप्रसंगात्। तयोस्तत्त्वाध्यवसाय-क्षणाय स्वयमन्युपगमात्। तस्य च छलजातिनिग्रहस्थानैः कर्तुमशक्यत्वात्। स्य तूष्णीभावार्थं जल्पवितण्डयोश्छलाद्युद्भावनमिति चेत्, न; तथा परस्य तूष्णीभावादसदुत्तराणामानन्त्यात्।'—प्रमेयक., पृ ६४७।

'परतन्त्रोऽसौ हीनस्थानपरिग्रहवत्त्वात्, कामोद्रेकपरतन्त्रवेश्यागृहपरिग्रहच्छोत्रियब्राह्मणवत्। हीनस्थानं हि शरीरं तत्परिग्रहवांश्च संसारी प्रसिद्ध एव। कथं पुनः शरीरं हीनस्थानमात्मनः इति, उच्यते; हीनस्थानं शरीरम् आत्मनो दुःखहेतुत्वात्, कस्यचित्कारागृहवत्। ननु देवशरीरस्य दुःखहेतुत्वाभावात्पक्षाव्यापको हेतुरिति चेत्, न; तस्यापि मरणे दुःखहेतुत्वसिद्धेः पक्षव्यापकत्वव्यवस्थानात्।' —आप्तपरीक्षा, पृष्ठ ३।

'तथा हि-परतन्त्रोऽसौ हीनस्थानपरिग्रहवत्त्वात्, मद्योद्रेकपरतन्त्राशुचिस्थानपरिग्रहवद्विशिष्टपुरुषवत्। हीनस्थानं हि शरीरं आत्मनो दुःखहेतुत्वात्कारागारवत्। तत्परिग्रहश्च संसारी प्रसिद्ध एव। न च देवशरीरे तदभावात्पक्षाव्याप्तिः, तस्यापि मरणे दुःखहेतुत्वप्रसिद्धेः।'-प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, पृष्ठ २४३।

निःसन्देह प्रभाचन्द्रको विद्यानन्दके ग्रन्थोंका खूब अभ्यास था और वे उनसे पर्याप्त प्रभावित थे। प्रमेयकमलमार्त्तण्डके प्रथम परिच्छेदके अन्तमें उन्होंने विद्यानन्दका श्लेषरूपमें निम्नप्रकार नामोल्लेख भी किया है :—

'विद्यानन्द-समन्तभद्रगुणतो नित्यं मनोनन्दनम्।'

४. आ. अभयदेव—इन्होंने सिद्धसेनके सन्मतिसूत्रपर तत्त्वबोधिनी नामकी सुविस्तृत टीका लिखी है। इसमें विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, प्रमाणपरीक्षा आदि ग्रन्थोंका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। सन्मतिसूत्रटीका (पृष्ठ ७४७, ७४९) में विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृष्ठ ४६४) गत वस्त्रादिग्रहणको ग्रन्थ और मूर्छाका कार्य बतलाने रूप मतका समालोचन भी किया गया प्रतीत होता है। इनका समय विक्रमकी १०वीं शताब्दीका उत्तरार्ध और ११वीका पूर्वार्द्ध बतलाया जाता है[1]। परन्तु न्यायाचार्य पं. महेन्द्रकुमारजी इन्हे विक्रमकी ग्यारहवींके उत्तरार्धका विद्वान् माननेमें भी बाधा नहीं समझते[2]। हमारा विचार है कि यदि इनकी सन्मतिसूत्रटीकापर आ. प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डका 'अकल्पित सादृश्य' है जैसा कि समझा जाता है[3] तो अभयदेवको प्रभाचन्द्र (ई. १०१० से १०८०) का समकालीन अथवा कुछ उत्तरवर्ती होना ही चाहिए। और उस हालतमें आ. अभयदेवका समय विक्रमकी ग्यारहवी शताब्दीका अन्तिम पाद और बारहवी शतीका पूर्वार्ध (वि. स. १०७१ से ११५०) अनुमानित होता है; क्योंकि पहले हम प्रमाणित कर आये हैं कि आ. प्रभाचन्द्रका प्रमेयकमलमार्त्तण्ड धारानरेश भोजदेवके राज्यकालके अन्तिम वर्षों—वि. सं. ११०० से ११०७ (ई. १०४३ से १०५०) के लगभगकी रचना है। पर ये दोनों

१. सन्मतितर्ककी गुजराती प्रस्तावना, पृ. ८३। २–३ प्रमेयक. मा. की प्रस्ता., पृ. ४६।

आचार्य एक-दूसरेके ग्रन्थोंसे अपरिचित प्रतीत होते हैं; क
केवलिकवलाहार, सवस्त्रमुक्ति और स्त्रीमुक्ति जैसे साम्प्रदायि
खण्डनमें जो उनकी ओरसे युक्तियाँ प्रतियुक्तियाँ दी गयी हैं ...
कोई प्रभाव नहीं देख पड़ता। आ. अभयदेवने तो प्रतिमाभूषण अ
साम्प्रदायिक विषयकी चर्चा की है और उसका कट्टर साम्प्रदायि
समर्थन भी किया है[1]। यदि सन्मतिसूत्रटीकाकार आ. अभयदेव
पूर्ववर्ती होते और प्रभाचन्द्रको उनकी सन्मतिसूत्रटीका मिली होती तो
प्रमेयकमलमार्तण्डमें खण्डन अवश्य करते। कम-से-कम इस नये (प्र
साम्प्रदायिक विषयकी तो आलोचना अथवा चर्चा जरूर ही करते। ...
उसकी आलोचना की और न चर्चा ही की है। आ. अभयदेवने भी आ. प्र
प्रमेयकमलमार्तण्डगत उक्त विषयोंकी खण्डन-युक्तियों एवं मुद्दोंका कोई आ
दिया और न उनका खण्डन ही किया है। यह असम्भव था कि अभय
प्रभाचन्द्रका प्रमेयकमलमार्तण्ड मिलता और वे उनके अपने विरुद्ध साम्प्र
मन्तव्योंका खण्डन न करते। अतः प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थकारोंको एक-दूसरे
ग्रन्थ प्राप्त नहीं हुए। और इसका कारण यह जान पड़ता है कि ये दोनों
सम्भवतः समकालीन हैं और उनके ग्रन्थ एक कालमें रचे गये हैं। इन दोनों
उपलब्ध 'अकल्पित सादृश्य' तो अन्य ग्रन्थों—'भट्टजयसिंहराशिका तत्त्वोपप्लव,
व्योमशिवकी व्योमवती, जयन्तकी न्यायमंजरी, शान्तरक्षित और कमलशील
तत्त्वसंग्रह और उसकी पंजिका तथा विद्यानन्दके अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक,
प्रमाणपरीक्षा आदि'—का भी हो सकता है, जैसा कि उक्त पण्डितजी स्वयं स्वीकार
भी करते हैं। हमारा कहना सिर्फ इतना और है कि प्रमेयकमलमार्तण्डका सन्मति
टीकामें और सन्मतिसूत्रटीकाका प्रमेयकमलमार्तण्डमें कोई ऐसा खास
प्रभाव नहीं देख पड़ता जो उन्हींका अपना हो। अतः सम्भव है ये दोनों आचार्य
समकालीन हों।

५. आ. वादिदेवसूरि—ये जैन तार्किकोंमें प्रमुख तार्किक गिने जाते हैं। वि
सं. ११४३ (ई. स. १०८६) में इनका जन्म और वि. सं. १२२६ (ई. स. ११६९)
स्वर्गवास कहा जाता है। इन्होंने 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार' नामका न्यायसूत्र
और उसपर स्वयं स्याद्वादरत्नाकर नामकी विशाल टीका लिखी है। हम पहले
आये हैं कि इनका प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार आ. माणिक्यनन्दिके परीक्षामुख
शब्दशः और अर्थशः अनुसरण है। इसके ६ परिच्छेद तो परीक्षामुखके ६ परिच्छेदों

---

१. "यद्यपि 'भगवत्प्रतिमाया न भूषा आभरणादिभिर्विधेया' इति स्वाग्रहग्रस्त
मिर्दिगम्बरैरुच्यते तदपि अर्हत्प्रणीतागमापरिज्ञानस्य विजृम्भितमुपलक्ष्यते, ...
शुभभावनिमित्ततया कर्मक्षयाऽन्यकारणत्वात्। तथा हि—भगवत्प्रतिमाया भूषणारोप
कर्मक्षयकारणम्, कर्तुर्मनःप्रसादजनकत्वात्।......एवमन्यदपि आगमबाह्यं शबलीकृत
परपरिकल्पितमागम-युक्तिप्रदर्शनेन प्रतिषेद्धव्यम्, न्यायविदः प्रदर्शितत्वात्। ...
अनधीताङ्गपयावत्परिभाविताग़मतात्पर्य ...
व्यवहितव्यम्।"—सन्मति. टी., पृ. ७५४-७५ ...

करते हैं उस (शक्तिविशेष) का वे संस्कार और धारणा इन शब्दों द्वारा [illegible] करते हैं, इसके अलावा वे उसका कोई निर्वचन नहीं कर सके। इस [illegible] प्रामाण्यमसे तो यही ठीक और संगत है कि धारणा अपरनाम संस्कार स्मृतिका कारण है और यह स्पष्ट है कि आत्मा प्रत्येक पर्यायमें अनुस्यूत रहता है। [illegible] नहीं है कि जो प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है वह सब तुरन्त नष्ट हो जाता है, [illegible] अवधि और मनःपर्ययज्ञान प्रत्यक्षात्मक होते हुए भी आत्माका अन्वय रहनेकी [illegible] स्थिति तक स्थिर रहते हैं। यही बात धारणाकी है। वह अपने कारणभूत [illegible] और वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमविशेषकी अपेक्षासे न्यूनाधिक काल तक [illegible] बनी रहती है[1]। जैनवाङ्मयमें जिसे स्मृतिजनकरूपसे धारणा कहा गया है और वैशेषिक दर्शनमें स्मृतिजनकरूपसे भावनाख्य संस्कार कहा गया है। 'संस्कार' [illegible] दूसरे दर्शनका पारिभाषिक शब्द है और धारणा जैनदर्शनका पारिभाषिक शब्द। उसका सर्वसाधारणपर अर्थ प्रकट करनेके लिए 'संस्कार इति यावत्' जैसे शब्दों [illegible] उसे उसका पर्यायवाची सूचित किया जाता है। इतनी विशेषता है कि जैनदर्शन[illegible] उसे ज्ञानात्मक बतलाया गया है क्योंकि उसका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है। यदि [illegible] ज्ञानात्मक न हो तो ज्ञानात्मक स्मृति आदिको वह उत्पन्न नहीं कर सकता। [illegible] वादिदेवसूरिकी आलोचना संगत प्रतीत नहीं होती।

६. हेमचन्द्र—ये व्याकरण, साहित्य, सिद्धान्त, योग और न्यायके प्रकाण्ड [illegible] थे। इन्होंने इन सभी विषयोंपर विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। प्रमाणमीमांसा [illegible] न्यायविषयक [illegible] रचना है। इसके सूत्र और उनकी स्वोपज्ञटीका दोनों ही सु[illegible] और बोधप्रद हैं। न्यायके प्राथमिक अभ्यासीके लिए परीक्षामुख और न्यायदीपिकाकी तरह इसका भी अध्ययन उपयोगी है। यह प्रमेयरत्नमालाकी कोटिका न्यायग्रन्थ है। इसमें परीक्षामुख [illegible] और प्रमेयरत्नमालाका शब्दशः और अर्थतः अनुसरण है। किन्तु [illegible] विद्यानन्दके प्रमाणपरीक्षा, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थोंका [illegible] है। ये वि. की १२वीं, १३वीं (वि. सं. ११४५ से वि. सं. १२२९, ई. सन् [illegible] से ई. सन् ११७३) शतीके विद्वान् माने जाते हैं[2]।

७. लघुसमन्तभद्र—ये विक्रमकी १३वीं शतीके विद्वान् हैं। इन्होंने [illegible] की अष्टसहस्रीपर 'अष्टसहस्रीविषमपदतात्पर्य टीका' लिखी है। टीका [illegible] और [illegible] है। यह अभी प्रकाशित नहीं हुई है। इसमें विद्यानन्दके [illegible] का उद्धरण है। इससे मालूम होता है कि लघुसमन्तभद्र विद्यानन्द और [illegible] बादके ग्रन्थकार थे।

८. अभिनव धर्मभूषण—ये विक्रमकी १५वीं शताब्दी (वि. सं. [illegible]

---

१. [illegible]

२. [illegible] आ., पृ. ११६।

३. [illegible]

४. [illegible]

सं. १४३५, ई. सन् १३५८ से १४१८) के प्रौढ़ विद्वान् हैं। इनकी न्यायविषयक उच्चकोटिकी संक्षिप्त एवं विशद रचना न्यायदीपिका सुप्रसिद्ध है। इसमें धर्मभूषणने अनेक जगह तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा आदि ग्रन्थोंके नामोल्लेखपूर्वक उद्धरण दिये हैं, इससे प्रकट है कि अभिनव धर्मभूषण विद्यानन्दके ग्रन्थोंके अच्छे अध्येता थे और वे उनसे प्रभावित थे।

९. उपाध्याय यशोविजय—ये विक्रमकी १८वीं शताब्दीके प्रतिभाशाली विद्वान् हैं। इन्होंने सिद्धान्त, न्याय, योग आदि विषयोंपर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। इनके ज्ञानबिन्दु, जैनतर्कभाषा ये दो तर्कग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं। जैनतर्कभाषामें अभिनव धर्मभूषण यतिकी न्यायदीपिकाका विशेष प्रभाव है। इसके अनेक स्थलोंको उन्होंने उसमें अपनाकर अपनी संग्राहक और उदार बुद्धिको प्रकट किया है। आ. विद्यानन्दके अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, प्रमाणपरीक्षा आदि ग्रन्थोंका इन्हें अच्छा अभ्यास ही नहीं था, बल्कि अष्टसहस्रीपर उन्होंने अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरण नामकी मध्यन्यायकी प्रौढ़ पूर्ण विस्तृत व्याख्या भी लिखी है जो वस्तुतः अपने ढंगकी अनोखी है। इससे प्रतीत होता है कि उपाध्याय यशोविजयजी भी विद्यानन्दके ग्रन्थोंसे प्रभावित थे और उनके प्रति उनका विशेष समादर था।

समय

आचार्य विद्यानन्दने अपने किसी भी ग्रन्थमें अपना समय नहीं दिया। अतः उनके समयपर प्रमाणपूर्वक विचार किया जाता है। न्यायसूत्रपर लिखे गये वात्स्यायनके[1] न्यायभाष्य और न्यायसूत्र तथा न्यायभाष्यपर रचे गये उद्योतकरके न्यायवार्तिक, इन तीनोंपर तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृष्ठ २०५, २०६, २८३, ३०९) आदिमें नामोल्लेखपूर्वक और बिना नामोल्लेखके भी सुविस्तृत समालोचन किया है। उद्योतकरका समय ६०० ई० माना जाता है। अतः विद्यानन्द ई० सन् ६०० के पूर्ववर्ती नहीं हैं।

२ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ. १००, ४२७) और अष्टसहस्री (पृ. २८४) आदि ग्रन्थोंमें विद्यानन्दने प्रसिद्ध वैयाकरण एवं शब्दाद्वैतप्रतिष्ठाता भर्तृहरिका नाम लेकर और बिना नाम लिये उनके 'वाक्यपदीय' ग्रन्थकी अनेक कारिकाओंको उद्धृत करके खण्डन किया है। भर्तृहरिका अस्तित्वसमय ई० सन् ६०० से ई० ६५० तक सुनिर्णीत है[2]। अतः विद्यानन्द ई. सन् ६५० के पूर्वकालीन नहीं हैं।

३. जैमिनि, शबर, कुमारिलभट्ट और प्रभाकर इन मीमांसक विद्वानोंके सिद्धान्तोंका विद्यानन्दने नामोल्लेख और बिना नामोल्लेखके अपने प्रायः सभी ग्रन्थोंमें निरसन किया है। कुमारिल भट्ट और प्रभाकरका समय ईसाकी सातवीं शताब्दी (ई. ६२५ से ३८०) है। अतः विद्यानन्द ई. सन् ६८० के पश्चाद्वर्ती हैं।

---

१. इनका समय प्रायः ईसाकी तीसरी, चौथी शताब्दी माना जाता है।

२. चीनी यात्री इत्सिंगने अपनी भारतयात्राका विवरण ई. सन् ६९१-९२ में लिखा है और उसमें उसने यह समुल्लेख किया है कि 'भर्तृहरिकी मृत्यु हुए ४० वर्ष हो गये'। अतः भर्तृहरिका समय ई. सन् ६५० तक निश्चित है। अकलङ्कग्र. की प्रस्तावना।

४. कणादके वैशेषिकसूत्र, और वैशेषिकसूत्रपर लिखे गये प्रशस्तपादके प्रशस्तपादभाष्य तथा प्रशस्तपादभाष्यपर भी रची गयी व्योमशिवाचार्यकी व्योमवती टीका का ग्रन्थकारने प्रस्तुत आप्तपरीक्षा[2] आदिमें आलोचन किया है। व्योमशिवाचार्यका समय ई. सन्‌की सातवीं शताब्दीका उत्तरार्द्ध[3] (ई. ६५० से ७०० तक) बतलाया गया है[3]। अतः विद्यानन्द ई० सन् ७०० के पूर्ववर्ती नहीं हैं।

५. धर्मकीत्ति और उनके अनुगामी प्रज्ञाकर तथा धर्मोत्तरका अष्टसहस्री पृ० ८१, १२२, २७८), प्रमाणपरीक्षा (पृ. ५३) आदिमें नामोल्लेखपूर्वक खण्डन किया गया है। धर्मकीतिका ई. ६२५, प्रज्ञाकरका ई. ७०० और धर्मोत्तरका ई. ७... अस्तित्वकाल माना जाता है[4]। अतः आ. विद्यानन्द ई. सन् ७२५ के पश्चात्कालीन हैं।

६. अष्टसहस्री (पृ. १८) में मण्डनमिश्रका नामोल्लेखपूर्वक आलोचन किया गया है और श्लोकवार्तिक (पृ. ९४) में मण्डनमिश्रके 'ब्रह्मसिद्धि' ग्रन्थके 'आहु-विधातृप्रत्यक्षं' पद्यवाक्यको उद्धृत करके कदर्थन किया गया है। शंकराचार्यके प्रधान शिष्य सुरेश्वरके बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक (३-५) से 'यथा विशुद्धमाकाशं ... तथेदममलं ब्रह्म' ये दो (४३, ४४वें) पद्य अष्टसहस्री (पृ. ९३) में बिना नामोल्लेखके और अष्टसहस्री (पृ. १६१) में 'वर्तुक्तं' बृहदारण्यकवार्तिके' शब्दोके उल्लेखपूर्वक उस वार्तिकग्रन्थसे ही 'आत्मापि सदिदं ब्रह्म', 'आत्मा ब्रह्मेति पारोक्ष्य-' ये दो पद्य उद्धृत किये हैं। मण्डनमिश्रका[5] ई. ६७० से ७२० और सुरेश्वरमिश्रका[6] ई. ७८८ से ८२० समय समझा जाता है। अतः आ. विद्यानन्द इनके पूर्ववर्ती नहीं हैं—सुरेश्वरमिश्रके प्रायः समकालीन हैं, जैसा कि आगे सिद्ध किया जायेगा। विद्यानन्दके ग्रन्थोंमें सुरेश्वरमिश्र (ई. ७८८-८२०) के उत्तरवर्ती किसी भी ग्रन्थकारका खण्डन न होनेसे सुरेश्वरमिश्रका समय विद्यानन्दकी पूर्वावधि समझना चाहिए।

अब हम आ. विद्यानन्दकी उत्तरावधिपर विचार करते हैं :—

१. वादिराजसूरिने अपने पार्श्वनाथचरित (श्लोक २८) और न्यायविनिश्चयविवरण (प्रशस्ति श्लोक २) मे आ. विद्यानन्दकी स्तुति की है। वादिराजसूरिका समय ई. सन् १०२५ सुनिश्चित है। अतः विद्यानन्द ई. सन् १०२५ के पूर्ववर्ती हैं—उत्तरवर्ती नहीं।

...ये ईसाकी चौथी शतीके विद्वान् माने जाते हैं।
... पृ. २४, २५ मे व्योमवती, पृ. १४९ के 'द्रव्यत्वोपलक्षित समवायको द्रव्यलक्षण' माननेके विचारका खंडन किया गया है। तथा इसी ग्रन्थ के पृ. १०६, १०७ पर व्योमवती, पृ. १०७ से समवायलक्षणका समस्त पदकृत्य दिया गया है।
...मिश्रक. भा. प्रस्ता., पृ. १३।
...ादन्यायका परिशिष्ट नं. १।
...हती द्वितीय भागकी प्रस्ता.।
...पीनाथकविराज—'अच्युत' वर्ष ३, अङ्क ४, पृ २५-२६।
...ायविनिश्चयविवरणके मध्यमें भी वादिराजसूरिने विद्यानन्दका स्मरण किया है, ...
...स्तावनाके पृ. ३४ का फुटनोट।

२. प्रशस्तपादभाष्यपर क्रमशः चार प्रसिद्ध टीकाएँ लिखी गयी हैं—पहली व्योमशिवकी व्योमवती, दूसरी श्रीधरकी न्यायकन्दली, तीसरी उदयनकी किरणावली और चौथी श्रीवत्साचार्यकी न्यायलीलावती। आ. विद्यानन्दने इन चार टीकाओंमें पहली व्योमशिवकी व्योमवती टीकाका तो निरसन किया है, परन्तु अन्तिम तीन टीकाओंका उन्होंने निरसन नहीं किया। श्रीधरने अपनी न्यायकन्दली टीका शक-सं. ९१३, ई सन् ९९१ में बनायी है[1]। अतः श्रीधरका समय ई. सन् ९९१ है और उदयनने अपनी लक्षणावली शकसं. ९०६ ई. सन् ९८४ में समाप्त की है[2]। इसलिये उदयनका समय ई. सन् ९८४ है अतएव विद्यानन्द ई. सन् ९८४ के बादके नहीं हैं।

३. उद्योतकर (ई. ६००) के न्यायवार्तिकपर वाचस्पति मिश्र (ई. ८४१) ने तात्पर्यटीका लिखी है। विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ. २०६, २८३, २८४ आदि) में न्यायभाष्यकार और न्यायवार्तिककारका तो दसों जगह नामोल्लेख करके खण्डन किया है, परन्तु तात्पर्यटीकाकारके किसी भी पदवाक्यादिका कहीं भी खण्डन नहीं किया। हाँ, एक जगह (तत्त्वार्थश्लोक. पृ. २०६ में) 'न्यायवार्तिकटीकाकार' के नामसे उनके व्याख्यानका प्रत्याख्यान हो जानेका उल्लेख जरूर मिलता है और जिसपरसे मुझे यह भ्रान्ति[3] हुई थी कि विद्यानन्दने वाचस्पति मिश्रकी तात्पर्यटीकाका भी खण्डन किया है। परन्तु उक्त उल्लेखपर जब मैंने गहराई और सूक्ष्मतासे एक-से अधिक बार विचार किया और ग्रन्थोंके सन्दर्भोंका बारीकीसे मिलान किया तो मुझे वह उल्लेख अभ्रान्त प्रतीत नहीं हुआ। वह उल्लेख निम्न प्रकार है :—

'तदनेन न्यायवार्तिकटीकाकारव्याख्यानमनुमानसूत्रस्य त्रिसूत्रीकरणेन प्रत्याख्यातं प्रतिपत्तव्यमिति, लिङ्गलक्षणानामन्वयित्वादीनां त्रयेण पक्षधर्मत्वादीनामिव न प्रयोजनम्।'

इस उल्लेखमें 'टीका' शब्द अधिक है और वह लेखककी भूलसे ज्यादा लिखा गया जान पड़ता है—ग्रन्थकारका स्वयंका दिया हुआ वह प्रतीत नहीं होता। क्योंकि यदि ग्रन्थकारको 'टीका' शब्दके प्रदानसे वाचस्पतिमिश्रकी तात्पर्यटीका विवक्षित हो तो उनका आगेका हेतुरूप कथन संगत नहीं बैठता। कारण, अन्वयी, व्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी इन तीन हेतुओंका कथन पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व और विपक्षाद्व्यावृत्ति इन तीन हेतुओंके कथनकी तरह न्यायवार्तिककार उद्योतकरका अपना मत है—उद्योतकरने ही 'पूर्ववच्छेषवत्' आदि अनुमानसूत्रका त्रिसूत्रीकरणरूपसे व्याख्यान किया है अर्थात् उन्होंने उक्त अनुमानसूत्रके तीन व्याख्यान प्रदर्शित किये हैं,[4] तात्पर्यटीका-

---

१. 'अधिकदशोत्तरनवशतशाकाब्दे न्यायकन्दली रचिता श्रीपाण्डुदासयाचित-भट्ट-श्रीश्रीधरेणेयम्॥'—न्यायकन्द.।

२. न्यायदीपिका प्रस्ता., पृ. ६९।

३. 'विद्यानन्दका समय' अनेकान्त वर्ष ६, किरण ६-७।

४. यथा—(क) 'त्रिविधमिति। अन्वयी व्यतिरेकी अन्वयव्यतिरेकी च। तत्रान्वयव्यतिरेकी विवक्षिततज्जातीयोपपत्तौ विपक्षावृत्ति', यथा अनित्यः शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षत्वात्, घटवदिति।......।' —पृष्ठ ४६।

बाद वाचस्पति मिश्र भी, बल्कि वाचस्पति मिश्र स्वयं उ
उद्योतकरका [illegible] करते हैं। विद्यानन्दने 'एक पद्य' और भी '
अनुमानसूत्रके त्रिसूत्रीकरण व्याख्यानका उल्लेख किया है और उसका
किया है। उसमें भी विद्यानन्दने न्यायवार्त्तिककारका ही मत लिया
मालूम होता है। अतः यह उल्लेख उद्योतकरके द्वारा किया गया 'टीका'
होना चाहिए —वाचस्पतिके द्वारा ही यह मान्यता अधिक किया गया अत
है। प्रतिनेतक सूत्रार्थिक [illegible] जाता जैसी पूर्व प्रयुक्त कर आये हैं।

अथवा ग्रन्थकारका भी यदि लिया हुआ 'टीका' शब्द हो तो उससे
तात्पर्यटीका विवक्षित रही हो, तो बात नहीं मालूम होती; क्योंकि उसके उल्लेख
का सम्बन्ध न्यायवार्त्तिकसे ही है—तात्पर्यटीकासे नहीं। अतः 'न्यायवार्त्तिकटीका'
शब्दका 'न्यायवार्त्तिककी टीका' ऐसा अर्थ न करके 'न्यायवार्त्तिकरूप टीका' ऐसा अर्थ
करना चाहिए, क्योंकि न्यायवार्त्तिक भी न्यायसूत्र और न्यायभाष्यकी टीका (व्याख्या)
है। इस तरह कोई असंगति अथवा असम्बद्धता नहीं रहती। अतएव विद्यानन्द
ग्रन्थोंमें वाचस्पति मिश्रका खण्डन न होनेसे वे उनके पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। वाच-
स्पति मिश्रका समय ई. सन् ८४१ निश्चित है। अतः विद्यानन्दका अन्तिम
सन् ८४० होना चाहिए। वाचस्पति मिश्रके समकालीन न्यायदर्शनके व्याख्याकार जयन्त
भी हुए हैं। उनका भी विद्यानन्दके ग्रन्थोंमें कोई समालोचन उपलब्ध नहीं हो
यदि विद्यानन्द उनके उत्तरकालीन होते तो वे न्यायदर्शनके इन (वाचस्पति मिश्र
जयन्तभट्ट जैसे प्रमुख) विद्वानोंका भी प्रभाचन्द्रकी तरह आलोचन करते।
इस तरह पूर्ववर्ती ग्रन्थकारोंके समालोचन और उत्तरवर्ती ग्रन्थकारोंके
असमालोचनके आधारसे विद्यानन्दका समय ई. सन् ७७५ से ई. सन् ८४० निर्धारित
होता है।

इस समयकी पुष्टि दूसरे अन्य प्रमाणोंसे भी होती है और जो इस प्रकार हैं:-

१. सुप्रसिद्ध तार्किक भट्टाकलंकदेवकी अष्टशतीपर विद्यानन्दने अष्टसहस्री टीका
लिखी है। यद्यपि यह टीका आप्तमीमांसापर रची गयी है तथापि विद्यानन्दने अष्ट-
सहस्री में अकलंकदेवकी अष्टशतीको आत्मसात् करके उसके प्रत्येक पदवाक्यादिका
व्याख्यान किया है। अकलंकदेवके ग्रन्थवाक्योंका व्याख्यान करनेवाले सर्वप्रथम
व्यक्ति आ. विद्यानन्द हैं। विद्यानन्दकी अकलंकदेवके प्रति अगाध श्रद्धा थी और वे
उन्हें अपना आदर्श मानते थे। इसपरसे डा. सतीशचन्द्र विद्याभूषण, म. म. गोपीनाथ

(ख) 'अथवा त्रिविधमिति। लिङ्गस्य प्रसिद्ध-सदसन्दिग्धतामाह। प्रसिद्धमिति यत्
व्यापकम्, सदिति सजातीयेऽस्ति, असन्दिग्धमिति सजातीयाविनाभावि।'—पृ. ४१।

(ग) 'अथवा त्रिविधमिति नियमार्थम्. अनेकधा भिन्नस्यानुमानस्य त्रिविधे
सर्ववदादिना संग्रह इति नियमं दर्शयति।'—पृष्ठ ४१।
...—'तदेवं स्वमतेन सूत्रं व्याख्याय भाष्यकृन्मतेन व्याचष्टे।'—पृ. १७४, 'स्वमतेन
व्याख्यान्तरमाह अथवा...।'—पृ. १७८, 'त्रिविधपदस्य तात्पर्यान्तरमाह अथवेति।'
—पृ १७१।
...संलो., पृष्ठ २०५, प्रमाणपरी., पृष्ठ ७५।

कविराज जैसे कुछ विद्वानोंको यह भ्रम हुआ है[1] कि अकलंकदेव अष्टसहस्रीकारके गुरु थे। परन्तु ऐतिहासिक अनुसन्धानसे प्रकट है कि अकलंकदेव अष्टसहस्रीकारके गुरु नहीं थे और न अष्टसहस्रीकारने उन्हें अपना गुरु बतलाया है। पर हाँ, इतना जरूर है कि वे अकलंकदेवके पद-चिह्नोंपर चले हैं और उनके द्वारा प्रदर्शित दिशापर जैनन्यायको उन्होंने सम्पुष्ट और समृद्ध किया है। अकलंकदेवका समय श्रीयुत पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने विभिन्न विप्रतिपत्तियोंके निरसनपूर्वक अनेक प्रमाणोंसे ई. सन् ६२० से ६८० निर्णीत किया है।[2] अतः विद्यानन्द ई. सन् ६८० के उत्तरवर्ती हैं, यह निश्चित है।

२ अष्टसहस्रीकी अन्तिम प्रशस्तिमें विद्यानन्दने दो पद्य दिये हैं[3]। दूसरे पद्यमें उन्होंने अपनी अष्टसहस्रीको कुमारसेनकी उक्तियोंसे वर्धमानार्थ बतलाया है अर्थात् कुमारसेन नामके पूर्ववर्ती विद्वानाचार्यके सम्भवतः आप्तमीमांसापर लिखे गये किसी महत्त्वपूर्ण विवरणसे अष्टसहस्रीके अर्थको प्रवृद्ध किया प्रकट किया है। विद्यानन्दके इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि वे कुमारसेनके उत्तरकालीन हैं। कुमारसेनका समय ई. सन् ७८३ के कुछ वर्ष पूर्व माना जाता है[4]। क्योंकि शकसं. ७०५, ई. सन् ७८३ में अपने हरिवंशपुराणको बनानेवाले पुन्नाटसंघी द्वितीय जिनसेनने इनका स्मरण किया है[5]। अतः विद्यानन्द ई. सन् ७५० (कुमारसेनके अनुमानित समय) के बाद हुए हैं।

३. चूंकि विद्यानन्दसे सुपरिचित कुमारसेनका हरिवंशपुराणकार (ई ७८३) ने स्मरण किया है, किन्तु आ. विद्यानन्दका उन्होंने स्मरण नहीं किया, इससे प्रतीत होता है कि उस समय कुमारसेन तो यशस्वी वृद्ध ग्रन्थकार रहे होंगे और उनका यश सर्वत्र फैल रहा होगा[6]। परन्तु विद्यानन्द उस समय बाल होंगे तथा वे ग्रन्थकार नहीं बन सके होंगे। अतः इससे भी विद्यानन्दका उपर्युक्त निर्धारित समय—ई. सन् ७७५ से ई. सन् ८४०—प्रमाणित होता है।

४. आ. विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके अन्तमें प्रशस्तिरूपमें एक उल्लेखनीय निम्न पद्य दिया है—

---

१. अनेकान्त (मासिक पत्र, पृष्ठ २८) वर्ष १, अंक ४।

२. न्यायकुमुद प्र. भा. प्रस्तावना।

३. "श्रीमदकलङ्कशशधरकुलविद्यानन्दसम्भवा भूयात्।
गुरुमीमांसालङ्कृतिरष्टसहस्री सतामृद्ध्यै ॥१॥
कष्टसहस्री सिद्धा साऽष्टसहस्रीयमत्र मे पुष्यात्।
शश्वदभीष्टसहस्रीं कुमारसेनोक्तिवर्धमानार्थां ॥२॥"

इन दो पद्योंके मध्यमें जो कनडी पद्य मुद्रित अष्टसहस्रीमें पाया जाता है वह अनावश्यक और असंगत प्रतीत होता है और इसलिए वह अष्टसहस्रीकारका पद्य मालूम नहीं होता।—सम्पा.।

४. न्यायकुमुद प्र. प्र., पृष्ठ ११३।

५. 'आकूपारं यशो लोके प्रभाचन्द्रोदयोज्ज्वलम्। गुरोः कुमारसेनस्य विचरत्यजितात्मकम् ॥"
—हरिवंश १-३८।

६. 'गुरोः कुमारसेनस्य यशो अजितात्मकं विचरति' शब्दोंसे भी यही प्रतीत होता है।

गया है। विद्यानन्दने अष्टसहस्रीमें अष्टशतीको इस प्रकार आत्मसात्
यदि उसे भेदनिदर्शक अलग टाइपमें न रखा जाय तो पाठक यह न
कि यह अष्टशतीका अंश है और यह अष्टसहस्रीका। उन्होंने अपनी
मध्यकी सान्दर्भिक वाक्यरचनाद्वारा अष्टशतीको अनुस्यूत करके न
प्रतिभाका आश्चर्यजनक चमत्कार दिखाया है अपितु उसके गूढ़ र
अभिव्यक्त किया है। वास्तवमें यदि विद्यानन्द अष्टसहस्री न बनाते तो
गूढ़ रहस्य उसमें ही छिपा रहता, क्योंकि अष्टशतीका प्रत्येक पद, प्रत्येक वा
प्रत्येक स्थल इतना दुरूह और जटिल है कि साधारण विद्वानोंकी तो उसमें
नहीं हो सकती। अष्टसहस्रीको विद्यानन्दने जो 'कष्टसहस्री' कहा है वह इस
की मुख्यतासे ही कहा है। यदि किसी तरह उसके पदवाक्यादिका कारी अर्थ
भी लिया जाय तो भी उसके हार्दको समझना अत्यन्त कठिन है। विद्यान
अष्टसहस्रीमें अपनी तलस्पर्शिनी सूक्ष्म बुद्धिसे उसके प्रत्येक पदवाक्यादिका विवर
खोला है और अकलंकदेवके हार्दको प्रकट किया है। देवागम और अष्टश
व्याख्यानके अलावा अष्टसहस्रीमें कितना ही नया विचार और विस्तृत चर्चाएँ
उपस्थित की गयी हैं। विद्यानन्दने अष्टसहस्रीके बारेमें लिखा है¹ कि 'हजार शास्त्रों
सुननेसे क्या, अकेली इस अष्टसहस्रीको सुन लीजिए, उसीसे ही समस्त सिद्धान्तोंका
ज्ञान हो जायेगा।' वस्तुतः विद्यानन्दका यह लिखना न अतिशयोक्तिपूर्ण है और
गर्वोक्तियुक्त है। अष्टसहस्री स्वयं ही इस बातकी साक्षी है। यह श्लोकवार्तिक
तुलनाका ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। चूँकि देवागममें दश परिच्छेद हैं, इसलिए इसकी
टीका अष्टसहस्रीमें भी दश परिच्छेद हैं। प्रत्येक परिच्छेदका प्रारम्भ और अन्त
एक-एक सुन्दर पद्यद्वारा किये गये हैं। इसपर लघुसमन्तभद्र (वि. की १३वीं शती)
ने 'अष्टसहस्रीविषमपदतात्पर्यटीका' और श्री यशोविजय (वि० की १७वीं शती) ने
'अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरण' नामकी व्याख्याएँ लिखी हैं। यह अष्टसहस्री सेठ नाथा
रंगजी गान्धीद्वारा कोई ३२ वर्ष पूर्व सन् १९१५ में एक बार मुद्रित हो चुकी।
किन्तु अब वह अप्राप्य है। इसका भी दूसरा संस्करण निकालना चाहिए। श्लोक
वार्तिक और अष्टसहस्री दोनों पाठ्यक्रममें भी निहित हैं।

३. युक्त्यनुशासनालंकार—आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्रकी
दूसरी रचना 'युक्त्यनुशासन' है। यह एक महत्त्वपूर्ण और गम्भीर स्तोत्रग्रन्थ है।
इसकी रचना उन्होंने आप्तमीमांसाके बाद की है।² आप्तमीमांसामें अन्तिम तीर्थं
भगवान् महावीरकी परीक्षा की गयी है और परीक्षाके बाद उनके आप्त सिद्ध है
जानेपर इस (युक्त्यनुशासन) में उनकी गुणस्तुति की गयी है। इसमें कुल पद्य
६४ ही हैं, परन्तु एक-एक पद्य इतना दुरूह और गम्भीर है कि प्रत्येकके व्याख्यानमें
एक-एक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखा जाना योग्य है। आ. विद्यानन्दने इस स्तोत्रकी

१. अष्टसहस्री प्रशस्ति, पद्य नं. २।
'श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।
विज्ञायेत ययैव स्वसमयपरसमयसद्भावः ॥'—अष्ट., पृ. १५७।
२. प्रथम पद्यकी टीका, युक्त्यनुशा., पृ. १।

ापने 'युक्त्यनुशासनालंकार' नामक सुविशद व्याख्यानसे अलंकृत किया है। यह
पुक्त्यनुशासनालंकार' उनका मध्यम परिमाणका टीकाग्रन्थ है—न ज्यादा बड़ा है
ौर न ज्यादा लघु है। इसे उन्होंने आप्तपरीक्षा और प्रमाणपरीक्षाके बाद रचा है
योंकि इसमें उन दोनोंके उल्लेख हैं[1]। यह टीका मूल ग्रन्थके साथ कोई २७ वर्ष
वं वि. सं. १९७७ में 'माणिकचन्द्र-दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला' से एक बार प्रकाशित
ो चुकी है, परन्तु अब यह भी अप्राप्य है। यह अशुद्ध भी काफी छपी हुई है। अतः
सका पुनः प्रकाशन आवश्यक है।

अब विद्यानन्दके मौलिक स्वतन्त्र ग्रन्थोंका परिचय दिया जाता है—

१. विद्यानन्दमहोदय—यह आ. विद्यानन्दकी सर्व प्रथम रचना है।[2] इसके
ाद ही उन्होंने श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री आदि ग्रन्थ बनाये हैं। श्लोकवार्तिक
ादिमें उन्होंने अनेक जगह इस ग्रन्थके उल्लेख किये हैं और विस्तारसे उसमें जानने
वं प्ररूपण करनेकी सूचनाएँ की हैं।[3] इससे ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ श्लोक-
ार्तिकसे भी विशाल और महत्त्वपूर्ण होगा। आज यह अनुपलब्ध है। मालूम नहीं,
ह ग्रन्थ नष्ट हो चुका है अथवा किसी शास्त्रभण्डारमें दीमकोंका भक्ष्य बना हुआ
पने जीवनकी अन्तिम घड़ियाँ बिता रहा है? यदि नष्ट नहीं हुआ और किसी
ास्त्रभण्डारमें अभी विद्यमान है तो अन्वेषकोंको इस महत्त्वके ग्रन्थरत्नका शीघ्र पता
गाना चाहिए। सम्भव है अकलंकदेवके 'प्रमाणसंग्रह' की तरह यह ग्रन्थ भी किसी
ैन अथवा जैनेतर लायब्रेरीमें मिल जाय। विक्रमकी १३वी शताब्दी तक इसका पता
लता है। आ. विद्यानन्दने तो अपने उत्तरवर्ती प्रायः सभी ग्रन्थोंमें इसके उल्लेख
िये हैं। किन्तु उनके तीन-चार सौ वर्ष बाद होनेवाले देवसूरिने भी अपनी विशाल
ीका 'स्याद्वादरत्नाकर' में इसका नामोल्लेख किया है और साथमें उसकी एक पंक्ति
ी दी है। वह पंक्ति इस प्रकार है :—

"महोदये च 'कालान्तराविस्मरणकारणं हि धारणाभिधानं ज्ञानं संस्कारः
तीयते' इति वदन् (विद्यानन्दः) संस्कारधारणयोरैकार्थ्यमचकथत्।"

—स्या. रत्ना., पृ ३४९।

हमें आशा है यह ग्रन्थरत्न 'प्रमाणसंग्रह' और 'सिद्धिविनिश्चयटीका' की तरह
वेताम्बर जैन शास्त्रभण्डारमें मिल जाय; क्योंकि उनके यहाँ शास्त्रोंकी सुरक्षा और
ुव्यवस्था यति-मुनियोंके हाथमें रहनेसे अच्छी और सुपुष्कल रही है। उक्त दो ग्रन्थ
ी उन्हींके भण्डारोंसे सम्प्राप्त हुए हैं। अन्वेषकोंको यह ध्यान रखना चाहिए कि इस
्रन्थरत्नका उल्लेख 'विद्यानन्दमहोदय' और 'महोदय' दोनों नामोंसे हुआ है, जैसा कि

---

१. युक्त्यनुशास. टी., पृ. १०, ११।

२. 'न्याय-दीपिका' की प्रस्तावना, पृ. ८२।

३. 'इति परीक्षितमसकृद्विद्यानन्दमहोदये।'—तत्त्वार्थश्लो. २७२ 'अवगम्यताम्॥ यथागमं प्रपञ्चेन विद्यानन्दमहोदयात्।'—तत्त्वार्थश्लो., पृ. ३८५, 'इति तत्त्वार्थालंकारे विद्यानन्द-महोदये च प्रपंचतः प्ररूपितम्।' अष्टस.-पृ. २८९, २९०।

प्रश्न है कि उपादानके नाशसे उपादेयकी उत्पत्ति होती है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानका उपादान है। अतः सम्यग्ज्ञानके उत्पन्न हो जानेपर सम्यग्दर्शन नाश हो जाना चाहिए ? इसके उत्तरमें विद्यानन्द कहते हैं कि उपादेयकी ... उपादानका नाश कथंचित् इष्ट है, सर्वथा नहीं, अन्यथा कार्यकी उत्पत्ति कभी भी हो सकेगी। इसका स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं कि दर्शनपरिणामसे परि... आत्मा ही वस्तुतः दर्शन है और वह विशिष्ट ज्ञानपरिणामकी उत्पत्तिका उपादान। अन्वयरहित केवल पर्याय या केवल जीवद्रव्य उसका उपादान नहीं है, क्योंकि ... जीवादि द्रव्य कूर्मरोम आदिकी तरह अवस्तु हैं। इसी तरह दर्शन-ज्ञान परिणत ... दर्शन-ज्ञान है और दर्शन-ज्ञान चारित्रका उपादान है, क्योंकि पर्यायविशेष परि... द्रव्य उपादान है, जिस प्रकार घटपरिणमनमें समर्थ पर्यायरूप ...[1] होता है। विद्यानन्द[2] उपादानका स्वरूप बतलाते हुए लिखते हैं—'जो पूर्व रूप छोड़ता हुआ तथा अपूर्व रूपको न छोड़ता हुआ तीनों कालोंमें भी विद्यमान द्रव्य है उस द्रव्यको उपादान कहा गया है। किन्तु जो सर्वथा अपने रूपको छोड़ देता अथवा जो बिलकुल नहीं छोड़ता वह किसी भी वस्तुका उपादान नहीं है। जैसे सर्वथा क्षणिक या सर्वथा नित्य।' विद्यानन्दने उपादानके इसी लक्षणको सामने रखकर उपादानोपादेयकी व्यवस्था की है। यह तो हुआ उनके उपादानका विचार।

इसी प्रकार[3] उन्होंने निमित्त—सहकारि कारणका भी चिन्तन किया है। ... लिखते हैं कि बिना सहकारीसामग्रीके उपादान कार्यजननमें समर्थ नहीं है। जब तक अयोगकेवलिगुणस्थानका उपान्त्य और अन्त्य समय प्राप्त नहीं होता तबतक नामादि कर्मोंके निर्जरणकी शक्ति प्रकट नहीं होती और न मुक्ति ही सम्भव है। ... अयोगकेवलीका अन्त्य क्षण ही शेष कर्मोंके क्षयमें कारण है। इस तरह सहकारीसहित उपादान कार्यजनक है, अकेला नहीं। इस प्रकार आचार्य विद्यानन्दका यह उपादान और निमित्त सम्बन्धी चिन्तन जैन दर्शनके अनेकान्तवादी दृष्टिकोणको पुष्ट करता है।

इस तरह आचार्य विद्यानन्दने कितना ही नया चिन्तन प्रस्तुत किया है, जो उनकी जैन दर्शनको नयी देन है और जो उसे गौरवास्पद एवं सर्वादरणीय बनाता है।

●

---

१. तत्त्वार्थश्लोकवा., पृ. ६८-६९।

२. त्यक्तात्यक्तात्मरूपं यत्पूर्वापूर्वेण वर्तते।
कालत्रयेऽपि तद् द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम् ॥१॥
यत्स्वरूपं त्यजत्येव यन्न त्यजति सर्वथा।
तन्नोपादानमर्थस्य क्षणिकं शाश्वतं यथा ॥२॥—अष्टस., पृ

३. स्वसामग्र्या विना कार्यं न हि जातुचिदीक्ष्यते।
कालादिसामग्रीको हि मोहक्षयस्तद्रूपाविर्भावहेतुर्न केवलः, त
क्षीणेऽपि मोहनीयाख्ये कर्मणि प्रथमक्षणे।
यथा क्षीणकषायस्य शक्तिरन्त्यक्षणे मता ॥
ज्ञानावृत्यादिकर्माणि हन्तुं तद्वदयोगिनः।
पर्यन्तक्षण एव स्याच्छेषकर्मक्षयेऽप्यसौ ॥—त. श्लो., पृ. ५

(क) ग्रन्थ-परिचय

आ. विद्यानन्दने इस ग्रन्थ-रत्नकी रचना श्रीगृद्धपिच्छाचार्यके[1], जो आचार्य उमास्वाति' अथवा 'उमास्वामी' के नामसे अधिक प्रसिद्ध हैं, 'तत्त्वार्थसूत्र'के मंगलाचरणपद्यके व्याख्यानरूपमें[2] उसी प्रकार की है, जिस प्रकार आचार्य समन्तभद्र-

---

1. विन्ध्यगिरिपर सिद्धरबस्तीमें दक्षिणकी ओर एक स्तम्भपर एक अभिलेख उत्कीर्ण है, जो शकसंवत् १३५५ का है। इस लेखमें इन आचार्यके 'गृद्धपिच्छाचार्य' नामकी उत्पत्ति बतलाते हुए कहा गया है कि 'आचार्यने प्राणिसंरक्षणके लिए गृद्धके पंखोंकी पिच्छी धारण की थी तबसे उन्हें विद्वान् 'गृद्धपिच्छाचार्य' कहने लगे।" यथा—

   स प्राणिसंरक्षण-सावधानो बभार योगी किल गृद्धपक्षान्।
   तदा प्रभृत्येव बुधा यमाहुराचार्यशब्दोत्तर-गृद्धपिच्छम् ॥१२॥—शि. नं. १०८ (२५८)।

   —देखो, शिलालेखसं., पृ. २१०, २११।

   षट्खण्डागमकी सिद्धान्त और प्रसिद्ध टीका धवला, तत्त्वार्थसूत्रकी विस्तृत टीका तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि प्राचीन जैनसाहित्यमें 'गृद्धपिच्छाचार्य' नामका ही उल्लेख हुआ है। इससे जान पड़ता है कि सुदूर कालमें इनकी उक्त नामसे ही अधिक प्रसिद्धि रही। मूल नाम उमास्वाति हो, पर विद्वानोंमें उन्हें उनकी विद्वत्ता, त्याग-तपस्या आदिके कारण गौरव प्रदान करनेके लिए गृद्धपिच्छाचार्य नामका व्यवहार ही मुख्य रहा।

2. जो इस प्रकार है—

   मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
   ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

   यह पद्य प्रस्तुत ग्रन्थमें कारिका नं. तीनके रूपमें भी स्थित है और उसे ग्रन्थका आधार-भूत बनाकर उसीकी व्याख्याके रूपमें यह ग्रन्थ लिखा गया है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि ग्रन्थकारके दूसरे ग्रन्थ अष्टसहस्रीके मङ्गलपद्य और इसी ग्रन्थके उपान्त्य पद्य 'श्रीमत्तत्त्वार्थ' के आधारसे श्रीयुत् पण्डित सुखलालजी और न्यायाचार्य पण्डित महेन्द्रकुमारजीने अपना यह विचार बनाया था कि आचार्य विद्यानन्दने 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि श्लोकको पूज्यपादाचार्यकी तत्त्वार्थसूत्रपर लिखी गयी तत्त्वार्थवृत्ति अपरनाम सर्वार्थसिद्धिका मङ्गलाचरण बतलाया है और इसलिए वह तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरण नहीं है, (देखो, अकलङ्कग्रन्थत्रय प्राक्कथन पृ. ८, न्यायकुमुदचन्द्र प्राक्कथन पृ. १७ तथा इसी ग्रन्थकी प्रस्तावना पृ. २५-२६)। उनके इस विचारपर हमने अनेकान्त वर्ष ५ किरण ६-७ और १०-११ में 'तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरण' शीर्षक दो लेखोंद्वारा विस्तृत चर्चा की थी और विद्यानन्दके ही सुस्पष्ट विभिन्न ग्रन्थोल्लेखोंपरसे यह सिद्ध किया था कि विद्यानन्दने 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि श्लोकको आ. उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका

आगमोंमें दर्शनशास्त्रीय पद्धतिसे प्रतिपादित प्रमाणकी विचारणा तो उपलब्ध नहीं है। पर उनमें आगमिक पद्धतिसे ज्ञान-मीमांसा विस्तारपूर्वक है। षट्खण्डागममें[1] मार्गणानुसार आठ ज्ञानोंका प्रतिपादन करते हुए तीन ज्ञानोंको मिथ्याज्ञान और पाँच ज्ञानोंको सम्यग्ज्ञान निरूपित किया है।

कुन्दकुन्दने[2] उक्त आगमप्रतिपादित ज्ञानको प्रथमतः दो प्रकारका बतलाया —१. स्वभावज्ञान और २. विभावज्ञान। स्वभावज्ञान एक ही तरहका है और वह केवलज्ञान। विभावज्ञानके दो भेद हैं—१. सम्यग्ज्ञान और २. अज्ञान (मिथ्याज्ञान)। मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चार ज्ञान सत्यार्थग्राही और क्षयोपशमजन्य होनेसे सम्यग्ज्ञानविभावज्ञान हैं और कुमति, कुश्रुत एवं विभंगावधि ये तीन ज्ञान असत्यार्थग्राही और क्षयोपशमजन्य होनेसे अज्ञान (मिथ्याज्ञान) हैं। कुन्दकुन्दका यह निरूपण प्रायः आगमपरम्पराका ही अनुसरण करता है।

तत्त्वार्थसूत्रकार गृद्धपिच्छने[3] अवश्य उक्त आगमपरम्पराको अपनाते हुए भी उसमें नया मोड़ दिया है। उन्होंने मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पाँच आगमोक्त ज्ञानोंको सम्यग्ज्ञान कहकर उन्हें स्पष्टतया प्रमाण प्रतिपादित किया है। और उन्हें प्रमाणका लक्षण बतलाया है।

समन्तभद्रने[4] उपर्युक्त सम्यग्ज्ञानको तत्त्वज्ञान कहा है और उसे प्रमाण वर्णित किया है। उसे उन्होंने दो भागोंमें विभक्त किया है—१. युगपत्सर्वभासि और २. क्रमभासि, जो स्याद्वादनयसे सुसंस्कृत होता है। ध्यान देनेपर गृद्धपिच्छ और समन्तभद्रके प्रमाणलक्षणोंमें शब्दभेदको छोड़कर कोई मौलिक अर्थभेद प्रतीत नहीं होता। सम्यक् और तत्त्व दोनोंका एक ही अर्थ है और वह है—सत्य—यथार्थ। अतएव सम्यग्ज्ञानको या तत्त्वज्ञानको प्रमाण कहना एक ही बात है।[5]

समन्तभद्रने[6] एक और प्रमाणलक्षण दिया है, जिसमें उसे स्व और पर दोनोंका अवभासक कहा है। उनका यह 'स्वपरावभासक' प्रमाणलक्षण बिल्कुल नया और मौलिक है। उनसे पूर्व इस प्रकारका प्रमाणलक्षण उपलब्ध नहीं होता। विज्ञानाद्वैतवादी

---

1. षट्खण्डागम, १।१।१५।
2. णाणुवओगो दुविहो सहावणाणं विभावणाणं त्ति ॥१०॥
केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावणाणं त्ति।
सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाणं हवे दुविहं ॥११॥
सण्णाणं चउभेयं मदि-सुद-ओही तहेव मणपज्जं।
अण्णाणं तिवियप्पं मदियाई-भेददो चेव ॥१२॥ —नियमसा., गा. ११, १२।
3. मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्। तत्प्रमाणे।—त. सू. १।९, १०।
4. तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम्॥—आप्तमी., का. १०१।
5. विद्यानन्द, अष्टश., का. १०१, पृ. २७५।
6. स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्।—स्वयम्भूस्तो., का. ६३।

अयथार्थ दोनों प्रकारके ज्ञानका बोध होता है। किन्तु प्रमा शब्दसे ...
ग्रहण होता है और इस दृष्टिसे जयन्तभट्टका भरत फलित प्रमाणलक्षण ...
परिष्कृत है।

मीमांसादर्शनमें दो परम्पराएँ हैं—एक कुमारिलभट्टकी और दूसरी ... की। कुमारिलने प्रमाणका लक्षण पाँच विशेषणोंसे युक्त बतलाया है। वह यह है—

तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम्॥

यह श्लोक कुमारिलके नामसे प्रसिद्ध है। किन्तु उनके मीमांसाश्लोकवार्तिक में वह उपलब्ध नहीं है। हो सकता है कि वह कुछ प्रतियोंमें छूट गया हो। ... किसी दूसरे अनुपलब्ध ग्रन्थका हो।

प्रभाकर[1] अनुभूतिको प्रमाण मानते हैं। उनके अनुयायी शालिकानाथ[2] ने उसका समर्थन किया है।

सांख्य[3] इन्द्रियवृत्तिको प्रमाणका लक्षण स्वीकार करते हैं। उनका मन्तव्य कि इन्द्रियोंका उद्घाटनादि व्यापार होनेपर अर्थप्रमिति होती है, उसके अभावमें ...

बौद्धदर्शनमें सर्वप्रथम दिङ्नागने[4] प्रमाणलक्षण किया जान पड़ता है। उन्होंने अज्ञातार्थके प्रकाशकको प्रमाण कहा है तथा विषयाकार अर्थनिश्चय और स्वसंवित्तिको फल बतलाकर उन्हें प्रमाणसे अभिन्न माना है,[5] क्योंकि बौद्ध दर्शनमें प्रमाण तथा प्रमाणफल दोनोंमें अभेद स्वीकार किया गया है। धर्मकीर्तिने[6] अविसंवादी ज्ञानको प्रमाण प्रतिपादित किया है। और शान्तरक्षितने[7] दिङ्नागकी तरह विषयाधिगति अथवा स्ववित्तिको प्रमाणफल तथा सारूप्य अथवा योग्यताको प्रमाण कहकर उनमें भेदकी ओर संकेत किया है। पर वह अभेदमें ही पर्यवसित है।

जैन चिन्तकों द्वारा प्रमाणस्वरूप-विमर्श

जैन दर्शनमें भी प्रमाणके लक्षणपर चिन्तन किया गया है। आरम्भमें उसका क्या रूप रहा और उत्तर कालमें उसमें कितना व क्या विकास हुआ, इस बातपर यहाँ संक्षेपमें विचार किया जाता है।

---

१. अनुभूतिश्च नः प्रमाणम्।—बृहती., १।१।५।

२. प्रकरणपं. प्रमाणपा., पृ. ६४।

३. प्रमाणं वृत्तिरेव च।—योगवा., पृ. ३०। रूपादिषु पंचानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः। सांख्यका., २८। माठरवृ., ४७। सांख्यप्र. भा. १–८७, पृ. ४७। योगद ... पृ. २७।

४. अज्ञातार्थप्रकाशकं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम्।—प्रमाणसमु., का. १, पृ. ११।

५. स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद्रूपादर्थनिश्चयः। विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते। —वही, १।१०।

६. प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्....प्रमाणवा. १—२।१।

७ विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते। स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा॥ —तत्त्वसं., का. १३४४।

आगमोंमें दर्शनशास्त्रीय पद्धतिसे प्रतिपादित प्रमाणकी विचारणा तो उपलब्ध है। पर उनमें आगमिक पद्धतिसे ज्ञान-मीमांसा विस्तारपूर्वक है। षट्खण्डागममें[1] मार्गणानुसार आठ ज्ञानोंका प्रतिपादन करते हुए तीन ज्ञानोंको मिथ्याज्ञान और ज्ञानोंको सम्यग्ज्ञान निरूपित किया है।

कुन्दकुन्दने[2] उक्त आगमप्रतिपादित ज्ञानको प्रथमतः दो प्रकारका बतलाया १. स्वभावज्ञान और २. विभावज्ञान। स्वभावज्ञान एक ही तरहका है और वह वलज्ञान। विभावज्ञानके दो भेद हैं—१ सम्यग्ज्ञान और २. अज्ञान (मिथ्याज्ञान)। , श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चार ज्ञान सत्यार्थग्राही और क्षायोपशमजन्य से सम्यग्ज्ञानविभावज्ञान हैं और कुमति, कुश्रुत एवं विभंगावधि ये तीन ज्ञान यार्थग्राही और क्षायोपशमजन्य होनेसे अज्ञान (मिथ्याज्ञान) हैं। कुन्दकुन्दका यह पण प्रायः आगमपरम्पराका ही अनुसरण करता है।

तत्त्वार्थसूत्रकार गृद्धपिच्छने[3] अवश्य उक्त आगमपरम्पराको अपनाते हुए भी में नया मोड़ दिया है। उन्होंने मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पाँच मोक ज्ञानोंको सम्यग्ज्ञान कहकर उन्हें स्पष्टतया प्रमाण प्रतिपादित किया है। तु उन्हें प्रमाणका लक्षण बतलाया है।

समन्तभद्रने[4] उपर्युक्त सम्यग्ज्ञानको तत्त्वज्ञान कहा है और उसे प्रमाण वर्णित ा है। उसे उन्होंने दो भागोंमें विभक्त किया है—१. युगपत्सर्वभासि और क्रमभासि, जो स्याद्वादनयसे सुसंस्कृत होता है। ध्यान देनेपर गृद्धपिच्छ और न्तभद्रके प्रमाणलक्षणोंमें शब्दभेदको छोड़कर कोई मौलिक अर्थभेद प्रतीत नहीं ा। सम्यक् और तत्त्व दोनोंका एक ही अर्थ है और वह है—सत्य—यथार्थ। एव सम्यग्ज्ञानको या तत्त्वज्ञानको प्रमाण कहना एक ही बात है।[5]

समन्तभद्रने[6] एक और प्रमाणलक्षण दिया है, जिसमें उसे स्व और पर दोनोका भासक कहा है। उनका यह 'स्वपरावभासकत्व' प्रमाणलक्षण बिलकुल नया और ठक है। उनसे पूर्व इस प्रकारका प्रमाणलक्षण उपलब्ध नहीं होता। विज्ञानाद्वैतवादी

षट्खण्डागम, १।१।१५।

णाणुवओगो दुविहो सहावणाण विभावणाण त्ति ॥१०॥
केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावणाण त्ति।
सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाण हवे दुविहं ॥११॥
सण्णाणं चउभेयं मदि-सुद-ओही तहेव मणपज्जं।
अण्णाणं तिवियप्प मदियाई-भेददो चेव ॥१२॥ —नियमसा., पृ ११, १२।

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्। तत्प्रमाणे।—त. सू. १।९, १०।

तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम् ॥—आप्तमी., का. १०१।

विद्यानन्द, अष्टस., का १०१, पृ. २७६।

स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्।—स्वयम्भूस्तो., का. ६३।

तत्त्वार्थसूत्रके आद्य टोकाकार पूज्यपादने[1] समन्तभद्रके अनुसरणके साथ न्निकर्ष और इन्द्रियप्रमाण सम्बन्धी मान्यताओंकी समीक्षा भी की है। उनका हना है[2] कि सन्निकर्ष या इन्द्रियको प्रमाण माननेपर सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थोंके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध सम्भव न होनेसे उनके द्वारा उन पदार्थोंका ज्ञान सम्भव है। फलतः सर्वज्ञताका अभाव हो जायेगा। दूसरे, इन्द्रियां अल्प—केवल ूल, वर्तमान और आसन्न विषयक हैं और ज्ञेय (सूक्ष्म, व्यवहितादिरूप) अपरि-त है। ऐसी स्थितिमें इन्द्रियों और सन्निकर्षसे समस्त ज्ञेयो (अतीत-अना-तादिपदार्थों) का ज्ञान कभी नहीं हो सकता। तीसरे, चक्षु और मन ये दोनों प्राप्यकारी होनेके कारण सभी इन्द्रियोंका पदार्थोंके साथ सन्निकर्ष भी सम्भव नही । चक्षु स्पृष्टका ग्रहण न करने और योग्य दूर स्थितका ग्रहण करनेसे अप्राप्यकारी ।[3] यदि चक्षु प्राप्यकारी हो, तो उसे स्वयंमें लगे अंजनको देख लेना चाहिए। जैसे स्पर्शन इन्द्रिय स्पृष्टको ग्रहण कर लेती है। पर चक्षु स्पृष्ट अंजनको नही ग्रहण करती। अतः चक्षु मनकी तरह अप्राप्यकारी है। दूसरे, स्पर्शनादि इन्द्रियोंकी तरह वह समीपवर्ती वृक्षकी शाखा और दूरवर्ती चन्द्रमाको एक साथ नहीं देख सकती। तीसरे, चक्षु अभ्रक, कांच और स्फटिक आदिसे आच्छादित पदार्थोंको भी देख लेती है, जबकि प्राप्यकारी स्पर्शनादि इन्द्रियां उन्हें नही जान पातीं। चौथे, यह आवश्यक नहीं कि जो कारण हो वह पदार्थसे संयुक्त होकर ही काम करे। चुम्बक लोहेसे असंयुक्त होकर दूरसे ही उसे खींच लेता है। पांचवें, चक्षुको प्राप्यकारी माननेपर पदार्थमें दूर और निकटका व्यवहार नहीं हो सकता। इन सब कारणोंसे चक्षु अप्राप्यकारी है।

पूज्यपादने[4] ज्ञानको प्रमाण माननेपर सन्निकर्ष और इन्द्रिय प्रमाणवादियों-द्वारा उठायी गयी उस आपत्तिका भी परिहार किया है जिसमें कहा गया है कि यदि ज्ञानको प्रमाण स्वीकार किया जाता है तो प्रमाणके फलका अभाव हो जायेगा। सन्निकर्ष या इन्द्रियको प्रमाण माननेपर तो उसका 'अर्थज्ञान' फल बन जाता है? पूज्यपाद इस आपत्तिका परिहार करते हुए कहते हैं कि ज्ञानको प्रमाण माननेपर फलका अभाव नहीं होता, क्योंकि पदार्थका ज्ञान होनेके उपरान्त प्रमाताको उसमें प्रीति

---

१. सन्निकर्षः प्रमाणमिन्द्रियं प्रमाणमिति केचित् कल्पयन्ति तन्निवृत्त्यर्थं तदित्युच्यते। तदेव सत्यादि प्रमाणं नान्यदिति....।—स. सि. १।१०।

२. अथ सन्निकर्षे प्रमाणे सति इन्द्रिये वा को दोषः ? यदि सन्निकर्षः प्रमाणम्, सूक्ष्मव्यवहित-विप्रकृष्टानामर्थानामग्रहणप्रसंगः।...।—स. सि. १।१०, पृष्ठ ७६।

३. (क) अप्राप्यकारि चक्षुः स्पृष्टानवग्रहात्। यदि प्राप्यकारि स्यात् त्वगिन्द्रियवत् स्पृष्टमंजनं गृह्णीयात् न तु गृह्णाति मनोवदप्राप्यकारीति।—स. सि. १।१९, पृ ११९, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन। (ख) अकलंक, त. वा. १।१९, पृ. ६७, ६८, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन। (ग) डॉ. महेन्द्रकुमार जैन, जैनदर्शन पृ. २७०, वर्णी-ग्रन्थमाला प्रकाशन।

४. ननु चोक्तं ज्ञाने प्रमाणे सति फलाभाव इति, नैष दोषः, अर्थाधिगमे प्रीतिदर्शनात्।.... उपेक्षा अज्ञाननाशो वा फलम्।....।—स. सि. १।१०। समन्तभद्र, आप्तमी. का. १०२। माणिक्यनन्दि, परीक्षामु. ५।१।

होती है। प्रमाता ज्ञातास्वभाव है, किन्तु कर्मके कारण वह आच्छादित रहता और इसलिए वह इन्द्रियोंकी सहायतासे पदार्थ-निश्चय करता है और इस निश्चयमें उसे प्रीति (अनुरक्ति) होती है। यह प्रीति उसका फल है। अथवा या अज्ञाननिवृत्ति अर्थज्ञानरूप प्रमाणका फल है। राग या द्वेषका अभाव ही उपेक्षा है और अन्धकारतुल्य अज्ञानका दूर हो जाना अज्ञाननाश है।

स्मरणीय है कि वात्स्यायन[1] और जयन्तभट्टने[2] भी ज्ञानको प्रमाण स्वीकार किया है तथा उस स्थितिमें प्रमाणका फल हान, उपादान और उपेक्षा बुद्धि बतलाया है। पर यह सत्य है कि न्यायदर्शनमें मुख्यतया उपलब्धिसाधन या प्रमाकरणको सन्निकर्ष या कारकसाकल्यको ही प्रमाण माना गया है और ज्ञानको उसके मतसे अस्वसंवेदी प्रतिपादन किया है। ज्ञानको जो प्रमाण और उसके फलको हान उपादान और उपेक्षा बुद्धिरूप मान लिया गया है वह जैनदर्शनका प्रभाव प्रतीत होता है। जो हो, वह अनुसन्धेय है।

अकलंकदेवने[3] समन्तभद्रोपज्ञ उक्त प्रमाणलक्षण और पूज्यपादकी फल-मीमांसाको मान्य किया है। पर सिद्धसेन द्वारा प्रमाणलक्षणमें दत्त 'बाधवर्जित' विशेषण उन्हें स्वीकार्य नहीं है। उसके स्थानपर उन्होंने एक दूसरा ही विशेषण दिया है जो न्यायदर्शनके प्रत्यक्ष-लक्षणमें निहित है, पर प्रमाण-सामान्यलक्षणमें नहीं है, और जैनतार्किकोंके लिए वह नया है। यह विशेषण है—व्यवसायात्मक। अकलंकका मत है कि चाहे प्रत्यक्ष हो, और चाहे अन्य प्रमाण। प्रमाणमात्रको व्यवसायात्मक होना चाहिए। कोई भी ज्ञान हो वह निर्विकल्प, कल्पनापोढ या अव्यपदेश्य नहीं हो सकता। यह सम्भव नहीं कि अर्थका ज्ञान हो और विकल्प न उठे। ज्ञान तो विकल्पात्मक ही होता है। इस प्रकार इस विशेषण द्वारा अकलंकने जहाँ बौद्धदर्शनके निर्विकल्पक[4] प्रत्यक्षकी मीमांसा की है वहाँ न्यायदर्शनमें मान्य अव्यपदेश्य[5] (अविकल्पक) प्रत्यक्षज्ञानकी भी समीक्षा की है। अकलंकने समन्तभद्रके प्रमाणलक्षणगत 'स्व' और 'पर' पदके स्थानमें क्रमशः 'आत्मा' और 'अर्थ' पदोंका समावेश किया तथा 'अवभासक' पदकी जगह 'ग्राहक' पद रखा है। पर वास्तवमें अर्थकी दृष्टिसे इन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं—मात्र शब्दोंका हेर-फेर है। अकलंकदेवने प्रमाणके अन्य लक्षण भी भिन्न-भिन्न स्थानोंपर दिये हैं। इन लक्षणोंमें मूल आधार तो आत्मार्थग्राहकत्व एवं व्यवसायात्मकत्व ही है, पर उनमें अर्थके विशेषणरूपसे कहीं उन्होंने[6] 'अनधिगत'

---

१. यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः, यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्।—न्यायभा. १।१।३।

२. प्रमाणतायां सामग्र्यास्तज्ज्ञानं फलमिष्यते।
तस्य प्रमाणभावे तु फलं हानादिबुद्धयः ॥—न्यायमं. पृ० ६२।

३. अक्षपाद, न्यायसू. १।१।४।

४. दिङ्नाग, प्र. स. (प्र. परि.) का. ३।

५. इह हि द्वयी प्रत्यक्षजातिरविकल्पिका सविकल्पिका चेति।—वाचस्पति, तात्प. टी. १।१।४, पृ. १२५, चौखम्बा प्रकाशन।

६. अष्टश. आप्तमी. का. १६ तथा का. १००।

: कहीं 'अनिर्णीत' पदको दिया है। तथा कहीं ज्ञानके विशेषण रूपसे 'अविसंवादि'[1] तो भी रखा है। ये पद कुमारिल[2] तथा धर्मकीर्ति[3] लिये गये हों, तो कोई श्चर्य नहीं, क्योंकि उनके प्रमाणलक्षणोंमें ये पद पहलेसे निहित हैं। हाँ, 'अवि-ादि' पद तो धर्मकीर्तिसे पूर्व भी जैन चिन्तक पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि (१।१२) में लब्ध है।

विद्यानन्दने[4] यद्यपि संक्षेपमें 'सम्यग्ज्ञान' को प्रमाण कहा है, जो आचार्य पिच्छके[5] अनुसरणको व्यक्त करता है। पर पीछे उसे उन्होंने 'स्वार्थव्यवसाया-त्म' भी सिद्ध किया है। इस प्रकार उनके प्रमाणलक्षणमें अकलंककी तरह धिगत' विशेषण प्राप्त नहीं है। फिर भी इन्हें सम्यग्ज्ञानको अनधिगतार्थविषयक अपूर्वार्थविषयक मानना अनिष्ट नहीं है। अकलंककी भाँति उन्होंने भी स्मृत्यादि णोंमें अपूर्वार्थविषयताका स्पष्टतया समर्थन किया है।[8] प्रमाणके सामान्यलक्षणमें उन्होंने 'अपूर्व' या 'अनधिगत' विशेषण नहीं दिया, उसका इतना ही तात्पर्य है प्रत्यक्ष तो अपूर्वार्थग्राही होता ही है, अनुमानादि भी प्रत्यक्षादिसे अगृहीत -कालादिविशिष्ट वस्तुको विषय करनेसे अपूर्वार्थग्राहक सिद्ध हो जाते हैं। विद्या-ने जिस अपूर्वार्थका निरास किया है वह कुमारिलका अभिप्रेत सर्वथा अपूर्वार्थ कथंचिद् अपूर्वार्थ नहीं। कथंचिद् अपूर्वार्थ तो उन्हें इष्ट है।

विद्यानन्दके परवर्ती माणिक्यनन्दिने[1] अकलंक तथा विद्यानन्दद्वारा स्वीकृत र समर्थित समन्तभद्रोक्त लक्षणको ही अपनाया है। उन्होंने समन्तभद्रका 'स्व' पद -का-त्यों रहने दिया और 'अर्थ' तथा 'व्यवसायात्मक' पदोंको अकलंक और ानन्दसे लेकर एवं 'अर्थ' के विशेषणरूपसे 'अपूर्व' पदको उसमें जोड़कर 'स्वापूर्वा-व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्' प्रमाणलक्षण सृजित किया है। यद्यपि 'अपूर्वार्थ' शेषण कुमारिलके प्रमाणलक्षणमें हम देख चुके हैं तथापि वह अकलंक और विद्या-द्वारा 'कथंचिद् अपूर्वार्थ' के रूपमें जैन परम्परामें प्रतिष्ठित हो चुका था। णिक्यनन्दिने उसे ही अनुसृत किया है। माणिक्यनन्दिका यह प्रमाणलक्षण इतना प्रिय हुआ कि उत्तरवर्ती अनेक जैन तार्किकोंने उसे ही कुछ आंशिक परिवर्तनके य अपने तर्कग्रन्थोंमें मूर्धन्य स्थान दिया है।

प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्, अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्।—वही, का. ३६, पृ. २२। सनातनग्रन्थमाला प्रकाशन।

'तत्रापूर्वार्थविज्ञानं ....' कुमारिलका पूर्वोक्त श्लोक।

प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्....'—प्रमाणवा. २।१।

प्रमाणप. पृ. १।

त. सू. १।९, १०।

किं पुनः सम्यग्ज्ञानम्। समभिधीयते—स्वार्थव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानत्वात्। —प्रमाणप. पृ. ५।

८. प्रमाणप., पृ ४३,४५। त. श्लो. वा. १।१०।७७,७८,७९।

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।—परीक्षामु. १।१।

निश्चयमें नैयायिकोंने स्वयं चक्षु और मनको ही करणरूपमें स्वीकार किया, प्रदीपादिको भी उनका सहकारी होनेसे उपचारसे करण कहा गया है। [illegible] मानना युक्त नहीं कि प्रदीपादि अर्थप्रकाशनमें ही उपचारसे करण हैं, [illegible] नहीं, क्योंकि जिस प्रकार प्रदीपादि अर्थप्रकाशनमें चक्षु आदिके सहकारी होनेसे उपचारसे करण स्वीकृत हैं उसी प्रकार प्रदीपादिका ज्ञान उत्पन्न करनेमें वे (प्रदीपादि) चक्षु आदिके सहकारी होनेसे उपचारसे करण सिद्ध होते हैं।

'चक्षु आदि स्वनिश्चयमें करण न होनेपर भी अर्थनिश्चयमें करण हैं, अतः उक्त साधन चक्षु आदिके साथ अनैकान्तिक है', यह मन्तव्य भी सम्यक् नहीं, क्योंकि उपकरणरूप चक्षु आदि इन्द्रियाँ अचेतन होनेसे अर्थनिश्चयमें [illegible] हैं। वास्तवमें अर्थग्रहणशक्तिरूप चक्षु आदि भावेन्द्रियाँ ही अर्थनिश्चयमें [illegible] होनेसे करण निर्णीत होती हैं। और यह असिद्ध नहीं है, जिनको प्रतिभा [illegible] उन्हें यह सहज ही अवगत हो सकता है। उसे अनुमानसे भी यहाँ सिद्ध किया जाता है—

'जिसके न होनेपर तथा अन्य कारणोंके होनेपर भी जो उत्पन्न नहीं होता वह उसका करण (साधकतम) है, जैसे कुठारके न होनेपर तथा अन्य कारणोंके होनेपर भी काष्ठच्छेदन नहीं होता, अतः काष्ठच्छेदनका साधकतम (करण) कुठार [illegible] जाता है उसी प्रकार भावेन्द्रियके न होने और द्रव्येन्द्रिय (उपकरणेन्द्रिय) एवं [illegible] सहकारियोंके होनेपर भी घटादि पदार्थोंका निश्चय नहीं होता, अतः उसका [illegible] (करण) भावेन्द्रिय है।' यह भावेन्द्रिय ज्ञानावरणक्षयोपशमशक्ति और उपयोग [illegible] रूप है।

यदि अर्थनिश्चय बाह्य करण (सन्निकर्ष) से स्वीकार किया जाय, तो जिस प्रकार घटके साथ चक्षु-सन्निकर्ष होनेसे घटका चाक्षुष ज्ञान होता है उसी प्रकार आकाशके साथ भी बाह्य करण—उपकरणरूप चक्षुका सन्निकर्ष होनेसे आकाशका भी चाक्षुष ज्ञान क्यों नहीं होता ? यह नहीं कहा जा सकता कि चक्षु आकाशको [illegible] अमूर्तिक है, क्योंकि नैयायिकोंने स्वयं उसे भौतिक (तैजस) और हमने पौद्गलिक स्वीकार किया है।

'आकाशके साथ चक्षुका सन्निकर्ष रहते हुए भी योग्यता न होनेके कारण उसका चाक्षुष ज्ञान नहीं होता' यह उत्तर भी साधु नहीं है, क्योंकि तब योग्यता ही साधकतम सिद्ध होगी, सन्निकर्ष नहीं।

फिर प्रश्न है कि यह योग्यता क्या है ? यदि 'सन्निकर्षकी विशिष्ट शक्ति' का नाम योग्यता है, तो वह शक्ति 'सहकारियोंका सन्निधान' हो सकती है। उद्योतकरने 'सहकारि-सान्निध्यको ही शक्ति' कहा है। इसपर शंका होती है कि वह सहकारी क्या है, जिसके सान्निध्यको शक्ति या योग्यता कहा जाता है ? क्या द्रव्य है, गुण या कर्मादि ? यदि द्रव्यको सहकारी कहा जाय, तो वह द्रव्य आत्मद्रव्य तो सहकारी हो नहीं सकता, क्योंकि उसका सन्निधान चक्षु और आकाशके सन्निकर्षके [illegible] विद्यमान रहता है, परन्तु आकाशका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। कालद्रव्य और दिग्द्रव्य ये दोनों द्रव्य भी सहकारी नहीं हो सकते, क्योंकि दोनोंका सन्निधान [illegible]

…के व्यापक होनेसे आत्मद्रव्यकी तरह चक्षु और आकाशके सन्निकर्षमें मौजूद है, …आकाशका चाक्षुष ज्ञान नहीं होता। मनोद्रव्यको भी सहकारी नही कहा जा …ता, क्योंकि आकाशमें उसका भी सन्निधान हो सकता है, कभी किसी पुरुषका …यावान् अणुरूप मन उसमें जानेसे आकाशके साथ चक्षुःसन्निकर्ष सम्भव है, परन्तु …के रहते हुए भी आकाशका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता।

… यहाँ सामग्री-प्रमाणवादी नैयायिक जयन्तभट्ट समाधान करते हैं कि 'आत्माका …के साथ, मनका इन्द्रियके साथ और इन्द्रियका अर्थके साथ सम्बन्ध होता है और … तरह चारका सन्निकर्ष अर्थनिश्चयमें साधकतम है', उनका यह समाधान भी …मीचीन नहीं है, क्योंकि उक्त सामग्री आकाश और चक्षुःसन्निकर्षमें भी है, जैसे …ाल आदि सहकारी-सामग्री उसमें विद्यमान रहती है।

… 'तेजोद्रव्य (आलोक) सहकारी है, उसके सन्निधानसे चाक्षुष ज्ञान होता है', …ह समाधान भी उक्त समाधानोंसे कुछ वैशिष्ट्य प्रकट नहीं करता, क्योंकि घटादिकी …रह आकाशमें भी चक्षुःसन्निकर्ष आलोक-सन्निधानमें होनेसे आकाशका चाक्षुष ज्ञान अनिवार्य है।

यदि कहा जाय कि 'अदृष्ट नामका विशेषगुण चाक्षुष ज्ञानमें सहकारी है, उसका सान्निध्य संयुक्तसमवाय है, क्योंकि चक्षुके साथ पुरुष (आत्मा) का संयोग और पुरुषमें अदृष्टनामक विशेषगुणका समवाय है, अतः आकाशमें चक्षुःसन्निकर्षका सहकारी—अदृष्टविशेषगुणका सन्निधान (संयुक्त-समवाय) न होनेसे आकाशका चाक्षुष ज्ञान नहीं होता', तो यह कथन भी सगत नहीं है, क्योंकि आकाशमें भी उसके कदाचित् रहनेकी सम्भावना होनेसे उसका चाक्षुषज्ञान क्यों नहीं होगा ?

'सब पुरुषोंके अदृष्ट-विशेषगुणरूप सहकारीका हमेशा आकाशमें सन्निधान सम्भव न होनेसे उसका चाक्षुषज्ञान नहीं हो सकता' ऐसा उत्तर भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर ईश्वरको अदृष्टविशेषगुणका अभाव होनेसे श्रोत्रादि इन्द्रियोंकी तरह चक्षुद्वारा आकाश-विषयक ज्ञान कैसे हो सकेगा ?

यदि यह माना जाय कि 'समाधिविशेषसे ईश्वरके धर्मविशेष उत्पन्न होता है, उसकी सहायतासे मनके द्वारा उसे आकाश आदि समस्त पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है', तो महेश्वरके चक्षु आदि बाह्येन्द्रियाँ निरर्थक हो जायेंगी, क्योंकि उनकी उसे आवश्यकता नहीं है। तथा जब उसके बाह्यकरण निरर्थक होगा, तो उसके अन्तः-करण (मन) भी नहीं बन सकता, जैसे मुक्तात्माके न बाह्यकरण है और न अन्तःकरण। अतः 'महेश्वर मनके द्वारा आकाशादि समस्त पदार्थोंका ग्रहण करता है' यह मान्यता कैसे सगत कही जा सकती है। मनके अभावमें समाधिविशेष और उससे उत्पन्न धर्मविशेष ये दोनों भी ईश्वरके सिद्ध नहीं होते, क्योंकि वे दोनों आत्मा और मनके संयोगसे उत्पन्न होते हैं।

यदि कहा जाय कि 'महेश्वरके समस्त पदार्थोंका ज्ञान अविच्छिन्नरूपसे विद्यमान रहता है और उनके इस अविच्छिन्न ज्ञानका कारण समाधिविशेषकी सन्तति तथा धर्मविशेषकी सन्तति है, जो अनादि-अनन्त है, क्योंकि वे पापमलोंसे सतत अस्पृष्ट हैं और इसका भी कारण यह है कि वे संसारी और मुक्त दोनोंसे विलक्षण

उक्त कथन भी युक्तिसे सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उक्त प्रकारसे नीलादिको क्षणिकता आदिमें भी दर्शनको स्वविषयोपदर्शन करनेसे रोका नहीं जा सकता। यह समाधान उपस्थित किया जासकता है कि 'जो अयोगी (अल्पज्ञ) ज्ञाता हैं क्षणिकता आदिमें अक्षणिकता आदिका भ्रम होनेसे उनका दर्शन नहीं होता। जो योगी ज्ञाता हैं उन्हें तो उनमे अक्षणिकता आदिका भ्रम न होनेसे क्षणिकता में क्षणिकता आदिका दर्शन होता ही है', यह समाधान भी बुद्धिमानोंको ग्राह्य हो सकता, *क्योंकि अयोगियोंको नील, धवल आदिमें भी अनील, अधवल* का भ्रम हो सकता है और तब उन्हें क्षणिकता आदिकी तरह नीलादिका भी नहीं हो सकेगा। अन्यथा नीलादिवस्तुमें नीलादित्व और क्षणिकतादि विरुद्ध ा समावेश होनेसे दर्शनमें भेद (नीलादिको ग्रहण करनेसे ग्राहकत्व और तादिको ग्रहण न करनेसे अग्राहकत्व) क्यों नहीं होगा ? जब दर्शन एक और हत है, तो यह नहीं कहा जा सकता कि वह एक जगह (नीलादिमें) भ्रमाक्रान्त र दूसरी जगह (क्षणिकतादिमें) भ्रमाक्रान्त नहीं है। अतः युक्तिसे सिद्ध करेंगे र्शन नीलादिवस्तुका निश्चायक है, क्योंकि विपरीतसमारोपके कारण विरोधको हुए है, जो विपरीतसमारोपके कारण विरोधको लिये हुए होता है वह यात्मक होता है, जैसे अनुमेय अर्थ (क्षणिकतादि) में अनुमानज्ञान, और ीत समारोपके कारण विरोधको लिये हुए दर्शन नीलादिमें है'। इस प्रकार व्यवसायात्मक ही सिद्ध होता है।

'निश्चयका जनक होनेसे दर्शन नीलादिमें विपरीतसमारोपविरोधी है, न कि निश्चयात्मक होनेसे, अतः उक्त हेतुका साध्यके साथ अविनाभाव अनिश्चित सिद्ध) है', *ऐसा विचार सम्यक् नहीं है, क्योंकि योगिप्रत्यक्षमें भी यह विपरीत-* रोप प्रसक्त होगा, कारण कि उसका योगिप्रत्यक्षके साथ विरोध नहीं है। हम तो प्रत्यक्षको भी निश्चयात्मक स्वीकार करते हैं, अतः योगिप्रत्यक्षके साथ विपरीत-रोपका विरोध सिद्ध ही है। *इसके अतिरिक्त निश्चयके जनक दर्शनके साथ* रोपका विरोध बतलानेपर स्वमतविरोध होता है, क्योंकि धर्मकीर्तिका मत है कि प, जो निश्चयका ही नाम है, और मनःप्रत्यक्ष दोनोंमें बाध्य-बाधक भाव नहीं र इसलिए दर्शन तथा आरोप (व्यवसाय—निश्चय) में विरोध नहीं है।

बौद्ध पुनः कहते हैं कि 'दर्शनको निश्चयात्मक सिद्ध करनेपर प्रत्यक्ष-विरोध योंकि जिस समय समस्त विकल्प रुक जाते हैं उस अवस्थामें ही नीलरूपादिदर्शन है और जो अनिश्चयात्मक अनुभवमें आता है। जैसा कि कहा है—

जब प्रतिपत्ता समस्त चिन्ताओं (विकल्पों) को रोककर स्थिर मनसे स्थित *हुआ चक्षुद्वारा रूपको देखता है तब उसके उस निर्विकल्पक रूपदर्शनको इन्द्रिय-* क्ष कहा जाता है।

प्रत्यक्षविरोधके अतिरिक्त अनुमानविरोध भी है, *...था होती है उस समय चक्षु आदि इन्द्रियोंसे नीलादिवस्तुका* ना नहीं होती। उस समय यदि कल्पना हो तो पुनः उसको विकल्पके बाद होनेवाली कल्पना। ... है—

जब कोई मुझे विकल्प होता है तो तदनुरूप कल्पना होती है [illegible]
अवस्थामें इन्द्रियसे अर्थ (नीलादि) का ज्ञान करनेपर कल्पनाका वेदन [illegible]

धर्मकीर्तिका यह प्रतिपादन विचारपूर्ण नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षके [illegible]
दर्शन प्रसिद्ध नहीं है। स्पष्ट है कि जिस समय अश्वका विकल्प [illegible]
सामने खड़ी गायका दर्शन होता है वह अवस्था ही समस्त-विकल्प-रहित [illegible]
किन्तु उस समय जो गायका दर्शन होता है वह अनिश्चयात्मक नहीं है। [illegible]
निश्चयात्मक स्मरणका उद्भव नहीं हो सकता, क्योंकि निश्चयात्मक [illegible]
कारण निश्चयात्मक संस्कार है—उसका कारण अनिश्चयात्मक द[illegible]
सकता, जैसे क्षणिकता आदिमें दर्शन व्यवसायजनक नहीं है। यथार्थमें [illegible]
दर्शनसे ही संस्कार और स्मरण सम्भव हैं, अनिश्चयात्मकसे नहीं। यह [illegible]

देखे अथवा देखेके समान अर्थमें निश्चयात्मक दर्शनसे संस्कार [illegible]
है, अनिश्चयात्मक दर्शनसे न संस्कार सम्भव है और न स्मृति, क्षणिक[illegible]

यदि यह माना जाय कि 'अभ्यास (दर्शनका बार-बार हो[illegible]
(प्रसंग), बुद्धिपाटव (इन्द्रियकुशलता) और अर्थित्व (प्रतिपत्ताकी
अभिलाषा) इन चारका नीलादिमें सद्भाव होनेसे उनमें निर्विकल्प[illegible]
त्मक) दर्शनसे भी संस्कार तथा स्मरण दोनों सम्भव हैं, क्षणिकता आ
दिके न होनेसे उनमें न संस्कार सम्भव है और न स्मरण। इसके अ[illegible]
को निश्चयात्मक माननेपर भी अभ्यासादिके होनेसे ही उसमें संस्कार
सम्भव हैं, उनके अभावमें नहीं। अतः प्रत्यक्षको व्यवसायात्मक स्वीकार
को भी अभ्यासादि चारों नियमसे मानने योग्य हैं,' तो यह मन्तव्य भी [illegible]
है, क्योंकि उक्त अभ्यासादि चारों नीलादिकी तरह क्षणिकता आदिमें [illegible]
है, अतः संस्कार और स्मरण दोनों उनमें भी हो सकते हैं।

फिर प्रश्न है कि ये अभ्यासादि क्या हैं? यदि 'बार-बार दर्शन [illegible]
अभ्यास है,' तो वह नीलादिकी तरह क्षणिकता आदिमें भी पाया जाता है। [illegible]
'पुनः पुनः विकल्पको उत्पन्न करना अभ्यास' है, तो वह स्वार्थादिकोंके लिए [illegible]
क्योंकि मूल विचार इसी बातमें है कि जो (दर्शन) स्वयं निर्विकल्प (अनिश्चयात्मक)
है वह विकल्प (निश्चय) को कैसे उत्पन्न कर सकता है।

क्षणिक और अक्षणिकका विचार होनेपर क्षणिक-प्रकरण भी [illegible]
विद्यमान रहता है।

बुद्धिपाटवका अर्थ यदि 'इन्द्रियबुद्धिकी पटुता' है, तो वह [illegible]
क्षणिकता आदिमें भी मौजूद है, क्योंकि दर्शन (इन्द्रियबुद्धि) का [illegible]
माना गया है। यह सम्भव नहीं कि नीलादिमें इन्द्रियबुद्धिकी पटुता हो [illegible]
कता आदिमें अपटुता, क्योंकि ऐसा स्वीकार करनेपर इन्द्रियबुद्धिमें [illegible]
अपटुता का भेद मानना पड़ेगा। किन्तु इन्द्रियबुद्धिके निरंश होनेसे [illegible]
है। [illegible] कारण इन्द्रियबुद्धिमें पटुता और अपटुता [illegible]
[illegible] नहीं है, क्योंकि [illegible]
[illegible] इन्द्रियबुद्धिमें अवश्य है।

अब रह जाता है अर्थित्व: सो वह यदि जिज्ञासितत्व (प्रतिपत्ताकी जिज्ञासा) तो वह नीलादिकी तरह ही क्षणिकता आदिमें भी है। और यदि वह (र्थित्व) अभिलषितत्व (प्रतिपत्ताकी अभिलाषा) रूप विवक्षित है, तो वह ...यका अनिवार्य कारण नहीं है, क्योंकि किसी उदासीन प्रतिपत्ताको अनचाही ... भी स्मरण (व्यवसाय) होता हुआ देखा जाता है। अतः अर्थित्व भी संस्कार ...मरणका नियामक नहीं है।

इस प्रकार इन्द्रियबुद्धिको निरंश माननेवालोंके यहाँ अभ्यासादिके बलपर ...दिमें संस्कार एवं स्मरण सम्भव नहीं हैं। किन्तु बाह्य (घटादि ज्ञेय) और ...न्तर (ज्ञान) दोनों प्रकारको वस्तुओंको अनेकान्तात्मक स्वीकार करनेवाले ...ादियोंके यहाँ संस्कार, स्मरण आदि सभी सम्भव हैं। उन्होंने एक ज्ञानको ...ा व्यवसाय, जिसे अवाय कहा गया है और सर्वथा अव्यवसाय, जिसे अनवाय ...वग्रह-ईहा) प्रतिपादित किया है, रूप नहीं माना। इसी तरह उसे सर्वथा ...कार, जिसे धारणा निरूपित किया है और सर्वथा असंस्कार, जिसे धारणेतर ...वग्रह-ईहा-अवायात्मक) बतलाया है, स्वीकार नहीं किया तथा उसे सर्वथा ...रण और सर्वथा अस्मरण (प्रत्यक्षादि) रूप भी वर्णित नहीं किया। अर्थात् ...द्वाददर्शनमें उस ज्ञानको कथंचित् एक और कथंचित् अनेक दोनों रूप माना गया ... इसी प्रकार ज्ञेय वस्तु भी कथंचित् एक और कथंचित् अनेक दोनों रूप प्रति...दित है। अतः उपर्युक्त संस्कार, स्मरण आदिके अभावका प्रसंग स्याद्वाददर्शनमें ...हीं आता। तात्पर्य यह कि आर्हत दर्शनमें ज्ञानमें कथंचित् भेद भी माना गया ...। जो व्यवसायज्ञान है उसे अवायज्ञान, जो अव्यवसायज्ञान है उसे अनवाय—...वग्रह-ईहा ज्ञान, जो संस्कारज्ञान है उसे धारणाज्ञान, जो असंस्कारज्ञान है उसे ...धारणाज्ञान—अवग्रह-ईहा-अवायज्ञान, जो स्मरणज्ञान है उसे स्मृति और जो ...स्मरणज्ञान है उसे अवग्रह-ईहा-अवाय-धारणाज्ञान कहा गया है। इस प्रकार जैनोंने ...द्धोंकी तरह एक निरंश ज्ञान स्वीकार नहीं किया है। पर बौद्धोंने निर्विकल्पक ...र्शनको निरंश (एक) माना है, अतः उसमें अभ्यासादि और अनभ्यासादि दोनों ... हो सकनेसे उसे अभ्यासादिकी अपेक्षा नीलादिमें व्यवसायका उत्पादक और ...नभ्यासादिकी अपेक्षा क्षणिकतादिमें व्यवसायका अनुत्पादक दोनों नहीं माना ...ा सकता।

यहाँ बौद्धोंका पुनः कहना है कि 'दर्शनको भी हमने व्यावृत्तिभेदसे भिन्न (अनेक) स्वीकार किया है, अतः उक्त दोष नहीं है। वह इस प्रकारसे है—अनील...ताकी व्यावृत्ति नीलपना है और अक्षणिकपनाकी व्यावृत्ति क्षणिकपना है। ध्यातव्य ...कि अनीलव्यावृत्ति (नीलपना) में 'यह नील है' ऐसा नीलका व्यवसाय नीलकी ...ासनाके उद्भवसे होता है। किन्तु अक्षणिकव्यावृत्ति (क्षणिकपना) में क्षणिककी ...ासनाका उद्भव न होनेसे 'यह क्षणिक है' ऐसा क्षणिकका व्यवसाय नहीं होता। ...ौर ये दोनों व्यावृत्तियाँ एक नहीं हैं, अन्यथा उनसे व्यावृत्त नीलपना और ...क्षणिकपना दोनों अभिन्न हो जायेंगे। यह भी स्मरणीय है कि व्यावृत्तियोंके ...भिन्न होनेसे वस्तुमें भेद नहीं होता, क्योंकि व्यावृत्तियाँ अन्यापोहरूप होनेसे अवस्तु

अनुमान लिंगादि सामग्रीसे उत्पन्न होनेसे उनकी सामग्री भिन्न मानी जाती है उसी प्रकार आगम शब्दसामग्रीसे, उपमान सादृश्यसामग्रीसे, अर्थापत्ति परोक्ष अर्थके अविनाभावी अर्थरूप सामग्रीसे और अभाव प्रतिषेध्यकी आधारभूत वस्तुके ग्रहण तथा प्रतिषेध्यके स्मरणरूप सामग्रीसे पैदा होनेसे आगम आदिकी भी सामग्री भिन्न-भिन्न है। इसी तरह इन्द्रियप्रत्यक्ष आदि चारों प्रत्यक्षोंकी भी भिन्न-भिन्न सामग्री प्रसिद्ध है। किन्तु चारों प्रत्यक्षोंका विषय साक्षात् अर्थ होनेसे उनमें अर्थभेद नहीं माना जाता। उसी प्रकार लिंग, शब्द आदि सामग्रीका भेद होनेसे अनुमान, आगम आदिमें परोक्ष अर्थको समान रूपसे विषय करनेपर भी भेद प्रसिद्ध है, और इसलिए अनुमानमें उनका अन्तर्भाव सम्भव नहीं है। अतः बौद्धोंको उन्हें उससे अतिरिक्त प्रमाण मानना पड़ेगा।

तर्कप्रमाण-विमर्श :

तथा तर्क भी पृथक् प्रमाण है। साध्य और साधनमें विद्यमान सम्बन्धरूप व्याप्तिका ज्ञान करनेमें प्रत्यक्ष समर्थ नहीं है, क्योंकि वह 'जितना कोई धूम है वह सब अन्य काल और अन्य देशमें अग्निजन्य है, अग्निके अभावमें कदापि नहीं होता' इस प्रकारका व्यापार करनेमें असमर्थ है। दूसरी बात यह है कि वह सन्निहित (वर्तमान और इन्द्रिय-सम्बद्ध) अर्थको ही विषय करता है। तीसरे, वह निर्विकल्पक है।

यदि कहा जाय कि योगिप्रत्यक्ष उक्त व्याप्तिका ज्ञान करनेमें समर्थ है, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रश्न होगा कि देशयोगिप्रत्यक्ष उक्त व्याप्तिको जानता है या सकलयोगिप्रत्यक्ष? दोनों ही विकल्पोंमें अनुमान व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि देशयोगिप्रत्यक्ष और सकलयोगि-प्रत्यक्षसे सभी साध्यों और साधनोंका साक्षात्कार हो जानेपर अनुमानकी सार्थकता नहीं रहती।

यदि कहें कि दूसरोंके लिए अनुमान सार्थक है। अर्थात् जो अल्पज्ञ हैं उन्हें अनुमान आवश्यक है, तो यह कथन भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि परार्थानुमान स्वार्थानुमानपूर्वक होता है। जिसे स्वार्थानुमान होता है उसे ही परार्थानुमान होता है और योगीके स्वार्थानुमान होता नहीं है, तब स्वार्थानुमानके अभावमें उसे परार्थानुमान कैसे हो सकता है।

यदि माना जाय कि सकलयोगी परका अनुग्रह करनेके लिए प्रवृत्ति करता है और परका अनुग्रह शब्दप्रयोगरूप परार्थानुमानके बिना हो नहीं सकता, अतः योगीके परार्थानुमान सिद्ध होता है और परार्थानुमान बिना स्वार्थानुमानके हो नहीं सकता, इसलिए परको उपदेश देनेके लिए प्रवृत्त योगीके स्वार्थानुमान भी सिद्ध हो है, यह मान्यता भी संगत नहीं है, क्योंकि यहाँ दो विकल्प उत्पन्न होते हैं। वह योगी स्वार्थानुमानसे जब चार आर्यसत्योंका निश्चय कर परार्थानुमानसे परके लिए उनका प्रतिपादन करता है, तो उसने साध्य-साधनकी व्याप्ति ग्रहण की है या नहीं? यदि की है, तो यह बताना आवश्यक है कि उसने किससे व्याप्ति ग्रहण की है? इन्द्रियप्रत्यक्ष, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष और मानसप्रत्यक्ष इन तीन प्रत्यक्षोंसे उसका ग्रहण असम्भव है, क्योंकि वह उनका विषय नहीं है। अर्थात् समस्त देशों और समस्त कालोंके साध्य-साधनोंमें रहनेवाली व्याप्ति उन नियत देश और नियत काल विषयक प्रत्यक्षोंसे गृहीत

मान लिंगादि सामग्रीसे उत्पन्न होनेसे उनकी सामग्री भिन्न मानी जाती है उसी प्रकार आगम शब्दसामग्रीसे, उपमान सादृश्यसामग्रीसे, अर्थापत्ति परोक्ष अर्थके अविनाभावी अर्थरूप सामग्रीसे और अभाव प्रतिषेध्यकी आधारभूत वस्तुके ग्रहण तथा प्रतिषेध्यके स्मरणरूप सामग्रीसे पैदा होनेसे आगम आदिकी भी सामग्री भिन्न-भिन्न है। इसी तरह इन्द्रियप्रत्यक्ष आदि चारों प्रत्यक्षोंकी भी भिन्न-भिन्न सामग्री प्रसिद्ध है। किन्तु चारों प्रत्यक्षोंका विषय साक्षात् अर्थ होनेसे उनमें अर्थभेद नहीं माना जाता। उसी प्रकार लिंग, शब्द आदि सामग्रीका भेद होनेसे अनुमान, आगम आदिमें परोक्ष अर्थको समान रूपसे विषय करनेपर भी भेद प्रसिद्ध है, और इसलिए अनुमानमें उनका अन्तर्भाव सम्भव नहीं है। अतः बौद्धोंको उन्हें उससे अतिरिक्त प्रमाण मानना पड़ेगा।

तर्कप्रमाण-विमर्श :

तथा तर्क भी पृथक् प्रमाण है। साध्य और साधनमें विद्यमान सम्बन्धरूप व्याप्तिका ज्ञान करनेमें प्रत्यक्ष समर्थ नहीं है, क्योंकि वह 'जितना कोई धूम है वह सब अन्य काल और अन्य देशमें अग्निजन्य है, अग्निके अभावमें उत्पन्न नहीं होता' इस प्रकारका व्यापार करनेमें असमर्थ है। दूसरी बात यह है कि वह सन्निहित (वर्तमान और इन्द्रिय-सम्बद्ध) अर्थको ही विषय करता है। तीसरे, वह निर्विकल्पक है।

यदि कहा जाय कि योगिप्रत्यक्ष उक्त व्याप्तिका ज्ञान करनेमें समर्थ है, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रश्न होगा कि देशयोगिप्रत्यक्ष उक्त व्याप्तिको जानता है या सकलयोगिप्रत्यक्ष? दोनों ही विकल्पोंमें अनुमान व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि देशयोगिप्रत्यक्ष और सकलयोगि-प्रत्यक्षसे सभी साध्यों और साधनोंका साक्षात्कार हो जानेपर अनुमानकी सार्थकता नहीं रहती।

यदि कहें कि दूसरोंके लिए अनुमान सार्थक है। अर्थात् जो अल्पज्ञ हैं उन्हें अनुमान आवश्यक है, तो यह कथन भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि परार्थानुमान स्वार्थानुमानपूर्वक होता है। जिसे स्वार्थानुमान होता है उसे ही परार्थानुमान होता है और योगीके स्वार्थानुमान होता नहीं है, तब स्वार्थानुमानके अभावमें उसे परार्थानुमान कैसे हो सकता है।

यदि माना जाय कि सकलयोगी परका अनुग्रह करनेके लिए प्रवृत्ति करता है और परका अनुग्रह शब्दप्रयोगरूप परार्थानुमानके बिना हो नहीं सकता, अतः योगीके परार्थानुमान सिद्ध होता है और परार्थानुमान बिना स्वार्थानुमानके हो नहीं सकता, इसलिए परको उपदेश देनेके लिए प्रवृत्त योगीके स्वार्थानुमान भी सिद्ध ही है, यह मान्यता भी सगत नहीं है, क्योंकि यहाँ दो विकल्प उत्पन्न होते हैं। वह योगी स्वार्थानुमानसे जब चार आर्यसत्योंका निश्चय कर परार्थानुमानसे परके लिए उनका प्रतिपादन करता है, तो उसने साध्य-साधनकी व्याप्ति ग्रहण की है या नहीं? यदि की है, तो यह बताना आवश्यक है कि उसने किससे व्याप्ति ग्रहण की है? इन्द्रियप्रत्यक्ष, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष और मानसप्रत्यक्ष इन तीन प्रत्यक्षोंसे उसका ग्रहण असम्भव है क्योंकि वह उनका विषय नहीं है। अर्थात् समस्त देशों और समस्त कालोंके साधनोंमें रहनेवाली व्याप्ति उन नियत देश और काल [illegible] प्रत्यक्षोंसे

यदि बौद्धोंका यह मत हो कि आगम, उपमान आदि प्रमाणोंके द्वारा ग्राह्य अर्थ दो ही प्रकारका होनेसे उनका उक्त दो ही प्रमाणोंमें अन्तर्भाव हो जाता है। स्पष्ट है कि अर्थ (पदार्थ) दो ही प्रकारका है—१. प्रत्यक्ष और २. परोक्ष। जो साक्षात् रूपमें प्रत्यक्षसे जाना जाता है वह प्रत्यक्ष अर्थ है। और जो परम्परया (लिंगादि द्वारा) अनुमेय होनेसे अनुमानगम्य है वह परोक्ष अर्थ है। परोक्ष अर्थ निरन्तर ही साक्षात् जाने गये अन्य पदार्थसे जाना जाता है और वह अन्य पदार्थ उस परोक्ष अर्थके साथ सम्बद्ध (अविनाभावी) होता हुआ ही उस परोक्ष अर्थको जनानेमें समर्थ होता है, असम्बद्ध नहीं, अन्यथा गाय आदिसे अश्व आदिकी भी प्रतीति होनेका प्रसंग आयेगा। तथा जो सम्बद्ध अन्य पदार्थ है वह शब्द, सादृश्य, अन्यथाभाव आदि रूप लिंग ही है और लिंगसे उत्पन्न ज्ञान अनुमान ही है। अतः परोक्ष अर्थको जाननेके लिए अनुमानसे अतिरिक्त प्रमाण नहीं है, शाब्द, उपमान आदि भी उक्त रीतिसे अनुमान ही सिद्ध होते हैं। यदि इन्हें अनुमान न माना जाये तो उनके प्रमाणता न होनेसे उनसे होनेवाला पदार्थोंका ज्ञान अप्रमाण ही सिद्ध होगा?

[illegible] यह मत भी परीक्षासह नहीं है, क्योंकि उक्त रीतिसे प्रत्यक्ष भी [illegible]। प्रकट है कि प्रत्यक्ष भी अपने ग्राह्य अर्थके साथ सम्बद्ध होकर ही उसके ज्ञान करानेमें समर्थ है। यदि वह उसके साथ सम्बद्ध न होकर [illegible] तो सभी प्रत्यक्ष सभी पुरुषोंको सभी पदार्थोंका ज्ञान [illegible], इस अतिप्रसंगका निवारण कैसे होगा।

[illegible] यह कहा जाय कि सम्बद्ध होना प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकारके [illegible] साक्षात् जानने और असाक्षात् जाननेके भेदसे प्रत्यक्ष [illegible] है, तो इन्द्रियप्रत्यक्ष, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष, मानस[illegible] प्रत्यक्ष भी पृथक् प्रमाण हो जायेंगे, क्योंकि [illegible] भिन्न-भिन्न है। स्पष्ट है कि जैसा असाधारण विषय प्रतिभास [illegible] नहीं है और न स्वसंवेदन तथा मानस[illegible] है। [illegible] जैसा अन्तर्मुखाकार विषयका प्रतिभास स्वसंवेदनप्रत्यक्षका है [illegible] नहीं है। और जैसा बाह्यमुखाकार विषय प्रतिभास इन्द्रिय[illegible] है [illegible] नहीं है। इस तरह प्रतिभासभेदके आधारसे [illegible] सिद्ध नहीं होगा।

[illegible] प्रत्यक्ष एक ही प्रमाण है, [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

अनुमान लिंगादि सामग्रीसे उत्पन्न होनेसे उनकी सामग्री भिन्न मानी जाती है उसी प्रकार आगम शब्दसामग्रीसे, उपमान सादृश्यसामग्रीसे, अर्थापत्ति परोक्ष अर्थके अविनाभावी अर्थरूप सामग्रीसे और अभाव प्रतिषेध्यको आधारभूत वस्तुके ग्रहण तथा प्रतिषेध्यके स्मरणरूप सामग्रीसे पैदा होनेसे आगम आदिकी भी सामग्री भिन्न-भिन्न है। इसी तरह इन्द्रियप्रत्यक्ष आदि चारों प्रत्यक्षोंकी भी भिन्न-भिन्न सामग्री प्रसिद्ध है। किन्तु चारों प्रत्यक्षोंका विषय साक्षात् अर्थ होनेसे उनमें अर्थभेद नहीं माना जाता। उसी प्रकार लिंग, शब्द आदि सामग्रीका भेद होनेसे अनुमान, आगम आदिमें परोक्ष अर्थको समान रूपसे विषय करनेपर भी भेद प्रसिद्ध है, और इसलिए अनुमानमें उनका अन्तर्भाव सम्भव नहीं है। अतः बौद्धोंको उन्हें उससे अतिरिक्त प्रमाण मानना पड़ेगा।

तर्कप्रमाण-विमर्श :

तथा तर्क भी पृथक् प्रमाण है। साध्य और साधनमें विद्यमान सम्बन्धरूप व्याप्तिका ज्ञान करनेमें प्रत्यक्ष समर्थ नहीं है, क्योंकि वह 'जितना कोई धूम है वह सब अन्य काल और अन्य देशमें अग्निजन्य है, अग्निके अभावमें उत्पन्न नहीं होता' इस प्रकारका व्यापार करनेमें असमर्थ है। दूसरी बात यह है कि वह सन्निहित (वर्तमान और इन्द्रिय-सम्बद्ध) अर्थको ही विषय करता है। तीसरे, वह निर्विकल्पक है।

यदि कहा जाय कि योगिप्रत्यक्ष उक्त व्याप्तिका ज्ञान करनेमें समर्थ है, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रश्न होगा कि देशयोगिप्रत्यक्ष उक्त व्याप्तिको जानता है या सकलयोगिप्रत्यक्ष? दोनों ही विकल्पोंमें अनुमान व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि देशयोगिप्रत्यक्ष और सकलयोगि-प्रत्यक्षसे सभी साध्यों और साधनोंका साक्षात्कार हो जानेपर अनुमानकी सार्थकता नहीं रहती।

यदि कहें कि दूसरोंके लिए अनुमान सार्थक है। अर्थात् जो अल्पज्ञ हैं उन्हें अनुमान आवश्यक है, तो यह कथन भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि परार्थानुमान स्वार्थानुमानपूर्वक होता है। जिसे स्वार्थानुमान होता है उसे ही परार्थानुमान होता है और योगिके स्वार्थानुमान होता नहीं है, तब स्वार्थानुमानके अभावमें उसे परार्थानुमान कैसे हो सकता है।

यदि माना जाय कि सकलयोगी परका अनुग्रह करनेके लिए प्रवृत्ति करता है और परका अनुग्रह शब्दप्रयोगरूप परार्थानुमानके बिना हो नहीं सकता, अतः योगीके परार्थानुमान सिद्ध होता है और परार्थानुमान बिना स्वार्थानुमानके हो नहीं सकता, इसलिए परको उपदेश देनेके लिए प्रवृत्त योगीके स्वार्थानुमान भी सिद्ध हो है, यह मान्यता भी संगत नहीं है, क्योंकि यहाँ दो विकल्प उत्पन्न होते हैं। वह योगी स्वार्थानुमानसे जब चार आर्यसत्योंका निश्चय कर परार्थानुमानसे परके लिए उनका प्रतिपादन करता है, तो परने साध्य-साधनकी व्याप्ति ग्रहण की है या नहीं? यदि की है, तो यह बताना आवश्यक है कि उसने किससे व्याप्ति ग्रहण की है? इन्द्रियप्रत्यक्ष, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष और मानसप्रत्यक्ष इन तीन प्रत्यक्षोंसे उसका ग्रहण असम्भव है, क्योंकि वह उनका विषय नहीं है। अर्थात् समस्त देशों और समस्त कालोंके साध्य-साधनोंमें रहनेवाली व्याप्ति उन नियत देश और नियत काल विषयक प्रत्यक्षोंसे गृहीत

विराम न मिलनेपर प्रकृत अनुमानका उदय ही नहीं हो सकेगा।

शंका—प्रत्यक्ष और अनुपलम्भके पश्चात् उत्पन्न एवं अप्रमाणभूत विकल्पके द्वारा साध्य और साधनकी व्याप्तिका ज्ञान सम्भव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि यदि अप्रमाणभूत विकल्पसे व्याप्तिका निश्चय स्वीकार किया जाय, तो प्रत्यक्ष और अनुमानको प्रमाण माननेकी क्या जरूरत है, मिथ्याज्ञानसे ही प्रत्यक्ष अर्थ और अनुमेय अर्थका निश्चय हो जायेगा, जैसे व्याप्तिका निश्चय अप्रमाणभूत विकल्पसे माना जाता है। अतः जिस प्रकार प्रत्यक्षको प्रमाण सिद्ध करनेके लिए अनुमानका मानना आवश्यक है, उसके बिना उसकी प्रमाणता सिद्ध नहीं हो सकती, उसी प्रकार साध्य और साधनकी व्याप्तिके ज्ञानको प्रमाण माने बिना अनुमानकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है, अतः उसे (व्याप्तिज्ञानको) भी प्रमाण मानना जरूरी है और वह 'ऊहा' नामक विसंवादरहित उक्त दोनों प्रमाणोंसे अतिरिक्त प्रमाण सिद्ध है। अतएव जो (बौद्ध) कहते हैं कि 'प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण हैं' उनकी वह प्रमाणसंख्या विघटित हो जाती है।

वैशेषिकमत-समीक्षा और तर्कप्रमाणसिद्धि :

इस विवेचनसे वैशेषिकोंकी प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणोंकी मान्यता भी खण्डित हो जाती है, क्योंकि व्याप्तिके निश्चयके लिए उन्हें भी 'ऊहा' प्रमाण मानना आवश्यक है।

शंका—साध्यसामान्य और साधनसामान्यका किसी व्यक्तिविशेष-महानस (रसोईघर) आदिमें प्रत्यक्षसे ही सम्बन्ध (व्याप्ति-अविनाभाव) अवगत हो जाता है, अतः उसके ज्ञानके लिए पृथक् प्रमाण आवश्यक नहीं है। 'जितना कोई धूम है वह सभी अग्निजन्य है, बिना अग्निके वह उत्पन्न नहीं होता' इस प्रकारका ऊहापोहरूप विकल्पज्ञान व्याप्तिग्राहक है, जो अलग प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह सम्बन्ध (व्याप्ति) को ग्रहण करनेवाला विकल्पज्ञान प्रत्यक्षप्रमाणका फल है। जैसे 'सूर्यमें गमनशक्ति है, क्योंकि वह गतिवाला है तथा सूर्य गतिवाला है क्योंकि एक स्थानसे दूसरे स्थानपर उसकी प्राप्ति है' इस अनुमितानुमानमें साध्य और साधनके सम्बन्धज्ञानका कारण अनुमानफल दूसरा अनुमान है। अतः प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण हम वैशेषिकोंके सिद्ध होते हैं ?

समाधान—उक्त कथन भी निःसार है, क्योंकि सविकल्पक प्रत्यक्षसे भी समस्त साध्यों और साधनोंके सम्बन्ध (व्याप्ति) का ग्रहण सम्भव नहीं है। प्रश्न है कि साध्य क्या अग्निसामान्य है या अग्निविशेष या अग्निसामान्यविशेष ? अग्निसामान्य तो साध्य नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें सिद्धसाधन है—अग्निसामान्यमें विवाद न होनेसे उसे सिद्ध करना सिद्धको सिद्ध करना है, जो व्यर्थ है। अग्निविशेष (पर्वतीय अग्नि, चत्वरीय अग्नि आदि विशेष अग्नि) भी साध्य नहीं हो सकता, क्योंकि अन्वय नहीं बनेगा। 'जहाँ धूम होता है वहाँ पर्वतीय वह्नि होती है' इस प्रकारके अन्वय प्रदर्शनका कोई स्थल नहीं है, जहाँ दोनों पाये जायें। अग्निसामान्यविशेषको साध्य बनानेपर उसके साथ धूमका सम्बन्ध (अविनाभाव), जो समस्त देश और समस्त कालवर्ती है, प्रत्यक्षसे कैसे जाना जा सकता है। तथा उसका ज्ञान

न होने पर 'जहाँ-जहाँ, जब-जब धूम उपलब्ध होता है वहाँ-वहाँ तब-तब अग्नि-सामान्यविशेष उपलब्ध होता है' इस प्रकारके सम्बन्धपूर्वक होनेवाले अनुमानका उदय नहीं हो सकता। और यह सम्भव नहीं कि सम्बन्धका ग्रहण अन्य प्रकारसे हो और अनुमानकी उत्पत्ति अन्य प्रकारसे, क्योंकि उसमें अतिप्रसंग आवेगा। अतः सम्बन्ध (व्याप्ति) ग्राही जो ज्ञान है वह एक स्वतन्त्र प्रमाण है, क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमानसे सम्बन्धका ज्ञान नहीं हो सकता।

ऊपर जो यह कहा गया है कि 'ऊहापोहरूप विकल्पज्ञान प्रत्यक्षका फल है, वह प्रमाण नहीं है, फल तो प्रमाणसे भिन्न होता है', वह ठीक नहीं है, क्योंकि विशेष्यज्ञान भी विशेषणज्ञानका फल होनेसे प्रमाण नहीं हो सकेगा। हान, उपादान और उपेक्षा बुद्धिरूप फलको उत्पन्न करनेसे विशेष्यज्ञानको प्रमाण स्वीकार करनेपर ऊहापोहविकल्पज्ञानको भी हान, उपादान और उपेक्षा बुद्धिरूप फलको उत्पन्न करनेके कारण प्रमाण मानना चाहिए, क्योंकि दोनोंमें भेद नहीं है।

शंका—ऊहा प्रमाणके विषयका परिशोधक है, प्रमाण नहीं है?

समाधान—यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि जो प्रमाणके विषयका परिशोधक होता वह अप्रमाण नहीं हो सकता—अप्रमाणसे प्रमाणके विषयका परिशोधन सम्भव नहीं है। अतः हम कहेंगे कि 'तर्क प्रमाण है, क्योंकि वह प्रमाणके विषयका परिशोधक है। जो प्रमाण नहीं वह प्रमाणके विषयका परिशोधक नहीं देखा गया, जैसे संशयादि अर्थ। और प्रमाणके विषयका परिशोधक है तर्क, इस कारण वह प्रमाण है', इस केवलव्यतिरेकी अनुमानसे, जो अन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चय-लक्षणवाला है, तर्क प्रमाण सिद्ध होता है। अतः वैशेषिकोंकी भी दो (प्रत्यक्ष और अनुमान) प्रमाणोंकी मान्यता सिद्ध नहीं होती।

सांख्यादिमतसमीक्षा :

इसी प्रकार तीन, चार, पाँच और छह प्रमाण माननेवालोंकी प्रमाण-संख्याका भी नियम सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणों-को माननेवाले [illegible] आगमप्रमाणकी भी प्रत्यक्ष और अनुमानकी तरह [illegible] सम्बन्धका निश्चय न हो सकनेसे उसका निश्चय करनेवाले [illegible] प्रमाण मानना पड़ता है। नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमकी तरह [illegible] लिंग और लिंगी (साधन और साध्य) के सम्बन्ध (व्याप्ति) [illegible] ग्रहण [illegible] उसके ग्रहणके लिए उन्हें भी तर्क प्रमाणको स्वीकार करना पड़ता है। [illegible] प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमानकी तरह [illegible] सम्बन्धका निश्चय सम्भव न होनेसे उसके निश्चयके [illegible] आवश्यक है। भाट्टमीमांसक प्रत्यक्ष, अनुमान, [illegible] अर्थापत्ति और अभाव ये छह प्रमाण मानते हैं, उनके प्रत्यक्ष आदिकी तरह [illegible] निर्णय न हो सकनेसे उन्हें भी तर्क निर्णायक [illegible] है।

शंका—[illegible] ([illegible]) के साथ [illegible] ग्रहण [illegible] है या असम्बद्ध ग्रहण करता है? यदि असम्बद्ध ग्रहण करता है तो वह

सम्बन्धका ज्ञान कराता है, तो अनुमान भी बिना व्याप्ति-सम्बन्धके
ज्ञान करा देगा। यदि सम्बद्ध होकर वह सम्बन्धका निश्चय करात
होता है कि उस सम्बन्धका ज्ञान किससे होता है। प्रत्यक्षसे तो सम्भव
वह प्रत्यक्षका विषय नहीं है। अनुमानसे भी उसके सम्बन्धका नि
सकता, क्योंकि अनवस्थाका प्रसंग आयेगा। यदि अन्य ऊहासे उस
निश्चय माना जाय, तो वह ऊहा भी अपने विषयके साथ सम्बद्ध होकर
का निश्चय करायेगा और उस सम्बन्धका ज्ञान अन्य ऊहापूर्वक होनेसे
आयेगी। अर्थात् एक दूसरे पृथक् ऊहा प्रमाणसे सम्बन्धका निश्चय मा
प्रश्न होगा और अन्य-अन्य प्रमाणोंकी परिकल्पना होनेसे प्रमाणकी नि
कहीं (जैनदर्शनमे) भी सिद्ध न हो सकेगी ?

समाधान—नहीं, क्योंकि उक्त प्रकारकी आपत्ति प्रत्यक्षप्रमाणपर भ
जा सकती है। अर्थात् प्रत्यक्ष अपने विषयका निश्चय उससे सम्बद्ध होकर क
या असम्बद्ध होकर ? द्वितीय पक्षमे पूर्ववत् अतिप्रसंग दोष आता है। प्रथम प
बताना आवश्यक है कि उसके सम्बन्धका ज्ञान किससे होता है ? अनुमान
तो सम्भव नहीं है, क्योंकि वह उनका विषय नहीं है। दूसरे प्रत्यक्षसे उसका
माननेपर वही प्रश्न उठनेसे अनवस्था आये बिना न रहेगी और उस हालतमें
प्रमाणको भी स्वीकार करना अशक्य हो जायेगा।

शंका—प्रत्यक्षमें अपने विषयके सम्बन्धज्ञानके निमित्तसे प्रमाणता नहीं
अपितु अपनी योग्यताके बलसे ही वह अपने विषयमें प्रमाण है। यदि ऐसा न हो,
किसी विषयमे वह अपूर्वार्थग्राही प्रत्यक्ष प्रमाण नही हो सकेगा ?

समाधान—उक्त कथन युक्त नहीं है, क्योंकि इस प्रकार ऊहा भी अप
योग्यताके सामर्थ्यसे ही अपने विषयका निश्चय कराता है, उसके लिए अन्य प्रमाण
आवश्यकता नही है। अतः ऊपर उद्भावित दूषण निरर्थक है। वह योग्यताविशे
अपने विषयके आवारक ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशमविशेषरूप है
और वह जिस प्रकार प्रत्यक्षमे है उसी प्रकार ऊहामे भी स्वीकार किया गया है, उसके
द्भावमें कोई बाधक नहीं है। तथा जिस प्रकार प्रत्यक्षकी उत्पत्तिमे मन, इन्द्रिय
दि सामग्री, योग्यताकी सहायक है, क्योंकि वह बाह्यनिमित्त है, उसी प्रकार
हाज्ञानकी भी उत्पत्तिमें भूयःप्रत्यक्ष (धूम और अग्निका एक साथ अनेक बार दर्शन)
र अनुपलम्भ (अग्नि और धूमका अदर्शन) आदि सामग्री योग्यताकी सहकारिणी है,
कि वह बहिरंग निमित्त है। उसके होनेपर ऊहाज्ञान होता है और उसके अभावमें
नहीं होता। तात्पर्य यह कि ऊहा अन्वय और व्यतिरेकपूर्वक होता है। होनेपर होना
य है और न होनेपर न होना व्यतिरेक है। जैसे अग्निके होनेपर ही धुआँ होता
ह अन्वय है और अग्निके अभावमे धुआँ नही होता, यह व्यतिरेक है। इन अन्वय
व्यतिरेक पुरस्सर व्याप्तिके निश्चयके लिए ऊहा प्रमाणकी प्रवृत्ति होती है। और
क व्याप्तिका निश्चय नही होगा, तबतक अनुमान प्रमाण सिद्ध नही होगा।
हना होगा कि 'तर्क प्रमाण है, अन्यथा अनुमानप्रमाण सिद्ध नही हो सकता।'
र तर्क अपर नाम ऊहा प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान आदिसे पृथक् प्रमाण
ता है।

शंका—धर्मीको हेतु बनानेपर अनन्वय दोष प्राप्त होता है ?

समाधान—नहीं, विशेषको धर्मी और सामान्यको हेतु कहनेपर उक्त दोष नहीं आता। प्रकट है प्रत्यक्षविशेष (प्रत्यक्षव्यक्ति) को धर्मी और प्रत्यक्षसामान्य (प्रत्यक्षव्यक्तियोंमें व्यापक धर्म) को हेतु बनाया है, तब अनन्वय दोष कैसे हो सकता है, क्योंकि वह सभी प्रत्यक्षव्यक्तियोंमें व्याप्त रहता है।

शंका—कदाचित् वह किसी दृष्टान्तमें न रहे, तब तो अनन्वय दोष होगा ?

समाधान—नहीं, इस तरह तो 'सभी पदार्थ क्षणभंगुर हैं, क्योंकि वे सत् हैं' इत्यादि अनुमानोंमें भी हेतु अनन्वयी प्राप्त होता है, क्योंकि कोई सपक्ष नहीं है।

शंका—उपर्युक्त 'सत्त्व' हेतु दृष्टान्तमें अनन्वयी होनेपर भी पक्षमें पूरे तौरसे अन्वयी सिद्ध है। इसके अतिरिक्त विपक्षमें उसके रहनेकी रंचमात्र भी सम्भावना नहीं है, अतएव 'सत्त्व' हेतु निर्दोष माना है ?

समाधान—यह कथन युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि इस प्रकार तो 'प्रत्यक्षत्व' हेतु भीनिर्दोष माना जायगा और हेतुको अन्वयी होना अनावश्यक कहा जायगा, क्योंकि दोनोंमें कोई फरक नहीं है—दोनोंकी स्थिति एक-सी है। वास्तवमें अनन्वय कोई दोष नहीं है, हेतुको अपने साध्यके साथ व्याप्त (अविनाभावी) होना ही आवश्यक है। यही कारण है कि केवलव्यतिरेकी हेतुओंमें भी अविनाभावमात्रके निश्चयसे साध्यको सिद्ध करनेकी सामर्थ्य मानी गयी है। अतः अनन्वय नामका कोई दोष ही नहीं है। अतएव 'प्रत्यक्षत्व' हेतु निर्दोष है और वह अपने साध्य विशदज्ञान-स्वरूपको प्रत्यक्ष (पक्ष) मे सिद्ध करता है।

यह विशदज्ञानस्वरूप साध्य असम्भव भी नही है, क्योंकि आत्माको लेकर उत्पन्न हुए ज्ञानमें, जिसे प्रत्यक्ष कहा जाता है और जो पदार्थोंका साक्षात्कर्ता है, सम्पूर्णतया अथवा एकांशसे विशदता रहती है, उसके रहनेमें कोई बाधा नहीं है। तात्पर्य यह कि आत्ममात्रकी अपेक्षा लेकर उत्पन्न हुआ सकलप्रत्यक्ष (केवलज्ञान) और विकलप्रत्यक्ष (अवधि तथा मनःपर्ययज्ञान) ये सभी ज्ञान विशद होते हैं। अतः यह कहा ही नहीं जा सकता कि कोई विशदज्ञान होता ही नही। उसकी सयुक्तिक सिद्धि आगे विस्तारपूर्वक की गयी है। प्रत्यक्षशब्दकी जो व्युत्पत्ति है उससे भी प्रत्यक्षज्ञान विशदात्मक सिद्ध है। 'प्रत्यक्ष' पदमें दो शब्द हैं—एक प्रति और दूसरा अक्ष। 'अक्ष' का अर्थ अक्षण—व्यापन—जानन करनेसे आत्मा है और उस ही क्षीणावरण अथवा क्षीणोपशान्तावरण आत्माको लेकर उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्षशब्दका वाच्य है, तब ऐसे ज्ञानमें विशदताकी असम्भवता कैसे कही जा सकती है। अतः ठीक ही कहा गया है कि जो ज्ञान विशद है वह प्रत्यक्ष है।

अब प्रत्यक्षके भेदोंका कथन किया जाता है।

उक्त प्रत्यक्ष तीन प्रकारका है—१. इन्द्रियप्रत्यक्ष, २. अनिन्द्रियप्रत्यक्ष और ३. अतीन्द्रियप्रत्यक्ष। इनमें इन्द्रियप्रत्यक्षको सांव्यवहारिक (लोकव्यवहार) प्रत्यक्ष कहा जाता है, क्योंकि वह एकदेश ही विशद होता है, पूर्णतया नहीं। इन्द्रियप्रत्यक्षकी तरह अनिन्द्रियप्रत्यक्ष भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना गया है, क्योंकि वह भी उसी तरह एकदेश ही विशद होता है। अन्तर इतना ही है कि अनिन्द्रियप्रत्यक्ष अन्तर्मुखाकार-

रूपसे होता है और इन्द्रियप्रत्यक्ष बहिर्मुखाकाररूपसे। अतीन्द्रियप्रत्यक्ष दो प्रकारका है—१. विकलप्रत्यक्ष और २. सकलप्रत्यक्ष। विकलप्रत्यक्ष भी दो तरहका है—१. अवधिज्ञान और २. मनःपर्ययज्ञान। सकलप्रत्यक्ष केवल एक ही प्रकारका है और वह है केवलज्ञान। ये तीनों प्रत्यक्ष मुख्य प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि इन तीनोंमें ही न मनकी और न इन्द्रियोंकी अपेक्षा होती है। इनके अलावा ये तीनों व्यभिचाररहित होते हैं—मिथ्या (संशयादिरूप) नहीं होते। इनके अतिरिक्त साकार वस्तु ग्राही (सविकल्पक) होते हैं और अपने विषयों (ज्ञातव्य पदार्थों—मूर्तिक-अमूर्तिकों) में पूर्णतया विशद (स्पष्ट) होते हैं। यही तत्त्वार्थवार्तिककार अकलंकदेवने कहा है—

'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षम्'

—त. वा. १-१२।

'जो ज्ञान इन्द्रियों तथा मनकी सहायताके उत्पन्न नहीं होता, निर्दोष है और साकार वस्तु ग्राही है वह प्रत्यक्ष है।'

आगे उक्त वार्तिकके पदोंकी सार्थकता दिखाते हुए कहा गया है कि 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षम्'—'इन्द्रिय और मनकी अपेक्षासे रहित' इस पदसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्षकी, जो इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्षके भेदसे दो प्रकारका है तथा एकदेशसे विशद होता है, व्यावृत्ति की है। 'अतीतव्यभिचारम्—'व्यभिचाररहित' पदसे विभंगज्ञानकी, जो अवधिप्रत्यक्षाभास है, निवृत्ति की है और 'साकारग्रहणम्'—'साकार वस्तु ग्राही' विशेषणसे निराकार ग्रहणका, जिसे दर्शन कहा है, व्यवच्छेद किया है और इस तरह वार्तिकगत तीनों विशेषण सार्थक हैं। अतः जो मुख्यप्रत्यक्ष तीन प्रकारका कहा है वह ठीक है। [२-५२]

शंका—स्वसंवेदन नामका एक चौथा भी प्रत्यक्ष है, उसे भी कहना चाहिए?

समाधान—नहीं, क्योंकि वह सभी ज्ञानोंका सामान्य स्वरूप है। इन्द्रियप्रत्यक्षका स्वरूपसंवेदन इन्द्रियप्रत्यक्ष ही है, अन्यथा वह अपना और पर (बाह्य) का संवेदन नहीं कर सकेगा। दूसरे, उसमें दो संवेदन मानने पड़ेंगे। एक स्वको जाननेवाला और दूसरा बाह्यको। अनिन्द्रियप्रत्यक्षका, जिसे मानसप्रत्यक्ष कहा जाता है और जो सुखादिज्ञानरूप है, स्वरूपसंवेदन भी उक्त प्रकारसे अनिन्द्रियप्रत्यक्ष ही है, वह उससे पृथक् नहीं है। इसी तरह तीनों अतीन्द्रियप्रत्यक्षोंका स्वरूपसंवेदन भी तीनों अतीन्द्रियप्रत्यक्षरूप ही है, उनसे जुदा नहीं। अतः स्वसंवेदन नामका चौथा कोई प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं होता। इस विवेचनसे श्रुतज्ञानका भी स्वरूपसंवेदन अनिन्द्रियप्रत्यक्ष जानना चाहिए, क्योंकि वह (श्रुतज्ञान) अनिन्द्रिय (मन) पूर्वक होता है। प्रमाणात्मक ज्ञानोंका स्वरूपसंवेदन भी प्रमाणात्मकज्ञानस्वरूप है, यह भी समझ लेना चाहिए। अतएव सारे ज्ञान स्वरूपसंवेदनकी अपेक्षासे प्रमाण ही हैं और बाह्य प्रमेयकी अपेक्षासे वे प्रमाण तथा प्रमाणाभास कहे जाते हैं। स्वरूपको जाननेकी अपेक्षासे कोई ज्ञान प्रमाणाभास नहीं है[1]। [२-५३]

---

१. भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभास-निह्नवः।
बहिःप्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते॥

—आ. समन्तभद्र, आप्तमी. का. ८३।

इन्द्रियप्रत्यक्ष तथा अनिन्द्रियप्रत्यक्ष-विमर्श :

प्रश्न—इन्द्रियप्रत्यक्ष किसे कहते हैं ?

उत्तर—इन्द्रियोंकी प्रधानता और मनकी गौणतासे उत्पन्न हुए ज्ञानको, जिसे मतिज्ञान कहा जाता है, इन्द्रियप्रत्यक्ष कहते हैं। आचार्य गृद्धपिच्छने तत्त्वार्थसूत्र (१-१४) में प्रतिपादन भी किया है कि जो इन्द्रिय और अनिन्द्रियपूर्वक होता है वह मतिज्ञान है।

यह इन्द्रियप्रत्यक्ष चार प्रकारका है—१. अवग्रह, २. ईहा, ३. अवाय और ४ धारणा। पदार्थ और इन्द्रियोंके सम्बन्ध होनेके बाद उत्पन्न हुए आद्य ज्ञानका नाम अवग्रह है। अर्थात् 'क्या है' इस प्रकारके विशेष रहित वस्तुके सामान्यावलोकनरूप दर्शनपूर्वक उत्पन्न हुआ कुछ रूप, आकार आदिकी विशेषताओंको लिये हुए पदार्थका विशिष्ट ज्ञान अवग्रहज्ञान है। अवग्रहज्ञानसे ग्रहण की गयी वस्तुके विषयमें विशेष जाननेकी आकांक्षा करना ईहा है, जिसमें 'होना चाहिए' रूप ज्ञान होता है। ईहाज्ञानसे जानी हुई वस्तुके विशेषोंका निश्चय करना अवायज्ञान है। सुनिश्चित तथा कालान्तरमें भी अविस्मृतिके कारणभूत ज्ञानका नाम धारणाज्ञान है। ये चारों ही ज्ञान इन्द्रियोंके व्यापारपूर्वक होते हैं, उनके अभावमें वे उत्पन्न नहीं होते। तथा चारों ज्ञान मनपूर्वक भी होते हैं क्योंकि जिनके मन नहीं होता उनके ये मनपूर्वक होनेवाले चारों ज्ञान नहीं होते। ये इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रियप्रत्यक्ष दोनों एकदेशसे विशद और अविसंवादी होते हैं। स्पर्शन आदि पाँचों इन्द्रियोंके निमित्तसे बहु, एक, बहुविध, एकविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, अनिःसृत, निःसृत, उक्त, अनुक्त, ध्रुव और अध्रुव इन बारह प्रकारके पदार्थोंमें होनेसे इन्द्रियप्रत्यक्ष प्रत्येक इन्द्रियकी अपेक्षासे ४८, ४८ भेदों तथा व्यंजनावग्रहके (चक्षुः और मनको छोड़कर शेष चार इन्द्रियोंसे होनेके कारण) ४८ भेदोंसे सहित होता है और इस प्रकार इन्द्रियप्रत्यक्षके ४×१२×५=२४०+१×१२×४=४८=२८८ भेद हैं। तथा अनिन्द्रियप्रत्यक्षके ४×१२×१=४८ भेदोंको भी उनमें मिला देनेपर सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष (मतिज्ञान) के कुल भेद २८८+४८=३३६ हैं।

अतीन्द्रियप्रत्यक्ष-विमर्श :

अतीन्द्रियप्रत्यक्षके पहले विकल और सकल ये दो भेद कहे जा चुके हैं। अब उनका विशेष कथन किया जाता है। विकल अतीन्द्रियप्रत्यक्षका पहला भेद अवधिज्ञान है। यह ज्ञान इन्द्रिय और मनकी अपेक्षाके बिना केवल आत्मामात्रकी अपेक्षासे होता है और मूर्तिक पदार्थोंको ही विषय करता है। तथा अपने विषयमें पूर्ण विशद होता है। इसके छह भेद हैं—१. अनुगामी, २ अननुगामी, ३. वर्धमान, ४. हीयमान, ५ अवस्थित और ६. अनवस्थित। जो अवधिज्ञान सूर्यके प्रकाशकी तरह स्वामीके साथ एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्र और एक पर्यायसे दूसरी पर्यायमें जाता है वह अनुगामी है। जो अवधिज्ञान विमुख पुरुषको दी गयी आज्ञाकी तरह वहीं छूट जाता है, न क्षेत्रान्तरमें जाता है और न पर्यायान्तरमें, वह अननुगामी है। जो जंगलके बांसोंकी रगड़से उत्पन्न अग्निकी भांति निरन्तर बढ़ता जाता है वह वर्धमान है। जो अवधिज्ञान सीमित ईंधनवाली अग्निकी शिखाकी तरह धीरे-धीरे कम होता जाता है वह

हीयमान है। जो शरीरके मसा, तिल आदि चिह्नोंकी तरह हमेशा एक-सा बना रहता है वह अवस्थित है और जो हवाके वेगसे प्रेरित जलकी लहरोंकी तरह घटता-बढ़ता रहता है वह अनवस्थित है।

संक्षेपमें यह अवधिज्ञान तीन प्रकारका है—१. देशावधि, २. परमावधि और ३. सर्वावधि। देशावधिज्ञान उक्त छहों प्रकारका होता है। अर्थात् उसमें अनुगामी आदि छहों भेद पाये जाते हैं। परन्तु परमावधि-ज्ञान विशिष्ट संयमके धारकोंके होता है। पर्यायान्तरमें न जानेकी अपेक्षासे अननुगामी और प्रतिपात (छूट जाने) से सहित होता है और उसी पर्यायमें क्षेत्रसे क्षेत्रान्तरमें जानेकी अपेक्षा अनुगामी ही होता है, अननुगामी नहीं, क्योंकि केवलज्ञान होने एवं पर्यायके अन्त तक वह स्वामीके साथ रहता है। तथा वह वर्धमान ही होता है, हीयमान नहीं। अवस्थित ही होता है, अनवस्थित नहीं। अप्रतिपात ही होता है, सप्रतिपात नहीं, क्योंकि वह अत्यन्त विशुद्ध परिणामोंसे उत्पन्न होता है। यह उसी पर्याय या केवलज्ञानकी अपेक्षासे कहा गया है, क्योंकि परमावधिज्ञानी दूसरी पर्यायमें जाये या केवलज्ञान प्राप्त कर ले, तभी उसका वह परमावधिज्ञान छूटता है। इस प्रकार इस अवधिज्ञानमें वर्तमान पर्यायकी अपेक्षासे अनुगामी, वर्धमान और अवस्थित ये तीन ही भेद पाये जाते हैं, अन्य तीन भेद नहीं। तथा पर्यायान्तरकी अपेक्षासे अननुगामी और अनवस्थित ये दो भेद और एक सप्रतिपात भेद होता है। परमावधि-ज्ञानकी तरह सर्वावधिज्ञानके विषयमें भी जान लेना चाहिए। केवल वह वर्धमान भी नहीं होता, क्योंकि वह जब उत्पन्न होता है तो पूर्ण प्रकर्षको प्राप्त होता है। अतः उसमें वर्धमानता नहीं है। दूसरी उसकी विशेषता यह है कि वह सम्पूर्ण अवधिज्ञानावरण तथा वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशमसे उद्भूत होता है।

अतिसंक्षेपमें अवधिज्ञान दो प्रकारका है—१. भवप्रत्यय और २. गुणप्रत्यय। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देवों और नारकियोंके होता है, क्योंकि वह बाह्य देव भव और नारकी भवके निमित्तसे होता है। इन पर्यायोंके होनेपर ही वह होता है और उनके अभावमें नहीं होता। अतः ऐसे अवधिज्ञानको भवनिमित्तक अवधिज्ञान कहा गया है। यह केवल देशाव-धिरूप ही होता है, परमावधि यासर्वावधिरूप नहीं। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान असंयत-सम्यग्दृष्टिके सम्यग्दर्शनगुणके निमित्तसे और संयतासंयतके संयमासंयम (देशसंयम) गुणपूर्वक तथा संयतके संयमगुणके होनेसे होता है। यह दोनों अवधिज्ञानोंके बाह्य निमित्तोंका कथन है। उनका अन्तरंग कारण अवधि-ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायकर्मका यथासम्भव क्षयोपशम है। उसके सद्भावमें ही सम्यग्दर्शनादिके होनेपर होता है, अन्यथा नहीं।

मनःपर्ययज्ञान-विमर्श :

मनःपर्ययज्ञान, जो विकल अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है, दो तरहका है—१. ऋजुमति और २. विपुलमति। इनमें ऋजुमति सरल मन, सरल वाणी और सरल कायवालोंके मनोगत विषयको जानता है, अतः उसके सरल मन, सरल वाणी और सरल कायके निमित्तसे तीन भेद कहे गये हैं। किन्तु विपुलमति मनःपर्ययज्ञान सरल अथवा वक्र दोनों ही प्रकारके मन, वचन और कायवालोंके मनःस्थित चिन्तित, अर्धचिन्तित और

मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान कहे हैं। अतः उनके इस सूत्र (त. सू. १-९) की अपेक्षासे 'आद्ये' पदके द्वारा मति और श्रुत ये दो ज्ञान गृहीत हैं। ये दोनों ज्ञान परकी अपेक्षासे होनेके कारण परोक्ष कहे गये हैं। और परकी अपेक्षासे न होनेके कारण अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीन ज्ञान प्रत्यक्ष बतलाये हैं।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि अवग्रहसे लेकर धारणा पर्यन्त मतिज्ञानको एकदेश विशद होनेसे इन्द्रियप्रत्यक्ष-अनिन्द्रियप्रत्यक्ष कहा गया है और यहाँ उसे परोक्ष बतलाया गया है, यह विसगति (विरोध) कैसे दूर होगी ? यह प्रश्न युक्त नहीं है, क्योंकि उसे सांव्यवहारिक अर्थात् उपचार (लोकव्यवहार) से प्रत्यक्ष कहा है। वस्तुतः वह परापेक्ष होनेसे परोक्ष ही है, इसमे कोई विसंगति या विरोध समुपस्थित नहीं होता।

शेष मतिज्ञान, जो स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोधरूप हैं, और श्रुत ये सब परोक्ष हैं। अकलकदेवने स्पष्ट कहा है—

'विशद ज्ञान प्रत्यक्ष है और वह मुख्य तथा संव्यवहारकी अपेक्षा दो प्रकारका है। शेष स्मृति आदि जितने भी परापेक्ष ज्ञान हैं वे सब परोक्ष हैं। इसी भावको सूत्रकार *आचार्य गृद्धपिच्छने 'प्रमाणे' ['तत्प्रमाणे'—त. सू. १-१०]* इस सूत्रगत द्विवचनात्मक 'प्रमाण' पदके प्रयोग द्वारा सभी ज्ञानोंका सग्रह किया है।'—लघीय. १-३।

स्मृति विमर्श :

'वह' इस प्रकारके आकारको स्पर्श करनेवाली तथा अनुभूत पदार्थको जाननेवाली प्रतीतिका नाम स्मृति है।

शंका—मनःपूर्वक होनेसे स्मृति अनिन्द्रियप्रत्यक्ष है, क्योंकि वह सुखादिसंवेदनकी तरह विशद है ?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि स्मृतिमें विशदता लेशमात्र भी नहीं है। पुनः-पुनः भावना (चिन्तन) करनेवालेको विशदताकी प्रतीति होती है, क्योंकि वह भावना ज्ञानात्मक है। परन्तु वह स्वप्नज्ञानकी तरह भ्रान्त है। वास्तवमें जो पूर्वानुभूत अतीत पदार्थ है उसमे विशदता सम्भव ही नहीं, तब उस अतीत अर्थको विषय करनेवाली स्मृति विशद कैसे हो सकती है, अतः वह परोक्ष ही है।

शंका—श्रुत अथवा अनुमित अर्थमें होनेवाली स्मृति विशद हो सकती है ?

समाधान—यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'वह' इस प्रकारके उल्लेखसे सभी स्मृतियोका सग्रह है। अर्थात् स्मृति चाहे अनुभूतविषयक हो, चाहे श्रुतविषयक और चाहे अनुमितविषयक, सभीमें 'वह' का उल्लेख रहता है, अनुभूतविषयकमें ही नहीं।

यह स्मृति अविसंवादिनी होनेसे प्रत्यक्षकी ही तरह प्रमाण है। यदि किसी स्मृतिमे विसंवाद पाया जाता है तो वह स्मृत्याभास है, जैसे प्रत्यक्षाभास।

प्रत्यभिज्ञान-विमर्श :

'वही यह है' इस प्रकारके ज्ञानका नाम संज्ञा है। उसीको प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। अथवा 'उसी तरहका यह है' इस प्रकारके ज्ञानका नाम भी संज्ञा है। यह एकत्व और सादृश्यको विषय करनेकी अपेक्षा दो प्रकारकी है। निश्चय ही प्रत्यभिज्ञा या

प्रत्यभिज्ञानके दो भेद हैं—१. एकत्वप्रत्यभिज्ञान और २. सादृश्यप्रत्यभिज्ञान। 'वही यह है' इस प्रकारके एकत्वविषयक ज्ञानको एकत्वप्रत्यभिज्ञान और 'उसीके समान यह है' इस प्रकारके सादृश्य-विषयक बोधको सादृश्यप्रत्यभिज्ञान कहते हैं।

शंका—'वही' यह अतीतको विषय करनेवाला ज्ञान स्मृति है और 'यह' इस प्रकार होनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष है, अतः प्रत्यभिज्ञा स्मृति और प्रत्यक्ष इन दो ज्ञानात्मक ही है। इसी प्रकार 'उसीके समान है' यह ज्ञान स्मरण है तथा 'यह' इस प्रकारका वर्तमानविषयक ज्ञान प्रत्यक्ष है, अतः यह सादृश्यप्रत्यभिज्ञान भी स्मरण और प्रत्यक्ष इन दो ज्ञानरूप है। इसलिए प्रत्यभिज्ञान नामका कोई एक पृथक् ज्ञान (प्रमाण) नहीं है ?

समाधान—यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि स्मरण और प्रत्यक्षसे उत्पन्न होनेवाला तथा अतीत तथा वर्तमान इन दो अवस्थाओंमें रहनेवाले एक द्रव्यको विषय करनेवाला प्रत्यभिज्ञान उनसे पृथक् एक ज्ञान अच्छी तरह अनुभवमें आता है। स्पष्ट है कि 'वह' इस प्रकारका स्मरण उक्त एकद्रव्यको विषय नहीं करता, वह तो मात्र अतीत अवस्थाको ही विषय करता है। इसी प्रकार 'यह' इस तरहका ज्ञान भी उस एक द्रव्यको नहीं जानता, वह मात्र वर्तमान पर्यायको ही जानता है। किन्तु स्मरण और प्रत्यक्ष दोनोंसे उत्पन्न होनेवाला, जोड़रूप, दोनों पर्यायोंको लिये हुए द्रव्यका निश्चायक, एकत्वविषयक प्रत्यभिज्ञान उन दोनों ज्ञानोंसे जुदा ही है। उसका अपलाप करनेपर कहीं भी एकत्वान्वयकी व्यवस्था नहीं हो सकेगी, यहाँ तक कि पूर्वोत्तर क्षणोंमें रहनेवाले सन्तानकी एकता भी सिद्ध नहीं हो सकेगी।

शंका—प्रत्यभिज्ञान गृहीत अर्थको ही ग्रहण करता है, अतः गृहीतग्राही होनेसे अप्रमाण है ?

समाधान—यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह कथंचित् अपूर्वार्थ (अगृहीत अर्थ) को जानता है। प्रकट है कि प्रत्यभिज्ञानका विषय एकद्रव्य है, वह न स्मरण द्वारा गृहीत होता है और न प्रत्यक्ष द्वारा, तब एकद्रव्यको विषय करनेवाला प्रत्यभिज्ञान गृहीतग्राही कैसे माना जा सकता है, अर्थात् नहीं माना जा सकता। स्मरण द्वारा गृहीत अतीत पर्याय और प्रत्यक्ष द्वारा अवगत वर्तमान पर्याय इन दोनोंसे द्रव्यका तादात्म्य है, अतः उसे ग्रहण करनेवाले प्रत्यभिज्ञानको कथंचित् अपूर्वार्थविषयक होनेसे अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। अन्यथा अनुमान आदि भी अप्रमाण हो जावेंगे, क्योंकि वे भी सर्वथा अपूर्वार्थविषयक सिद्ध नहीं होते। सम्बन्ध-(व्याप्ति) ग्राही ज्ञानके विषय साध्यादिसामान्यसे अनुमानगम्य देशविशिष्ट अथवा कालविशिष्ट साध्यादिविशेष कथंचित् अभिन्न है और उन्हें विषय करनेसे अनुमान भी कथंचित् पूर्वार्थविषयक सिद्ध होता है। अतः जिस प्रकार अनुमान कथंचित् अपूर्वार्थग्राही होनेसे प्रमाण है उसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान भी कथंचित् अपूर्वार्थग्राहक होनेसे प्रमाण है।

शंका—बाधक प्रमाण मौजूद होनेसे प्रत्यभिज्ञानको प्रमाण नहीं माना जा सकता ?

समाधान—यह शंका अयुक्त है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञानका बाधक कोई प्रमाण

नहीं है। न प्रत्यक्ष उसका बाधक है, क्योंकि उसकी उसके विषय (एकद्रव्य)
प्रवृत्ति नहीं है, तब वह साधककी तरह बाधक भी नहीं हो सकता। इसे यों समझ
चाहिए—जिसकी जिसमें प्रवृत्ति नहीं है वह उसका न साधक होता है और न बाध
जैसे रसज्ञान रूपज्ञानका न साधक है और न बाधक, और प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञ
विषयमें प्रवृत्त नहीं होता, इसलिए वह उसका बाधक नहीं है। निश्चय ही प्र
प्रत्यभिज्ञानके विषय—पूर्वदृष्ट और वर्तमानमें देखी जा रही इन दोनों पर्या
व्याप्त—द्रव्यमें प्रवृत्त नहीं होता, वह तो मात्र दृश्यमान पर्यायको ही विषय
है। अतः हेतु असिद्ध नहीं है। इसी प्रकार अनुमान भी प्रत्यभिज्ञानका बाध
है, क्योंकि वह भी प्रत्यभिज्ञानके विषय (पूर्वोत्तर-पर्यायोंमें व्याप्त एक द्रव्य)
नहीं होता, उसकी प्रवृत्ति केवल अनुमेयमें होती है। कदाचित् उसकी प्रत्यभि
विषयमें प्रवृत्ति हो, तो वह बाधक नहीं होगा, प्रत्युत साधक होगा। अतः
प्रत्यभिज्ञान अपने विषय एकद्रव्यमें प्रमाण है, क्योंकि कोई भी उसका बाधक
जैसे प्रत्यक्ष अथवा स्मृति।

इसी तरह सादृश्यविषयक प्रत्यभिज्ञान भी प्रमाण है, क्योंकि वह
विषयमें बाधकोंसे रहित है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष अपने विषय साक्षात् हो
बाधाओंसे रहित है तथा स्मरण भी अपने अतीत विषयमें बाधारहित है
सादृश्यप्रत्यभिज्ञान भी अपने विषय सादृश्यमें बाधाओंकी सम्भावनासे र
उसे अप्रमाण कैसे माना जा सकता है। हाँ, जो प्रत्यभिज्ञान अपने विषयमें
है वह अप्रमाण—प्रत्यभिज्ञानाभास है, जैसे प्रत्यक्षाभास अथवा स्मरण
इसे अप्रमाण होनेपर सभी प्रत्यभिज्ञानोंको अप्रमाण कहना उचित नहीं
प्रत्यक्ष भी अप्रमाण हो जावेगा। इसलिए जिस प्रकार शुक्ल शंखमें होनेवा
प्रत्यक्ष ही शुक्ल शंखमें हुए शुक्लज्ञानप्रत्यक्षके द्वारा बाधित होनेसे अप्र
पीले सुवर्णादिमें होनेवाला पीतज्ञानप्रत्यक्ष अप्रमाण नहीं है। इसी प्र
पुत्रमें हो 'यह उसके समान है', इस प्रकारका होनेवाला सादृश्यविषय
'वही यह है', इस प्रकारके एकत्वविषयक प्रत्यभिज्ञानसे बाधित हो
किन्तु अपने पुत्रके समान ही किसी दूसरेके पुत्रमें 'वैसा ही यह है' इस
वाला सादृश्यप्रत्यभिज्ञान अप्रमाण नहीं है, क्योंकि वह किसी अन्
नहीं है। इसी तरह जिन नख, केश आदिको काट दिया गया है, किन
हो गये हैं उनमें 'वही ये नख, केश आदि हैं' इस प्रकारका होनेवा
प्रत्यभिज्ञान 'पुनः उत्पन्न ये नख, केश आदि पूर्वमें काटे गये न
समान हैं' इस प्रकारके सादृश्यनिमित्तक अन्य प्रत्यभिज्ञानसे बाधि
स्पष्ट ज्ञात होता है। किन्तु उनमें होनेवाला सादृश्यविषयक प्रत्यभि
है, क्योंकि उसमें कोई बाधा न होनेसे वह प्रमाण ही सिद्ध हो
पहले किसी देश-विशेषमें रखे रूपसे देखे गये चाँदी आदि प
अन्य देशमें रखे रूपसे होनेवाले चाँदी आदिका स्मरण बाधित
नहीं है। किन्तु जिस देशमें रखे रूपसे चाँदी आ
स्मरण प्रमाण है

अतः हम यह कह सकते हैं कि जिस ज्ञानसे वस्तुको जानकर उस (वस्तु) में प्रवृत्त हुए व्यक्तिको अर्थक्रिया (जलावगाहनादि) में किञ्चित् भी विसंवाद (धर्मादि) नहीं होता वह ज्ञान प्रमाण है, जैसे प्रत्यक्ष अथवा अनुमान, और स्मरण तथा प्रत्यभिज्ञानसे वस्तुको जानकर प्रवृत्त हुए पुरुषको विसंवाद नहीं होता, इसलिए स्मरण और प्रत्यभिज्ञान दोनों प्रमाण हैं तथा अविशद होनेसे वे परोक्ष हैं, जैसे अनुमान। अथवा साध्य-साधनके सम्बन्ध (व्याप्ति) को ग्रहण करनेवाला तर्क।

तर्क-विमर्श :

'जितना धूम है वह सब अग्निसे ही उत्पन्न होता है, बिना अग्निके वह नहीं होता' इस प्रकार समस्त देशों और समस्त कालोंकी व्याप्ति (अविनाभावरूप साध्य-तथा साधनके सम्बन्ध) को ग्रहण करनेवाला जो ऊहापोहरूप ज्ञान होता है वह तर्क है और उसे भी प्रमाण माना जाना चाहिए, क्योंकि वह भी कथंचित् अपूर्वार्थग्राही है। वह प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण किये गये प्रतिनियत देश और प्रतिनियत कालके साध्य तथा साधन विशेषोंको ग्रहण न करनेके कारण गृहीतग्राही नहीं है। इसके अतिरिक्त उसमें कोई बाधक भी नहीं है। निश्चय ही प्रत्यक्ष तर्कका बाधक नहीं है, क्योंकि उसकी उसमें प्रवृत्ति ही नहीं होती, जैसे अनुमान। कदाचित् उसमें उसकी प्रवृत्ति हो भी, तो वह उसका साधक ही होगा, बाधक तो वह किसी भी तरह नहीं हो सकता। यदि कहीं वह बाधक हो, तो जिसका बाधक होगा वह तर्काभास (अप्रमाण) कहा जायेगा, उसे प्रमाण स्वीकार नहीं किया जायेगा। जैसे स्मरणाभास, प्रत्यभिज्ञानाभास, प्रत्यक्षाभास अथवा अनुमानाभासको प्रमाण नहीं माना जाता।

तर्कको प्रमाण इसलिए भी मानना आवश्यक है, क्योंकि उससे जाने गये पदार्थ (व्याप्तिसम्बन्ध) में प्रवृत्त ज्ञाताको उसकी अर्थक्रियामें कोई विसंवाद (भ्रमादि) नहीं होता, जैसे प्रत्यक्ष और अनुमान। यह तर्कज्ञान चूँकि अविशद होता है, अतएव वह अनुमानकी तरह परोक्ष है।

अनुमान-विमर्श :

अब अनुमानका विचार किया जाता है, जिसे चार्वाकको छोड़कर प्रायः सभी दर्शनिकोंने स्वीकार किया है।

साधन (हेतु) से जो साध्य (अनुमेय) का विशेष ज्ञान होता है वह अनुमान है। यहाँ साधन उसे कहा गया है जिसका साध्यके साथ अविनाभाव सुनिश्चित है। साधनके त्रैरूप्य आदि लक्षण साधनाभासमें भी पाये जाते हैं, अतः वे लक्षण सदोष लक्षण हैं। यहाँ इसीका स्पष्टीकरण किया जाता है।

सांख्यों और बौद्धोंका मत है कि साधन वह है जो त्रिरूप अर्थात् त्रिलक्षण है। वे तीन रूप इस प्रकार हैं—१. सपक्षमें रहना, २. पक्षका धर्म होना और विपक्षसे ३. व्यावृत्त होना। इन तीन रूपोंसे सम्पन्न साधन ही साध्यका साधक होता है। किन्तु उनका यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि त्रिलक्षणमें साधनपना सिद्ध नहीं होता। 'वह श्याम है, क्योंकि उसका पुत्र है, अन्य पुत्रोंकी तरह' यह

साधनाभासका उदाहरण है। पर यहाँ भी वे तीनों रूप विद्यमान हैं। हेतु सपक्ष—अन्य पुत्रोंमें श्यामपनाके साथ मौजूद है, पक्ष—गर्भस्थ पुत्रमें भी यह पाया जाता है तथा विपक्ष—किसी अन्यके गोरे पुत्रोंमें वह अविद्यमान है। इस तरह सपक्षसत्त्व, पक्षधर्मत्व और विपक्षासत्त्व ये तीनों रूप साधनाभासमें भी पाये जानेसे साधनके लक्षण नहीं हो सकते।

शंका—साध्यके न रहनेपर पूर्णतया साधनका अभाव न होनेसे उदाहरणगत साधन सम्यक् साधन नहीं है, क्योंकि उसीके गर्भस्थ सम्भावित गोरे पुत्रमें भी हेतुका सद्भाव पाया जाता है?

समाधान—तब तो साध्यकी निवृत्ति होनेपर सम्पूर्णतया साधनकी निवृत्तिके निश्चयरूप विपक्षासत्त्व (एकलक्षण) को ही साधन मानना चाहिए, सपक्षसत्त्व और पक्षधर्मत्व इन दो रूपोंको और मानना निरर्थक है। उसी साध्य-साधनकी विपक्षमें सम्पूर्ण निवृत्तिको ही स्याद्वादी अन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयके रूपमें साधनका लक्षण बतलाते हैं, क्योंकि उसके सद्भावमें और पक्षधर्मत्वादिके अभावमें भी साधन अपने साध्यका साधक होता है। 'एक मुहूर्त बाद शकटका उदय होगा, क्योंकि इस समय कृत्तिकाका उदय हो रहा है' इत्यादि साधन पक्षधर्मताके अभावमें भी साध्यके गमक देखे जाते हैं। इसलिए पक्षधर्मता साधनका लक्षण नहीं है।

शंका—उक्त अनुमानमें आकाश अथवा काल धर्मी (पक्ष) है और उसमें उदय होनेवाले शकटका सद्भावरूप साध्य तथा कृत्तिकाके उदयका सद्भावरूप साधन दोनों विद्यमान रहते हैं, अतः 'कृत्तिकाका उदय' हेतु पक्षधर्म ही है—पक्षधर्मताके सद्भावमें ही वह साध्यका अनुमापक है?

समाधान—इस प्रकारसे तो पृथ्वीको पक्ष बनाकर समुद्रमें अग्निके सद्भावरूप साध्यको सिद्ध करनेके लिए रसोईघरके धूमके सद्भावरूप साधनको भी कहा जा सकता है, क्योंकि वह भी पक्षधर्म है। फलतः महानसके धूमसे समुद्रमें अग्निका अनुमान हो जाय और इस तरह कोई भी हेतु अपक्षधर्म नहीं रहेगा—सभी हेतु (अर्थात् हेत्वाभास भी) पक्षधर्म हो जायेंगे।

शंका—बात यह है कि इस तरह साधनमें पक्षधर्मता सिद्ध हो जानेपर भी साध्यको सिद्ध करनेकी सामर्थ्य उसीमें नहीं हो सकती, क्योंकि उसीमें अविनाभावके नियमका निश्चय नहीं है। जिसका जिसके साथ अविनाभावके नियमका निश्चय है वही उसका हेतु है, अन्य नहीं?

समाधान—तो फिर उसी अविनाभावके नियमके निश्चयको ही साधनका लक्षण मानना युक्त है, पक्षधर्मता आदिको नहीं—वह अप्रयोजक है।

शंका—शकटका उदय कृत्तिकाके उदयका भावी कारण है, क्योंकि उसका उसके साथ अन्वय तथा व्यतिरेक है। भविष्यमें होनेवाले शकटोदयके अपने कालमें होनेपर ही कृत्तिकाका उदय होता है और न होनेपर नहीं होता। इस प्रकार भावि शकटोदय और कृत्तिकोदयमें अन्वय और व्यतिरेकसे कार्यकारणभाव सिद्ध होता है। जैसे अतीत और वर्तमानमें कार्यकारणभाव होता है। 'भरणीका उदय हो चुका है, क्योंकि कृत्तिकाका उदय हो रहा है' इस अनुमानमें अतीत भरणीका उदय कारण है और

कृत्तिकाका उदय उसका स्पष्टतया कार्य है, क्योंकि अतीत भरणीका उदय होने कालमें होनेपर ही कृत्तिकाका उदय होता है और न होनेपर नहीं होता है, इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेकसे उनमें कार्यकारणभाव सिद्ध है। इसी प्रकार भविष्यत् शकटोदय और वर्तमान कृत्तिकोदयरूप साध्य-साधनोंमें कार्यकारणभाव सिद्ध होता है। न्याय (युक्ति) दोनोंमें समान है। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि एक कृत्तिकोदय कार्यके भावि और अतीत दो कारणोंका होना विरुद्ध है, क्योंकि दो भिन्न देशोंकी तरह दो भिन्न कालोंमें भी सहकारिता हो सकती है। एक साथ एक कार्यका करना सहकारितापर ही आधृत है, एक काल अथवा एक देशपर नहीं। यहाँ यह भी नहीं कि अतीत भरणी-उदय और भावि शकटोदय कृत्तिकोदयके उपादान कारण हैं क्योंकि पूर्ववर्ती कृत्तिकाका क्षण, जो उदयको प्राप्त नहीं है, उसका उपादान कारण सुनिश्चित है?

समाधान—प्रज्ञाकरकी उक्त शंका युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त प्रकारकी प्रतीति नहीं होती। जो कार्यके कालमें नहीं है, ऐसे अतीत और भाविको उसका कारण माननेपर अतीततम और भावितमको भी कारण होनेसे रोका नहीं जा सकता। यदि कहा जाय कि उनका कार्यके साथ सम्बन्धविशेष न होनेसे उन्हें कारण नहीं माना जा सकता है, तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिन्हें कारण कहा जा रहा है उन अतीत और भाविष्यत्‌के कारण होनेमें वह सम्बन्धविशेष हेतु है। इसपर प्रश्न उठता है कि वह सम्बन्धविशेष क्या है? क्योंकि अतीतका वर्तमान कार्यमें व्यापार सम्भव नहीं, वह कार्यके समयमें है ही नहीं, जैसे भाविष्यत्। यदि कहा जाय कि 'उसके होनेपर उसका होना' सम्बन्धविशेष है, तो यह कथन भी दमदार नहीं है, क्योंकि अतीत और अनागतके अभावमें ही कार्य होता है, उनके सद्भावमें कार्य नहीं होता। अन्यथा कार्य और कारण दोनोंका एक काल हो जायगा। फलतः समस्त सन्तान एकक्षणवर्ती हो जायगी। और एकक्षणवर्ती सन्तान नहीं है। सन्तान तो उसे कहते हैं जो [illegible] नाना कार्यकारणक्षण हैं।

शंका—अतीत और अनागत कारणके अपने कालमें रहनेपर कार्य होता है और उनके न रहनेपर नहीं होता, इस प्रकार होनेपर होना अन्वय और न होनेपर न होना व्यतिरेक है, यह अन्वय-व्यतिरेकरूप सम्बन्धविशेष अतीत-अनागत कारण और वर्तमान कार्यमें विद्यमान है ही। अतः अतीत और अनागत भी कारण हो सकते हैं, कोई बाधा नहीं है?

समाधान—उक्त कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि जिन्हें कारण नहीं माना जाता उन अतीततम और अनागततममें भी उक्त प्रकारका अन्वय-व्यतिरेक पाये जानेसे उन्हें भी कारण स्वीकार करना पड़ेगा। अतः भिन्न कालवर्ती अतीत या अनागत पदार्थ कारण नहीं हो सकता। किन्तु भिन्न देशवर्तीको कारण माननेमें कोई दोष नहीं है। उसके होनेपर कार्य होता है और न होनेपर नहीं होता। उदाहरणके लिए घट और कुम्हार आदिको लिया जा सकता है। कुम्हार आदिके अपने देशमें रहनेपर [illegible] घट उत्पन्न होता है और उनके न रहनेपर वह नहीं होता, क्योंकि कुम्हार आदि अपने देशमें रहते हुए ही घट आदिको बनाते हैं। पर जिसे कारण नहीं मा

ऐसे भिन्न देशवर्ती पदार्थका कार्यके साथ अन्वय-व्यतिरेक नहीं है, क्योंकि उसका
व्यापार नहीं है, जैसे अतीत और अनागतका कार्यमें व्यापार सम्भव नहीं है।
में किसी विद्यमानका ही किसीमें व्यापार हो सकता है, जो है ही नहीं उसका
र नहीं हो सकता, जैसे खरविषाणका व्यापार असम्भव है। अतः भिन्नदेशवर्ती
रण किसी कार्यमें व्यापार कर सकता है और इसलिए वह सहकारी कारण हो
है, किन्तु भिन्नकालवर्ती नहीं, क्योंकि वैसी प्रतीति ही नहीं होती। अतएव
ोदय और शकटोदयमें कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता। और न उनमें व्याप्य-
माव भी बनता है। किसी तरह उनमें कार्यकारणभाव बन भी जाय, तथापि
त्तिकोदय) मे पक्षधर्मता नहीं है और वह पक्षधर्मताके बिना भी साध्यका साधक
है। अतः पक्षधर्मता हेतुका लक्षण नहीं है। इसी तरह हेतुमें सपक्षसत्त्वका
र भी हेतुलक्षण नहीं है, क्योंकि उसके अभावमे भी समस्त पदार्थोंको अनित्य
करनेके लिए कहे जानेवाले सत्त्व आदि साधनोको स्वय प्रज्ञाकरने सम्यक् हेतु
या है। विपक्षासत्त्व (विपक्षमें न रहना) का निश्चय तो साध्याविनाभावरूप
के निश्चयरूप हो है, अतः उसे ही हेतुका प्रधान लक्षण मानना चाहिए, अन्य
ोंको माननेसे क्या लाभ।

शंका—बात यह है कि हेतुके तीन दोष हैं—१. असिद्ध, २. विरुद्ध और
कान्तिक। असिद्ध दोषके निराकरणके लिए हेतुमे पक्षधर्मताका निश्चय किया
है। विरुद्ध हेत्वाभासको निवृत्तिके लिए सपक्षसत्त्व आवश्यक है और अनेकान्तिक
निरासके लिए विपक्षासत्त्वका निश्चय अनिवार्य है। यदि हेतुमे इन तीन रूपो-
निश्चय रहे, तो हेतुके उक्त असिद्धादि तीन दोषोका परिहार नहीं हो सकता।
तुका त्रैरूप्य लक्षण सार्थक है। कहा भी है—

'हेतुके तीन रूपोंका निश्चय असिद्ध, विरुद्ध और व्यभिचारी इन तीन
ा निराकरण करनेके लिए प्रतिपादित किया गया है।'

समाधान—उक्त कथन युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि उक्त तीनों दोषोंका
: तो हेतुमें अन्यथानुपपत्तिरूप नियमके निश्चयसे ही हो जाता है। जो हेतु
होगा, उसमें अन्यथानुपपत्तिरूप नियमका निश्चय हो ही नहीं सकता। इसी
जो हेतु विरुद्ध या अनेकान्तिक होगा उसमें भी अन्यथानुपपत्तिरूप नियमका
नहीं हो सकता। साध्यके होनेपर ही हेतुका होना और साध्यके अभावमें
न होना तथोपपत्ति अथवा अन्यथानुपपत्तिरूप नियमका निश्चय है। वह
के सम्भव ही नहीं। विरुद्ध तो साध्यके अभावमें ही होता है और अनेकान्तिक
: अभावमें भी होता है। अतः असिद्ध, विरुद्ध और अनेकान्तिक हेतुओंमें
नुपपत्तिरूप नियमका निश्चय नहीं है।

यदि कहा जाय कि उक्त तीनों रूप अविनाभावरूप नियमका विस्तार होनेसे
लक्षण हो सकते हैं, तो उसी आधारपर पाँचरूप्यको भी हेतुका लक्षण मानना
। स्पष्ट है कि पक्षव्यापकत्व (पक्षमें हेतुका रहना), अन्वय (सपक्षमें हेतुका
व्यतिरेक (विपक्षमें हेतुका न रहना), अबाधितविषयत्व (साध्यका प्रत्यक्षादिसे
न होना) और असत्प्रतिपक्षत्व (विरोधी दूसरे हेतुका न होना) ये पाँचों रूप

अविनाभावरूप नियमका विस्तार ही है, क्योंकि जो हेतु असिद्ध, विरुद्ध, व्यभि
बाधितविषय और सत्प्रतिपक्ष होगा उसमे अविनाभावरूप नियमका निश्चय न
सकता। दूसरे, यह आवश्यक नहीं है कि पक्षधर्मताके होनेपर ही हेतु सिद्ध
जिससे असिद्धकी व्यावृत्ति करनेके लिए उसे (पक्षधर्मताको) हेतुका लक्षण कहा ज
क्योंकि जो (कृत्तिकोदयादि) हेतु पक्षमे नहीं रहते वे भी सिद्ध (गमक) माने जाते है
इसी तरह सपक्षसत्त्व भी जरूरी नहीं है, जिससे विरुद्धका निरास करनेके लिए उसे
हेतुलक्षण माना जाय, क्योंकि 'सभी वस्तुएं अनेकान्त स्वरूप हैं, क्योंकि वे सत् हैं'
इत्यादि अनुमानोमे सपक्षसत्त्वके अभावमे भी हेतु विरुद्ध हेत्वाभास नहीं है। जैसे बौद्ध
स्वयं सब पदार्थोको क्षणिक सिद्ध करनेके लिए दिये गये सत्त्व आदि हेतुओंको सपक्ष
सत्त्वके अभावमे भी विरुद्ध नहीं मानते—उन्हे समीचीन हेतु मानते हैं। इसी प्रकार
विपक्षाव्यावृत्ति-सामान्यक होनेपर भी अनैकान्तिकका निरास नहीं होता, क्योंकि
'गर्भमे स्थित पुत्र श्याम होगा, क्योंकि उसका पुत्र है' आदि हेतुओमे विपक्षव्या-
वृत्तिसामान्यके होने पर भी व्यभिचार देखा जाता है। यदि कहा जाय कि विपक्ष-
व्यावृत्तिविशेषका होना जरूरी है, तो वही तो अन्यथानुपपन्नत्व (अविनाभाव) है।
अतः उक्त तीन रूप अविनाभावका विस्तार नहीं है। यदि कहे कि उन तीन रूपोंके
होनेपर हेतुमे अन्यथानुपपन्नत्व देखा जाता है, अतः वे अविनाभावका विस्तार हैं, तो
काल, आकाश आदि पदार्थोका भी अविनाभावका विस्तार मानिए, क्योंकि उनके
होनेपर ही हेतुमे अन्यथानुपपन्नत्व देखा जाता है। यहाँ यह कहना भी युक्त नहीं कि
काल, आकाश आदि पदार्थ तो सर्व सामान्य है, वे अविनाभावका विस्तार नहीं हैं,
क्योंकि यह तर्क तो पक्षधर्मत्व आदि रूपोमे भी समान है, कारण कि वे भी हेतु-अहेतु
रूपोमे पाये जाते है। अतः हेतुका असाधारण लक्षण बतलाना ही युक्त है और वह
अन्यथानुपपन्नत्व ही हेतुका असाधारण लक्षण है, उसे ही स्वीकार करना चाहिए।
...भी बातको कहा भी है—

'जिस हेतुमे अन्यथानुपपन्नत्व (अन्यथा—साध्यके अभावमे अनुपपन्नत्व—
...होना, अविनाभाव) है वही सच्चा हेतु है, उसमे त्रैरूप्य रहे, चाहे न रहे, तथा
...मे अन्यथानुपपन्नत्व नहीं है वह सच्चा हेतु नहीं है, उसमे त्रैरूप्य रहनेपर भी
...कार है।'

यहाँ इन दोनों (अन्यथानुपपन्नत्वके सद्भाव और असद्भाव) रू...
...ण उपस्थित हैं—

१ 'एक मुहूर्तके बाद शकट नक्षत्रका उदय होगा, क्योंकि कृत्तिकाका उ...
...यह अनुमानमे कृत्तिकोदय हेतु शकट नामक पक्षमे नहीं रहता, अतः उस...
...नहीं है। पर कृत्तिकोदयका शकटोदय साध्यके साथ अन्यथानुपपन्नत्व...
...ण वह गमक है और सद्धेतु है।

...र्भस्थ मैत्रीपुत्र श्याम होगा, क्योंकि वह मैत्रीका पुत्र है, अन्य पुत्रोंकी
...समह अनुमानमे मैत्रीपुत्र हेतुमे पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व
...मान है। परन्तु मैत्रीपुत्रत्व हेतुका श्यामत्व साध्यके साथ अविनाभाव
...इस मैत्रीपुत्रत्व हेतु श्यामत्व साध्यका गमक नहीं है...

अतः सर्वत्र हेतुओंमें अन्यथानुपपन्नत्वके सद्भावसे गमकता और उसके असद्भावसे अगमकता है।

उपर्युक्त विवेचनसे योगों (नैयायिक और वैशेषिकों) द्वारा स्वीकृत पाँच रूप भी अविनाभावका विस्तार नहीं हो सकते, क्योंकि उनके रहनेपर भी अविनाभाव-रूप नियम नहीं देखा जाता। पक्षधर्मत्व (पक्षव्यापकत्व), सपक्षसत्त्व (अन्वय) और विपक्षासत्त्व (व्यतिरेक) इन तीनों रूपोंमें अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व इन दो रूपोंको और मिलाकर पाँच रूप कहे गये हैं। 'वह (गर्भस्थ पुत्र) श्याम होगा, क्योंकि उसका पुत्र है, अन्य पुत्रोंकी तरह' इस अनुमानमें, जो असद् अनुमान है, 'उसका पुत्र' हेतुके विषय (साध्य) श्यामत्वका बाधक प्रत्यक्षादि कोई प्रमाण न होनेसे हेतु अबाधितविषय होनेपर भी अविनाभावरूप नियमके अभावसे गर्भस्थ पुत्रके अश्याम होनेकी सम्भावनासे व्यभिचारी है। तथा गर्भस्थ पुत्रमें अश्यामपनाको सिद्ध करनेवाला प्रतिपक्षी दूसरा अनुमान न होनेसे हेतु असत्प्रतिपक्ष भी है, किन्तु व्यभिचारी होनेसे उसमें अविनाभावका अभाव पाया जाता है। अतः पाँच रूप हेतुके लक्षण नहीं हैं। अतएव यहाँ भी यह कहना चाहिए कि—

'जहाँ अन्यथानुपपन्नत्व है वहाँ पाँच रूपोंकी क्या आवश्यकता है और जहाँ अन्यथानुपपन्नत्व नहीं है वहाँ पाँच रूप रहकर भी कुछ नहीं कर सकते—व्यर्थ हैं।'

इस प्रकार अन्यथानुपपत्तिरूप नियमके निश्चयको ही हेतुका एक प्रधान लक्षण स्वीकार करना चाहिए, उसके होनेपर त्रिलक्षण और पंचलक्षणका प्रयोग हम नहीं रोकते, क्योंकि प्रयोगशैली प्रतिपाद्योंके अनुसार सत्पुरुषों द्वारा स्वीकार की गयी है। यही कुमारनन्दि भट्टारकने भी कहा है—

'अन्यथानुपपत्ति ही हेतुका एक लक्षण है। किन्तु अवयवों (प्रतिज्ञा, हेतु आदि) का प्रयोग प्रतिपाद्योंकी आवश्यकतानुसार स्वीकार किया गया है॥ [२-११८]

हेतु-भेद :

उपर्युक्त एकलक्षण हेतु सामान्यकी अपेक्षा एक प्रकारका होकर भी विशेषकी अपेक्षासे अतिसंक्षेपमें दो प्रकारका है—१. विधिसाधन और २. प्रतिषेधसाधन। उनमें विधिसाधनके तीन भेद कहे गये हैं—१. कार्य हेतु, २. कारण हेतु और ३. अकार्य-कारण हेतु। अन्य सम्भव हेतुओंका इन्हीं तीनोंमें अन्तर्भाव हो जाता है। अतः वे इनसे अतिरिक्त नहीं हैं।

१. कार्य हेतु—जहाँ कार्यसे कारणका अनुमान किया जाता है वह कार्यहेतु है। जैसे 'यहाँ अग्नि है, क्योंकि धूम है।' यहाँ धूम कार्यसे अग्नि कारणका अनुमान किया जाता है। अतः 'धूम' कार्य हेतु विधिसाधन हेतु है। कार्य-कार्य आदि परम्पराकार्य-हेतुओंका इसीमें समावेश है।

२. कारण हेतु—जहाँ कारणसे कार्यका अनुमान किया जाता है वह कारण हेतु कहलाता है। जैसे 'यहाँ छाया है, क्योंकि छत्र है।' यहाँ छत्र कारणसे छाया कार्यका अनुमान किया जाता है। अतः 'छत्र' कारण हेतु विधिसाधन हेतु है। कारण-कारण आदि परम्पराकारणहेतुओंका इसीमें अन्तर्भाव हो जाता है।

३ अकार्यकारण हेतु—जो न किसीका कार्य है और न कारण है उससे जो अकार्यकारणरूप साध्यकी सिद्धि की जाती है वह अकार्यकारण विधिसाधक हेतु है। इसके चार भेद हैं—१. व्याप्य, २ सहचर, ३ पूर्वचर और ४. उत्तरचर। इनके उदाहरण इस प्रकार हैं। १ व्याप्य हेतु—जहाँ व्याप्यसे व्यापकका अनुमान किया जाता है। जैसे—'सब वस्तुएँ अनेकान्तस्वरूप हैं क्योंकि वे सत् हैं।' सत् वस्तु होती है, क्योंकि 'उसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाया जाता है', ऐसा सूत्रकार गृद्धपिच्छ-का वचन है। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि वस्तुके एक धर्मके साथ, जो विषय है, सत्त्व हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि वह वस्तुका अंश है और जो वस्तु है वह पूर्ण सत् नहीं है। २. सहचर हेतु—जहाँ साथमें रहनेवाले एकसे दूसरे रहनेवालेका अनुमान किया जाता है। जैसे 'आममें स्पर्शसामान्य है, क्योंकि उ रूपसामान्य है।' यहाँ स्पर्शसामान्य रूपसामान्यका न कार्य है न कारण है। इसी प्रकार रूपसामान्य भी स्पर्शसामान्यका न कार्य है और न कारण है, क्योंकि वे दोनों हमेशा सब जगह एक कालमें एक साथ होनेके कारण सहचारी हैं। इसी विवेचनसे एकसामग्रीसे होनेवाले तथा साध्यके समकालवर्ती संयोगी और एकार्थ-समवायी भी सहचर जानना चाहिए। जैसे समवायीमें कारणता है। ३. पूर्वचर—जहाँ पूर्ववर्तीसे उत्तरवर्तीका अनुमान किया जाता है, जैसे—'शकटका एक मुहूर्त बाद उदय होगा, क्योंकि इस समय कृत्तिकाका उदय हो रहा है।' यहाँ कृत्तिकाका उदय पूर्ववर्ती है और शकटका उदय उत्तरवर्ती। अतः कृत्तिकाका उदय पूर्वचर हेतु है। पूर्वपूर्वचर आदि परम्परापूर्वचरहेतुओंका इसीमें संग्रह हो जाता है। ४. उत्तरचर—जहाँ उत्तरवर्तीसे पूर्ववर्तीका अनुमान किया जाता है। जैसे—'भरणि नक्षत्रका उदय हो चुका है, क्योंकि कृत्तिकाका उदय हो रहा है।' यहाँ उत्तरवर्ती कृत्तिकाके उदयसे पूर्ववर्ती भरणीके उदयका अनुमान किया जाता है। अतः कृत्तिका-का उदय उत्तरचर हेतु है। उत्तरोत्तरचर आदि परम्पराउत्तरचरहेतुओंका इसी हेतुमें समावेश हो जाता है।

इस प्रकार ये छह हेतु सद्भावरूप साध्यको सिद्ध करते हैं और स्वयं भी सद्भावरूप हैं। इसलिए ये विधिसाधक-विधिसाधन हेतु कहे जाते हैं।

प्रतिषेधरूप साध्यको सिद्ध करनेवाले विधिरूप विधिसाधन अर्थात् प्रतिषेध-साधक-विधिसाधन हेतुके भी तीन भेद हैं—१. विरुद्ध कार्य, २. विरुद्ध कारण और ३. विरुद्ध अकार्यकारण। ये तीनों हेतु प्रतिषेध्य साध्यसे विरुद्ध होनेके कारण प्रतिषेधसाधक-विधिसाधन कहे जाते हैं। इनके उदाहरण निम्न प्रकार हैं—

१. विरुद्ध कार्य—'यहाँ ठंडा स्पर्श नहीं है, क्योंकि धूम पाया जाता है।' स्पष्ट है कि ठंडे स्पर्शसे विरुद्ध अग्नि है, उसका कार्य धूम है। उसके सद्भावसे ठंडे स्पर्शका अभाव सिद्ध होता है।

२. विरुद्ध कारण—'इस पुरुषके असत्य नहीं है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान है।' प्रकट है कि असत्यसे विरुद्ध सत्य है, उसका कारण सम्यग्ज्ञान है। राग-द्वेषरहित यथार्थ ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। वह उसके किसी यथार्थ कथन आदिसे सिद्ध होता हुआ सत्यको सिद्ध करता है और वह भी सिद्ध होता हुआ असत्यका प्रतिषेध

३. विरुद्धकार्यकारण—इसके चार भेद हैं—१. विरुद्ध व्याप्य, २. विरुद्ध सहचर, ३. विरुद्ध पूर्वचर और ४. विरुद्ध उत्तरचर।

१. विरुद्ध व्याप्य—'यहाँ शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि उष्णता है।' यहाँ निश्चय ही शीतस्पर्शसे विरुद्ध अग्नि है और उसका व्याप्य उष्णता है।

२. विरुद्ध सहचर—'इसके मिथ्याज्ञान नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन है।' यहाँ मिथ्याज्ञानसे विरुद्ध सम्यग्ज्ञान है और उसका सहचर (सहभावी) सम्यग्दर्शन है।

३. विरुद्ध पूर्वचर—'मुहूर्तान्तमें शकटका उदय नहीं होगा, क्योंकि रेवतीका उदय है।' यहाँ शकटोदयसे विरुद्ध अश्विनीका उदय है और उसका पूर्वचर रेवतीका उदय है।

४. विरुद्धोत्तरचर—'एक मुहूर्त पूर्व भरणीका उदय नहीं हुआ, क्योंकि पुष्यका उदय है।' भरणीके उदयसे विरुद्ध पुनर्वसुका उदय है और उसका उत्तरचर पुष्यका उदय है।

ये छह साक्षात्प्रतिषेध्यसे विरुद्ध कार्यादि हेतु विधिद्वारा प्रतिषेधको सिद्ध करनेके कारण प्रतिषेधसाधक-विधिसाधन हेतु कहे गये हैं।

परम्परासे होनेवाले कारणविरुद्धकार्य, व्यापकविरुद्धकार्य, कारण-व्यापकविरुद्धकार्य, व्यापककारणविरुद्धकार्य, कारणविरुद्धकारण, व्यापकविरुद्धकारण, कारणव्यापकविरुद्धकारण और व्यापककारणविरुद्धकारण तथा कारणविरुद्धव्याप्यादि और कारणविरुद्धसहचरादि हेतु भी प्रतीत्यनुसार कहे जाना चाहिए। उनके भी उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं—

१. कारणविरुद्धकार्य—'इसके शीतजनित रोमहर्षादिविशेष नहीं हैं, क्योंकि धूम है।' यहाँ प्रतिषेध्य रोमहर्षादिविशेषका कारण शीत है, उसका विरोधी अनल है, उसका कार्य धूम है।

२. व्यापकविरुद्धकार्य—'यहाँ शीतस्पर्शसामान्यसे व्याप्त शीतस्पर्शविशेष नहीं है, क्योंकि धूम है।' निषेध्य शीतस्पर्शविशेषका व्यापक शीतस्पर्शसामान्य है, उसका विरोधी अनल है, उसका कार्य धूम है।

३. कारणव्यापकविरुद्धकार्य—'यहाँ हिमसामान्यसे व्याप्त हिमविशेषजनित रोमहर्षादि नहीं है, क्योंकि धूम है।' रोमहर्षादिविशेषका कारण हिमविशेष है, उसका व्यापक हिमसामान्य है, उसका विरोधी अग्नि है, उसका कार्य धूम है।

४. व्यापककारणविरुद्धकार्य—'यहाँ शीतस्पर्शविशेषव्यापक शीतस्पर्शसामान्यके कारण हिमसे होनेवाला शीतस्पर्शविशेष नहीं है, क्योंकि धूम है।' प्रतिषेध्य शीतस्पर्शविशेषका व्यापक शीतस्पर्शसामान्य है, उसका कारण हिम है, उसका विरोधी अग्नि है, उसका कार्य धूम है।

५. कारणविरुद्धकारण—'इसके मिथ्याचरण नहीं है, क्योंकि तत्त्वार्थोपदेशका ग्रहण है।' मिथ्याचरणका कारण मिथ्याज्ञान है, उसका विरोधी तत्त्वज्ञान है, उसका कारण तत्त्वार्थोपदेशग्रहण है।

६. व्यापकविरुद्धकारण—'इसके आत्मामें मिथ्याज्ञान नहीं है, क्योंकि

सम्यग्ज्ञान है।' मिथ्यादर्शनविरोधोंका व्यापक मिथ्यादर्शनसामान्य है, उसका कारण दर्शनमोहोदय है, उसका विरोधी सम्यग्दर्शन है, उसका सहचर सम्यग्ज्ञान है।

इस प्रकार साक्षात् विरोधी ६ और परम्पराविरोधी १६, कुल २२ विरोधी हेतु, जिन्हें प्रतिषेधसाधक-विधिसाधन कहा जाता है, जानना चाहिए। ये सभी हेतु अन्यथानुपपत्तिनियमके बलसे अभूत—प्रागभाव—प्रतिषेधके गमक हैं और स्वयं भूत—सद्भाव—विधिरूप हैं। अतः इन विरोधी लिंगोंको 'अभूतभूत' भी कहा गया है। विधिसाधकविधिरूप हेतुके पूर्वोक्त कार्यादि ६ भेदोंको, जिन्हें 'भूत-भूत' कहा जाता है, क्योंकि वे स्वयं सद्भावरूप होकर सद्भावरूप साध्यके साधक हैं, उक्त २२ भेदोंमें मिलानेपर हेतुके प्रथम भेद विधिसाधन (उपलब्धि) के कुल २८ भेद हैं। इस तरह विधिसाधनके विधिसाधक और विधिप्रतिषेधक इन दो भेदोंका कथन किया गया। विधिसाधकको 'भूत-भूत' और विधिप्रतिषेधकको 'अभूत-भूत' नामोंसे भी वर्णित किया गया है।

अब हेतुके दूसरे भेद प्रतिषेधसाधन (अनुपलब्धि) के भी विधिसाधक-प्रतिषेधसाधन और प्रतिषेधसाधक-प्रतिषेधसाधन इन दो भेदोंका कथन किया जाता है। प्रथमको भूत-अभूत और द्वितीयको अभूत-अभूत कहा गया है। यहाँ ध्यातव्य है कि विद्यानन्दने कणादके द्वारा कथित लिंगके भूत-भूत, अभूत-भूत और भूत-अभूत इन तीन भेदोंके साथ समन्वय किया है और अभूत-अभूत नामक चौथे नये भेदको स्वीकार कर हेतुके चार भेदोंका निर्देश किया है।

विधिसाधक-प्रतिषेधसाधन हेतु (भूत-अभूत)—

जिन हेतुओंका साध्य सद्भाव (भूत) रूप और साधन निषेध (अभूत) रूप हो उन्हें विधिसाधक-प्रतिषेधसाधन (भूत-अभूत) हेतु कहते हैं। यथा—

१. विरुद्धकार्यानुपलब्धि—इस प्राणीके व्याधिविशेष है, क्योंकि निरामय चेष्टा नहीं है।

२. विरुद्धकारणानुपलब्धि—सर्वथा एकान्तवादका कथन करनेवालोंके अज्ञानादि दोष हैं, क्योंकि उनके युक्ति और शास्त्रसे अविरोधी वचन नहीं है।

३. विरुद्धस्वभावानुपलब्धि—इस मुनिके आप्तत्व है, क्योंकि विसंवादी नहीं है।

४. विरुद्धसहचरानुपलब्धि—इस तालफलकी पतनक्रिया हो चुकी है, क्योंकि डंठलके साथ संयोग नहीं है।

इसी प्रकार और भी जानना चाहिए।

विधिप्रतिषेधक-प्रतिषेधसाधन हेतु (अभूत-अभूत)—

जिनमें साध्य भी निषेध (अभूत—अभाव) रूप हो और साधन भी निषेध (अभूत—अभाव) रूप हो उन्हें विधिप्रतिषेधक-प्रतिषेधसाधन (अभूत-अभूत) हेतु कहते हैं। यथा—

१. कार्यानुपलब्धि—इस शवशरीरमें बुद्धि नहीं है, क्योंकि विशिष्ट चेष्टा, वार्तालाप और विशिष्ट आकारकी उपलब्धि नहीं होती। बुद्धिका कार्य विशिष्ट चेष्टा

भूत (सद्भाव—विधि) के साधक अभूत (प्रतिषेध) रूप साधनके भी मनीषियोंने अनेक भेद कहे हैं। अर्थात् भूत-अभूतके, जिसे विधिसाधक-प्रतिषेधसाधन कहा जाता है, अनेक भेद हैं। इसी प्रकार अभूत (असद्भाव) के साधक अभूत (प्रतिषेध) रूप अर्थात् अभूत-अभूत साधनके भी अनेक भेद हैं, जिन्हें उदाहरणों द्वारा यथायोग्य समझ लेना चाहिए ॥६॥

इस प्रकार लिंगके संक्षेपमें उपर्युक्त (भूत-भूत, भूत-अभूत, अभूत-भूत और अभूत-अभूत) चार भेद कहे गये हैं तथा अतिसंक्षेपमे उपलम्भ और अनुपलम्भ ये दो भेद प्रतिपादित किये हैं ॥७॥

उपर्युक्त विवेचनसे बौद्धों द्वारा कार्य, स्वभाव और अनुपलम्भके भेदसे तीन ही प्रकारके हेतुओंको माननेका नियम निरस्त हो जाता है, क्योंकि सहचर आदि भी पूर्वोक्त प्रकारसे अतिरिक्त हेतु सिद्ध होते हैं। इसी तरह नैयायिको द्वारा प्रत्यक्षपूर्वक होनेवाले अनुमानके पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट इन तीन भेदोंका स्वीकार भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि उन्हें भी पूर्वोक्त सहचर आदि हेतु मानना अनिवार्य है।

यदि कहा जाय कि अक्षपाद गौतमके न्यायसूत्रगत (१।१।५) सूत्रका त्रिसूत्रीकरण करनेसे इस प्रकार व्याख्यान किया जा सकता है कि पूर्ववत्-शेषवत् केवलान्वयि, पूर्ववत्-सामान्यतोदृष्ट केवलव्यतिरेकि और पूर्ववत्-शेषवत्-सामान्यतोदृष्ट अन्वयव्यतिरेकि हेतु हैं, अतः उक्त दोष सम्भव नहीं है, तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि ऊपर कहे हेतुओंमें त्रैविध्य भी सम्भव है। अर्थात् उक्त हेतुओंको केवलान्वयि आदि तीन रूप भी माना जा सकता है। केवलान्वयि हेतुमें तथोपपत्तिका नियम पाये जानेसे गमकताका कोई विरोध नहीं है। यही बात केवलव्यतिरेकि और अन्वयव्यतिरेकि हेतुओंमें भी समझना चाहिए।

यदि उक्त सूत्रकी यह व्याख्या करें कि कारणसे कार्यका अनुमान करना पूर्ववत् है, कार्यसे कारणका अनुमान शेषवत् है और अकार्यकारणसे अकार्यकारणका अनुमान सामान्यतोदृष्ट है, क्योंकि सामान्यतः उनमें अविनाभाव है, तो वह भी हमें अभिमत है, क्योंकि हम पहले ही संक्षेपमें उक्त सभी हेतुओंका संग्रह प्रतिपादन कर आये हैं।

अगर उसकी यह व्याख्या करें कि लिंग-लिंगीसम्बन्धका कहीं निश्चय करके अन्यत्र प्रवृत्त होनेवाला हेतु पूर्ववत् है, प्रसक्तका निषेध करके शेषका अनुमान करनेवाला शेषवत् है, जिसे परिशेषानुमान भी कहा गया है और किसी विशिष्ट व्यक्तिमें सम्बन्ध (व्याप्ति) के ग्रहणपूर्वक सामान्यतः देखना सामान्यतोदृष्ट है, 'जैसे सूर्य गतिमान् है, क्योंकि एक देशसे दूसरे देशमें प्राप्ति होती है, देवदत्तकी तरह', तो यह व्याख्या भी स्याद्वादियोंके लिए तिरस्कृत नहीं है, क्योंकि उसके द्वारा पूर्वोक्त हेतुओंके विस्तारका ही विशेष प्रकाशन होता है। निश्चय ही सभी हेतु पूर्ववत् ही हैं, क्योंकि शेषवत् भी पूर्ववत् सिद्ध होता है। जो प्रसक्तका प्रतिषेध है वह परिशेषकी प्रतिपत्तिका अविनाभावी है। उसका पहले वही निश्चय किया जाता है तभी वह अन्यत्र साध्य (परिशिष्ट) की सिद्धिमें साधनके रूपमे प्रयुक्त होता है। सामान्य-

[illegible] :

श्रुतज्ञानका लक्षण यह है कि [illegible] और [illegible] विशेष, जो भव्यत्व कारण है होनेपर और [illegible] कारण [illegible] के होनेपर उसे जिसको भेद होनेवाला [illegible] ज्ञान श्रुतज्ञान है, यह श्रुतज्ञानका लक्षण है।

शंका—केवलज्ञान और लौकिकज्ञान [illegible] के द्वारा लिंग पाकर होनेवाली [illegible] नीतिकारों [illegible] और [illegible] श्रुतज्ञानका उक्त [illegible] द्वारा संग्रह नहीं होता, अतः उक्त लक्षण अव्याप्त है!

समाधान—उक्त शंका युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त श्रुतज्ञान भी [illegible]-पूर्वक होनेसे उक्त लक्षण द्वारा संगृहीत हो जाता है, जैसे प्रसिद्ध [illegible], [illegible], [illegible] और [illegible] के वचनोंसे उत्पन्न परिणाम (निर्णय) जो कि [illegible] अथवा समुद्रके घोष, मेघोंकी गर्जना (गड़गड़ाहट) आदिसे शब्द और उनके अभिधेय पदार्थोंको विषय करनेवाला श्रुतज्ञान। इसलिए श्रुतज्ञानका उपर्युक्त लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव तीनों दोषोंसे रहित होनेके कारण निर्दोष है, जैसे ऊपर कहा गया अनुमानका लक्षण। यह श्रुतज्ञान प्रमाण है, क्योंकि वह अविसंवादी है, जैसे प्रत्यक्ष और अनुमान। श्रुतज्ञानमें अविसंवादीपना असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि उससे पदार्थका ज्ञान करके प्रवृत्ति करनेवाले पुरुषको किसी प्रकारका भ्रम आदि नहीं होता और अर्थ-क्रियामें सदा यथार्थता अवगत होती है, जैसे प्रत्यक्ष आदिसे होती है।

शंका—श्रोत्रमतिपूर्वक उत्पन्न श्रुतज्ञानसे वस्तुको जानकर प्रवृत्त हुए पुरुषको कहीं अविसंवादीपना प्राप्त नहीं होता। इसी तरह अन्यत्र भी वह अविसंवादी नहीं हो सकता, अतः श्रुतज्ञान प्रमाण नहीं है ?

समाधान—उक्त शंका युक्त नहीं है, क्योंकि इस तरह तो प्रत्यक्षादि भी प्रमाण सिद्ध नहीं हो सकेंगे। सीपमें चाँदीका ज्ञान करके प्रवृत्त हुए पुरुषको चाँदीसे होनेवाली अनुरागादि अर्थक्रियामें विसंवाद (विपरीत ज्ञान) होनेसे अन्यत्र होनेवाले प्रत्यक्षमें भी विसंवादकी सम्भावना है। अतः वह भी प्रमाण नहीं हो सकेगा।

यदि कहा जाय कि सीपमें होनेवाला चाँदीका ज्ञान तो प्रत्यक्षाभास है, अतः उसमें विसंवाद हो सकता है, सत्य प्रत्यक्षमें नहीं, जैसे अनुमान, तो श्रुतज्ञानाभाससे विसंवाद सम्भव है, सत्य श्रुतज्ञानसे वह कैसे हो सकता है। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि सत्य श्रुतज्ञान असिद्ध है, क्योंकि लोकमें कितना ही व्यवहार उसीकी सत्यता पर आधृत है। दूसरे, सत्य श्रुतज्ञानकी साधिका युक्ति भी मौजूद है। वह यह है—'श्रोत्रमतिपूर्वक होनेवाला श्रुतज्ञान, जिसका प्रकरण चल रहा है, सत्य है, क्योंकि वह निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न है, जैसे प्रत्यक्ष आदि।' वह दो प्रकारका है—१. सर्वज्ञके वचनोंको सुननेसे होनेवाला और २. असर्वज्ञ (अस्मदादि) के प्रामाणिक वचनोंको सुनकर होनेवाला। सो यह दोनों प्रकारका श्रुतज्ञान निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न है, क्योंकि गुणवान् वक्ताके द्वारा उच्चरित शब्दोंसे वह होता है।

शंका—'नदीके किनारे लड्डुओंके ढेर पड़े हैं' ऐसा हास्यसे कहे गये किसी गुणवान् वक्ताके शब्दोंसे उत्पन्न श्रुतज्ञानके साथ, जो असत्य है, 'निर्दोष कारणोंसे

पद्म साध्यको सिद्ध करनेके लिए दिया गया 'गुणवान् वक्ताके द्वारा उच्चरित शब्दोंसे
ह होता है' हेतु व्यभिचारी (अनेकान्तिक) है, अतः वह साध्यका गमक नहीं है ?

समाधान—यह शंका भी उचित नहीं है, क्योंकि हँसी-मजाक करनेवाला
क्ता गुणवान् नहीं हो सकता, हँसी-मजाक ही दोष है, जैसे अज्ञान आदि।

शंका—विचारप्राप्त श्रोत्रमतिपूर्वक होनेवाला श्रुतज्ञान गुणवान् वक्ताके द्वारा
उच्चरित शब्दोंसे उत्पन्न है, यह कैसे सिद्ध है ?

समाधान—वह इस प्रकार सिद्ध है—'विचार प्राप्त श्रुतज्ञान गुणवान्
वक्ताके द्वारा उच्चरित शब्दोंसे उत्पन्न है, क्योंकि उसमें बाधकोंका अभाव
सुनिश्चित है।' स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष अर्थको सिद्ध करनेवाला प्रत्यक्ष, अनुमेय
अर्थका साधक अनुमान और अत्यन्त परोक्ष अर्थका बोधक आगम ये तीनों भिन्न
विषयक होनेसे श्रुतज्ञानके बाधक नहीं हैं, अतः श्रुतज्ञानमें बाधकाभाव सिद्ध है।
देशान्तर, कालान्तर और पुरुषान्तरकी अपेक्षासे भी उसमें संशय न होनेके कारण
'सुनिश्चित' विशेषण भी हेतुमें सुसिद्ध है, अतः श्रुतज्ञानके असिद्ध होनेकी आशंका
निरस्त हो जाती है। हेतु अनेकान्तिक भी नहीं है, क्योंकि वह विपक्षमें कहीं रहता
नहीं। विरुद्ध भी वह नहीं है, क्योंकि अगुणवान् वक्ताके शब्दोंसे जन्य श्रुतज्ञान,
जिसमें बाधकाभाव सुनिश्चित हो, और जिसे वादी तथा प्रतिवादी दोनों स्वीकार
करते हों, असम्भव है तथा परस्पर विरोध भी है। जो कथंचित् अपौरुषेय शब्दोंसे
उत्पन्न श्रुतज्ञान है वह गुणवान् व्याख्याताके व्याख्यात शब्दोंसे उत्पन्न होनेके कारण
[illegible]ोंष कारणोंसे जन्य सिद्ध है, इसलिए वह सत्य है। इस प्रकार स्याद्वादियोंके लिए
[illegible]ई दोष नहीं है। पर्यायार्थिकनयकी प्रधानता और द्रव्यार्थिकनयकी गौणतासे कथन
रनेपर श्रुतज्ञान गुणवान् वक्ताके शब्दोंसे जनित सिद्ध होता है तथा द्रव्यार्थिकनयकी
धानता और पर्यायार्थिनयकी गौणताकी विवक्षा करनेपर वह गुणवान् व्याख्याताके
याख्यात शब्दोंसे जनित भी उपपन्न होता है। ध्यातव्य है कि शब्द प्रमाणसे न
सर्वथा पौरुषेय सिद्ध होता है और न अपौरुषेय।

शंका—'विचारप्राप्त शब्द पौरुषेय ही है, क्योंकि वह प्रयत्नका अविनाभा[illegible]
है, जैसे पटादिक' इस अनुमानसे आगमको, जो दो प्रकारका है—१. अंगप्रविष्ट औ[illegible]
२. अंगबाह्य तथा अंगप्रविष्ट द्वादशांग (बारह अंगो) रूप और अंगबाह्य अनेक [illegible]
(चउदह) रूप है, पौरुषेय मानना ही युक्त है, जैसे महाभारत आदि ?

समाधान—उक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि यह बतलाना आवश्यक है कि
'सर्वथा प्रयत्नका अविनाभावी' विवक्षित है अथवा 'कथंचित् प्रयत्नका अविनाभा[illegible]
प्रथम पक्ष असिद्ध है, क्योंकि स्याद्वादी द्रव्यार्थिककी अपेक्षा आगमको प्रम[illegible]
अविनाभावी स्वीकार नहीं करते। द्वितीय पक्ष विरुद्ध है, क्योंकि उससे आगम क[illegible]
अपौरुषेय सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि '[illegible]
प्रयत्नका अविनाभावी है' इसका क्या मतलब है ? क्या उच्चारक पुरुषके प्र[illegible]
अनन्तर उसकी उपलब्धि होती है या उत्पादक पुरुषके प्रयत्नके अनन्तर वह [illegible]
होता है ? प्रथम विकल्प स्वीकार करनेपर उच्चारक पुरुषकी अपेक्षा [illegible]
अपौरुषेय ही सिद्ध होता है, क्योंकि उसका प्रवाह विद्यमान रहता है। द्वितीय

माननेपर पूर्व-पूर्व सर्वज्ञों द्वारा कथित [illegible] ही [illegible] सिद्ध होंगे, [illegible] भी, क्योंकि अनादिनिधन होनेसे उनका उत्पादक कोई नहीं है। 'ईश्वर द्वारा उत्पन्न हैं', यह भी नहीं, क्योंकि प्रश्न होगा कि वह सर्वज्ञ [illegible] वर्णोंका उत्पादक है या पदवाक्यात्मक प्रवचनका? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि वर्णोंका सद्भाव उ[illegible] पूर्व भी विद्यमान रहता है। यह कहना भी युक्त नहीं कि 'उन वर्णोंके समान व[illegible] सद्भाव उससे पूर्व रहता है, उन्हींका नहीं, जैसे घटादिक', क्योंकि इस प्रकार वर्णोंका अनुवादक उत्पादक क्यों नहीं हो जायेगा? वर्णोंके प्रवाहसे पहले भी उ[illegible] समान वर्णोंका सद्भाव रहनेसे अनुवादित होनेवाले वर्ण उसी समय होते हैं। ए[illegible] कोई भी वर्णोंका अनुवादक नहीं बन सकेगा, सभी उत्पादक ही सिद्ध होंगे। जिस प्र[illegible] कुम्हार आदि घड़ा आदिके उत्पादक हैं, अनुवादक नहीं, उसी प्रकार वर्णों[illegible] उत्पादक हैं, अनुवादक नहीं और इस तरह अनुवादकका व्यवहार नहीं हो सके[illegible]

यदि कहें कि पूर्वोच्चरित वर्ण और वर्तमान वर्ण दोनोंमें सादृश्य होनेसे [illegible] एकत्वका उपचार हो जाता है, अतः उन वर्णोंको पीछे बोलनेवाला अनुवादक है[illegible] क्योंकि 'उसने वर्णोंको कहा है, मैंने नहीं' इस प्रकारसे स्वातन्त्र्यका परिहार [illegible] परतन्त्रताका अनुसरण होता है, तब तो जैसे वह वर्णोंका पठितानुवादक है उसी [illegible] वह उनका पाठयिता भी कहा जा सकता है, क्योंकि उसका भी स्वातन्त्र्य न[illegible] सभी अपने उपाध्यायसे पढ़नेके कारण उनके अधीन हैं। अतः इस प्रकार कहा[illegible] चाहिए—

'इस जगत्में कोई पुरुष वर्णोंको स्वतन्त्रतापूर्वक प्राप्त नहीं करता, जिस[illegible] दूसरोंने इसके लिए वर्णोंको कहा है उसी प्रकार यह दूसरोंके लिए वर्णोंको [illegible] और दूसरे भी इसी तरह अन्योंके लिए उन वर्णोंको कहेंगे, इस तरह स[illegible] (परम्परा) को न तोड़नेवाले व्यवहारके द्वारा इन वर्णोंमें अनादित्व सिद्ध है।'—१-२।

फलतः सर्वज्ञ भी अनुवादक ही है, क्योंकि पूर्व-पूर्व सर्वज्ञके द्वारा कहे [illegible] चौंसठ वर्णोंका उत्तरोत्तरवर्ती सर्वज्ञों द्वारा अनुवाद होता है। यदि पूर्व सर्वज्ञके कहे वर्ण उपलब्ध न हों, तो उत्तरवर्ती सर्वज्ञ असर्वज्ञ हो जायेगा। इस[illegible] अनादि सर्वज्ञ-परम्परा माननेवालोंके मतमें कोई सर्वज्ञ वर्णोंका उत्पादक नहीं है[illegible] उनका अनुवादक है। द्वितीय पक्ष (अर्थात् पदवाक्यात्मक प्रवचनका सर्वज्ञ उ[illegible]है) भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि प्रवचनके पद-वाक्य भी पूर्व-पूर्व सर्वज्ञों द्वारा क[illegible] ही हैं, उन्हींका उत्तरोत्तरवर्ती सर्वज्ञ अनुवाद करते हैं। प्रवचन (आगम) हमेशा [illegible] प्रविष्ट, जिसके बारह भेद हैं और अंगबाह्य, जिसके अनेक (चउदह) भेद हैं[illegible] रूपोंमें विभक्त रहता है। उसमें अन्य प्रकारके वर्णों या पद-वाक्योंकी सम्भावन[illegible] है, क्योंकि वह सर्वथा अपूर्व उत्पन्न नहीं होता। [२-१६५]

शंका—एक महेश्वर ही, जो अनादि सर्वज्ञ है, वर्णोंका उत्पादक है, जै[illegible] प्रथम सृष्टिके समय लोकोंका उत्पादक है, क्योंकि वह सदा स्वतन्त्र है, किसी सर्वज्ञके पराधीन नहीं है, अतः वह वर्णोंका अनुवादक नहीं है?

समाधान—उक्त शंका युक्त नहीं है, क्योंकि अनादि एक महेश्वरका [illegible]

आप्तपरीक्षा (का. १०, पृ. ५०) में किया गया है, अतः अनादि एक ईश्वर कपिल आदिकी तरह युक्तिसे सिद्ध नहीं होता। किसी तरह वह सम्भव भी हो, तो वह, जो सदा ईश्वर है, सर्वज्ञ है और प्राह्य मानके अनुसार सौ-सौ वर्षोंके अन्तमें लोकोंका स्रष्टा है, पूर्व-पूर्व सृष्टिके समय स्वयं उत्पन्न किये गये वर्ण और पद-वाक्योंका उत्तर-उत्तर सृष्टिकालमें उपदेष्टा होनेसे अनुवादक क्यों नहीं होगा। एक कवि, जिसने अपनी काव्यरचना की है, उसका पुनः-पुनः कथन करनेपर अनुवादक नहीं होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'शब्द और अर्थ दोनोंका पुनर्वचन पुनरुक्त है, केवल, अनुवादके अतिरिक्त' इस प्रतिपादनका विरोध आता है। उसी एकका पुनः-पुनः कथन किये जानेपर भी उसे अनुवाद न माननेपर वह पुनरुक्त ही सिद्ध होगा, जो एक दोष है और अनुवाद दोष नहीं है। अतः यदि कोई अपनी रची रचनाको पुनः कहता है और इसलिए उसे अनुवादक कहा जाता है तो महेश्वर भी अपने उत्पादित वर्ण-पद-वाक्योंका दूसरी आदि सृष्टिके समय पुनः-पुनः कथन करनेसे अनुवादक है, क्योंकि पूर्व-पूर्व कथनको उत्तरोत्तर दुहराना अनुवाद है।

शंका—महेश्वर पूर्व-पूर्व वर्ण-पद-वाक्योंसे विलक्षण ही वर्ण-पद-वाक्योंकी रचना करता है, अतः वह अनुवादक नहीं है ?

समाधान—यह शंका भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि ऐसा किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता और यदि सिद्ध भी हो, तो प्रश्न उठता है कि पूर्व-पूर्व वर्ण-पद-वाक्योंका ज्ञान न होनेसे वह उनका अप्रणेता है या शक्ति न होने या प्रयोजन न होनेसे ? प्रथम पक्षमें उसके सर्वज्ञता नहीं बनेगी, जब कि वह सब प्रकारके वर्ण-पद-वाक्योंका ज्ञाता है, अन्यथा वह अनीश्वर हो जायेगा। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि ईश्वरको अनन्तशक्तिवाला माना गया है। यदि एक समयमें कुछ ही वर्ण-पद-वाक्योंकी रचनेकी शक्ति ईश्वरमें कही जाय, तो वह अनीशकी तरह अनन्तशक्तिवाला कैसे हो सकता है ? तृतीय पक्ष भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि समस्त वाचकों (वर्ण-पद-वाक्यों) का प्रकाशन ही उसका प्रयोजन है, जैसे समस्त वाच्यार्थका प्रकाशन अथवा समस्त जगत्की रचना उसका प्रयोजन है। प्रतिपाद्यजनोंके अनुरोधसे किन्हीं ही वर्णादिकोंका प्रणयन माननेपर जगत्के उपभोक्ता प्राणियोंके अनुरोधसे किन्हीं ही जगत्‌के कार्योंकी सृष्टि होगी, सबकी नहीं। फलतः ईश्वरके द्वारा जो कार्य नहीं रचे गये उनके साथ 'कार्यत्व' हेतु व्यभिचारी होनेसे वह समस्त कार्योंको ईश्वरनिमित्तक सिद्ध नहीं कर सकेगा। [२, १६७]

यदि कहें कि समस्त प्रकारके वर्णादिवाचकोंके समूहको जाननेकी इच्छा रखनेवाला कोई प्रतिपाद्य ही सम्भव नहीं है, तो यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञका उपदेश प्रतिग्राहक (सर्वकल्याणकारी) नहीं हो सकेगा। इसे सम्भव माननेपर प्रत्येक सर्गमें समस्त वर्णादिकोंका प्रणेता ईश्वर अनुवादक ही सिद्ध होगा, उत्पादक कभी सिद्ध न होगा। इसलिए अनेक ही सर्वज्ञ मानना चाहिए, एक ईश्वरकी कल्पना व्यर्थ है। तथा जिस प्रकार एक सर्वज्ञ किसी वस्तुको 'नयी' कहता है, उसीको दूसरा सर्वज्ञ 'पुरानी' बतलायेगा और इस तरह अनेक सर्वज्ञोंकी कल्पना करनेपर परस्पर विरोध प्रदर्शित किया जाता है और वस्तुकी व्यवस्था असम्भव बतलायी

जाती है, उसी प्रकार एक ईश्वरकी भी अनेक सर्गों (सृष्टियों) में प्रवृत्ति माननेपर उसके अनेक उपदेश मानने होंगे। पूर्व सर्गमें जिस वस्तुको ईश्वरने 'नयी' कहा उसे ही उसने उत्तर सर्गमें 'पुरानी' बतलाया और इस तरह एक ईश्वरके माननेपर भी परस्पर विरोध आता है। यदि कहा जाय कि एक ईश्वर एक वस्तुको 'नयी-पुरानी' एक कालमें ही नहीं बतलाता, इसलिए परस्पर विरोध नहीं आता, तो अनेक सर्वज्ञों के भी कालभेदसे 'नयी-पुरानी' बतलानेपर कैसे परस्पर विरोध आता है। अतः अनादि एक ईश्वरकी कल्पना व्यर्थ है, क्योंकि उसका साधक कोई प्रमाण नहीं है।

सोपायविशेषसिद्ध अनेक सर्वज्ञ तो प्रमाणसिद्ध हैं और वे चिरतर कालका विच्छेद होनेपर भी प्रवाहसे परमागमके अभिव्यंजक—अनुवादक हैं, क्योंकि प्रयत्नके बाद उसकी अभिव्यक्ति होती है। अतः 'कथंचित् प्रयत्नका अविनाभावी' हेतु उसे कथंचित्पौरुषेय सिद्ध करता है। इसीको यहाँ पद्य-रचना द्वारा बताया जाता है—

'परमागमकी परम्परा अनादिनिधन है। असर्वज्ञकी तरह कोई सर्वज्ञ स्वयं उसका उत्पादक नहीं है। एक सर्वज्ञ अपनी महिमासे उसका प्रकाशन करता है तथा दूसरा भी उसे प्रकाशित करता है। इस प्रकार सर्वज्ञकी परम्परा अनादि सिद्ध है। उनके द्वारा कहे शब्दोंसे उत्पन्न श्रुतज्ञान (आप्तोक्त) पूर्णतया प्रमाण जानना चाहिए, क्योंकि वह निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न होता है। बाह्य (अनाप्तोक्त) श्रुत पुरुषकृत पद-रचनात्मक होनेसे दो प्रकारका है—१. आर्ष और २. अनार्ष अथवा संक्षिप्त और विस्तृत। जो निर्दोष ऋषियोंके द्वारा कहे गये वचनोंसे उत्पन्न है वह आर्ष श्रुतज्ञान है और निर्बाध होनेसे प्रमाण है तथा जो ऋषियोंके अतिरिक्त अन्य पुरुषोंके द्वारा कहे वचनोंसे उत्पन्न होता है वह अनार्ष श्रुतज्ञान है। यह दो प्रकारका कहा गया है—१. एकान्तवादियों द्वारा कथित, जो विभिन्न मतरूप है और २. लौकिक। यह दोनों प्रकारका श्रुत मिथ्या है, क्योंकि वह राग-द्वेष-मोहादि दोषकारणोंसे उत्पन्न होता है और इसलिए वह प्रमाण नहीं है। किन्तु सम्यग्दृष्टिका श्रुत (प्रवचन) सुनय-की विवक्षा रखनेके कारण प्रमाण है।' १-७।

शंका—निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न होनेके कारण श्रुतज्ञानको प्रमाण सिद्ध करनेपर चोदना (वेद) ज्ञान भी प्रमाण होना चाहिए, क्योंकि वह भी पुरुषगत दोषोंसे रहित चोदना (वेद) से उत्पन्न होता है और चोदना सर्वथा अपौरुषेय है। कहा भी है—

'चोदनाजन्य ज्ञान प्रमाण है, क्योंकि वह निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न होता है, जैसे लिंग, आप्तवचन और इन्द्रियोंसे होनेवाला ज्ञान।'

समाधान—उक्त शंका युक्त नहीं है, क्योंकि 'निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न' शब्दके द्वारा 'गुणवान् कारणोंसे उत्पन्न' यह अर्थ अभिप्रेत है, लिंगज्ञान, आप्तवचनज्ञान और इन्द्रियज्ञान इन तीनोंमें भी यही अर्थ लिया गया है। प्रकट है कि लिंगमें अपौरुषेयता-रूप निर्दोषता नहीं है, अपितु साध्यके साथ अविनाभावनियमका निश्चय होना रूप गुणके सद्भावमें गुणवत्तारूप निर्दोषता पायी जाती है। इसी तरह आप्तवचनमें अविसंवाद गुणके कारण गुणवत्ता है तथा चक्षु आदि इन्द्रियोंमें निर्मलता आदि गुणोंके रहनेसे गुणवत्ता है।

शंका—कारणकी निर्दोषता दोषरहितता है। वह कहो दोषोंके विरोधी गुणोंके सद्भावसे होती है, जैसे मनु आदि ऋषियोंके द्वारा रचित स्मृतियोंमें। और कहीं दोषोंके कारणके अभावसे वह (दोषरहितता) होती है, जैसे वेदमें। वही कहा है—

'शब्दोंमें दोषोंकी उत्पत्ति वक्ताके अधीन है। सो कहीं तो दोषोंका अभाव गुणवान् वक्ताके कारण हो जाता है, क्योंकि उसके गुणोंसे दोष दूर हो जायेंगे और फिर वे शब्दमें संक्रमण नहीं कर सकते। और कहीं वक्ताके न होनेसे वे निराश्रय नहीं रहेंगे ?'—१,२।

समाधान—इस शंकामें कुछ भी सार नहीं, क्योंकि सर्वत्र गुणोंका अभाव ही दोष है और गुणोंका सद्भाव ही निर्दोषता है। अभाव दूसरी वस्तुके सद्भावरूप प्रसिद्ध है। यदि वह (अभाव) तुच्छरूप हो तो वह प्रमाणका विषय नहीं हो सकता। यथार्थमें 'गुणवान् वक्ता' कहनेसे 'दोषरहित वक्ता' का ही बोध होता है। यदि ऐसा न हो तो गुणों और दोषोंमें सहानवस्थान (एक साथ न रहना) विरोध कैसे बन सकेगा। राग, द्वेष और मोह ये निश्चय ही वक्ताके दोष हैं, जो असत्य कथनके कारण हैं और उनके विरोधी वैराग्य, क्षमा और तत्त्वज्ञान वक्ताके गुण हैं, जो उनके अभावरूप हैं और सत्य कथनके कारण हैं, यह सभी परीक्षकोंका हार्द है।

एक बात और है। स्मृतिशास्त्रोंके रचयिता मनु आदि गुणवान् नहीं हैं, क्योंकि उनके उक्त गुण नहीं पाये जाते। यहाँ यह कहना भी युक्त नहीं कि मनु आदिका उपदेश निर्दोष वेदके आश्रयसे हुआ है, अतः वे गुणवान् हैं, क्योंकि वेदमें गुणवत्ता नहीं है। उसका कारण गुणवान् पुरुषका अभाव है। जिस प्रकार दोषवान् पुरुष वेदका कर्ता न होनेसे उसमें निर्दोषता सिद्ध होती है उसी प्रकार गुणवान् पुरुष भी उसका कर्ता न होनेसे उसमें अगुणवत्ता सिद्ध होगी। अतः वेद गुणवान् नहीं है। अगर कहा जाय कि वेदका अपौरुषेय होना ही उसका गुण है, तो अनादि कालीन म्लेच्छादिके व्यवहार (परम्परा) भी अपौरुषेय होनेसे गुणवान् कहे जायेंगे। अतः कहना चाहिए कि—

'वेद निर्दोष नहीं है, क्योंकि गुणवान् पुरुष उसका कर्ता नहीं है, न गुणवान् पुरुष उसका व्याख्याता अथवा प्रवक्ता है, जैसे म्लेच्छादिके व्यवहार। अतः वेदसे जो ज्ञान होता है वह निर्दोष कारण जन्य नहीं है, तब वह प्रमाण कैसे हो सकता है, जैसे परमागमका ज्ञान प्रमाण है। इतने लम्बे (अनादि) कालमें अपौरुषेय वेदका उच्छेद भी सम्भव है, जिसका अतीन्द्रियार्थदर्शी सर्वज्ञके बिना कोई उद्धारक नहीं है। स्याद्वादियोंके मतमें तो उक्त लम्बे समयमें उच्छिन्न परमागमकी परम्पराकी प्रकाशक सर्वज्ञसन्तति है। और जिस प्रकार सर्वज्ञसन्तति परमागमकी परम्पराकी प्रकाशक है उसी प्रकार वह समस्त भाषाओं तथा कुभाषाओंकी भी प्रकाशक है, क्योंकि उनकी ध्वनि (उपदेश) सर्वभाषास्वभाववाली है। अतः वह परमागमरूप श्रुतज्ञान परमार्थसे परोक्ष प्रमाण सुसिद्ध है, क्योंकि वह निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न है, जैसे प्रत्यक्ष।'— १-६।

इसलिए यह बिलकुल ठीक कहा कि 'प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो ही प्रमाण हैं, इन्हींमें अन्य सभी प्रमाणोंका भी समावेश हो जाता है।' इस प्रकार प्रमाण-संख्या

सम्बन्धी विवादका जो ऊपर निराकरण किया गया है वह युक्त और निर्दो
जैसे प्रमाण-लक्षणसम्बन्धी विवादका निराकरण। [२-१७५]

३. प्रमाणविषय-परीक्षा :

इस प्रकरणमें प्रमाणके विषयका विवाद दूर करनेके लिए उसकी भी प
की जाती है।

'प्रमाणका विषय (प्रमेय) द्रव्य और पर्यायरूप वस्तु है, क्योंकि उ
सिवाय अन्य विषय सिद्ध नहीं होता।' इस अनुमानसे प्रमाणका विषय—परिच
द्रव्य-पर्यायरूप अथवा सामान्य-विशेषरूप अवगत होता है।

इस अनुमानमें प्रयुक्त हेतुको दूषित करनेके लिए बौद्ध कहते हैं कि 'प्रत
प्रमाण केवल स्वलक्षण (विशेष-पर्याय) को और अनुमान-प्रमाण केवल साम
(सन्तान-द्रव्य) को विषय करता अर्थात् जानता है, दोनोंको विषय करनेवाला
प्रमाण नहीं है। अतः उक्त अनुमानमें प्रयुक्त हेतु इन (प्रत्यक्षप्रमाणके विषय
विशेष और अनुमानप्रमाणके विषय केवल सामान्य) के साथ अनेकान्ति
(व्यभिचारी) है।' बौद्धोंका यह कथन सम्यक् नहीं है, क्योंकि वैसी प्रतीति
होती। प्रकट है कि प्रत्यक्ष केवल सामान्यकी तरह केवल विशेषको और अनु
केवल विशेषकी तरह केवल सामान्यको विषय करनेवाला प्रतीत नहीं होत
यथार्थमें सामान्यरहित विशेष और विशेषरहित सामान्यरूप वस्तु होती, तो प्रत
और अनुमान उक्त प्रकारकी वस्तुको विषय करते। किन्तु वस्तु तो सामान्य
विशेषरूप अथवा द्रव्य और पर्यायरूप जात्यन्तर अर्थात् तृतीय प्रकारकी उभया
प्रतीत होती है तथा प्रवृत्ति करनेवाले व्यक्तिकी प्रवृत्ति भी उसीमें होती है
प्राप्ति भी उसे उसीकी होती है। वस्तु उभयात्मक न हो, केवल विशेष अथवा के
सामान्यरूप ही हो, तो उससे कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। स्पष्ट है
स्वलक्षण (विशेष), जो गोत्वसामान्यसे रहित गोव्यक्तिरूप कहा जाता है, गोदो
आदि अर्थक्रिया करनेमें असमर्थ है, क्योंकि उसमें क्रम और यौगपद्य (अक्रम) दो
ही नहीं बनते, जैसे वे केवल सामान्यमें नहीं बनते। क्रम और यौगपद्यकी व्या
परिणमनके साथ है और परिणमन क्षणिक स्वलक्षणमें सम्भव नहीं, जैसे वह नि
सामान्यमें सम्भव नहीं है। इस तरह केवल स्वलक्षणमें परिणमनके अभावमें क्रम
यौगपद्यका अभाव प्राप्त होता है, क्योंकि उनके साथ उसकी व्याप्ति (अविनाभाव)
तथा क्रम और यौगपद्यके अभावमें अर्थक्रियाका अभाव और अर्थक्रियाके अभा
उसके अवस्तुत्व ही प्राप्त होता है, वस्तुत्व नहीं। इसी प्रकार केवल सामान्यके विष
भी जान लेना चाहिए। अतः वस्तु सामान्य और विशेष अथवा द्रव्य और पर्या
द्वयात्मक सिद्ध होता है। प्रतीति, प्रवृत्ति और प्राप्ति ये तीनों भी उसी प्रकार
वस्तुमें सुनिश्चित होती हैं, अतएव वही प्रमाणका विषय है। उसके एक देश
केवल विशेष अथवा केवल सामान्य ([illegible]) को विषय करनेवाला प्रमाणाभा
कहा जायेगा। प्रमाण वही है जो यथार्थ वस्तुको ग्रहण करता है। किन्तु हाँ, प्रमाण
उपयोगरूप विषय एक देश (अपेक्षित विशेष अथवा अपेक्षित सामान्य) को भी ग्रह
करता है और इतर अंशका निषेध नहीं करता वह नय (सम्यक्नय) है और

प्रमाणका एक देश है। किन्तु इतर अंशका निषेध करके मात्र एक अंश (केवल विशेष या केवल सामान्य अथवा केवल पर्याय या केवल द्रव्य) को ही जो ग्रहण करता है वह दुर्नय (मिथ्या नय) है। अतएव दुर्नयके विषय (केवल विशेष अथवा केवल सामान्य) के साथ उपर्युक्त हेतु अनेकान्तिक नहीं है, क्योंकि वह प्रमाणका विषय ही नहीं है अर्थात् 'प्रमाणविषयत्व' हेतु उसमें नहीं रहता।

अतः प्रमाणका विषय द्रव्य-पर्यायरूप अथवा सामान्य-विशेषरूप अनेकान्तात्मक जात्यन्तर वस्तु है। इस प्रकार प्रमाणके विषयमे जो दार्शनिकोंका विवाद है वह निरस्त हो जाता है। यहाँ ध्यातव्य है कि बौद्ध केवल विशेषको, सांख्य केवल सामान्यको और नैयायिक-वैशेषिक स्वतन्त्र दोनोंको प्रमाणका विषय स्वीकार करते हैं, जो उक्त प्रकारसे परीक्षा करनेपर युक्त नहीं हैं।

४. प्रमाणफल-परीक्षा :

इस अन्तिम (चौथे) प्रकरणमें प्रमाणके फलका विमर्श किया जाता है। प्रमाणके फलपर विमर्श करनेपर वह प्रमाणसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न प्रतीत होता है, क्योंकि वह प्रमाणका फल है। प्रमाणका फल प्रमाणसे न सर्वथा भिन्न होता है और न सर्वथा अभिन्न।

स्मरणीय है कि बौद्ध प्रमाणके फलको प्रमाणसे सर्वथा अभिन्न और सांख्य तथा नैयायिक-वैशेषिक सर्वथा भिन्न स्वीकार करते हैं। ग्रन्थकार इन दोनों (अभेदवादियों और भेदवादियों) के मतोंकी समीक्षा करते हुए कहते हैं कि उक्त दोनों मत युक्त नहीं हैं, क्योंकि अनुमानसे प्रमाणका फल प्रमाणसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न दोनों सिद्ध होता है। वह अनुमान इस प्रकार है—

'प्रमाणसे फल कथंचित्—करण और क्रियाके भेदकी अपेक्षासे भिन्न है और कथंचित्—एक प्रमातारूप आधारकी अपेक्षासे वह अभिन्न है, क्योंकि वह प्रमाणका फल है।'

शंका—हान, उपादान और उपेक्षाबुद्धिरूप परम्पराफलके साथ हेतु अनेकान्तिक है, क्योंकि वह सर्वथा भिन्न होता है?

समाधान—उक्त शंका युक्त नहीं है, क्योंकि हानादिबुद्धिरूप परम्पराफल भी एक प्रमाता आत्मामें होनेके कारण प्रमाणसे कथंचित् अभिन्न सिद्ध है। यथार्थमें जो प्रमाता वस्तुको सम्यक् जानता है, वही छोड़ने योग्यको छोड़ता, ग्रहण करने योग्यको ग्रहण करता और उपेक्षायोग्यकी उपेक्षा करता है। यदि उसे (परम्पराफलको) प्रमातासे सर्वथा भिन्न माना जाय, तो अन्य प्रमाताकी तरह उस प्रमाताके प्रमाण और फलमें प्रमाण-फलभावकी व्यवस्था नहीं बन सकती। अतः परम्पराफलके साथ, जो हानादिबुद्धिरूप है, उक्त हेतु अनेकान्तिक नहीं है।

शंका—अज्ञाननिवृत्तिरूप साक्षात्प्रमाणफलके साथ हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि वह प्रमाणसे सर्वथा अभिन्न होता है?

समाधान—यह शंका भी विचारपूर्ण नहीं है, क्योंकि उनमें करण और भाव-

कल्पनासे उनका व्यवहार माननेपर उनकी काल्पनिक ही सिद्धि होगी, वास्तविक नहीं। इसलिए इष्टसिद्धिसाधनरूप प्रमाण और इष्टसिद्धिरूप फल दोनोंको वास्तविक मानना चाहिए, काल्पनिक नहीं, तभी इष्टसिद्धि सम्भव है और तभी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंकी भी सिद्धि हो सकेगी।

इस प्रकार संक्षेपमें प्रमाणके स्वरूप, उसकी संख्या, उसके विषय और उसके फलका सयुक्तिक परीक्षण किया।

उपसंहार और मंगल-कामना

ग्रन्थके अन्तमें आदि मंगल-पद्यकी तरह एक अन्त्य मंगल-पद्य भी ग्रन्थकारने दिया है, जिसमें उपसंहार पूर्वक उच्च (उत्तम) विद्या-फलकी प्राप्तिकी मंगल-कामना करते हुए कहा गया है कि—

सत्यासत्यके परीक्षक विवेकीजन उक्त प्रकारसे समीक्षित प्रमाणके लक्षण, प्रमाणकी संख्या, प्रमाणके विषय और प्रमाणके फलकी सम्यक् परीक्षा करके तथा वस्तुतत्त्व (यथार्थता) को अवगत कर दृढ़ एवं शुद्ध (निष्पक्ष) दृष्टि बनें अर्थात् यथार्थता को ग्रहण करें, जिससे वे विद्या (ज्ञान) का उच्च फल—पूर्ण आनन्द (मुक्ति) को प्राप्त करें। तात्पर्य यह कि बुद्धिमान् लोगोंको उचित है कि वे सत्यकी खोज करें और उसे प्राप्त कर ज्ञानके वास्तविक फल आनन्द (मोक्ष) को उपलब्ध करें। इसके लिए आवश्यक है कि वे प्रमाणके यथार्थ स्वरूप, यथार्थ संख्या, यथार्थ विषय और यथार्थ फलका निर्णय करें तथा अपनी दृष्टिको स्थिर और शुद्ध (निष्पक्ष) बनायें, जिससे वे विद्याफल (विद्यानन्द अर्थात् विद्या और आनन्द) को अवश्य प्राप्त करें। 'विद्याफल' पदसे ग्रन्थकारने अपना 'विद्यानन्द' नाम भी प्रकट किया जान पड़ता है, जिसका भाव यह है कि यह प्रमाण-परीक्षा आचार्य विद्यानन्द प्रणीत है। इसका जो अध्ययन-मनन करेंगे वे विद्यानन्द—विद्या और आनन्दके भोक्ता बनेंगे। साथ ही ग्रन्थकारने अपने लिए भी विद्याफलकी प्राप्तिकी मंगल-कामना की है।

आत्म-निवेदन

आशा है प्रमाण-परीक्षाका यह हिन्दी रूपान्तर (प्रस्तावनान्तर्गत) जिज्ञासुओं-के लिए बोधप्रद होगा। विशेषज्ञोंसे निवेदन है कि इसमें अल्पज्ञतावश कोई त्रुटि रही हो तो वे उसे शुद्ध कर लेनेकी कृपा करें।

●

आचार्य माणिक्यनन्दि और उनका समय[1]

आचार्य माणिक्यनन्दि नन्दिसंघके प्रमुख आचार्योंमें हैं। विन्ध्यगिरि (श्रवण-
लगोला) के शिलालेखोंमें सिद्धरवस्तीमें उत्तरकी ओर एक स्तम्भपर जो विस्तृत
शिलालेख[2] उत्कीर्ण है और जो शक संवत् १३२० (ई. १३८८) का है उसमें नन्दिसंघ-
के जिन प्रमुख आठ आचार्योंका उल्लेख है उनमें आ. माणिक्यनन्दिका भी नाम है[3]।
। अकलंकदेवकी कृतियोंके मर्मज्ञ और अध्येता थे। इनको एकमात्र उपलब्ध कृति
परीक्षामुख' है, जिसका परिचय आगे दिया गया है। यहाँ उनके समय, व्यक्तित्व
आदिपर विशेष विचार किया जावेगा।

समय-विचार :

आ. माणिक्यनन्दि लघु अनन्तवीर्यके उल्लेखानुसार[4] अकलंकदेव (ईसाकी
वीं शती) के वाङ्मयके मन्थनकर्ता हैं[5], अतः वे उनके उत्तरवर्ती हैं। और माणिक्य-
नन्दिके परीक्षामुखको टीका प्रमेयकमलमार्त्तण्डके रचयिता प्रभाचन्द्र (ई. ११वीं शती)
पूर्ववर्ती विद्वान् हैं, यह सुनिश्चित है। अब प्रश्न यह है कि इन तीन-सौ वर्षको
लम्बी अवधिका क्या कुछ संकोच हो सकता है? इस प्रश्नपर विचार करते हुए
न्यायाचार्य पं. महेन्द्रकुमारजीने लिखा है[6] कि 'इस लम्बी अवधिको संकुचित करने
का कोई निश्चित प्रमाण अभी दृष्टिमें नहीं आया। अधिक सम्भव यही है कि ये
विद्यानन्दके समकालीन हों और इसलिए इनका समय ई. ९वीं शताब्दी होना
चाहिए।' लगभग यही विचार पं. कैलाशचन्द्रजी आदि अन्य विद्वानोंका भी है[7]।

री विचारणा :

१. *अकलंक, विद्यानन्द और माणिक्यनन्दिके ग्रन्थोंका सूक्ष्म एवं तुलनात्मक*
अध्ययन करनेपर प्रतीत होता है कि माणिक्यनन्दिने केवल अकलंकदेवके ही न्याय-
ग्रन्थोंका दोहन कर अपना 'परीक्षामुख' नहीं बनाया, किन्तु विद्यानन्दके प्रमाण-

---

1. अनेकान्त वर्ष ८, किरण ८-९, सन् १९४७। तथा आप्तपरीक्षा-प्रस्तावना पृ. २६ से ३३।
2. शिलालेखसंग्रह, पृ. २००, शि. ले. न. १०५ (२५४)।
3. 'विद्या-दामेन्द्र-पद्मामर-वसु-गुण-माणिक्यनन्द्याह्वयाश्च'—वही, शि. नं. १०५।
4. अकलंकवचोम्भोधेरुद्दध्रे येन धीमता।
   न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने ॥ —प्रमेयर. श्लो. २. १-१ उत्था.।
5. अकलंकके वचन-समुद्रको मथकर उससे 'प
   लेखकका 'परीक्षामुखसूत्र और उसका उद्गम'
   ३-४, पृ. ११९-१२८। तथा यही ग्रन्थ पृ. ५
6. प्रमेयक. मा., प्रस्ता. पृ. ५।
7. न्यायकु. प्र. भा., प्रस्ता. पृ. ११३, आदि।

परीक्षा, पत्रपरीक्षा, तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक आदि तर्कग्रन्थोंका भी दोहन करके रचना की है। यहाँ हम दोनों आचार्योंके कुछ तुलनात्मक वाक्यों और प्रस्तुत करते हैं—

(क) आ. विद्यानन्द प्रमाणपरीक्षामें प्रमाणसे इष्ट-संसिद्धि और प्रमाणा इष्ट-संसिद्धिका अभाव बतलाते हुए लिखते हैं—

प्रमाणादिष्टसंसिद्धिरन्यथातिप्रसंगतः। —प्र. प., पृ. २८।

आ. माणिक्यनन्दि भी परीक्षामुखमें यही कहते हैं—

प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः। —परी. प्रतिज्ञाश्लोक १।

(ख) विद्यानन्द प्रमाणपरीक्षामें ही प्रामाण्यकी उत्पत्तिको लेकर निम्न प्र करते हैं—

प्रामाण्यं तु स्वतः सिद्धमभ्यासात्परतोऽन्यथा। —प्र. प., पृ. २८

माणिक्यनन्दि भी परीक्षामुखमें यही कथन करते हैं—

तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च। —परी. १-१३।

(ग) विद्यानन्द योग्यताकी परिभाषा निम्न प्रकार करते हैं—

(१) योग्यताविशेषः पुनः

अपभ्रंशके महाकवि मुनि नयनन्दिद्वारा उल्लिखित इस गुरुपरम्परासे प्रकट है कि माणिक्यनन्दि नयनन्दिके साक्षात् विद्यागुरु थे और वे उनके साक्षात् प्रथम विद्या-शिष्य। अतः माणिक्यनन्दिका समय नयनन्दिके समय अर्थात् ई. सन् १०४३ से कम-से-कम १५ वर्ष पूर्व (गुरु और प्रथम शिष्यके मध्यमें इतना अन्तर स्वाभाविक है) ई. सन् १०२८ के लगभग होना चाहिए।

४. आ. प्रभाचन्द्र इन नयनन्दि (ई. १०४३) के समकालीन हैं, क्योंकि उन्होंने भी धारा (मालवा) में रहते हुए राजा भोजदेवके राज्यमें आ. माणिक्यनन्दिसे शिक्षा ग्रहण की थी और उनके परीक्षामुखपर 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' नामकी विस्तृत टीका लिखी है[1] और शेष कृतियाँ प्रायः भोजदेव[2] (वि. सं. १०७५ से वि. सं. १११०, ई. सन् १०१८ से १०५३) के उत्तराधिकारी धारानरेश जयसिंहदेवके[3] राज्यमें बनायी हैं। इसका मतलब यह हुआ कि प्रमेयकमलमार्तण्ड भोजदेवके राज्यकालके अन्तिम वर्षों—अनुमानतः वि. सं. ११०० से ११०७, ई. सन् १०४३ से १०५०—की रचना होना चाहिए। प्रभाचन्द्र इस समय तक राजा भोजदेव द्वारा अच्छा सम्मान और यश प्राप्त कर चुके थे।[4] उस समय वे लगभग ४० वर्षके रहे होंगे। यदि शेष रचनाओंके लिए उन्हें ३० वर्ष भी लगे हों तो उनका अस्तित्व वि. सं. ११३७ (ई. सन् १०८०) तक पाया जा सकता है और इस तरह प्रभाचन्द्रका समय वि. सं. १०६७ से ११३७ (ई. सन् १०१० से १०८०) अनुमानित होता है।

विभिन्न शिलालेखोंमें प्रभाचन्द्रके पद्मनन्दि सैद्धान्त[5] और चतुर्मुखदेव[6] गुरु बतलाये गये हैं और न्यायकुमुदचन्द्रकी अन्तिम प्रशस्तिमें पद्मनन्दि सैद्धान्तका ही गुरुरूपसे उल्लेख है। प्रमेयकमलमार्तण्डकी अन्तिम प्रशस्तिमें पद्मनन्दि सैद्धान्तके साथ परीक्षामुखसूत्रकार माणिक्यनन्दिका भी उन्होंने गुरुरूपसे उल्लेख किया है[7]। कोई आश्चर्य नहीं, नयनन्दिके द्वारा अपने विद्यागुरुरूपसे स्मृत माणिक्यनन्दि ही प्रभाचन्द्रके भी न्यायविद्यागुरु हों। नयनन्दिने अपनेको उनका प्रथम विद्या-शिष्य और उन्हें 'महापण्डित' एवं 'त्रैविद्य' कहा है, जिससे प्रतीत होता है कि माणिक्यनन्दि न्यायशास्त्र आदि अनेक शास्त्रोंके पारंगत विद्वान् थे और उनके कई शिष्य थे। अतः सम्भव है कि प्रभाचन्द्र, माणिक्यनन्दिकी विद्वत्ताकी प्रख्याति सुनकर दक्षिणसे धारानगरीमें, जो उस समय आजकी काशीकी तरह समस्त विद्याओं और विद्वानोंकी

---

१. प्रमेयकमलमार्तण्डकी समाप्ति-पुष्पिका।
२. आप्त-परीक्षा, प्रस्तावना, पृ. ३०, नं. २ टिप्पण।
३. ये वि. सं. १११२ (ई. १०५५) के आसपास राजगद्दीपर बैठे थे—विश्वनाथ रेउ, 'राजा भोज' पृ. १०२, ३
४. शिलालेखसंग्रह, भाग १, शि. ले. नं. ४० (६४)।
५. शिलालेखसं., भाग १, शि. ले. नं. ४० (६४)।
६. वही, शि. ले. नं. ५५ (६९)।
७. 'गुरुः श्रीनन्दिमाणिक्यो नन्दिताशेषसज्जनः। नन्दताद् दुरितैकान्तरजाजैनमतार्णवः ॥३॥
श्रीपद्मनन्दिसैद्धान्तशिष्योऽनेकगुणालयः। प्रभाचन्द्रश्चिरं जीयाद्रत्ननन्दिपदे रतः ॥४॥
—न्या. कु. चं., प्रश. पद्य ३, ४।

केन्द्र बनी हुई थी और राजा भोजदेवका जिसे जैन धर्म प्रसिद्धि पा रहा था, उ
न्यायशास्त्र पढ़नेके लिए आते हों और वैसे यहींके विद्याव्यासंगवश धारा
प्रभावित होकर वहीं रहने लगे हों या वहींके निवासी हों तथा उनसे न्यायशास्त्र
शिक्षा ग्रहण कर लेनेके बाद गुरु माणिक्यनन्दिके परीक्षामुखकी टीका लिखनेके लि
प्रोत्साहित तथा प्रवृत्त हुए हों। जब हम अपनी इन सम्भावनाओंको लेकर आगे ब
हैं तो उनके पोषक प्रायः सब आधार भी मिल जाते हैं।

पहला आधार तो यह है कि प्रभाचन्द्रने परीक्षामुखटीका (प्रमेयकमलमार्तण्ड)
को आरम्भ करते हुए लिखा है[1] कि 'मैं अल्पज्ञ माणिक्यनन्दिके चरणकमलोंके प्रसा
से इस शास्त्र (टीका) को बनाता हूँ। क्या छोटा-सा झरोखा सूर्यकी किरणों द्वा
प्रकाशित हो जानेसे लोगोंके इष्ट अर्थका प्रकाशन नहीं करता? अर्थात् अवश्य करत
है।' इससे प्रतीत होता है कि उन्होंने गुरु माणिक्यनन्दिके चरणोंमें बैठकर परीक्षामु
और इतर दर्शनोंको, जिनके माणिक्यनन्दि प्रभाचन्द्रके शब्दोंमें 'अर्णव' थे, पढ़ा हो
और उससे उनके हृदयमें सद्गत अर्थका प्रकाशन हो गया होगा और इसलिए उन
चरणप्रसादसे उसकी टीका करनेका उन्होंने साहस किया होगा। गुरुकी कृतिप
शिष्य द्वारा टीका लिखना वस्तुतः साहसका कार्य है और उनके इस साहसको देखक
सम्भवतः उनके कितने ही साथी अथवा दूसरे विद्वान् स्पर्धा और उपहास भी कर
होंगे, जिसकी प्रतिध्वनि प्रारम्भके तीसरे[2], चौथे[3] और पाँचवें[4] पद्योंसे प्रकट होती है

दूसरा आधार यह है कि प्रभाचन्द्रने परीक्षामुख-टीकाके अन्तमें जो प्रशस्ति
दी है उसमें माणिक्यनन्दिका गुरुरूपसे उल्लेख किया है[5] और उनके आनन्द एव
प्रसन्नताकी वृद्धि-कामना की है। इसके अतिरिक्त इसी प्रशस्तिके चौथे पद्यमें
प्रभाचन्द्रने अपनेको 'रत्ननन्दिपदे रतः' पदके द्वारा 'माणिक्यनन्दिका चरणसेवक'
प्रकट किया है, जिससे वे उनके साक्षात् विद्याशिष्य प्रतीत होते हैं।

तीसरा आधार यह है कि टीकाके मध्यमें[6] परीक्षामुखके (३-११) सूत्रकी
व्याख्या करते हुए प्रभाचन्द्रने 'इत्यभिप्रायो गुरूणाम्' कहकर इन शब्दों द्वारा
माणिक्यनन्दिको स्पष्टतः अपना गुरु प्रकट किया है और उनके अभिप्रायको
बतलाया है।

चौथा आधार यह है कि नयनन्दि, उनके विद्यागुरु महापण्डित माणिक्यनन्दि
त्रैविद्य और प्रभाचन्द्र ये सब एक ही काल अर्थात् राजा भोजदेव (वि. सं. १०७५ से
वि. सं. १११०, ई. सन् १०१८ से १०५३) के समयके विद्वान् हैं। अतः कोई आश्चर्य
नहीं कि नयनन्दि और माणिक्यनन्दिकी तरह प्रभाचन्द्र और माणिक्यनन्दि भी शिष्य-
गुरु रहे होंगे। एक कालकी तरह इनका स्थान भी एक (धारा) ही है।

---

१. प्रारम्भिक पद्य २, प्रमेय. मा. पृ. १।

२,३,४. वही, पद्य ३, ४, ५।

५. गुरुः श्रीनन्दिमाणिक्यो नन्दिताशेषसज्जनः।
   नन्दताद् दुरितैकान्तरजाजैनमतार्णवः॥—प्रमेयक. मा. प्रश. श्लोक ३।

६. प्रमेयक. मा. पृ. ३४८ (नया संस्करण), ३-११ की व्याख्या, प्रकाशन ई. १९४१।

पांचवां आधार यह है कि प्रभाचन्द्रने प्रशस्तिके दूसरे श्लोकमे[1] 'परीक्षामुख' को 'अद्रि' (पर्वत) और उससे उदित सूर्यके सदृश अपना प्रमेयकमलमार्त्तण्ड बतलाया है। यहाँ अद्रि और सूर्यके साक्षात्सम्बन्धकी तरह प्रभाचन्द्रने माणिक्यनन्दिसे अपना साक्षात्सम्बन्ध व्यक्त किया है। इसके अलावा प्रशस्तिके पहले श्लोकमें[2] प्रभाचन्द्रने लिखा है कि 'हमने उन माणिक्यनन्दिप्रभुसे परीक्षामुखको जैसा पढ़ा-समझा वैसा ही कुछ अंशमात्र उसका व्याख्यान किया।' प्रभाचन्द्रके इन कथनोंसे स्पष्ट मालूम होता है कि माणिक्यनन्दि और प्रभाचन्द्र साक्षात् गुरु-शिष्य थे। महापण्डित माणिक्यनन्दित्रैविद्य नयनन्दि, प्रभाचन्द्र आदि अनेक शिष्योंके गुरु रहे होंगे, जैसा कि नयनन्दिके उल्लेखसे प्रकट है। तथा एक शिष्यके अनेक गुरु भी हो सकते हैं। वादिराजके मतिसागर, हेमसेन और दयापाल ये तीन गुरु थे। उसी तरह प्रभाचन्द्रके भी पद्मनन्दिसैद्धान्त, महापण्डित माणिक्यनन्दि त्रैविद्य आदि अनेक गुरु होंगे।

इस विवेचनसे यह निष्कर्ष सामने आता है कि माणिक्यनन्दि और प्रभाचन्द्र साक्षात् गुरु-शिष्य थे और प्रभाचन्द्रने अपने साक्षात् गुरु माणिक्यनन्दिके परीक्षामुख-पर अपनी टीका (प्रमेयकमलमार्त्तण्डव्याख्या) उसी प्रकार लिखी है जिस प्रकार बौद्ध विद्वान् कमलशील (ई. ८५०) ने[3] अपने साक्षात् गुरु शान्तरक्षित[4] (ई. ८२५) के तत्त्वसंग्रहपर 'पंजिका' व्याख्या रची है। अतः इन सब आधारों—प्रमाणों और संगतियोंसे परीक्षामुखकार आचार्य माणिक्यनन्दि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदि प्रसिद्ध तर्कग्रन्थोंके कर्त्ता आचार्य प्रभाचन्द्र (वि. सं. १०५० से ११६०, ई. १०१० से १०८०) तथा नयनन्दि (वि. सं. ११००, ई. १०४३) के समकालीन विद्वान् अनुमानित होते हैं और उनके परीक्षामुखका रचनाकाल वि सं. १०८५, ई १०२८ के लगभग जान पड़ता है। इस समयके स्वीकारसे आ. विद्यानन्द (ई. ७७५ से ८४०) के ग्रन्थ-वाक्योंका परीक्षामुखमें अनुसरण, आ. वादिराज (ई. १०२५) द्वारा अपने ग्रन्थोमे परीक्षामुख और आ. माणिक्यनन्दिका अनुल्लेख, मुनि नयनन्दि (ई. १०४३) और प्रभाचन्द्र (ई. १०१० से ई. १०८०) के गुरु-शिष्यादि उल्लेखो आदिकी संगति बन जाती है।

व्यक्तित्व और कृतित्व :

नयनन्दिने अपभ्रंशमें ही 'सुदंसणचरिउ' के अतिरिक्त 'सकलविधिविधान' नामकी एक और रचना लिखी है। इसकी विस्तृत प्रशस्तिमें[5] भी उन्होंने माणिक्य-

---

१. '...समुदितो योऽद्रे. परीक्षामुखात्...मार्त्तण्डतुल्योऽमलः ॥२॥—वही प्रश. श्लो. २।

२. '...यद्बोधकं पदमद्वितीयमखिलं माणिक्यनन्दिप्रभोः।
तद्व्याख्यातमदो यथावगमतः किञ्चिन्मया लेशतः'—वही, प्रश. श्लोक १।

३,४. वादन्यायका परिशिष्ट।

५. पच्चक्ख-परोक्खपमाणणीरे, णयतरलतरंगावलिगहीरे।
वरसत्तभंगिकल्लोलमाल, जिणसासण-सरिणिम्मलसुसाल ॥
पंडियचूडामणि विबुहचंदु, माणिक्कणंदि उप्पण्णु कंदु।
—सकलविधिविधान प. ६, छन्द १० के बाद।

पद्यमें यह बतलाया गया है कि यह रचना एक दर्पणके तुल्य है। जिस प्रकार दर्पणमें पदार्थ साफ-साफ झलकते हैं उसी प्रकार इस परीक्षामुखमें हेयोपादेयतत्त्वोंका स्पष्ट ज्ञान होता है। साथ ही ग्रन्थकारने अपनी लघुताको ऐसी सुन्दरतासे प्रकट किया है, जिससे ग्रन्थके गौरव और महत्त्वमें कोई कमी नहीं होने पाती। लिखा है कि 'हेयोपादेयतत्त्वोंके आदर्शरूप इस परीक्षामुखसूत्रको, मुझ जैसे बालक (अकलंकादि महाज्ञानियोंके समक्ष अल्पज्ञानी) ने हेयोपादेयतत्त्वोंका सम्यग्ज्ञान करानेके लिए, परीक्षाकुशल निष्पक्ष व्यक्ति (न्यायाधीश) की तरह रचा है।'

ग्रन्थका महत्त्व :

इस रचना (ई. १०२८) को बने ९५२ वर्षके लगभग हो गये। फिर भी उसका महत्त्व आज भी उसी प्रकारका है। टीकाकारोंने इस सूत्रग्रन्थकी बड़ी महिमा प्रकट की है। परीक्षामुखके महान् और आद्य टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्र अपनी प्रमेयकमलमार्त्तण्ड-टीकाको समाप्त करते हुए लिखते हैं[1] कि 'माणिक्यनन्दि प्रभुका यह सूत्रग्रन्थ (परीक्षामुख) गम्भीर, निखिलार्थगोचर, शिष्यप्रबोधप्रदसमर्थ और अद्वितीय है।' दूसरे टीकाकार आचार्य अनन्तवीर्य (प्रमेयरत्नमालाकार) ने लिखा है[2] कि 'यह परीक्षामुख 'न्यायविद्यामृत' है, जिसे आचार्य अकलंकदेवके वचन-समुद्रसे निकाला गया है और जिसके निकालनेवाले महान् आचार्य माणिक्यनन्दि हैं उन्हें मेरा विनम्र प्रणाम है।' इसी प्रकार अन्य व्याख्याकारोंने भी 'परीक्षामुख' की प्रशंसा की है।

इस सूत्रग्रन्थके महत्त्वने निःसन्देह बहुतोंको अपनी ओर आकर्षित किया है और कितने ही विद्वानोंने इसके समकक्ष दूसरे सूत्रग्रन्थ बनानेकी चेष्टा भी की है। इसके लिए उदाहरणस्वरूप श्वेताम्बर विद्वान् देवसूरिके 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार' का नाम लिया जा सकता है। परन्तु इस ग्रन्थके शब्द और अर्थका बहुत कुछ अनुसरण[3] एवं उद्धरण कर लेनेपर भी वे अपने सूत्रोंमें वह शब्द-सौष्ठव और अर्थ-गौरव तथा अक्षरोंका नपा-तुलापन नहीं ला सके, जो परीक्षामुखसूत्रके सूत्रोंमें है और जो वास्तवमें एक सूत्रग्रन्थके लिए आवश्यक एवं अनिवार्य है।

यह परीक्षामुख अकलंकके गहन, गम्भीर, जटिल, दुरूह, दुर्गम और गूढार्थक वाङ्मयके अर्थ (प्रतिपाद्य विषयों) का हस्तामलकवत् बोध करानेमें कितना समर्थ है, यह प्रभाचन्द्रके निम्न प्रस्तावना-वाक्यसे प्रकट है, जो प्रमेयकमलमार्त्तण्डके आरम्भमें दिया गया है।

---

१. गम्भीरं निखिलार्थगोचरमलं शिष्यप्रबोधप्रदं,
यद्व्यक्तं पदमद्वितीयमखिलं माणिक्यनन्दिप्रभोः।—प्र. क. मा., अन्तिम प्रश., श्लो. १।

२. अकलङ्कवचोऽम्भोधेरुद्दध्रे येन धीमता।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने॥—प्रमेयर., श्लो. २।

३. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग २, किरण १, जून १९३५, पृ. १८ में प्रकाशित 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकारकी समीक्षा' शीर्षक लेख।

श्रीमदकलङ्कार्योऽप्युत्पन्नप्रज्ञैरवगन्तुं न शक्यत इति तद्व्युत्पादनाय करतलामलकवत् तदर्थमुद्धृत्य प्रतिपादयितुकामस्तत्परिज्ञानाऽनुग्रहेच्छाप्रेरितस्तदर्थप्रतिपादनप्रवणं प्रकरणमिदमाचार्यः प्राह।'

इससे परीक्षामुखसूत्रका महत्त्व स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। और टीकाकारोंके उल्लेखानुसार इस विषयमें भी कोई सन्देह नहीं रहता कि इस सूत्रग्रन्थका अकलंकके वाङ्मयपरसे उद्भव हुआ है। इसके अतिरिक्त आचार्य विद्यानन्दके प्रमाणपरीक्षा आदि ग्रन्थोंसे भी उसकी रचनामें बहुत सहायता ली गयी है।[1]

परीक्षामुखका विषय :

जैसा कि पहले कहा गया है कि इस सूत्रग्रन्थमें प्रमाण और प्रमाणाभासोंका प्रतिपादन है। इसमें ६ परिच्छेद हैं।[2] प्रथम परिच्छेदमें अन्य प्रमाण-लक्षणोंकी समीक्षा करते हुए अपने तथा अपूर्व (अगृहीत—अनिश्चित-अज्ञात) अर्थके निश्चायक सम्यग्ज्ञानको प्रमाण सिद्ध किया गया है। तथा प्रमाणके लक्षणमें दिये विशेषणोंकी सार्थकता दिखलाते हुए प्रमाणता (प्रमाणकी सत्यता—प्रामाण्य) की ज्ञप्ति और उत्पत्तिका भी विमर्श किया गया है। ज्ञप्ति (प्रमाण्यका निश्चय—सही जानकारी) अभ्यास दशा (परिचित ग्राम-तड़ागादि विषयों) में स्वतः (स्वयं) और अनभ्यस्त (अपरिचित अन्य ग्राम-तड़ागादि विषयों) में परतः (दूसरे ज्ञानादिसे) बतलाकर

---

१. आप्तपरीक्षा, प्रस्ता. पृ. २८, वीरसेवामन्दिर, १९४९। तथा यही ग्रन्थ पृ. ४०५।

२. प्रमेयकमलमार्तण्ड और प्रमेयरत्नालंकार इन दो व्याख्याओंके पुष्पिकावाक्योंमें 'परिच्छेद' और प्रमेयरत्नमालाके पुष्पिकावाक्योंमें 'समुद्देश' पदका प्रयोग है। मूल सूत्र-ग्रन्थमें किस पदका प्रयोग किया गया होगा, इसका व्याख्याओंके सिवाय अन्य कोई स्रोत ज्ञात नहीं है। सूत्र-संख्याके विषयमें भी इन व्याख्याओंमें अन्तर है। प्रमेयकमलमार्तण्डमें प्रथम परिच्छेदमें १३, द्वितीयमें १२, तृतीयमें १०१, चतुर्थमें १० + ३ = १३ (विषय और फल दोनोंको इसमें सम्मिलित कर लिया है तथा 'सामान्यं द्वेधा'॥३॥, तिर्यगूर्ध्वताभेदात् ॥४॥' ये दो सूत्र मान लिये गये हैं, जबकि प्रमेयरत्नमाला तथा प्रमेयरत्नालंकारमें उन्हें एक ही सूत्र (३।४) बताया गया है।), पाँचवेंमें ७३ ('ततोऽन्यत्तदाभासम्' ॥१॥ से 'प्रमाणतदाभासौ...' ॥७३॥ इस सूत्र तक) और षष्ठमें १ (मात्र 'सम्भवदन्यद्विचारणीयम् ॥१॥' यह अन्तिम सूत्र) इस प्रकार १३ + १२ + १०१ + १३ + ७३ + १ = २१३ सूत्र हैं। प्रमेयरत्नमालामें प्रथम समुद्देशमें १३, द्वितीयमें १२, तृतीयमें ९७ (इसमें प्रत्यभिज्ञानके ५ उदाहरणोंको एक ६ठा ही सूत्र माना है, जबकि प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा प्रमेयरत्नालंकारमें उन्हें एक-एक सूत्रका रूप दिया गया है। अतएव ४ सूत्र कम हो गये हैं), चतुर्थमें ९, पंचममें ३ और षष्ठमें ७४ सूत्र हैं। इस तरह कुल सूत्र इसमें १३ + १२ + ९७ + ९ + ३ + ७४ = २०८ हैं। प्रमेयरत्नालंकारमें प्रथम परिच्छेदमें १३, द्वितीयमें १२, तृतीयमें १०१, चतुर्थमें ९, पंचममें ३ और षष्ठमें ७४ कुल २१२ सूत्रोंकी संख्या है। इसे व्याख्याकारोंका विवक्षाभेद ही कहा जा सकता है। मूलकारके अभिप्रायमें कोई अन्तर नहीं आता।—ले.।

प्रामाण्यकी उत्पत्ति दोनों ([illegible] और [illegible]) [illegible] ([illegible] - [illegible]) से [illegible] की गयी है।

द्वितीय परिच्छेदमें प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेदोंका निर्देश करके प्रत्यक्षके स्वरूप, उसके सांव्यवहारिक और मुख्य दो भेदोंका निर्देश, उनके लक्षण, अर्थ और आलोककी ज्ञानके प्रति कारणताका निरास, [illegible] योग्यताके द्वारा ज्ञानकी प्रतिनियत अर्थव्यवस्थाका निरूपण और मुख्य प्रत्यक्षकी अतीन्द्रिय सिद्धि की गयी है।

तृतीय परिच्छेदमें परोक्ष प्रमाणके पाँच भेदोंके लक्षण और परोक्षका स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए उन (स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम) का सूत्रों द्वारा सरल और विशद निरूपण किया गया है। अनुमानका विवेचन इस परिच्छेदमें सर्वाधिक है। अनुमानके स्वार्थ और परार्थ दो भेदों, उनके प्रतिज्ञादि अवयवों, साध्य-साधनके लक्षणों, हेतुभेदों, धर्मीकी तीन प्रकारसे सिद्धि, उदाहरणादिकी आवश्यकता और प्रतिपाद्योंके अनुसार प्रयोगव्यवस्था, आगमका स्वरूप जैसे विषयोंका सूत्रोंमें विशद कथन किया गया है।

चौथे परिच्छेदमें प्रमाणके विषय (प्रमेय) का विवेचन है। सामान्यैकान्त, विशेषैकान्त और परस्परनिरपेक्ष उभयैकान्तकी समीक्षा करते हुए सामान्य-विशेषात्मक वस्तुको प्रमाणका विषय सिद्ध किया है। साथ ही सामान्य और विशेषके दो-दो भेदोंका तथा उनका स्वरूप भी निरूपित है।

पाँचवें परिच्छेदमें प्रमाणके फलका निर्देश है। जो प्रमाणसे फलको सर्वथा भिन्न अथवा सर्वथा अभिन्न स्वीकार करते हैं उनकी मीमांसा कर उसे प्रमाणसे कथंचिद् भिन्न और कथंचिद् अभिन्न सहेतुक सिद्ध किया है।

छठे परिच्छेदमें प्रमाणाभासके स्वरूपाभास, संख्याभास, विषयाभास व फलाभास, संख्याभासके प्रत्यक्षाभास और परोक्षाभास दो भेद निरूपित करके परोक्षाभासके अवान्तर भेदों—स्मृत्याभास, प्रत्यभिज्ञानाभास, तर्काभास, अनुमानाभास और आगमाभासका प्रतिपादन किया गया है। अनुमानाभासके पक्षाभास, हेत्वाभास, अवयवाभास और दृष्टान्ताभास भी विशदतया वर्णित हैं। परिच्छेदके अन्तमें अन्य सम्भव नय जैसे ज्ञानोपायों तथा जय-पराजयकी व्यवस्थाको भी विचारणीय बतलाया है।

व्याख्याएँ :

(१) प्रमेयकमलमार्त्तण्ड—परीक्षामुखपर कई व्याख्याएँ रची गयी हैं। इनमें सबसे बड़ी, विशाल और आद्य व्याख्या प्रमेयकमलमार्त्तण्ड है, जिसके रचयिता प्रसिद्ध तार्किक प्रभाचन्द्राचार्य हैं। यह व्याख्या १२००० श्लोक प्रमाण है। इस व्याख्याकी प्रशंसा करते हुए उत्तरवर्ती टीकाकार लघु अनन्तवीर्यने उसे 'उदार-चन्द्रिका' की उपमा दी है और उसके सामने अपनी टीका 'प्रमेयरत्नमाला' को जुगुनूके प्रकाशके समान बताया है[१]।

---

१. प्रभेन्दुवचनोदारचन्द्रिकाप्रसरे सति ।
मादृशाः क्व नु गण्यन्ते ज्योतिरिङ्गणसन्निभाः ॥ —प्रमेयर. श्लो. ३, पृ. ४ ।

(२) प्रमेयरत्नमाला—दूसरी टीका 'प्रमेयरत्नमाला' है, जिसे प्रभाचन्द्रके कुछ ही काल बाद लघु अनन्तवीर्य (ईसाकी १२वीं शती) ने लिखा है। यह व्याख्या अत्यन्त विशद, सरल और मध्यम परिमाणकी है। इसकी रचनाका प्रयोजन बतलाते हुए अनन्तवीर्य लिखते हैं[1] कि 'यद्यपि प्रभाचन्द्रकी वचन (प्रमेयकमलमार्त्तण्ड) रूप उदार चाँदनीके सामने जुगुनूके सदृश मेरी प्रमेयरत्नमालाको कौन पूछेगा, तथापि जिस प्रकार नदीका नवीन घटमें भरा हुआ मधुर जल सज्जनोंके चित्तका हरण करनेवाला होता है, उसी प्रकार प्रभाचन्द्रके वचन ही इस मेरी प्रमेयरत्नमालारूप नयी रचनामें होनेके कारण वह सज्जनोंके मनको हरण करेगी।' इसमें सन्देह नहीं कि यह व्याख्या मन्दप्रज्ञोंके लिए बड़ी ही बोधप्रद है। इस व्याख्याको स्वयं अनन्तवीर्यने[2] 'परीक्षामुखपञ्जिका' कहा है, जिसका अर्थ है पदोंको तोड़-तोड़कर अर्थ करना। यथार्थमें अनन्तवीर्यने परीक्षामुखके सूत्रोंका इसी प्रकार अर्थ किया है और सन्दर्भ पाकर विशेष विवेचन भी किया है। इसकी विशेषता यह है कि प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें जिन विषयोंका विस्तृत कथन है उनका प्रमेयरत्नमालामें संक्षेपमें विशद प्रतिपादन है। अतएव इसे 'परीक्षामुखलघुवृत्ति' भी कहा गया है।

(३) प्रमेयरत्नालंकार—इसकी तीसरी व्याख्या 'प्रमेयरत्नालंकार'[3] है, जिसकी रचना पण्डिताचार्य अभिनव चारुकीर्तिने की है। इसमें अनेक स्थलोंपर नव्यन्यायका बड़ा ही सुन्दर समावेश है और इस दृष्टिसे न्यायशास्त्रके जिज्ञासुओं और छात्रोंके लिए यह व्याख्या बड़ी सहायक है।

(४) न्यायमणिदीपिका—चौथी व्याख्या अजितसेनाचार्यकी 'न्यायमणि-दीपिका' है,[4] जिसका उल्लेख प्रमेयरत्नालंकार (पृ. १८१) में भी किया गया है। पं. भुजबलि शास्त्री द्वारा सम्पादित और जैन सिद्धान्त भवन, आरासे प्रकाशित प्रशस्तिसंग्रह (पृ १) में इसके आदि-अन्तके अंशोंको देकर इस व्याख्याका कुछ परिचय दिया है।

(५) प्रमेयकण्ठिका—पाँचवीं व्याख्या शान्तिवर्णीकी 'प्रमेयकण्ठिका' है[5]। यह वास्तवमें परीक्षामुखके प्रथम सूत्र 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्' की ही मात्र व्याख्या है। किन्तु इसमें पाँच स्तबकों द्वारा प्रमाणशास्त्रके सभी प्रमुख विषयों—प्रमाणका लक्षण, प्रमाणका फल, प्रामाण्य, प्रमाणका विषय, सर्वज्ञत्व आदिका संक्षेपमें कथन किया गया है।

---

१. प्रभेन्दुवचनोदारचन्द्रिकाप्रसरे सति ।
मादृशाः क्व नु गण्यन्ते ज्योतिरिङ्गणसन्निभाः ॥
तथापि तद्वचोऽपूर्वरचनारुचिरं सताम् ।
चेतोहरं भृतं यद्वन्नद्या नवघटे जलम् ॥ —प्रमेयर. श्लो. ३, ४; पृ. ४ ।

२. शान्तिषेणार्यमारब्धा परीक्षामुखपञ्जिका । —वही, श्लो. ५, पृ. ५ ।

३. इसका प्रकाशन सन् १९४८ में मैसूरसे हो चुका है।

४. यह अभी अप्रकाशित है।

५. इसका प्रकाशन सन् १९७२ में वीर-सेवामन्दिर-ट्रस्टसे हो चुका है।

प्रमेयरत्नमालापर पण्डिताचार्य चारुकीर्तिकी लिखी 'अर्थप्रकाशिका' नामकी भी एक व्याख्या उपलब्ध है, जिसका अभी प्रकाशन नहीं हुआ है और जिसकी पाण्डुलिपि जैन सिद्धान्त भवन, आरामें विद्यमान है। इसका आदि-अन्त भाग देकर भवनसे प्रकाशित प्रशस्तिसंग्रहमें परिचय दिया गया है। हमने आप्तपरीक्षाकी प्रस्तावना (पृ २७) मे भी इसका निर्देश किया है।

देवसूरिने तो इस मूल-ग्रन्थके आधारसे अपना एक नया ही न्यायसूत्र 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार' नामका रचा है। इसमें उन्होंने परीक्षामुखका शब्दशः और अर्थतः पूर्णतया अनुसरण किया है। हेमचन्द्रने भी प्रमाणमीमांसाके सूत्रोंके निर्माणमें इसके सूत्रों और प्रमेयरत्नमालाका पूरा उपयोग किया है।

निष्कर्ष यह कि जैन न्याय-साहित्यको बहुमूल्य और महत्त्वपूर्ण कृतियोंमें 'परीक्षामुख'का गौरवपूर्ण स्थान है और यह बेजोड़ कृति है।

परीक्षामुखका उद्गम :

ऊपरके विवेचनमें यह कहा जा चुका है कि प्रमेयरत्नमालाकार लघु अनन्तवीर्यके उल्लेखानुसार आचार्य माणिक्यनन्दिने अकलंकके वाङ्मयके हार्दको अवगत करनेके लिए उसका मन्थन कर 'परीक्षामुख' रचा है। इस (परीक्षामुख)के द्वारा अकलंकके न्यायग्रन्थोंमें, जो दुरवगाह और अत्यन्त दुरूह हैं, प्रवेश सम्भव है। अतः प्रस्तुतमें विचारणीय है कि परीक्षामुख अकलंकदेवके किन ग्रन्थोंके अध्ययनका परिणाम है? अकलंकके अष्टशती, तत्त्वार्थवार्तिक, लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय और प्रमाणसंग्रह तथा उनकी स्वोपज्ञ वृत्तियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। उनका सिद्धिविनिश्चय, जिसका उद्धार उसपर लिखी गयी बृहद् अनन्तवीर्यकी सिद्धिविनिश्चयटीकापरसे अभी तक नहीं हो पाया है और जिसकी स्वतन्त्र प्रति कहीं अन्यत्र उपलब्ध नहीं है, प्रकाशमें नहीं आ सका है[1]। अतः अकलंकके उपलब्ध वाङ्मयपरसे ही परीक्षामुखके सूत्रोंके उद्गम स्थानको तुलनात्मक आधारपर प्रस्तुत किया जाता है। तुलनामें परीक्षामुखके सूत्रोंको कुछ बड़े टाइपमें ऊपर रखा गया है और अकलंकके ग्रन्थोंके आधारवाक्योंको उनके नीचे कुछ छोटे टाइपमें दिया गया है।

प्रथम परिच्छेद

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ॥१॥

१. प्रमाणमविसंवादिज्ञानं अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्।

—अष्टशती, देवा. कारिका ३६।

२. प्रकृतस्यापि न वै प्रमाणत्वं प्रतिषेध्यमनिर्णीतनिर्णायकत्वात्।

—अष्टश. देवा. का. १०१।

---

१. अब यह ग्रन्थ भी भारतीय ज्ञानपीठसे सन् १९५९ में अनन्तवीर्य (बृहद्) को टीकाके साथ प्रकाशित हो चुका है। पर तुलनामें उसे नहीं लिया जा सका, क्योंकि यह लेख उससे पहले लिखा गया था। —लेखक।

३. व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम् । —लघीयस्त्रय, कारि. ६० ।
ग्रहणं निर्णयस्तेन मुख्यं प्रामाण्यमश्नुते ॥ —लघी. का. ५२ ।
४. ज्ञानं प्रमाणमात्मादेः
५. लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धज्ञानं प्रमाणमनिश्चितनिश्चयात् । —अष्टश. देवा. का. १०१ ।

हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ॥२॥
—न्यायविनिश्चय का. ४ ।
१. हिताहितार्थिनिर्मुक्तिक्षमम् । —लघी विवृ. का. ६१ ।
२. हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं ।
३. हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थे द्वे एव प्रमाणे । —प्रमाणसंग्रहविवृति का. २ ।

तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वादनुमानवत् ॥३॥
१. सति मुख्ये निर्णयात्मके ज्ञाने सकलव्यवहारनियामके । —लघी. वि. का. ६ ।
—अष्टश. देवा. का. ६ ।
२. समारोपव्यवच्छेदाविशेषात् ।
—अष्टश. देवा. का. १०१ ।

अनिश्चितोऽपूर्वार्थः ॥४॥ —अष्टश. देवा. का. १०१ ।
१. अनिश्चितनिश्चयात् ।
२. अनिर्णीतनिर्णायकत्वात् । —न्यायवि. का. ४७१ ।

दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक् ॥५॥
१. प्रत्यक्षेऽर्थेऽन्यथारोपव्यवच्छेदप्रसिद्धये । —लघी. वि. का २२ ।
२. कथमन्यथा दृष्टे प्रमाणान्तरवृत्तिः कृतस्य करणायोगात् । —अष्टश. देवा. का. १४ ।
३. गृहीतस्यापि तादृशस्यागृहीतकल्पत्वात् ।

स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः ॥६॥
१. स्वतोऽव्यवसायस्य विकल्पोत्पादने प्रत्यनङ्गत्वात् ।—लघी. वि. का. ६० ।
२. स्वसंवेद्यं विकल्पानां विशदार्थावभासनम् । —लघी. का. २३ ।
३. यदि च विज्ञान स्वात्मानं न विजानीयादुत्तरकालमनधिगतस्वात्म-विज्ञानः कथं ब्रूयात् 'ज्ञोऽहमिति' । —त. वा. पृ. ३६ ।
४. अध्यक्षमात्मविज्ञानमपरत्रानुमानिकम् ।
अन्यथा विषयालोकव्यवहारविलोपतः ॥ —न्या. वि. का. १३ ।

को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छँस्तदेव तथा नेच्छेत् ॥१६॥
असिद्धसिद्धेरप्यर्थः सिद्धश्चेदखिलं जगत् ।
सिद्धे तत्किमतो ज्ञेयं सैव (धीः) किन्नानुपाधिका ॥ —न्या. वि. का. १८ ।

प्रदीपवत् ॥१२॥
अनवस्थेति चेन्न दृष्टत्वात्प्रदीपवत् ।...दृष्टो हि प्रदीपो घटादीनां प्रकाशव[...]
स्वस्य च । —त. वार्तिक पृ. ३५

तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च ॥१३॥

१. प्रमाणमर्थसंवादात् । —प्र. सं. का. १०।
२. प्रामाण्यं व्यवहाराद्धि । —लघी. का. ४१।
३. यद्यथैवाविसंवादि प्रमाणं तत्तथा मतम् । —लघी. का २२।
४. तिमिराद्युपप्लवज्ञानं चन्द्रादावविसंवादकं प्रमाणं यथा, तत्संख्यादौ विसंवादकत्वादप्रमाणं, प्रमाणेतरव्यवस्थायाः तल्लक्षणत्वात् । —लघी. वि. का. २२।

द्वितीय परिच्छेद

तद्द्वेधा ॥१॥ प्रत्यक्षेतरभेदात् ॥२॥

१. तत्प्रत्यक्षं परोक्षं च द्विधैव... । —लघी. का. ६१
२. तत्समञ्जसं प्रत्यक्षं परोक्षं चेति द्वे एव प्रमाणे । —लघी. वि. का. २१
३. द्वे एव प्रमाणे इति शास्त्रार्थस्य संग्रहः । —प्रमा. सं. वि. का. २

विशदं प्रत्यक्षम् ॥३॥

१. प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं....... । —लघी. का. ३
२. प्रत्यक्षं विशदज्ञानं...... । —प्रमा. सं. का. २
३. ज्ञानस्यैव विशदनिर्भासिनः प्रत्यक्षत्वम् । —लघी. वि. का. ३
४. प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा । —न्या. वि. का. ३

प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम् ॥४॥

१. अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम् ।
२. तद्वैशद्यं मतं बुद्धेः....... । —लघी. का. ४

इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम् ॥५॥

१. तत्र सांव्यवहारिकम् इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम् । —लघी. वि. का. ४
२. यद्देशतोऽर्थज्ञानं तदिन्द्रियाध्यक्षमुच्यते । —न्या. वि. का. ४
३. तस्य इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वात् । —लघी. वि. का. ५२

नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् ॥६॥

१. न हि तत्परिच्छेद्योऽर्थः तत्कारणतामात्मसात्कुर्यात् ।—लघी. वि. का. ५२
२. नार्थः कारणं विज्ञानस्य । —लघी. वि. का. ५८
३. अर्थस्य तदकारणत्वात् । —लघी. वि. का. ५२
४. आलोकोऽपि न कारणं परिच्छेद्यत्वादर्थवत् । —लघी. वि. का. ५९
५. न हि तमः चक्षुर्ज्ञानप्रतिषेधकम्, तमोविज्ञानाभावप्रसङ्गात् । —लघी. वि. का. ५६
६. तमोवत् । —लघी. वि. का. ५६

तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च केशोण्डुकज्ञानवन्नक्तंचरज्ञानवच्च ॥७॥

१. अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थश्चेत्कारणं विदः । —लघी. का. ५४ ।
संशयादिविदुत्पादः कौतस्कुत इतीष्यताम् ? ॥
२. तामसखगकुलानां तमसि सति रूपदर्शनं......मुमूर्षाणां यथासम्भवमर्थे सत्यपि विपरीतप्रतिपत्तिसद्भावात् नार्थादयः कारणं ज्ञानस्येति स्थितम् ।
—लघी. वि. का. ५७ ।

अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकं प्रदीपवत् ॥८॥

१. न तज्जन्म न तादूप्यं न तद्व्यवसितिः सह । —लघी. का. ५२ ।
प्रत्येक वा भजन्तीह प्रामाण्यं प्रति हेतुताम् ॥ —लघी. वि. का. ५२ ।
२. प्रदीपस्येव घटादिः ।

वरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति
त्यक्षमिति शेषः) ॥९॥

१. प्रत्यर्थमावरणविच्छेदापेक्षया ज्ञानस्य परिच्छेदकत्वात् । —लघी. वि. का. १६ ।
२. यथास्वं कर्मक्षयोपशमापेक्षणी करणमनसी निमित्तं विज्ञानस्य न बहिरर्थादयः । —लघी. वि. का. ५७ ।
३. मलविद्धमणिव्यक्तिर्यथाऽनेकप्रकारतः । —लघी का. ५७ ।
कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथानेकप्रकारतः ॥

नस्य च परिच्छेद्यत्वे करणादिना व्यभिचारः ॥१०॥

१. उत्पन्नस्यापि न कारणे व्यापारः करणादिवत् । —लघी. वि. का ५३ ।
२. अयमर्थ इति ज्ञानं विद्यान्नोत्पत्तिमर्थतः । —लघी. का. ५३ ।
अन्यथा न विवादः स्यात् कुलालादिघटादिवत् ॥
३. यदि कारणकार्यभावमात्मार्थयोविज्ञानं परिच्छिन्द्यात् न कश्चिद्विप्रतिपत्तुमर्हति कर्तृकरणकर्मसु । —लघी. वि. का. ५३ ।

सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम् ॥११॥

१. लक्षणं सममेतावान् विशेषोऽशेषगोचरम् ।
अक्रमं करणातीतमकलङ्कं महीयसाम् ॥
—न्या. वि. का. १६८ रे, प्रमा. सं. का. [illegible]
—प्रमा. सं. का. [illegible]
२. परं ज्योतिरनाभासं सर्वतो भासमक्रमम् ।
३. सकलज्ञानावरणपरिक्षये तु निराभासं, सामान्यविशेषात्मनोऽयुगपत्[illegible] भासायोगात् ।
—प्रमा. सं. वि. का. [illegible]
—लघी. वि. का[illegible]
४. मुख्यमतीन्द्रियज्ञानम् ।
५. ज्ञस्यावरणविच्छेदे ज्ञेयं किमवशिष्यते ।
अप्राप्यकारिणस्तस्मात्सर्वार्थावलोकनम् ॥
—न्या. वि. का. [illegible]

तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च ॥१३॥

१. प्रमाणमर्थसंवादात्। —प्र. सं. का. १०।

२. प्रामाण्यं व्यवहाराद्धि। —लघी. का. ४१।

३. यद्यथैवाविसंवादि प्रमाणं तत्तथा मतम्। —लघी. का २२।

४. तिमिराद्युपप्लवज्ञानं चन्द्रादावविसंवादकं प्रमाणं यथा, तत्संख्यादौ विसंवादकत्वादप्रमाणं, प्रमाणेतरव्यवस्थायाः तल्लक्षणत्वात्। —लघी. वि. का. २२।

द्वितीय परिच्छेद

तद्द्वेधा ॥१॥ प्रत्यक्षेतरभेदात् ॥२॥

१. तत्प्रत्यक्षं परोक्षं च द्विधैव...। —लघी. का. ६१।

२. तत्समञ्जसं प्रत्यक्षं परोक्षं चेति द्वे एव प्रमाणे। —लघी. वि. का. २१।

३. द्वे एव प्रमाणे इति शास्त्रार्थस्य संग्रहः। —प्रमा. सं. वि. का. २।

विशदं प्रत्यक्षम् ॥३॥

१. प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं......। —लघी. का. ३।

२. प्रत्यक्षं विशदज्ञानं......। —प्रमा. सं. का. २।

३. ज्ञानस्यैव विशदनिर्भासिनः प्रत्यक्षत्वम्। —लघी. वि. का. ३।

४. प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा। —न्या. वि. का. ३।

प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम् ॥४॥

१. अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्।

२. तद्वैशद्यं मतं बुद्धेः......। —लघी. का. ४।

इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम् ॥५॥

१. तत्र सांव्यवहारिकम् इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम्। —लघी. वि. का. ४।

२. यद्देशतोऽर्थज्ञानं तदिन्द्रियाध्यक्षमुच्यते। —न्या. वि. का. ४।

३. तस्य इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वात्। —लघी. वि. का. ५२।

नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् ॥६॥

१. न हि तत्परिच्छेद्योऽर्थः तत्कारणतामात्मसात्कुर्यात्। —लघी. वि. का. ५२।

२. नार्थः कारणं विज्ञानस्य। —लघी. वि. का. ५८।

३. अर्थस्य तदकारणत्वात्। —लघी. वि. का. ५२।

४. आलोकोऽपि न कारणं परिच्छेद्यत्वादर्थवत्। —लघी. वि. का. ५५।

५. न हि तमः चक्षुर्ज्ञानप्रतिषेधकम्, तमोविज्ञानाभावप्रसङ्गात्। —लघी. वि. का. ५६।

६. तमोवत्। —लघी. वि. का. ५६।

न्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च केशोण्डुकज्ञानवन्नक्तंचरज्ञानवच्च ॥७॥

१. अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थश्चेत्कारणं विदः । —लघी. का. ५४ ।
संशयादिविदुत्पादः कौतस्कुत इतीष्यताम् ? ॥
२. तामसखगकुलानां तमसि सति रूपदर्शनं......मुमूर्षूणां यथासम्भवमर्थे —लघी. वि. का. ५७ ।
सत्यपि विपरीतप्रतिपत्तिसद्भावात् नार्थादयः कारणं ज्ञानस्येति स्थितम् ।

अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकं प्रदीपवत् ॥८॥

१. न तज्जन्म न ताद्रूप्यं न तद्व्यवसितिः सह । —लघी. का. ५२ ।
प्रत्येक वा भजन्तीह प्रामाण्यं प्रति हेतुताम् ॥ —लघी. वि. का. ५२ ।
दीपस्येव घटादिः ।

ोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति
ति शेषः) ॥९॥

. प्रत्यर्थमावरणविच्छेदापेक्षया ज्ञानस्य परिच्छेदकत्वात् । —लघी. वि. का. ९६ ।

२. यथास्वं कर्मक्षयोपशमापेक्षिणी करणमनसी निमित्तं विज्ञानस्य न —लघी. वि. का. ५७ ।
बहिरर्थादयः ।
३. मलविद्धमणिव्यक्तिर्यथाऽनेकप्रकारतः । —लघी. का. ५७ ।
कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथानेकप्रकारतः ॥

ानस्य च परिच्छेद्यत्वे करणादिना व्यभिचारः ॥१०॥

१. उत्पन्नस्यापि न कारणे व्यापारः करणादिवत् । —लघी. वि. का ५३ ।
२. अथमर्थ इति ज्ञानं विद्यान्नोत्पत्तिमर्थतः । —लघी. का. ५३ ।
अन्यथा न विवादः स्यात् कुलालादिघटादिवत् ॥
३. यदि कारणकार्यभावमात्माथंयोविज्ञानं परिच्छिन्द्यात् न कश्चिद्विप्रति- —लघी. वि. का. ५३ ।
पत्तुमर्हति कर्तृकरणकर्मसु ।

सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम् ॥११॥

१. लक्षणं सममेतावान् विशेषोऽशेषगोचरम् ।
अक्रमं करणातीतमकलङ्कं महीयसाम् ॥
—न्या. वि. का. १६८ २, प्रमा. सं. का. ९ ।
—प्रमा. सं. का. ८ ।
२. परं ज्योतिरनाभासं सर्वतो भासमक्रमम् ।
३. सकलज्ञानावरणपरिक्षये तु निराभासं, सामान्यविशेषात्मनोऽयुगपत्प्रति- —प्रमा. सं. वि. का. ८
भासायोगात् । —लघी. वि. का. ४
४. मुख्यमतीन्द्रियज्ञानम् ।
५. ज्ञस्यावरणविच्छेदे ज्ञेयं किमवशिष्यते । —न्या. वि. का. ४६
अप्राप्यकारिणस्तस्मात्सर्वार्थावलोकनम् ॥

न्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च केशोण्डुकज्ञानवन्नक्तंचरज्ञानवच्च ॥७॥

१. अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थश्चेत्कारणं विदः । —लघी. का. ५४ ।
संशयादिविदुत्पादः कौतस्कुत इतीष्यताम् ? ॥
२. तामसखगकुलानां तमसि सति रूपदर्शनं......मुमूर्षाणां यथासम्भवमर्थे सत्यपि विपरीतप्रतिपत्तिसद्भावात् नार्थादयः कारणं ज्ञानस्येति स्थितम् । —लघी. वि. का. ५७ ।

तत्प्रकाशकं प्रदीपवत् ॥८॥

तज्जन्म न ताद्रूप्यं न तद्व्यवसितिः सह । —लघी का. ५२ ।
त्येक वा भजन्तीह प्रामाण्यं प्रति हेतुताम् ॥ —लघी. वि. का. ५२ ।
प्रदीपस्येव घटादिः ।

योपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति
ति दोषः) ॥९॥

. प्रत्यर्थमावरणविच्छेदापेक्षया ज्ञानस्य परिच्छेदकत्वात् । —लघी. वि. का. ५६ ।
निमित्तं विज्ञानस्य न —लघी. वि. का. ५७ ।

२. यथास्वं कर्मक्षयोपशमापेक्षिणी करणमनसी बहिरर्थादयः । —लघी. का. ५७ ।
३. मलविद्धमणिव्यक्तिर्यथाऽनेकप्रकारतः ।
कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथानेकप्रकारतः ॥

णस्य च परिच्छेद्यत्वे करणादिना व्यभिचारः ॥१०॥

१. उत्पन्नस्यापि न कारणे व्यापारः करणादिवत् । —लघी. वि. का. ५३ ।
२. अयमर्थ इति ज्ञानं विद्यान्नोत्पत्तिमर्थतः । —लघी. का ५३ ।
अन्यथा न विवादः स्यात् कुलालादिघटादिवत् ॥
३. यदि कारणकार्यभावमात्मार्थयोर्विज्ञानं परिच्छिन्द्यात् न कश्चिद्विप्रतिपत्तुमर्हति कर्तृकरणकर्मसु । —लघी. वि. का. ५३ ।

सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम् ॥११॥

१. लक्षणं सममेतावान् विशेषोऽशेषगोचरम् ।
अक्रमं करणातीतमकलङ्कं महीयसाम् ॥
—न्या. वि. का. १६८ दे, प्रमा. सं. का. ९ ।
२. परं ज्योतिरनाभासं सर्वतो भासमक्रमम् । —प्रमा. सं. का. ८ ।
३. सकलज्ञानावरणपरिक्षये तु निराभासं, सामान्यविशेषात्मनोऽयुगपत्प्रतिभासायोगात् । —प्रमा. सं. वि. का. ८ ।
४. मुख्यमतीन्द्रियज्ञानम् । —लघी. वि. का. ४
५. ज्ञस्यावरणविच्छेदे ज्ञेयं किमवशिष्यते ।
अप्राप्यकारिणस्तस्मात्सर्वार्थावलोकनम् ॥ —न्या. वि. का. ४६५

सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबन्धसम्भवात् ॥१२॥

१. सर्वान्तरप्रदेशेषु स्यात्तद्भेदप्रकल्पना ।
संसारिणां तु जीवानां यत्र ते चक्षुरादयः ॥
साक्षात्कर्तुं विरोधः कः सर्वथावरणात्यये ? ।
सत्यमर्थं तथा सर्वं यथाऽभूद्वा भविष्यति ॥ —न्या. वि. का. ३६१, ३६२।

तृतीय-परिच्छेद

परोक्षमितरत् ॥१॥

इतरस्य परोक्षता । —लघी. वि. का. ३।

प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम् ॥२॥

१. परोक्षं शेषविज्ञानम् । —लघी. का. ३।

२. ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधिकम् ।
प्राङ्नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ॥ —लघी. का. १०।

३. अविसंवादस्मृतेः फलस्य हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा । स्मृतिः संज्ञायाः प्रत्यवमर्शस्य । संज्ञा चिन्तायाः तर्कस्य । चिन्ता अभिनिबोधस्य अनुमानादेः । —लघी. वि. का. १०।

संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः ॥३॥

१. प्रमाणमर्थसंवादात् प्रत्यक्षान्वयिनी स्मृतिः । —प्रमा. सं. का. १०।

२. स्मृतिहेतुर्धारणा संस्कार इति यावत् । —लघी. वि. का. ६।

दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानम् ।
तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि ॥५॥

१. संज्ञायाः प्रत्यवमर्शस्य (संज्ञा प्रत्यवमर्शः) । —लघी. वि. का. १०।

२. उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात्साध्यसाधनम् ।
तद्वैधर्म्यात्प्रमाणं किं स्यात् संज्ञिप्रतिपादनम् ॥ —लघी. का. १९।

३. प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा सम्बन्धप्रतिपद्यतः ।
तत्प्रमाणं न चेत्सर्वमुपमानं कुतस्तथा ॥ —लघी. का. २०।

यथा स एवायं देवदत्तः ॥६॥ गोसदृशो गवयः ॥७॥
गोविलक्षणो महिषः ॥८॥ इदमस्माद्दूरम् ॥९॥ वृक्षोऽयमित्यादि ॥१०॥

१. गौरिव गवयः इति श्रुत्वा गवयदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिवत् गवयोऽयमिति (ज्ञानं) यथा गवयदर्शिनः, (प्रमाणान्तरम्) प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसिद्धेरभावात् (तथा) वृक्षोऽयमिति ज्ञानं वृक्षदर्शिनः प्रमाणान्तरम् । प्रत्यक्षेषु इतरेषु तिर्यक्षु तस्यैव पुनरगवयनिश्चयः किन्नाम प्रमाणं ? हानोपादानोपेक्षाप्रतिपत्तिफलं नाप्रमाणं भवितुमर्हति । —लघी. वि का. १९।

२. इदमल्पं महद्दूरमासन्नं प्रांशु नेति वा ।
व्यपेक्षातः समक्षेऽर्थे विकल्पः साधनान्तरम् ॥ —लघी. का. २१।

लम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ॥११॥ —प्रमा. सं. का. १२।

१. सम्भवप्रत्ययस्तर्कः प्रत्यक्षानुपलम्भतः।
२. समक्षविकल्पानुस्मरणपरामर्शसम्बन्धाभिनिबोधस्तर्कः प्रमाणम्। —प्रमा सं. वि. का. १२।

३. अविकल्पधिया लिंगं न किञ्चित्सम्प्रतीयते। —लघी. का. ११।
नानुमानादसिद्धत्वात् प्रमाणान्तरमाञ्जसम्॥ —लघी. वि का. ११।
४. लिंगप्रतिपत्तेः प्रमाणान्तरत्वात्। —लघी. वि. का. ११।
५. न हि साकल्येन लिंगस्य लिंगिना व्याप्तेरसिद्धौ क्वचित् किञ्चिदनुमानं नाम।

त्यक्षानुपलम्भाभ्यां यदि तत्त्वं प्रतीयते। —न्या. वि. का. ३२७।
न्यथानुपपन्नत्वमतः किन्न प्रतीयते॥

ाध्यविज्ञानमनुमानम् ॥१४॥ —न्या. वि. का. १७०।
धनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्।

नाभावित्वेन निश्चितो हेतुः ॥१५॥ —लघी. का. १२।
१. लिंगात्साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात्। —न्या. वि. का. १७६।
२ अन्यथानुपपत्तिमान् हेतुरेव। —न्या. वि. २६९, प्रमा. सं. का. २१।
३. साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नम्।

क्रमभावनियमोऽविनाभावः ॥१६॥ —प्रमा सं. वि. १९।
१. साध्याविनाभावे सहक्रमसंयोगलक्षणे। —न्या. वि. का. ३३०।
२. सहदृष्टेश्च धर्मस्तत्र विना तस्य संभवः।

सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः ॥१७॥ —प्रमा सं. वि. का. ३०।
१. युगपद्भाविनामजन्यजनकसहभावनियमः।

तर्कात्तन्निर्णयः ॥१९॥
१. सत्यप्यन्वयविज्ञाने स तर्कपरिनिष्ठितः।
अविनाभावसम्बन्धः साकल्येनावधार्यते॥
सहदृष्टेश्च धर्मस्तत्र विना तस्य संभवः। —न्या. वि. का. ३२९, ३३०।
इति तर्कमपेक्षेत नियमेनैव लैङ्गिकम्॥ —प्रमा. सं. वि. का. ३३।
२. साकल्येन व्याप्तिः परीक्षातः। —लघी. का. ४९
३. व्याप्तिं साध्येन हेतोः स्फुटयति न विना चिन्तयैकत्र दृष्टिः
साकल्येनैव तर्कोऽनधिगतविषयः— —अष्टश., देवा का. ६
४. परोक्षान्तर्भाविना नस्तर्केण सम्बन्धो व्यवतिष्ठेत।

इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम् ॥२०॥

साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धम् । —न्या. वि. का. १७२, प्रमा. सं. का. २०

संदिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां साध्यत्वं यथा स्यादित्यसिद्धपदम् ॥२१॥

अव्युत्पन्नविपर्यस्तसंशयितोऽर्थः साध्यः । —प्रमा. सं. वि. का. २०

को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति ॥३६॥

त्रिलक्षणमभिधाय यदि समर्थयते तथापि [illegible] ।

—अष्टश., देवा. का. ७

एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम् ॥३७॥

बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ न वादेऽनुपयोगात् ॥४६॥

सर्वत्रैव न दृष्टान्तोऽनन्वयेनापि साधनात् । —न्या. वि. का ३८१

दृष्टान्तो द्वेधा अन्वयव्यतिरेकभेदात् ॥४७॥

साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः ॥४८॥

साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः ॥५०॥

सम्बन्धो यत्र निर्ज्ञातः साध्यसाधनधर्मयोः ।
स दृष्टान्तः.......॥ —न्या. वि. का. ३८०

स हेतुर्द्वेधोपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात् ॥५७॥

उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च ॥५८॥

१. यथा कार्यं स्वभावो वाप्यन्यथाऽऽशङ्कुसंभवः ।
हेतुश्चानुपलम्भोऽयं तथैवेत्यनुगम्यताम् ॥
प्रत्यक्षानुपलम्भश्च विधानप्रतिषेधयोः ।
अन्तरेणैव सम्बन्धमहेतुरिव लक्ष्यते ॥ —न्या. वि. का. ३३५, ३३६

२. नानुपलब्धिरेव अभावसाधनी । —प्रमा. सं. वि. का. ३०

अविरुद्धोपलब्धिर्विधौ षोढा व्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरभेदात् ॥५९॥

सत्प्रवृत्तिनिमित्तानि स्वसम्बन्धोपलब्धयः । —प्रमा. सं. का. २९

रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित्कारणं हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये ॥६०॥

न पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा कालव्यवधाने तदनुपलब्धेः ॥६१॥

सहचारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थानात्सहोत्पादाच्च ॥६४॥

१. न हि वृक्षादिः छायादेः स्वभावः कार्यं वा । न चात्र विसंवादोऽस्ति ।
—लघी. वि. का. १

२. *अन्यथाऽसम्भवो ज्ञातो यत्र तत्र त्रयेण किम्* । —प्रमा. सं. का. २९

३. भविष्यत्प्रतिपद्येत शकटं कृत्तिकोदयात् ।
श्वः आदित्य उदेतेति ग्रहणं वा भविष्यति ॥ —लघी. का. १४

४. तुलोन्नामरसादीनां तुल्यकालतया न हि ।
नामरूपादिहेतुत्वं तादात्म्यं सहचारतः ॥ —प्रमा. सं. का. ३८ ।

५. तुलोन्नामरसादीनां तुल्यकालतया न हि ।
नामरूपादिहेतुत्वं न च तद्व्यभिचारिता ॥
तादात्म्यं तु कथञ्चित् स्यात् ततो हि न तुलान्तयोः ।
—न्या. वि. का. ३३८, ३३९ ।

णामी शब्दः कृतकत्वात्, य एवं स एवं दृष्टो यथा घटः, कृतकश्चायं तस्मात्परिणामी, यस्तु न परिणामी स न कृतको दृष्टो यथा वन्ध्यास्तनन्धयः, कृतकश्चायं, तस्मात्परिणामी ॥६५॥

१. व्याप्यसिद्धिरविरोधेन व्यापकसाधनी । यथा अनित्यं कृतकत्वात् ।
—प्रमा. सं. वि. का. ३१ ।

२. (अविरुद्ध) स्वभावोपलब्धिः—यथा अस्त्यात्मोपलब्धेः ।
—प्रमा. सं. वि. का २९ ।

अस्त्यत्र देहिनि बुद्धिर्व्याहारादेः ॥६६॥

१. (अविरुद्ध) स्वभावकार्योपलब्धिः-अभूदात्मा स्मरणात् ।
—प्रमा. सं. वि. का. २९ ।

अस्त्यत्र छाया छत्रात् ॥६७॥

१. (अविरुद्ध) स्वभावकारणोपलब्धिः-भविष्यति आत्मा सत्त्वात् ।
—प्रमा. सं. वि. का. २९ ।

२. न हि वृक्षादिः छायादेः स्वभावः कार्यं वा । न चात्र विसंवादोऽस्ति ।
—लघी. वि. का. १२ ।

उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात् ॥६८॥
उदगाद्भरणिः प्राक्तत एव ॥६९॥

उदेष्यति शकटं उदगाद्भरणिः कृत्तिकोदयादिति ।
—प्रमा. सं वि. का. २९ ।

अस्त्यत्र मातुलिङ्गे रूपं रसात् ॥७०॥

सहचरोपलब्धिः अस्त्यात्मास्पर्शादिविशेषात् । —प्रमा. सं. वि का. २९ ।

विरुद्धतदुपलब्धिः प्रतिषेधे तथा ॥७१॥

सद्वृत्तिप्रतिषेधाय तद्विरुद्धोपलब्धयः । —प्रमा. सं. का. ३० ।

नास्त्यत्र शीतस्पर्श औष्ण्यात् ॥७२॥

यथा स्वभावविरुद्धोपलब्धिः -नाविचलितात्मा भावः परिणामात् ।
—प्रमा. सं. वि. का. ३० ।

नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात् ॥७६॥

कार्यविरुद्धोपलब्धिः—न [illegible] ।
—प्रमा. सं. वि. का. ३०।

नास्मिन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदयशल्यात् ॥७७॥

कारणविरुद्धोपलब्धिः—[illegible] ।
—प्रमा. सं. वि. का. ३०।

अविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधे सप्तधा स्वभावव्यापककार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरानुपलम्भभेदात् ॥७८॥

[illegible] स्वभावानुपलम्भः । —प्रमा. सं. का. ३०।

नास्त्यत्र भूतले घटोऽनुपलब्धेः ॥७९॥

स्वभावानुपलब्धिः—यथा न [illegible] ।
—प्रमा. सं. का. वि. ३०।

नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धेः ॥८०॥

१. व्यापकस्यानुपलब्धिः व्याप्यनिवर्तिनी । न निवर्तमाननिवृत्तौ भावस्य अत्यन्ताभावानुषङ्गो । —प्रमा. सं. वि. का. ३१।

२. व्याप्यव्यापकयोरेवं सिद्धयसिद्धी निवारयन् ।
सदसद्व्यवहाराय तदन्यव्यतिरेकतः ॥ —प्रमा. सं. का. ३१।

नास्त्यत्राप्रतिबद्धसामर्थ्योऽग्निर्धूमानुपलब्धेः ॥८१॥

कार्यानुपलब्धिः-अत्र (नास्ति क्षणक्षयैकान्त इत्यत्र) कार्याभावात् ।
—प्रमा. सं. वि. का. ३०।

नास्त्यत्र धूमोऽनग्नेः ॥८२॥

कारणानुपलब्धिः-अत्रैव (नास्ति क्षणक्षयैकान्त इत्यत्रैव) कारणाभावात् ।
—प्रमा. सं. वि. का. ३०।

नास्त्यत्र समतुलायामुन्नामो नामानुपलब्धेः ॥८५॥

स्वभावसहचरानुपलब्धि.-नात्मात्मा रूपादिविशेषाभावात् ।
—प्रमा. सं वि का. ३०।

× × ×

आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः ॥९९॥

१. आप्तवादः स एवायं यत्रार्थाः समवायिनः प्रमाणमविसंवादात्'''' ।
—न्या. वि. का. ४६०।

२. आप्तेन हि क्षीणदोषेण प्रत्यक्षज्ञानेन प्रणीत आगमो भवति ।
—त. वा. पृ ३९।

३. आप्तोक्तेः''''। —न्या. वि. का. २८।

सहजयोग्यतासङ्केतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः ॥१००॥

१. बाधः प्रमाणपूर्वायाः प्रामाण्यं वस्तुसिद्धये । —न्या. वि. का. ४२९ ।
स्वतः सामर्थ्यविश्लेषात् संकेते हि प्रतीयते ॥ —न्या वि का. ४३२ ।
२. तादृशो बाधकः शब्दः सङ्केतो यत्र वर्तते ।

यथा मेर्वादयः सन्ति ॥१०१॥ —न्या. वि. का. २६ ।
प्रमाणं श्रुतमर्थेषु सिद्धं द्वीपान्तरादिव ।

चतुर्थ परिच्छेद

सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः ॥१॥
१. द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम् । —न्या. वि का. ३ ।
२. तद्द्रव्यपर्यायात्मार्थो बहिरन्तश्च तत्त्वतः । —लघी. का. ७ ।
३. न भेदोऽभेदरूपत्वात् नाभेदो भेदरूपतः । —न्या. वि का १८५ ।
सामान्यं च विशेषाश्च तयोराकारकल्पनात् ॥ —प्रमा सं वि. का. ७२ ।
४. सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि । —न्या. वि का ११८ ।
५. समानभावः सामान्यं विशेषोऽन्यव्यपेक्षया ।
६. चक्षुरादिज्ञानं सविकल्पकं सामान्य-विशेषात्मविषयं । —प्रमा. सं. वि. का. ४ ।

७. सामान्यविशेषात्मनोऽयुगपत्प्रतिभासायोगात् । —प्रमा सं. वि का. ८ ।

अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात् पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थिति-
लक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च ॥२॥
१. संसर्गो नास्ति विश्लेषात् विश्लेषोऽपि न केवलम् । —न्या वि का. १८६ ।
संसर्गात् सर्वभावानां तथा संवित्तिसंभवात् ॥ —प्रमा सं वि का ६७ ।
२. परापरपर्यायावाप्तिपरिहारस्थितिलक्षणोऽर्थः । —न्या. वि का. ३४५ ।
३. परिणामे क्रियास्थितेः ।

सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात् ॥३॥ —लघी. वि. का. ६७ ।
द्रव्यमेकान्वयात्मकं ।

सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् ॥४॥
१. सदृशपरिणामः सामान्यं (तिर्यक्) शबलकवत् । —प्रमा सं. वि. का. ११
२. सदृशपरिणामलक्षणसामान्यात्मकत्वादन्वयि (तिर्यक्सामान्यं) । —लघी. वि. का. ६

परापरविवर्तव्यापिद्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु ॥५॥
एकत्वं (ऊर्ध्वतासामान्यं) तदवत्परिणामित्वात् । —लघी. वि. का.

विशेषश्च ॥६॥

पर्यायव्यतिरेकभेदात् ॥७॥

१. विशेषोऽन्यव्यपेक्षया। —न्या. वि. का. ११८।

२. पर्यायः (विशेषः) पृथक्त्वं व्यतिरेकश्च। —लघी. वि. ६।

एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्यायाः आत्मनि हर्षविषादादिवत् ॥८॥

पृथक्त्वं (पर्यायः) एकत्र द्रव्ये गुणकर्मसामान्यविशेषाणाम्। —लघी. वि. का. ६।

अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत् ॥९॥

व्यतिरेकः सन्तानान्तरगतो विसदृशपरिणामः। —लघी. वि. का. ६।

पंचम परिच्छेद

अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ॥१॥

१. प्रमाणस्य फलं तत्त्व निर्णयादानहानधीः।
निःश्रेयसं परं वेति केवलस्याप्युपेक्षणम् ॥ —न्या. वि. का. ४७६

२. हानोपादानोपेक्षाप्रतिपत्तिफलं (ज्ञानं) नाप्रमाणं भवितुमर्हति। —लघी. वि. का. १९

३. तत्फलं हानादिबुद्धयः। —लघी. का. ११

४. अर्थावबोधे प्रीतिदर्शनात्.......अर्थनिश्चये प्रीतिरुपजायते सा फलम्।
उपेक्षाऽज्ञाननाशो वा। —त. वा. पृ. ३६

५. सिद्धप्रयोजनत्वात् केवलिनां सर्वत्रोपेक्षा।
मत्यादेः साक्षात्फलं स्वार्थव्यामोहविच्छेदः.......
परम्परया हानोपादानसंवित्तिः। —अष्टश., देवा. का. १०

प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च ॥२॥

१. प्रमाणफलयोः क्रमभेदेऽपि तादात्म्यमभिन्नविषयत्वं च प्रत्येयम्।

२. करणस्य क्रियायाश्च कथंचिदेकत्वं प्रदीपतमोविगमवत्।
नानात्वं च परश्वादिवत्। —अष्टश. का. १०

षष्ठ परिच्छेद

ततोऽन्यत्तदाभासम् ॥१॥

तदाभासस्ततोऽन्यथा। —लघी. देवा. का. ?

अवैशद्ये प्रत्यक्षं तदाभासं बौद्धस्याकस्माद्धूमदर्शनाद्वह्निविज्ञानवत् ॥६॥

वैशद्येऽपि परोक्षं तदाभासं मीमांसकस्य करणज्ञानवत् ॥७॥

अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं स्मरणाभासं जिनदत्ते स देवदत्तो यथा ॥८॥

प्रत्यभिज्ञानाभासम् ॥९॥

दृशे तदेवेदं तस्मिन्नेव तेन सदृशं यमलकवदित्यादि

सम्बद्धे तज्ज्ञानं तर्काभासम् ॥१०॥

त्वमनुमानाभासम् ॥११॥

अक्षधीः स्मृतिसंज्ञाभिश्चिन्तयाऽभिनिबोधिकैः । —लघी. २५ ।
व्यवहाराविसंवादस्तदाभासस्ततोऽन्यथा ॥ —न्या. वि. ८७२ ।

तत्रानिष्टादिः पक्षाभासः (साध्याभासः) ॥१२॥

साध्याभासं विरुद्धादि साधनाविषयत्वतः । —न्या. २९९ ।

हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्कराः ॥२१॥

विरुद्धासिद्धसंदिग्धा अकिञ्चित्करविस्तराः

असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः ॥२२॥

अविद्यमानसत्ताकः परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात् ॥२३॥

१. असिद्धश्चाक्षुषत्वादिः शब्दानित्यत्वसाधने । —न्या. वि. का. ३६५ ।
अन्यथाऽसंभवाभावभेदात् स बहुधा स्मृतः ॥ —प्रमा. सं. का. ४८ ।
—प्रमा. सं. का ४२ ।

२. असिद्धः सर्वथाऽत्ययात् ।

३. असिद्धः चाक्षुषत्वादिः ।

सांख्यं प्रति परिणामी शब्दः कृतकत्वात् ॥२७॥ —प्रमा. स. का. ४९ ।

तेनाज्ञातत्वात् ॥२८॥

१. अज्ञातः संशयासिद्धव्यतिरेकान्वयादितः ।

२. साध्येऽपि कृतकत्वादिः अज्ञातः साधनाभासः । तदसिद्धलक्षणेन अपरो हेत्वाभासः सर्वत्र साध्यार्थसम्भवाभावनियमासिद्धेः अर्थज्ञाननिवृत्ति- लक्षणत्वात् । —प्रमा. सं वि. का. ४४ ।

विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् ॥२९॥

१. साध्याभावसम्भवनियमनिर्णयैकलक्षणो विरुद्धो हेत्वाभासः यथा नित्यः शब्दः सत्वात् । —प्रमा. सं. वि. का. ४० । —प्रमा. सं. का. ४०

२. अन्यथानिश्चितं सत्त्वं विरुद्धमवलात्मनि । —प्रमा. सं. का ४८

३. स विरुद्धोऽन्यथाऽभावात् । —प्रमा. सं. का. ४

क्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः ॥३०॥ —प्रमा. सं. का. ४

१. अनिश्चितविपक्षव्यावृत्तिरनैकान्तिकः ।

२. व्यभिचारी विपक्षेऽपि ।

निश्चितवृत्तिरनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् घटवत् ॥३१॥

शङ्कितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात् ॥३३॥

१. इत्यनैकान्तिकभेदाः निश्चितसंदिग्धव्यभिचारिणोऽनेकप्रकाराः । —प्रमाण. सं. वि. का
—न्या. वि. का.

२. सर्वज्ञप्रतिषेधे तु संदिग्धाः वचनादयः । —प्रमा. सं. वि. क

३. सर्वज्ञो न वक्तृत्वात् ।

सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः ॥३५॥

१. सिद्धेऽकिंचित्करोऽखिलः [illegible] । —प्रमा. सं. का. ४३।

२ विरुद्धोऽकिंचित्करो मतः । —प्रमा. सं. का. ४९।

दृष्टान्ताभासा अन्वयेऽसिद्धसाध्यसाधनोभयाः ॥४०॥

१ तदाभासाः साध्यादिविकलादयः । —न्या. वि. का. ३७०।

विषयाभासः सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रम् ॥६१॥

१ नान्वयविशेषौ स्वलक्षणं सामान्यलक्षणं वा परस्परानाश्रयात् प्रमेयं यथा मन्यन्ते परे । —लघी. वि. का. ७।

तथाऽप्रतिभासनात् कार्याकरणाच्च ॥६२॥

१. न केवलं साक्षात्करणमेकान्ते न सम्भवति अपि तु । —लघी. वि. का. ७।

२. अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः । —लघी. का. ८।

सम्भवदन्यद्विचारणीयम् ॥७४॥

१. इष्टं तत्त्वमपेक्षातो नयानां नयचक्रतः ।
......उपायो न्यास इष्यते । —न्या. वि. का. ४३७

२. नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः ।
—प्रमा. सं. का. ८६, लघी. का. ५२

उपसंहार

यह परीक्षामुखके उद्गम-बीजों (स्रोतों) के अन्वेषणका एक प्रयत्न है। इससे आ. माणिक्यनन्दिकी अद्भुत प्रतिभा, विलक्षण पाण्डित्य, महान् परिश्रम, सूक्ष्मप्रज्ञता, अदम्य साहस और अकलंकदेवके न्यायवाङ्मय तथा भारतीय दर्शनोंका असाधारण अभ्यास अवगत होता है। सम्भवतः इसीसे नयनन्दि, प्रभाचन्द्र जैसे समर्थ ग्रन्थकारोंने महापण्डित, पण्डितचूडामणि, त्रैविद्य, अजेनमतार्णव जैसे विरुदोंसे उल्लेखित कर उन्हें असाधारण विद्वान् बताया है।

अभिनव धर्मभूषण यति

िक :

जैन समाजने अपने प्रतिष्ठित महान् पुरुषों—तीर्थंकरों, राजाओं, आचार्यों,
रों, विद्वानों तथा तीर्थक्षेत्रों, मन्दिरों और ग्रन्थागारों आदिके इतिवृत्तको
लित करनेकी प्रवृत्तिकी ओर बहुत कुछ उपेक्षा एवं उदासीनता रखी है। इसीसे
कुछ होते हुए भी इस दिशामें हम लोगोंकी दृष्टिमें अकिंचन समझे जाते हैं। यद्यपि
प्रकट है कि जैन साहित्य, इतिहास और पुरातत्त्वकी विपुल सामग्री भारतके
कोनेमें सर्वत्र विद्यमान है, पर वह बिखरी हुई असंकलित एवं अज्ञात रूपमें पड़ी
है। यही कारण है कि जैन इतिहासको जाननेके लिए या उसे सम्बद्ध करनेके
अपरिमित कठिनाइयाँ आती हैं और अन्धेरेमें टटोलना पड़ता है।

प्रसन्नताकी बात है कि अब इस ओर कुछ दूरदर्शी श्रीमान् और विद्वान्
ा ध्यान गया है और उन्होंने इतिहास, पुरातत्त्व तथा साहित्यके संकलन,
ान, अन्वेषण आदिकी ओर रुचि ही नहीं, क्रियात्मक प्रयत्न भी आरम्भ कर
ा है।

यहाँ हम जिन अभिनव धर्मभूषणका परिचय देना चाहते हैं उनको जाननेके
; जो कुछ साधन प्राप्त हैं वे यद्यपि पूरे और पर्याप्त नहीं हैं—उनके माता-
ादिका नाम क्या था, जन्म और स्वर्गवास कब, कहाँ, हुआ, आदिका उनसे कोई
नहीं चलता है; फिर भी सौभाग्य और सन्तोषकी बात यही है कि उपलब्ध
नोंसे उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व, कृतित्व, गुरुपरम्परा और समयका कुछ
ाणिक परिचय मिल जाता है। अतः हम उन्हीं साधनों—शिलालेख, ग्रन्थोल्लेख
द परसे उनके सम्बन्धमें कुछ कहनेका प्रयास करेंगे।

भूषण और उनके अभिनव तथा यति विशेषण :

जैन साहित्यमें अभिनव धर्मभूषण यतिका नाम उल्लेखनीय है। उनकी
त्वपूर्ण कृति न्यायदीपिका है। न्यायदीपिकाके पहले और दूसरे प्रकाशके पुष्पिका-
योंमें 'यति' तथा तीसरे प्रकाशके पुष्पिकावाक्यमें 'अभिनव' ये दो विशेषण इनके
के साथ पाये जाते हैं। इससे मालूम होता है कि न्यायदीपिकाके रचयिता
भूषण अभिनव और यति दोनों विशेषणोंसे अभिहित होते थे। ज्ञात होता है कि
भिनव' विशेषण अपने पूर्ववर्ती धर्मभूषणोंसे व्यावृत्त करनेके लिए दिया गया है;
कि ऐसा देखा जाता है कि एक नामके अनेक व्यक्तियोंसे अपनेको जुदा करनेके
; कोई उपाधि या उपनाम रख लिया जाता है। जैन साहित्यमें ऐसे और भी कई
ाकार एवं विद्वान् हुए हैं, जो अपने नामके साथ 'अभिनव' विशेषण लगाते हुए

श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

—अकलंक, प्रमाणसंग्रह,का. १ ।

× × ×

पट्टे तस्य मुनेरासीद्वर्द्धमानमुनीश्वरः ।
श्रीसिंहनन्दियोगीन्द्रचरणाम्भोजषट्पदः ॥
शिष्यस्तस्य गुरोरासीद्धर्मभूषणदेशिकः ।
भट्टारकमुनिः श्रीमान् शल्यत्रयविवर्जितः ॥

—विजयनगर शिलालेख ।

अभिनव धर्मभूषण यति

पृष्ठभूमि :

जैन समाजके अनेक प्रतिष्ठित महापुरुषों—तीर्थंकरों, राजाओं, आचार्यों, श्रेष्ठियों, विद्वानों तथा कवियों, लेखकों और दानदाताओं आदिके इतिवृत्तको संकलित करनेकी प्रवृत्तिकी ओर बहुत कुछ उपेक्षा एवं उदासीनता रही है। उसीके फल कुछ होते हुए भी इस दिशामें हम उनको पूरी परिचय नहीं पाते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि जैन साहित्य, इतिहास और पुरातत्त्वकी विपुल सामग्री भारतके कोने-कोनेमें बिखरी पड़ी है, पर वह बिखरी हुई असंकलित एवं अज्ञात दशामें पड़ी हुई है। यही कारण है कि जैन इतिहासको जाननेके लिए या उसे स्पष्ट करनेके लिए अनेकविध कठिनाइयाँ आती हैं और अन्धेरेमें टटोलना पड़ता है।

प्रसन्नताकी बात है कि अब इस ओर कुछ इधरसे श्रीमान् और विद्वान् वर्गका ध्यान गया है और उन्होंने इतिहास, पुरातत्त्व तथा साहित्यके संकलन, शोधन, प्रकाशन आदिकी ओर रुचि ही नहीं, क्रियात्मक प्रयत्न भी आरम्भ कर दिया है।

यहाँ हम जिन अभिनव धर्मभूषणका परिचय देना चाहते हैं उनको जाननेके लिए जो कुछ साधन प्राप्त हैं वे यद्यपि पूरे और पर्याप्त नहीं हैं—उनके माता-पिताका नाम क्या था, जन्म और स्वर्गवास कब, कहाँ, हुआ, आदिका उनसे कोई पता नहीं चलता है; फिर भी सौभाग्य और प्रसन्नताकी बात यही है कि उपलब्ध साधनोंसे उनके व्यक्तित्व, कृतित्व, गुरुपरम्परा और समयका कुछ सामान्य परिचय मिल जाता है। अतः हम उन्हीं साधनों—शिलालेख, ग्रन्थोल्लेख आदि परसे उनके सम्बन्धमें कुछ प्रकाश डालेंगे।

धर्मभूषण और उनके अभिनव तथा यति विशेषण :

जैन तार्किकोंमें अभिनव धर्मभूषण यतिका नाम उल्लेखनीय है। इनकी महत्त्वपूर्ण कृति न्यायदीपिका है। न्यायदीपिकाके पहले और दूसरे प्रकाशके पुष्पिका-वाक्योंमें 'यति' तथा तीसरे प्रकाशके पुष्पिकावाक्यमें 'अभिनव' ये दो विशेषण इनके नामके साथ पाये जाते हैं। इससे मालूम होता है कि न्यायदीपिकाके रचयिता धर्मभूषण अभिनव और यति दोनों विशेषणोंसे अभिहित होते थे। ज्ञात होता है कि 'अभिनव' विशेषण अपने पूर्ववर्ती धर्मभूषणोंसे व्यावृत्त करनेके लिए दिया गया है; क्योंकि ऐसा देखा जाता है कि एक नामके अनेक व्यक्तियोंमें अपनेको पृथक् करनेके लिए कोई उपाधि या उपनाम रख लिया जाता है। जैन साहित्यमें ऐसे और भी कई ग्रन्थकार एवं विद्वान् हुए हैं, जो अपने नामके साथ 'अभिनव' विशेषण लगाते हुए

प्रस्तुत धर्मभूषण और उनकी गुरुपरम्परा :

न्यायदीपिकाके कर्ता धर्मभूषण उपर्युक्त धर्मभूषणोंसे भिन्न हैं और जिनका उल्लेख उसी विजयनगरके शिलालेख नं. २ में तीसरे नम्बरके धर्मभूषणके स्थानपर है तथा जिन्हें स्पष्टतया श्रीवर्द्धमान भट्टारकका शिष्य बतलाया गया है। न्यायदीपिकाकारने स्वयं न्यायदीपिकाके अन्तिम पद्य[1] और अन्तिम (तीसरे प्रकाशगत) पुष्पिकावाक्यमें[2] अपने गुरुका नाम श्रीवर्द्धमान भट्टारक प्रकट भी किया है। हमारा अनुमान है कि मंगलाचरणपद्यमें भी उन्होंने 'श्रीवर्द्धमान' पदके प्रयोग द्वारा श्लेषरूपमें वर्द्धमान तीर्थंकरके साथ अपने गुरु वर्द्धमान भट्टारकको भी स्मरण किया है, क्योंकि अपने परापरगुरुका स्मरण करना उचित ही है। श्रीधर्मभूषण अपने गुरुके अनन्य भक्त थे। वे न्यायदीपिकाके उसी अन्तिम पद्य और पुष्पिकावाक्यमें कहते हैं कि 'उन्हें उनकी कृपासे ही सरस्वतीका प्रकर्ष (सारस्वतोदय) प्राप्त हुआ और उनके चरणोंकी स्नेहमयी भक्ति-सेवासे न्यायदीपिका पूर्णता हुई।' अतः मंगलाचरणपद्यमें भी गुरु वर्द्धमान भट्टारकका उनके द्वारा स्मरण किया जाना सम्भव एवं संगत है।

विजयनगरके उस शिलालेखमें, जो शकसंवत् १३०७ (१३८५ ई.) में उत्कीर्ण हुआ है, धर्मभूषणकी जो गुरुपरम्परा दी गयी है उसके सूचक शिलालेखगत प्रकृतोपयोगी कुछ पद्योंको यहाँ दिया जाता है—

"यत्पादपङ्कजरजो रजो हरति मानसं।
स जिनः श्रेयसे भूयाद् भूयसे करुणालयः ॥१॥
श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम्।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥२॥

श्रीमूलसंघेऽजनि नन्दिसंघस्तस्मिन् बलात्कारगणेतिसंज्ञः।
तत्रापि सारस्वतनाम्नि गच्छे स्वच्छाशयोऽभूदिह पद्मनन्दी ॥३॥

आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनिः।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छ इति तन्नाम पञ्चधा ॥४॥
केचित्तदन्वये चारुमुनयः खनयो गिराम्।
जलधाविव रत्नानि बभूवुर्दिव्यतेजसः ॥५॥

तत्रासीच्चारुचारित्ररत्नरत्नाकरो गुरुः।
धर्मभूषणयोगीन्द्रो भट्टारकपदाञ्चितः ॥६॥
भाति भट्टारको धर्मभूषणो गुणभूषणः।
यद्यशः कुसुमामोदे गगनं भ्रमरायते ॥७॥

शिष्यस्तस्य गुरोरासीदनर्गलतपोनिधिः।
श्रीमानमरकीर्त्यार्यो देशिकाग्रेसरः शमी ॥८॥
निजपक्षपुटकवाटं घटयित्वाऽनिलनिरोधितो हृदये।
अविचलितबोधदीपं तमममरकीर्त्ति भजे तमोहरणम् ॥९॥

1-2. न्यायदी. पृ. १३२, वीर-सेवामन्दिर-प्रकाशन, १९४४।

और स्थित पट्टानगर खुदा हुआ है और जो शक सं. १२९५ में उत्कीर्ण हुआ है। उसमें इस प्रकार गुरु-परम्परा दी गयी है:—

मूलसंघ—बलात्कारगण
कीर्ति (वनवासिके)
|
देवेन्द्र विशालकीर्ति
|
शुभकीर्तिदेव भट्टारक
|
धर्मभूषणदेव I
|
अमरकीर्ति आचार्य
|
धर्मभूषणदेव II
|
वर्द्धमानस्वामी

इन दोनों लेखोंको मिलाकर ध्यानसे पढ़नेसे विदित होता है कि प्रथम धर्मभूषण, अमरकीर्ति-आचार्य, धर्मभूषण द्वितीय और वर्द्धमान ये चार विद्वान् सम्भवतः दोनोंके एक ही हैं। यदि यह सम्भावना ठीक है, तो यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि विन्ध्यगिरिके लेख (शक १२९५) में वर्द्धमानका तो उल्लेख है, पर उनके शिष्य (पट्टके उत्तराधिकारी) तृतीय धर्मभूषणका उल्लेख नहीं है। इससे जान पड़ता है कि उस समय तक तृतीय धर्मभूषण वर्द्धमानके पट्टाधिकारी नहीं बन सके होंगे और इसलिए उक्त शिलालेखमें उनका उल्लेख नहीं आया। किन्तु इस शिलालेखके कोई १२ वर्ष बाद शक संवत् १३०७ (ई. १३८५) में उत्कीर्ण हुए विजयनगरके उल्लिखित शिलालेख नं. २ में उनका (तृतीय धर्मभूषणका) स्पष्टतया नामोल्लेख है। अतः यह सहजमें अनुमान हो सकता है कि वे अपने गुरु वर्द्धमानके पट्टाधिकारी शक संवत् १२९५ से १३०७ के मध्यमें किसी समय बने होंगे।

इस तरह अभिनव धर्मभूषणके साक्षात् गुरु श्रीवर्द्धमानमुनीश्वर या वर्द्धमान स्वामी और दादागुरु द्वितीय धर्मभूषण थे। अमरकीर्ति परदादागुरु और प्रथम धर्मभूषण पर-परदादा गुरु थे। सम्भवतः इसीसे इन पूर्ववर्ती पूज्य दादागुरु (द्वितीय धर्मभूषण) तथा पर-परदादागुरु (प्रथम धर्मभूषण) से पृथक् करने तथा पश्चाद्वर्ती एवं नया बतलानेके लिए 'अभिनव' विशेषण लगाया गया जान पड़ता है। जो हो, यह अवश्य है कि वे अपने गुरुके प्रभावशाली और मुख्य शिष्य थे।

---

१. प्रो. हीरालालजीने इनकी निषद्या बनवायी जानेका समय शक संवत् १२९५ दिया है।
—शिलालेखसं. पृ १२६।

प्रण न्यायदीपिकाकार हैं। पद्मावती-वस्तीके एक लेखसे ज्ञात होता है कि
जाधिराजपरमेश्वर देवराय प्रथम वर्द्धमानमुनिके शिष्य धर्मभूषण गुरुके, जो बड़े
ान् थे, चरणोंमें नमस्कार किया करते थे।" इसी बातका समर्थन शकस. १४४०
अपने 'दशभक्त्यादिमहाशास्त्र' को समाप्त करनेवाले कवि वर्द्धमानमुनीन्द्रके इसी
यगत निम्न श्लोकसे भी होता है—

राजाधिराजपरमेश्वरदेवरायभूपालमौलिलसदंघ्रिसरोजयुग्मः।
श्रीवर्द्धमानमुनिवल्लभमौढ्यमुख्यः श्रीधर्मभूषणसुखी जयति क्षमाढ्य.[१] ॥"

यह प्रसिद्ध है कि विजयनगर-नरेश प्रथम देवराय ही 'राजाधिराजपरमेश्वर'-
की उपाधिसे भूषित थे[२]। इनका राज्य-समय सम्भवत: १४१८ ई. तक रहा है, क्योंकि
द्वितीय देवराय ई. १४१९ से १४४६ तक माने जाते हैं[३]। अत: इन उल्लेखोंसे यह
स्पष्ट है कि वर्द्धमानके शिष्य धर्मभूषण तृतीय (न्यायदीपिकाकार) ही देवराय प्रथमके
द्वारा सम्मानित थे[४]। प्रथम अथवा द्वितीय धर्मभूषण नहीं; क्योंकि वे वर्द्धमानके शिष्य
नहीं थे। प्रथम धर्मभूषण तो शुभकीर्तिके और द्वितीय धर्मभूषण अमरकीर्तिके शिष्य
थे। अतएव यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अभिनव धर्मभूषण देवरायप्रथमके
समकालीन हैं। अर्थात् न्यायदीपिकाकारका अन्तिमकाल ई. १४१८ होना चाहिये। यदि
यह मान लिया जाय तो उनका जीवनकाल ई. १३५८ से १४१८ ई तक समझना चाहिये।
अभिनव धर्मभूषण जैसे प्रभावशाली विद्वान् जैन साधुके लिए ६० वर्षकी उम्र पाना
कोई ज्यादा नहीं है। हमारी सम्भावना यह भी है कि वे देवराय द्वितीय[५] (१४१९-
....९ ई.) और उनके श्रेष्ठि संकप्पके द्वारा भी प्रणुत रहे हैं[६]। हो सकता है कि ये
धर्मभूषण हों, जो हो, इतना अवश्य है कि वे देवराय प्रथमके समकालिक
ातरूपसे हैं।

न्यायदीपिकारने न्यायदीपिका (पृ. २१) में 'बालिशाः' शब्दोंके साथ सायणके
र्शनसंग्रहसे एक पंक्ति उद्धृत की है। सायणका समय शकसं १३वी शताब्दीका
राधं माना जाता है[७], क्योंकि शकसं. १३१२ का उनका एक दानपत्र मिला है,

---

. प्रशस्तिसं. पृ. १२५ से उद्धृत।
-३. डा. भास्कर आनन्द शालेतोरका Mediaoval Jainism P. 300-301। मालूम
नहीं डॉ. सा. ने द्वितीय देवराय (१४१९–१४४६ ई) की तरह प्रथम देवरायके समयका
निर्देश क्यों नहीं किया?
४. डॉ. सालेतोर दो ही धर्मभूषण मानते हैं और उनमें प्रथमका समय ई. १३७८ और
दूसरेका ई. १४०२ बतलाते हैं तथा वे इस भ्रमेमें पड़ गये हैं कि कौन-से धर्मभूषणका
सम्मान देवराय प्रथमके द्वारा हुआ था? (मिडियावल जैनिज्म पृ ३००)। मालूम
होता है कि उन्हें विजयनगरका शिलालेख नं. २ आदि प्राप्त नहीं हो सका। अन्यथा
वे इस निष्कर्षपर न पहुँचते।
५. प्रशस्तिसं. पृ. १४५ में इनका समय ई. १४२९-१४५१ दिया है। मे परिचय कराये गये वर्द्धमान
६ इसके लिये जैनसिद्धान्तभवन आरासे प्रकाशित प्रशस्तिसं.
मुनीन्द्रका 'दशभक्त्यादिमहाशास्त्र' देखना चाहिए।
७. सर्वदर्शनसंग्रहकी प्रस्तावना पृ ३२।

रचनाको देखनेका यहाँ इंगित कर रहे हैं। यदि सचमुचमें यह इनकी रचना है, तो मालूम होता है कि वह न्यायदीपिकासे भी अधिक विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण होगी[1]।

धर्मभूषणके उक्त प्रभाव और कार्यक्षेत्रसे यह भी मालूम होता है कि कर्णाटक देशके उपर्युक्त विजयनगरमें ही उनकी जन्म-भूमि भी रही होगी और वहीं उनका शरीरत्याग एवं समाधि भी हुई होगी, क्योंकि वे गुरुपरम्परासे चले आये विजयनगरके भट्टारकीय पट्टपर आसीन हुए थे। यदि यह ठीक है, तो कहना होगा कि उनके जन्म और समाधिका स्थान भी विजयनगर है।

•

---

१. पं. महेन्द्रकुमारजीने इसे जिनदेवकी रचना बतलाया है। पर उसके आधारका उन्होंने कोई उल्लेख नहीं किया। मात्र न्यायदीपिकामें उसके उल्लिखित होनेभरकी सूचना की है। —जैनदर्शन, प्रथम संस्करण, पृ. ६२८।

न्यायदीपिका और उसके प्रतिपाद्य विषय

जैन न्याय-साहित्यमें न्यायदीपिकाका स्थान और महत्त्व :

'न्यायदीपिका' अभिनव धर्मभूषण यतिकी संक्षिप्त किन्तु अत्यन्त सुविशद और महत्त्वपूर्ण कृति है। इसे जैन न्यायकी प्रथमकोटिकी रचना कही जाय, तो अनुपयुक्त न होगा, क्योंकि जैन न्यायके अभ्यासियोंके लिए संस्कृत भाषामें निबद्ध सुबोध और सम्बद्ध न्यायतत्त्वका सरलतासे विशद विवेचन करनेवाली प्रायः यह अकेली रचना है, जो पाठकके हृदयपर अपना सहज प्रभाव अंकित करती है। ईसाकी सतरहवीं शताब्दीमें हुए और 'जैनतर्कभाषा' आदि प्रौढ़ रचनाओंके रचयिता श्वेताम्बरीय विद्वान् उपाध्याय यशोविजय जैसे बहुश्रुत भी इसके प्रभावसे आकृष्ट हुए हैं। उन्होंने अपनी दार्शनिक रचना 'जैन तर्कभाषा'में न्यायदीपिकाके अनेक स्थलोंको ज्यों-का-त्यों आनुपूर्वीके साथ अपना लिया है[1]। वस्तुतः न्यायदीपिकामें जिस खूबीके साथ प्रमाण और नयका संक्षेपमें सुस्पष्ट वर्णन किया गया है वह अपनी खास विशेषता रखता है। और इसलिए यह संक्षिप्त कृति भी न्यायस्वरूपके जिज्ञासुओंके लिए बड़े महत्त्व और आकर्षणकी प्रिय वस्तु बन गयी है। अतः न्यायदीपिकाके सम्बन्धमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि वह जैनन्यायके प्रथमश्रेणीमें रखे जानेवाले ग्रन्थोंमें स्थान पानेके सर्वथा योग्य है।

नाम :

उपलब्ध ऐतिह्यसामग्री और चिन्तनपरसे मालूम होता है कि न्यायशास्त्रके रचनायुगमें न्यायग्रन्थ, चाहे वे जैनेतर हों या जैन हों, प्रायः 'न्याय' शब्दके साथ रचे जाते थे। जैसे न्यायदर्शनमें न्यायसूत्र, न्यायवार्तिक, न्यायमंजरी, न्यायकलिका, न्यायसार, न्यायकुसुमाञ्जलि और न्यायलीलावती आदि, बौद्धदर्शनमें न्यायप्रवेश, न्याय-मुख, न्याय-बिन्दु आदि और जैनदर्शनमें न्यायावतार, न्यायविनिश्चय, न्यायकुमुदचन्द्र आदि पाये जाते हैं। पार्थसारथिकी शास्त्रदीपिका जैसे दीपिकान्त ग्रन्थोंके भी रचे जानेकी उस समय पद्धति रही है। सम्भवतः अभिनव धर्मभूषणने इन ग्रन्थोंको दृष्टिमें रखकर ही अपनी प्रस्तुत कृतिका नाम 'न्यायदीपिका' रखा जान पड़ता है। और यह अन्वर्थ भी है, क्योंकि इसमें प्रमाणनयात्मक न्यायका प्रकाशन किया गया है। अतः न्यायदीपिकाका नाम भी अपना वैशिष्ट्य ख्यापित करता है और वह उसके अनुरूप है।

भाषा :

यद्यपि न्यायग्रन्थोंकी भाषा अधिकांशतः दुरूह और गम्भीर होती है, जटिलताके कारण उनमें साधारणबुद्धियोंका प्रवेश सम्भव नहीं होता। पर न्याय-

---

1. जैन तर्कभाषा, पृ० १३, १४-१६, १७।

दीपिकाकारकी यह कृति न दुरूह है, न गम्भीर एवं जटिल है। प्रस्तुत इसकी भाषा अत्यन्त प्रसन्न, सरल और बिना किसी कठिनाईके अर्थबोध करानेवाली है। यह भी नहीं कि न्यायदीपिकाकार वैसी रचना कर नहीं सकते थे, किन्तु उनका विशुद्ध लक्ष्य अकलंकादि रचित गम्भीर और दुरवगाह न्यायविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह आदि न्यायग्रन्थोंमें मन्दजनोंको प्रवेश करानेका था। इस बातको स्वयं धर्मभूषणने बड़े स्पष्ट और प्राञ्जल शब्दोंमें—मंगलाचरण तथा प्रकरणारम्भके प्रस्तावना-वाक्योंमें कहा है[1]। भाषाके सौष्ठवसे समुचे ग्रन्थकी रचना भी प्रसन्न एवं हृद्य हो गयी है।

रचना-शैली :

भारतीय न्याय-ग्रन्थोंकी ओर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो उनकी रचना हमें तीन प्रकारकी उपलब्ध होती है—१ सूत्रात्मक, २ व्याख्यात्मक और ३ प्रकरणात्मक। जो ग्रन्थ संक्षेपमें गूढ़, अल्पाक्षर और सिद्धान्ततः मूलके प्रतिपादक हैं वे सूत्रात्मक हैं। जैसे—वैशेषिकदर्शनसूत्र, न्यायसूत्र, परीक्षामुखसूत्र आदि। जो किसी गद्य, पद्य या दोनोंरूप मूलका व्याख्यान (विवरण, टीका, वृत्ति) रूप हैं वे व्याख्यात्मक ग्रन्थ हैं। जैसे—प्रशस्तपादभाष्य, न्यायभाष्य, प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि। तथा जो किसी मूलके व्याख्या-ग्रन्थ न होकर अपने स्वीकृत प्रतिपाद्य विषयका स्वतन्त्रभावसे वर्णन करते हैं और प्रसंगानुसार दूसरे विषयोंका भी कथन करते हैं वे प्रकरणात्मक ग्रन्थ हैं। जैसे—प्रमाण-समुच्चय, न्यायबिन्दु, प्रमाणसंग्रह, आप्तपरीक्षा आदि। ईश्वरकृष्णकी सांख्यकारिका और विश्वनाथ पंचाननकी कारिकावली आदि कारिकात्मक ग्रन्थ भी दिग्नागके प्रमाणसमुच्चय, सिद्धसेनके न्यायावतार और अकलंकदेवके लघीयस्त्रय आदिकी तरह प्रायः प्रकरणग्रन्थ ही हैं, क्योंकि वे भी अपने स्वीकृत प्रतिपाद्य विषयका स्वतन्त्रभावसे वर्णन करते हैं और प्रसंगोपात्त दूसरे विषयोंका भी कथन करते हैं। अभिनव धर्मभूषणकी प्रस्तुत 'न्यायदीपिका' प्रकरणात्मक रचना है। इसमें ग्रन्थकारने अपने अंगीकृत वर्णनीय विषय प्रमाण और नयका स्वतन्त्रतासे वर्णन किया है, वह किसी गद्य या पद्यरूप मूलकी व्याख्या नहीं है। ग्रन्थकारने इसे स्वयं प्रकरणात्मक ग्रन्थ माना है[2]। इस प्रकारके ग्रन्थको रचनेकी प्रेरणा उन्हें विद्यानन्दकी 'प्रमाण-परीक्षा', वादिराजके 'प्रमाण-निर्णय' आदि प्रकरण-ग्रन्थोंसे मिली जान पड़ती है।

परिचय :

ग्रन्थके प्रमाणलक्षण-प्रकाश, प्रत्यक्ष-प्रकाश और परोक्ष-प्रकाश ये तीन प्रकाश (परिच्छेद या अध्याय) करके उनमें विषय-विभाजन उसी प्रकारका किया गया है जिस प्रकार प्रमाण-निर्णयके तीन निर्णयों (प्रमाण-लक्षण-निर्णय, प्रत्यक्ष निर्णय और परोक्ष-निर्णय) में है। प्रमाण-निर्णयसे प्रस्तुत ग्रन्थमें इतनी विशेषता है कि आगमके विवेचनका इसमें अलग प्रकाश नहीं रखा गया है, जब कि प्रमाणनिर्णयमें चौथा

१. न्यायदीपिका पृ. १, ४, ५।
२. 'प्रकरणमिदमारभ्यते'—न्यायदी. पृ. ५।

गम-निर्णय भी है। इसका कारण यह है कि वादिराजाचार्यने परोक्षके अनुमान
र आगम ये दो भेद किये हैं तथा अनुमानके भी गौण और मुख्य अनुमान ये दो
द करके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्कको गौण अनुमान प्रतिपादित किया है और
न तीनोंके वर्णनको तो परोक्ष-निर्णय तथा परोक्षके ही दूसरे भेद आगमके वर्णनको
गम-निर्णय नाम दिया है[1]। अभिनव धर्मभूषणने आगम जब परोक्ष है तब उसे
रोक्ष-प्रकाशमें ही सम्मिलित कर लिया है—उसके वर्णनको उन्होंने स्वतन्त्र
काशका रूप नहीं दिया। इन तीनों प्रकाशोंमें विषय-वर्णन इस प्रकार है—

पहले प्रमाणसामान्यलक्षण-प्रकाशमें प्रथमतः उद्देशादि तीनके द्वारा ग्रन्थ-
वृत्तिका निर्देश, उन तीनोंके लक्षण, प्रमाणसामान्यका लक्षण, संशय, विपर्यय,
नध्यवसाय इन तीन मिथ्याज्ञानोंका लक्षण, इन्द्रियादिकोंको प्रमाण न होनेका वर्णन,
वतः परतः प्रामाण्यका निरूपण और बौद्ध, भाट्ट, प्राभाकर तथा नैयायिकोंके
माणसामान्यलक्षणोंकी आलोचना करके जैनमतसम्मत सविकल्पक अगृहीतग्राही
सम्यग्ज्ञान' को प्रमाणसामान्यका निर्दोष लक्षण स्थिर किया गया है।

दूसरे प्रत्यक्ष-प्रकाशमें स्वकीय प्रत्यक्षका लक्षण, बौद्ध और नैयायिकोंके निर्विकल्पक तथा सन्निकर्ष प्रत्यक्षलक्षणोंकी समालोचना, अर्थ और आलोकमें ज्ञानके प्रति कारणताका निरास, विषयकी प्रतिनियामिका योग्यताका उपपादन, तदुत्पत्ति और तदाकारताका निराकरण, प्रत्यक्षके भेद-प्रभेदोंका निरूपण, अतीन्द्रियप्रत्यक्षका समर्थन और सर्वज्ञसिद्धि आदिका विवेचन किया गया है।

तीसरे परोक्ष-प्रकाशमें परोक्षका लक्षण, उसके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम इन पाँच भेदोंका विशद वर्णन, प्रत्यभिज्ञानके एकत्वप्रत्यभिज्ञान, सादृश्यप्रत्यभिज्ञान आदिका प्रमाणान्तररूपसे उपपादन करके उनका प्रत्यभिज्ञानमें ही अन्तर्भाव होनेका सयुक्तिक समर्थन, साध्यका लक्षण, साधनका 'अन्यथानुपपन्नत्व' लक्षण, त्रैरूप्य और पाञ्चरूप्यका निराकरण, अनुमानके स्वार्थ और परार्थ दो भेदोंका कथन, हेतु-भेदोंके उदाहरण, हेत्वाभासोंका वर्णन, उदाहरण, उदाहरणाभास, उपनय, उपनयाभास, निगमन, निगमनाभास आदि अनुमानके परिवारका अच्छा कथन किया गया है। अन्तमें आगम और नयका वर्णन करते हुए अनेकान्त तथा सप्तभंगीका भी संक्षेपमें प्रतिपादन किया गया है। इस तरह न्यायदीपिकाके विषयोंका यह स्थूल एवं बाह्य परिचय है।

अब उसके आभ्यन्तर प्रमेयोंपर भी थोड़ा तुलनात्मक विवेचन किया जाता है। इससे न्यायदीपिकाके पाठकोंके लिए उसमें चर्चित ज्ञातव्य विषयोंका एकत्र यथा-सम्भव परिचय मिल सकेगा।

प्रतिपाद्य विषय

१. मंगलाचरण :

मंगलाचरणके सम्बन्धमें कुछ वक्तव्य अंश ग्रन्थके हिन्दी अनुवादके प्रारम्भमें दिया जा चुका है। यहाँ उसके शेष भागपर कुछ विचार किया जाता है।

---

१. प्रमाणनिर्णय पृ. ३३।

यद्यपि भारतीय वाङ्मयमें प्रायः सभी दर्शनकारोंने मंगलाचरणको अपनाया है और अपने-अपने दृष्टिकोणसे उसका प्रयोजन एवं हेतु बतलाते हुए समर्थन किया है। पर जैनदर्शनमें जितना विस्तृत, विशद और सूक्ष्म चिन्तन किया गया है उतना प्रायः अन्यत्र नहीं मिलता। 'तिलोयपण्णत्ति' में[1] यतिवृषभाचार्यने और 'धवला' में[2] श्री वीरसेनस्वामीने मंगलका बहुत ही सांगोपांग और व्यापक वर्णन किया है। उन्होंने धातु, निक्षेप, नय, एकार्थ, निरुक्ति और अनुयोगके द्वारा मंगलका निरूपण करनेका निर्देश करके उक्त छहोंके द्वारा उसका व्याख्यान किया है। 'मगि' धातुसे 'अलच्' प्रत्यय करनेपर 'मंगल' शब्द निष्पन्न होता है। निक्षेपकी अपेक्षा कथन करते हुए लिखा है कि तद्व्यतिरिक्त द्रव्यमंगलके दो भेद हैं—कर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमंगल और नोकर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमंगल। उनमें पुण्यप्रकृति-तीर्थंकरनामकर्म कर्मतद्व्यतिरिक्त-द्रव्यमंगल है; क्योंकि वह लोककल्याणरूप मांगल्यका कारण है। नोकर्मतद्व्यतिरिक्त द्रव्यमंगलके दो भेद हैं—लौकिक और लोकोत्तर। उनमें लौकिक—लोकप्रसिद्ध मंगल तीन प्रकारका है—सचित्त, अचित्त और मिश्र। इनमें सिद्धार्थ[3] अर्थात् पीले सरसों, जलसे भरा हुआ पूर्ण कलश, वन्दनमाला, छत्र, श्वेतवर्ण और दर्पण आदि अचित्त मंगल हैं। और बालकन्या तथा श्रेष्ठ जातिका घोड़ा आदि सचित्त मंगल हैं। अलंकार सहित कन्या आदि मिश्र मगल हैं। लोकोत्तर—अलौकिक मंगलके भी तीन भेद हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र। अरहन्त आदिका अनादि अनन्त स्वरूप जीव-द्रव्य सचित्त लोकोत्तर मंगल है। कृत्रिम, अकृत्रिम चैत्यालय आदि अचित्त लोकोत्तर मंगल हैं। उक्त दोनों सचित्त और अचित्त मंगलोंको मिश्र मगल कहा है। आगे मंगलके प्रतिबोधक पर्यायनामोंको[4] बतलाकर मंगलकी निरुक्ति[5] बताई गई है। जो पापरूप मलको गलावे—विनाश करे और पुण्य—सुखको लावे—प्राप्त करावे उसे मंगल कहते हैं। आगे मंगलका प्रयोजन बतलाते हुए कहा गया है[6] कि शास्त्रके आदि, मध्य और अन्तमें जिनेन्द्रका गुणस्तवनरूप मंगलका कथन

---

१. तिलो. प. गा. १–८ से १–३१।

२. धवला १-१–१ मंगलाचरण-गाथा।

३. सिद्धत्थ-पुण्ण-कुंभो वंदणमाला य मंगलं छत्तं।
सेदो वण्णो आदंसणो य कण्णा य जच्चस्सो ॥–धवला १-१-१ पृ. २७।

४. धवला १-१-१, पृ. ३१। तिलो. प. गा. १–८।

५. 'मलं गालयति विनाशयति दहति हन्ति विशोधयति विध्वंसयति इति मंगलम्।'.......
'अथवा, मंगं सुखं तल्लाति आदत्त इति वा मङ्गलम्।' धवला. १-१-१, पृ. ३२-३३।
'गालयदि विणासयदे घादेदि दहेदि हंति सोधयदे।
विद्धंसेदि मलाइं जम्हा तम्हा य मंगलं भणिदं ॥'–तिलो. प. १-९।
'अहवा मंगं सोक्खं लादि हु गेण्हेदि मंगलं तम्हा।
एदेण कज्जसिद्धिं मंगइ गच्छेदि गंथकत्तारो ॥–तिलो. प. १-१५।

६. 'सत्थादि-मज्झ-अवसाणएसु जिणतोत्तमंगलुच्चारो।
णासइ णिस्सेसाइं विग्घाइं रवि व्व तिमिराइं ॥'–ति. प. १-३१।

करनेसे समस्त विघ्न उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार सूर्योदयसे समस्त अन्धकार। इसके साथ ही तीनों स्थानोंमें मंगल करनेका पृथक्-पृथक् फल भी निर्दिष्ट किया है और लिखा है[1] कि शास्त्रके आदिमें मंगल करनेसे शिष्य सरलतासे शास्त्रके पारगामी बनते हैं। मध्यमें मंगल करनेसे निर्विघ्न विद्या प्राप्ति होती है और अन्तमें मंगल करनेसे विद्या-फलकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार जैनपरम्पराके दिगम्बर साहित्यमें[2] शास्त्रमें मंगल करनेका सुस्पष्ट उपदेश मिलता है। श्वेताम्बर आगम-साहित्यमें भी मंगलका विधान पाया जाता है। दशवैकालिकनिर्युक्ति (गा. २) में त्रिविध मंगल करनेका निर्देश है। विशेषावश्यकभाष्य (गा. १२-१४) में मंगलके प्रयोजनोंमें विघ्नविनाश और महाविद्याकी प्राप्तिको बतलाते हुए आदि मंगलका निर्विघ्नरूपसे शास्त्रका पारगत होना, मध्यमंगलका निर्विघ्नतया शास्त्र-समाप्तिकी कामना और अन्त्यमंगलका शिष्य-प्रशिष्योंमें शास्त्र-परम्पराका चालू रहना प्रयोजन बतलाया गया है। बृहत्कल्प-भाष्य (गा. २०) में मंगलके विघ्नविनाशके साथ शिष्यमें शास्त्रके प्रति श्रद्धाका होना आदि अनेक प्रयोजन गिनाये गये हैं। हिन्दी अनुवादके प्रारम्भमें यह कहा हो गया है कि हरिभद्र और विद्यानन्द आदि तार्किकोंने अपने तर्क-ग्रन्थोंमें भी मंगल करनेका समर्थन और उसके विविध प्रयोजन बतलाये हैं।

उपर्युक्त यह मंगल मानसिक, वाचिक और कायिकके भेदसे तीन प्रकारका है। वाचिक मंगल भी निबद्ध और अनिबद्धरूपसे दो तरहका है[3]। जो ग्रन्थके आदिमें ग्रन्थकारके द्वारा श्लोकादिकी रचनारूपसे इष्ट-देवता-नमस्कार निबद्ध किया जाता है वह वाचिक निबद्ध मंगल है और जो श्लोकादिकी रचनाके बिना ही जिनेन्द्रगुण-स्तवन किया जाता है वह अनिबद्ध मंगल है।

न्यायदीपिकामें अभिनव धर्मभूषणने भी अपनी पूर्व परम्पराका अनुसरण किया है और मंगलाचरणको निबद्ध किया है।

२. शास्त्रकी त्रिविध प्रवृत्ति :

शास्त्रकी त्रिविध (उद्देश, लक्षण-निर्देश और परीक्षारूप) प्रवृत्तिका कथन सबसे पहले वात्स्यायनके 'न्याय-भाष्य' में दृष्टिगोचर होता है[4]। प्रशस्तपाद-भाष्यकी टीका 'कन्दली' में श्रीधरने इस त्रिविध प्रवृत्तिमें उद्देश्य और लक्षणरूप द्विविध प्रवृत्तिको माना है और परीक्षाको अनियत कहकर निकाल दिया है[5]। इसका कारण यह है कि श्रीधरने जिस प्रशस्तपाद-भाष्यपर अपनी कन्दली टीका लिखी है वह भाष्य

१. 'पढमे मंगलवयणे सिस्सा सत्थस्स पारगा होंति ।
मज्झिम्मे णीविग्घं विज्जा विज्जाफलं चरिमे ॥'—तिलो. प. १-२९। धवला १-१-१, पृ. ४०।
२. यद्यपि 'कसायपाहुड' और 'चूर्णिसूत्र' के प्रारम्भमें मंगल नहीं किया है तथापि वहाँ मंगल न करनेका कारण यह है कि उन्हें स्वयं मंगलरूप मान लिया गया है।
३. धवला, १ १-१, पृ ४१ और आप्तपरीक्षा, पृ. २।
४. न्यायभाष्य, पृ १७, न्यायदीपिका, परिशिष्ट, पृ २३३।
५. 'एवं सर्वपदार्थानामुद्देशलक्षणमात्रं उभयथा प्रवृत्तिः—उद्देशो लक्षणञ्च। परीक्षायास्तु न नियमः।'—कन्दली, पृ २६।

लक्षणकी मान्यताएँ दो फलित होती हैं। एक तो लक्षणके लक्षणमें असाधारण धर्मका प्रवेश स्वीकार करनेवाली और दूसरी स्वीकार न करनेवाली। पहली मान्यता मुख्यतया न्याय-वैशेषिकोंकी है और जिसे जैन-परम्परामें भी क्वचित्[1] स्वीकार किया गया है। दूसरी मान्यता अकलंक-प्रतिष्ठित है और उसे आचार्य विद्यानन्द[2] तथा न्यायदीपिकाकार आदिने अपनायी है। न्यायदीपिकाकारने तो सप्रमाण इसे ही पुष्ट किया है और पहली मान्यताकी आलोचना करके उसमें दूषण भी दिखाये हैं। ग्रन्थकारका कहना है कि यद्यपि किसी वस्तुका असाधारण—विशेष धर्म उस वस्तुको इतर पदार्थोंसे व्यावर्तक होता है, परन्तु उसे लक्षणकोटिमें प्रविष्ट नहीं किया जा सकता, क्योंकि दण्डादि जो कि असाधारणधर्म नहीं हैं फिर भी पुरुषके व्यावर्तक होते हैं और 'शावलेयत्व' आदि गवादिकोंके असाधारणधर्म तो हैं, पर व्यावर्तक नहीं हैं। इसलिए इतना मात्र ही लक्षण करना ठीक है कि जो व्यावर्तक है—मिली हुई वस्तुओंमेंसे किसी एकको जुदा कराता है वह लक्षण है। चाहे वह साधारण धर्म हो या असाधारण धर्म या धर्म भी न हो। यदि वह लक्ष्यको लक्ष्येतरोंसे व्यावृत्ति कराता है तो लक्षण है और यदि नहीं कराता है तो वह लक्षण नहीं है। इस तरह अकलंक-प्रतिष्ठित लक्षणके लक्षणको ही न्यायदीपिकामें अनुसृत किया गया है।

४. प्रमाणका सामान्यलक्षण :

दार्शनिक परम्परामें सर्वप्रथम कणादने प्रमाणका सामान्यलक्षण निर्दिष्ट किय है। उन्होंने निर्दोष ज्ञानको विद्या—प्रमाण कहा है[3]। न्यायदर्शनके प्रवर्तक गौतमने न्यायसूत्रमें प्रमाणसामान्यका लक्षण उपलब्ध नहीं होता। पर उनके टीकाक वात्स्यायनने अवश्य 'प्रमाण' शब्दसे फलित होनेवाले उपलब्धिसाधन (प्रमाकरण) प्रमाणसामान्यका लक्षण सूचित किया है[4]। उद्योतकर[5], जयन्तभट्ट[6] आदि नैयायिकों वात्स्यायनके द्वारा सूचित किये इस उपलब्धिसाधनरूप प्रमाकरणको ही प्रमाण सामान्य लक्षण स्वीकृत किया है। यद्यपि न्यायकुसुमाञ्जलिकार[7] उदयन यथार्थानुभवको प्रमाण कहा है तथापि वह उन्हें प्रमाकरणरूप ही इष्ट है। ल ऊपर जान पड़ता है कि उनपर अनुभूतिको प्रमाण माननेवाले प्रभाकर और उन अनुयायी विद्वानोंका प्रभाव है क्योंकि उदयनके पहले न्याय-वैशेषिक परम्पर प्रमाणसामान्यलक्षणमें 'अनुभव' पदका प्रवेश प्रायः उपलब्ध नहीं होता। उनके बा

१. न्या. दी., परिशिष्ट, पृ. २४०।
२. न्या. दी., परिशिष्ट, पृ. २४०।
३. 'अदुष्टं विद्या'—वैशेषिकसू. ९।२।१२।
४. 'उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि समाख्यानिर्वचनसामर्थ्यात् बोद्धव्यम्। प्रमीयतेऽने करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दः'।—न्यायभा., पृ. १८।
५. 'उपलब्धिहेतुः प्रमाणं'—यदुपलब्धिनिमित्तं तत्प्रमाणं।'—न्यायवा., पृ. ५।
६. 'प्रमीयते येन तत्प्रमाणमिति करणार्थाभिधायिनः प्रमाणशब्दात् प्रमाकरणं प्रमाणमवगम्य —न्यायम., पृ. २५।
७. 'यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते।'—न्यायकु., ४-१।

तो अनेक नैयायिकोंने[1] अनुभवको ही प्रमाणसामान्यका लक्षण बतलाया है।

मीमांसकोंके मुख्यतया दो सम्प्रदाय हैं—१. भाट्ट और २. प्राभाकर। कुमारिल भट्टके अनुगामी भाट्ट और प्रभाकर गुरुके मतका अनुसरण करनेवाले प्राभाकर कहे जाते हैं। कुमारिलने प्रमाणके सामान्यलक्षणमें पाँच विशेषण दिये हैं—१. अपूर्वार्थविषयत्व, २. निश्चितत्व, ३ बाधवर्जितत्व, ४. अदुष्टकारणारब्धत्व और ५. लोकसम्मतत्व। वह लक्षण इस प्रकार है—

> तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्।
> अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम्॥

पिछले सभी भाट्टमीमांसकोंने इसी कुमारिलकर्तृक प्रमाण लक्षणको माना है और उसका समर्थन किया है। प्रभाकरने[2] अनुभूतिको प्रमाणसामान्यका लक्षण कहा है।

सांख्यदर्शनमें श्रोत्रादि-इन्द्रियोंकी वृत्ति (व्यापार) को प्रमाणका सामान्यलक्षण बतलाया गया है।

बौद्धदर्शनमें[3] अज्ञातार्थके प्रकाशक ज्ञानको प्रमाणका सामान्यलक्षण बतलाया है। दिग्नागने विषयाकार अर्थनिश्चय और स्वसंवित्तिको प्रमाणका फल कहकर उन्हें ही प्रमाण माना है[4], क्योंकि बौद्धदर्शनमें प्रमाण और फल भिन्न नहीं हैं और जो अज्ञातार्थप्रकाशरूप ही हैं। धर्मकीर्तिने[5] 'अविसंवादि' पद और लगाकर दिग्नागके ही लक्षणको प्रायः परिष्कृत किया है। तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षितने[6] सारूप्य और योग्यताको प्रमाण वर्णित किया है, जो एक प्रकारसे दिग्नाग और धर्मकीर्तिके प्रमाणसामान्यलक्षणका ही पर्यवसितार्थ है। इस तरह बौद्धोंके यहाँ स्वसंवेदी अथवा अज्ञातार्थज्ञापक अविसंवादि ज्ञानको प्रमाण कहा गया है।

जैन परम्परामें सर्वप्रथम स्वामी समन्तभद्र[7] और न्यायावतारकार सिद्धसेनने[8] प्रमाणका सामान्यलक्षण निर्दिष्ट किया है। समन्तभद्रने उसमें स्वपरावभासक और ज्ञान ये दो तथा सिद्धसेनने बाधविवर्जित सहित तीन विशेषण दिये हैं। भारतीय दार्शनिकोंमें समन्तभद्र ही प्रथम दार्शनिक हैं, जिन्होंने स्पष्टतया प्रमाणके सामान्यलक्षणमें 'स्वपरावभासक' पद रखा है। यद्यपि विज्ञानवादी बौद्धोंने भी ज्ञानको

---

१. 'बुद्धिस्तु द्विविधा मता अनुभूतिः स्मृतिश्च स्यादनुभूतिश्चतुर्विधा।'—सिद्धान्तमु., का. ५१। 'तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः।'"'सैव प्रमा।' —तर्कसं., पृ. ६८, ६९।

२. 'अनुभूतिश्च नः प्रमाणम्।' —बृहती., १-१-५।

३. 'अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम्।' —प्रमाणसमु. टी., पृ. ११।

४. 'स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद्रूपादर्थनिश्चयः। विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते॥'
—प्रमाणसमु १-१०।

५ 'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्'''—प्रमाणवा., २-१।

६. 'विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते। स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा॥'
—तत्त्वस., का १३४४।

७. 'स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्'—स्वयम्भू, का. ६३।

८. 'प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्।'—न्यायाव, का. १।

'स्वरूपस्य स्वतो गतेः'[1] कहकर स्वसंवेदी प्रकट किया है परन्तु तार्किकरूप देकर प्रमाणके लक्षणमें 'स्व' और 'पर' पदोंका एकसाथ निवेश समन्तभद्रका ही स्वोपज्ञ जान पड़ता है, क्योंकि उनके पहले वैसा प्रमाणलक्षण देखनेमें नहीं आता। समन्तभद्रने प्रमाणसामान्यका लक्षण 'युगपत्सर्वभासि तत्त्वज्ञान' भी किया है, जो उपर्युक्त लक्षणमें ही पर्यवसित है। दर्शनशास्त्रोंके अध्ययनसे ऐसा मालूम होता है कि 'प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्' अर्थात् 'जिसके द्वारा प्रमिति (परिच्छित्ति-विशेष) हो वह प्रमाण है' इस अर्थमें प्रायः सभी दर्शनकारोंने प्रमाणको स्वीकार किया है। परन्तु वह प्रमिति किसके द्वारा होती है अर्थात् प्रमितिका करण कौन है? इसे सबने अलग-अलग बतलाया है। नैयायिक और वैशेषिकोंका कहना है कि अर्थज्ञप्ति इन्द्रिय और अर्थके सन्निकर्षसे होती है, इसलिए सन्निकर्ष प्रमितिका करण है। मीमांसक सामान्यतया इन्द्रियको, सांख्य इन्द्रियवृत्तिको और बौद्ध सारूप्य एवं योग्यताको प्रमितिकरण बतलाते हैं। समन्तभद्रने 'स्वपरावभासक' ज्ञानको प्रमितिका अव्यवहित करण प्रतिपादन किया है। समन्तभद्रके उत्तरवर्ती पूज्यपादने भी स्वपराव-भासक ज्ञानको ही प्रमितिकरण (प्रमाण) होनेका समर्थन किया है और सन्निकर्ष, इन्द्रिय तथा मात्र ज्ञानको प्रमितिकरण (प्रमाण) माननेमें दोषोद्भावन भी किया है[2]। वास्तवमें प्रमिति—प्रमाणफल जब अज्ञाननिवृत्ति है तब उसका करण अज्ञान-विरोधी स्व और परका अवभासक ज्ञान ही होना चाहिए। समन्तभद्रके द्वारा प्रतिष्ठित इस 'स्वपरावभासक' प्रमाणलक्षणको आर्थिकरूपसे अपनाते हुए भी शाब्दिकरूपसे अकलंकदेवने अपना 'आत्मार्थग्राहक व्यवसायात्मक' ज्ञानको प्रमाण-लक्षण बतलाया है[3]। तात्पर्य यह कि समन्तभद्रके 'स्व' पदकी जगह 'आत्मा' और 'पर' पदके स्थानमें 'अर्थ' पद एवं 'अवभासक' पदकी जगह 'व्यवसायात्मक' पदको निविष्ट किया है। तथा 'अर्थ' के विशेषणरूपसे कहीं 'अनधिगत'[4], कहीं अनिश्चित[5] और कहीं 'अनिर्णीत'[6] पदको दिया है। कहीं ज्ञानके विशेषणरूपसे 'अविसंवादि'[7] पदको भी रखा है। ये पद कुमारिल तथा धर्मकीर्तिसे लिये हुए मालूम होते हैं; क्योंकि उनके प्रमाणलक्षणोंमें ये पहलेसे ही विहित हैं। अकलंकदेवके उत्तरवर्ती माणिक्यनन्दिने अकलंकदेवके 'अनधिगत' पदके स्थानमें कुमारिलोक्त 'अपूर्वार्थ' और 'आत्मा' पदके स्थानमें समन्तभद्रोक्त 'स्व' पदका निवेश करके 'स्वा-पूर्वार्थ' जैसा एक पद बना लिया है और 'व्यवसायात्मक' पदको ज्यों-का-त्यों अपना-कर 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञानं' यह प्रमाणसामान्यका लक्षण प्रकट किया है[8]।

१ प्रमाणवा. २।४।

२. सर्वार्थसि., १-१०।

३ 'व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम्।' —लघीय., का. ६०।

४. 'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानं अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्।' —अष्टश., देवा. का. ३६।

५. 'तिमिराद्युपप्लवज्ञान प्रमाणं अनिश्चितनिश्चयात्।—'अष्टश.' देवा. का. १०१।

६. 'प्रकृतस्यापि न वै प्रामाण्यं प्रतिषेध्यं, अनिर्णीतनिर्णायकत्वात्।'—अष्टश., देवा.का.१०१।

७ 'प्रमाणमविसंवादिज्ञानम्'—अष्टश., देवा. का. ३६।

८. 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।'—परीक्षामु., १-१।

विद्यानन्दने यद्यपि संक्षेपमें 'सम्यग्ज्ञान' को प्रमाण कहा है[1] और पीछे उसे 'स्वार्थ-व्यवसायात्मक' सिद्ध किया है[2], अकलंक तथा माणिक्यनन्दिकी तरह स्पष्ट तौरपर 'अनधिगत' या 'अपूर्व' विशेषण उन्होंने नहीं दिया, तथापि सम्यग्ज्ञानको अनधिगतार्थविषयक या अपूर्वार्थविषयक मानना उन्हें अनिष्ट नहीं है। उन्होंने जो अपूर्वार्थका खण्डन किया है[3] वह कुमारिलके सर्वथा 'अपूर्वार्थ' का खण्डन है, कथंचिद् अपूर्वार्थ' तो उन्हें अभिप्रेत है[4]। अकलंकदेवकी तरह स्मृत्यादि प्रमाणोंमें अपूर्वार्थताका उन्होंने स्पष्टतया समर्थन किया है। सामान्यतया प्रमाणलक्षणमें अपूर्व पदको न रखनेका तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष तो अपूर्वार्थग्राही होता ही है और अनुमानादि प्रत्यक्षसे अगृहीत धर्मांशोंमें प्रवृत्त होनेसे अपूर्वार्थग्राहक सिद्ध हो जाते हैं। यदि विद्यानन्दको स्मृत्यादिक अपूर्वार्थविषयक इष्ट न होते तो उनकी प्रमाणतामें प्रयोजक अपूर्वार्थताको वे कदापि न बतलाते। इससे स्पष्ट है कि विद्यानन्द भी प्रमाणको अपूर्वार्थग्राही मानते हैं। इस तरह समन्तभद्र और अकलंकदेवका प्रमाण-सामान्यलक्षण ही उत्तरवर्ती जैन तार्किकोंके लिए आधार हुआ है। धर्मभूषणने न्यायदीपिकामें आ. गृद्धपिच्छ द्वारा स्वीकृत और विद्यानन्दके द्वारा समर्थित 'सम्यक्ज्ञानत्व' रूप प्रमाणके सामान्यलक्षणको ही अपनाया है और उसे अपनी पूर्वपरम्परानुसार सविकल्पक, अगृहीतग्राही एवं स्वार्थव्यवसायात्मक सिद्ध किया है तथा धर्मकीर्ति, प्राभाकर, भाट्ट और नैयायिकोंके प्रमाणसामान्यलक्षणोंकी आलोचना की है।

५. धारावाहिक ज्ञान :

दार्शनिक ग्रन्थोंमें धारावाहिक ज्ञानोंके प्रामाण्य और अप्रामाण्यकी विस्तृत चर्चा पायी जाती है। न्याय-वैशेषिक और मीमांसक उन्हें प्रमाण मानते हैं। पर उनकी प्रमाणताका समर्थन वे अलग-अलग ढंगसे करते हैं। न्याय-वैशेषिकोंका[5]

---

१. 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्'–प्रमाणपरी., पृ. १।

२. 'किं पुनः सम्यग्ज्ञानं ? अभिधीयते—स्वार्थव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानत्वात्……' —प्रमाणप., पृ. १।

३. 'तत्स्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता।
लक्षणेन गतार्थत्वात् व्यर्थमन्यद्विशेषणम्–॥' –तत्त्वार्थश्लो., पृ. १७४।

४. 'सकलदेशकालव्याप्तसाध्यसाधनसम्बन्धोहापोहलक्षणो हि तर्कः प्रमाणयितव्यः, तस्य कथञ्चिदपूर्वार्थत्वात्।'—प्र. प. पृ. ४५। 'न चैतद् गृहीतग्रहणादप्रमाणमिति शङ्कनीयम्, तस्य कथञ्चिदपूर्वार्थत्वात्। न हि तद्विषयभूतमेकं द्रव्यं स्मृति-प्रत्यक्षग्राह्यं, येन तत्र प्रवर्तमानं प्रत्यभिज्ञानं गृहीतग्राहि मन्येत, तद्गृहीतातीतवर्तमानविवर्त्ततादात्म्यस्य द्रव्यस्य कथञ्चिद-पूर्वार्थत्वेऽपि प्रत्यभिज्ञानस्य तद्विषयस्य नाप्रमाणत्वं, लैंगिकादेरप्यप्रमाणत्वप्रसंगात्, तस्यापि सर्वथैवापूर्वार्थत्वासिद्धेः।'–प्रमाणप., पृ. ४३। 'स्मृतिः प्रमाणान्तरमुक्तं ''न चासावप्रमाणमेव संवादकत्वात्। कथञ्चिदपूर्वार्थग्राहित्वात्''—प्रमाणप., पृ. ३६। 'गृहीतग्रहणात्तर्कोऽप्रमाणमिति चेन्न वै। तस्यापूर्वार्थवेदित्वादुपयोगविशेषतः॥' —तत्त्वार्थश्लोक., पृ. १९५।

५. 'अनधिगतार्थगन्तृत्वं च धारावाहिकज्ञानानामधिगतगोचराणां लोकसिद्धप्रमाणभावानां प्रामाण्यं विहन्तीति नाद्रियामहे।……तस्मादर्थप्रदर्शनमात्रव्यापारमेव ज्ञानं प्रवर्तकं

नहीं माना था। इस प्रश्नका उत्तर सर्वप्रथम[1] दार्शनिकरूपसे सम्भवतः प्रथम शताब्दीमें हुए तत्त्वार्थसूत्रकार आ. उमास्वातिने[2] दिया है। उन्होंने कहा कि सम्यग्ज्ञान प्रमाण है और वह मूलमें दो ही भेदरूप है—१. प्रत्यक्ष और २ परोक्ष। आ. उमास्वातिका यह मौलिक प्रमाणद्वयविभाग इतना सुविचारपूर्वक और कौशल्य-पूर्ण हुआ है कि प्रमाणोंका आनन्त्य भी इन्हीं दोमें समा जाता है। इनसे अतिरिक्त पृथक् तृतीय प्रमाण माननेकी बिल्कुल आवश्यकता नहीं रहती है। जबकि वैशेषिक और बौद्धोंके प्रत्यक्ष तथा अनुमानरूप द्विविध प्रमाण-विभागमें अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। उन्होंने अति संक्षेपमें मति, स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान) इनको भी प्रमाणान्तर होनेका संकेत करके और उन्हें मतिज्ञान कहकर 'आद्ये परोक्षम्' सूत्रके द्वारा परोक्ष-प्रमाणमें ही अन्तर्भूत कर लिया है[3]। आ. उमास्वातिने इस प्रकार प्रमाणद्वयका विभाग करके उत्तरवर्ती जैनतार्किकोंके लिए प्रशस्त और सरल मार्ग बना दिया। दर्शनान्तरोंमें प्रसिद्ध उपमानादिकको भी परोक्षमें ही अन्तर्भाव होनेका स्पष्ट निर्देश उनके बादमें होनेवाले पूज्यपादने कर दिया[4]। अकलंकदेवने उसी मार्गपर चलकर परोक्ष-प्रमाणके भेदोंको स्पष्ट संख्या बतलाते हुए उनको सयुक्तिक सिद्धि की और प्रत्येकका लक्षण प्रणयन किया[5]। आगे तो परोक्ष-प्रमाणोंके सम्बन्धमें उमास्वाति और अकलंकने जो दिशा निर्धारित की उसीपर सब जैन तार्किक अविरुद्धरूपसे चले हैं। अकलंकदेवके सामने भी एक प्रश्न उपस्थित हुआ। वह यह कि लोकमें तो इन्द्रियाश्रित ज्ञानको प्रत्यक्ष माना जाता है, पर जैनदर्शन उसे परोक्ष कहता है, यह लोकविरोध कैसा ? इसका समाधान उन्होंने बड़े स्पष्ट और प्रांजल शब्दोंमें दिया है। वे कहते हैं[6]—प्रत्यक्ष दो प्रकारका है—१. सांव्यवहारिक और २. मुख्य। लोकमें जिस इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षको प्रत्यक्ष कहा जाता है वही व्यवहारसे तथा देशतः विशद होनेसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके रूपमें जैनोंको इष्ट है। अतः कोई विरोध नहीं है। अकलंकके बाद सभी जैन तर्कग्रन्थकारों-

---

१. यद्यपि श्वेताम्बरीय स्थानांग और भगवतीमें भी प्रत्यक्ष-परोक्षरूप प्रमाणद्वयका विभाग निर्दिष्ट है, पर उसे पं. सुखलालजी निर्युक्तिकार भद्रबाहुके बादका मानते हैं, जिनका समय विक्रमकी छठी शताब्दी है। —प्रमाणमी., भा. टि., पृ. २०। तथा श्वे. मुनि श्रीचतुरविजयजीका 'श्रीभद्रबाहु' शीर्षक लेख 'अनेकान्त' वर्ष ३, कि. १२ तथा 'क्या निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र एक हैं ?' शीर्षक मेरा लेख, 'अनेकान्त', वर्ष ६, कि. १०-११, पृ. ३३८ और यही ग्रन्थ पृ. ९५।

२. 'तत्प्रमाणे', 'आद्ये परोक्षम्', 'प्रत्यक्षमन्यत्'—तत्त्वार्थसू., १-१०, ११, १२।

३. 'मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्'—तत्त्वार्थसू., १-१४।

४. 'उपमानार्थापत्त्यादीनामत्रैवान्तर्भावात्।', 'अत उपमानागमादीनामत्रैवान्तर्भावः'
—सर्वार्थसिद्धि, पृ. ६४।

५. 'ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधिकम्।
'प्राङ्नामयोजनात् शेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात्॥'—लघीय., का. ११।
'परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाणे इति संग्रहः'—लघीय० का० ३।

६. 'प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्य-संव्यवहारतः।'—लघीय., का. ३।

ने इसे स्वीकार किया और अपने-अपने उन ग्रन्थोंमें बड़े आदरके साथ अपनाया है। इस तरह सूत्रकार उमास्वातिने जो प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद निर्धारित किये थे उन्हें ही जैन तार्किकोंने परिपुष्ट और समर्थित किया है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि समन्तभद्रस्वामीने[1], जो उमास्वातिके उत्तरवर्ती और पूज्यपादके पूर्ववर्ती हैं, प्रमाणके अन्य प्रकारसे भी दो भेद किये हैं—१. अक्रमभावि और २ क्रमभावि। केवलज्ञान अक्रमभावि है और शेष मत्यादि चार ज्ञान क्रमभावि हैं। पर यह प्रमाणद्वयका विभाग उपयोगके क्रमाक्रमकी अपेक्षासे है। समन्तभद्रके लिए आप्तमीमांसामें आप्त विवेचनीय विषय है। अतः आप्तके ज्ञानको उन्होंने अक्रमभावि और आप्तभिन्न—अनाप्त (छद्मस्थ) जीवोंके प्रमाणज्ञानको क्रमभावि बतलाया है। इसलिए उपयोगभेद या व्यक्तिभेदकी दृष्टिसे किया गया यह प्रमाणद्वयका विभाग है। धर्मभूषणने सूत्रकार उमास्वाति निर्दिष्ट प्रत्यक्ष और परोक्षरूप प्रमाणके दो भेद प्रदर्शित किये हैं और उनके उत्तरभेदोंकी परम्परानुसार परिगणना की है। जैनदर्शनमें प्रमाणके जो भेद-प्रभेद किये गये हैं वे प्रमाणपरीक्षाके अनुसार इस प्रकार हैं[2]—
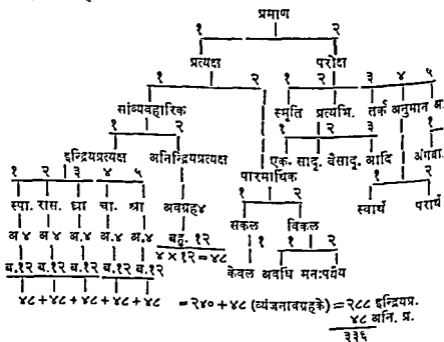
१ 'तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम्॥' —आप्तमी., का. १०१।

२. 'स्पर्शनादीन्द्रियनिमित्तस्य बहुबहुविधक्षिप्रानिसृतानुक्तध्रुवेषु सेतरेष्वर्थेषु प्रवर्तमानस्यावग्रहाद्यष्टचत्वारिंशद्भेदस्य व्यञ्जनावग्रहभेदैरष्टचत्वारिंशता सहितस्य संख्या षट्त्रिंशदधिकत्रिशती प्रतिपत्तव्या। तथा अनिन्द्रियप्रत्यक्षं बह्वादिद्वादशप्रकारार्थविषयमवग्रहादिविकल्पमष्टचत्वारिंशत्संख्यं प्रतिपत्तव्यम्।'—प्रमाणप., पृ. ४०।

८. प्रत्यक्षका लक्षण :

दार्शनिक जगत्में प्रत्यक्षका लक्षण अनेक प्रकारका उपलब्ध होता है। नैयायिक और वैशेषिक सामान्यतया इन्द्रिय और अर्थके सन्निकर्षको प्रत्यक्ष कहते हैं[१]। सांख्य श्रोत्रादि इन्द्रियोंकी वृत्तिको और मीमांसक[२] इन्द्रियोंका आत्माके साथ सम्बन्ध होनेपर उत्पन्न होनेवाली बुद्धि (ज्ञान) को प्रत्यक्ष मानते हैं। बौद्धदर्शनमें तीन मान्यतायें हैं—१. वसुबन्धुकी, २ दिग्नागकी और ३ धर्मकीत्तिकी। वसुबन्धुने[3] अर्थजन्य निर्विकल्पक बोधको, दिग्नागने[४] नामजात्यादिरूप कल्पनासे रहित निर्विकल्प ज्ञानको और धर्मकीत्तिने[५] निर्विकल्पक तथा अभ्रान्त ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा है। सामान्यतया निर्विकल्पकको सभी बौद्ध तार्किकोंने प्रत्यक्ष स्वीकार किया है। दर्शनान्तरोंमें और भी कितने ही प्रत्यक्ष-लक्षण किये गये हैं। पर वे सब इस संक्षिप्त स्थानपर प्रस्तुत नहीं किये जा सकते हैं।

जैनदर्शनमें सबसे पहले सिद्धसेन[६] (न्यायावतारकार) ने प्रत्यक्षका लक्षण किया है। उन्होंने अपरोक्षरूपसे अर्थको ग्रहण करनेवाले ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा है। इस लक्षण में अन्योन्याश्रय नामका दोष होता है, क्योंकि प्रत्यक्षका लक्षण परोक्षघटित है और परोक्षका लक्षण (प्रत्यक्षभिन्नत्व) प्रत्यक्षघटित है। अकलंकदेवने[७] प्रत्यक्षका ऐसा लक्षण बनाया, जिससे वह दोष नहीं रहा। उन्होंने कहा कि जो ज्ञान विशद है—स्पष्ट है वह प्रत्यक्ष है। यह लक्षण अपने आपमें स्पष्ट तो है ही, साथमें बहुत ही संक्षिप्त और अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषोंसे पूर्णतः रहित भी है। सूक्ष्मप्रज्ञ अकलंकका यह अकलंक लक्षण जैनपरम्परामें इतना प्रतिष्ठित और व्यापक हुआ कि दोनों ही सम्प्रदायोंके श्वेताम्बर और दिगम्बर विद्वानोंने बड़े आदरभावसे अपनाया है। जहाँ तक मालूम है, फिर दूसरे किसी जैन तार्किकको प्रत्यक्षका अन्य लक्षण बनाना आवश्यक नहीं हुआ और यदि किसीने बनाया भी हो तो उसकी उतनी न तो प्रतिष्ठा हुई है और न उसे उतना अपनाया ही गया है। अकलंकदेवने अपने प्रत्यक्ष लक्षणमें उपात्त वैशद्यका[८] भी खुलासा कर दिया है। उन्होंने अनुमादिककी अपेक्षा

---

१. 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्'।
—न्यायसूत्र. १-१-४।

२. 'तत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म सत् प्रत्यक्षम्।'—जैमिनि. १-१-४।

३. 'अर्थाद्विज्ञानं प्रत्यक्षम्'।—प्रमाणस. पृ. ३२।

४. 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्।' प्रमाणसमु. १-३।

५. 'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्।'—न्यायबिन्दु पृ ११।

६. 'अपरोक्षतयाऽर्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशम्। प्रत्यक्षमितरद् ज्ञेयं परोक्षं ग्रहणेक्षया॥'
—न्यायाव. का. ४।

७. 'प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानम्।'—लघीय. का. ३। 'प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा।'
—न्यायवि. का. ३।

८. 'अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्।
तद्वैशद्यं मतं बुद्धेरवैशद्यमतः परम्॥'—लघीय. का. ४।

विशेष प्रतिभास होनेको वैशद्य कहा है। धर्मभूषणने भी न्यायदीपि
इन प्रत्यक्ष और वैशद्यके लक्षणोंको बतलाया है और उनके सूत्रात्मक कथनको औ
अधिक स्फुटित किया है।

९. अर्थ और आलोककी कारणताका निरास :

बौद्ध ज्ञानके प्रति अर्थ और आलोकको कारण मानते हैं। उन्होंने चा
प्रत्ययों (कारणों) से सम्पूर्ण ज्ञानों (रूपादिज्ञानादि) की उत्पत्ति वर्णित की है।
प्रत्यय ये हैं—१. समनन्तरप्रत्यय, २. अधिपतिप्रत्यय, ३. आलम्बनप्रत्यय और
४. सहकारिप्रत्यय। पूर्वज्ञान उत्तरज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण होता है, इसलिए व
समनन्तरप्रत्यय कहलाता है। चक्षुरादिक इन्द्रियाँ अधिपतिप्रत्यय कही जाती हैं
अर्थ (विषय) आलम्बनप्रत्यय कहा जाता है और आलोक आदि सहकारिप्रत्यय है
इस तरह बौद्धोंने इन्द्रियोंके अलावा अर्थ और आलोकको भी कारण स्वीकार कि
है। अर्थकी कारणतापर तो यहाँ तक जोर दिया है कि ज्ञान यदि अर्थसे उत्पन्न न
तो वह अर्थको विषय भी नहीं कर सकता है[1]। यद्यपि नैयायिक आदिने भी अर्थ
ज्ञानका कारण माना है, पर उन्होंने उतना जोर नहीं दिया। इसका कारण यह है
नैयायिक आदि ज्ञानके प्रति सीधा कारण सन्निकर्षको मानते हैं। अर्थ तो सन्निक
द्वारा कारण होता है। अतएव जैन तार्किकोंने नैयायिक आदिके अर्थकारणतावा
पर उतना विचार नहीं किया जितना कि बौद्धोंके अर्थालोककारणतावादपर कि
है। एक बात और है, बौद्धोंने अर्थजन्यत्व, अर्थाकारता और अर्थाध्यवसाय इन ती
को ज्ञानप्रामाण्यके प्रति प्रयोजक बतलाया है और प्रतिकर्मव्यवस्था भी ज्ञान
अर्थजन्य होनेमें ही की है। अतः आवरणक्षयोपशमको ही प्रत्येक ज्ञानके प्रति कार
माननेवाले जैनोंके लिए यह उचित और आवश्यक था कि वे बौद्धोंके इस मन्तव्य
पूर्ण विचार करें और उनके अर्थालोककारणत्वपर सबलताके साथ चर्चा चलाएँ त
जैनदृष्टिसे विषय-विषयीके प्रतिनियमनकी व्यवस्थाका प्रयोजक कारण स्थिर करें
कहा जा सकता है कि इस सम्बन्धमें सर्वप्रथम सूक्ष्मदृष्टि अकलङ्कदेवने अपनी सफ
लेखनी चलाई है और अर्थालोककारणताका सयुक्तिक निरसन किया है। त
स्वावरणक्षयोपशमको विषय-विषयीका प्रतिनियामक बताकर ज्ञानप्रामाण्य
प्रयोजक संवाद (अर्थाव्यभिचार) को बताया है। उन्होंने संक्षेपमें कहा[2] है

---

१. 'नाकारणं विषयः' इति वचनात्।

२. 'अयमर्थ इति ज्ञानं विद्यान्नोत्पत्तिमर्थतः।
अन्यथा न विवादः स्यात् कुलालादिघटादिवत् ॥'—लघी. ५३। 'अर्थस्य तदकारण
स्यात्। तस्य इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वात् अर्थस्य विषयत्वात्।'—लघी. स्वो. का. ५२
'यथास्वं कर्मक्षयोपशमापेक्षिणी करणमनसी निमित्तं विज्ञानस्य न बहिरर्थादयः
"नानुकृतान्वयव्यतिरेकं" कारणं, "नाकारणं विषयः" इति बालिशगीतम्, तामसखगकु
लानां तमसि सति रूपदर्शनमावरणविच्छेदात्, तदविच्छेदात् आलोके सत्यपि संशयादिज्ञा
सम्भवात्। काचाद्युपहतेन्द्रियाणां शंखादौ पीताद्याकारज्ञानोत्पत्तेः मुमूर्षोः यथासम्भवम
सत्यपि विपरीतप्रतिपत्तिसद्भावात् नार्थादयः कारणं ज्ञानस्येति।'—लघी. ५७।

'ज्ञान अर्थसे उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि ज्ञान तो 'यह अर्थ है' यही जानता है 'अर्थसे में उत्पन्न हुआ' इस बातको वह नहीं जानता। यदि जानता होता तो किसीको विवाद नहीं होना चाहिए था। जैसे घट और कुम्हारके कार्यकारणभावमें किसीको विवाद नहीं है। दूसरी बात यह है कि अर्थ तो विषय (ज्ञेय) है वह कारण कैसे हो सकता है ? कारण तो इन्द्रिय और मन हैं। तीसरे, अर्थके रहनेपर भी विपरीत ज्ञान देखा जाता है और अर्थाभावमें भी केशोण्डुकादि ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार आलोक भी ज्ञानके प्रति कारण नहीं है, क्योंकि आलोकाभावमें उल्लू आदिको ज्ञान होता है और आलोकसद्भावमें संशयादि ज्ञान देखे जाते हैं। अतः अर्थादिक ज्ञानके कारण नहीं हैं। किन्तु आवरणक्षयोपशमापेक्ष इन्द्रिय और मन ही ज्ञानके कारण है।' इसके साथ ही उन्होंने अर्थजन्यत्व आदिको ज्ञानकी प्रमाणतामें अप्रयोजक बतलाते हुए कहा है[1] कि 'तदुत्पत्ति, ताद्रूप्य और तदध्यवसाय ये तीनों मिलकर अथवा प्रत्येक भी प्रमाणतामें कारण नहीं हैं। क्योंकि अर्थ ज्ञानक्षण३) प्राप्त न होकर पहले ही नष्ट हो जाता है और ज्ञान अर्थके अभावमें हो होता है, उसके रहते हुए नहीं होता, इसलिए तदुत्पत्ति ज्ञान-प्रामाण्यमें प्रयोजक नहीं है। ज्ञान अमूर्त्त है, इसलिए उसमें आकार सम्भव नहीं है। मूर्तिक दर्पणादिमें ही आकार देखा जाता है। अतः तदाकारता भी नहीं बनती है। ज्ञानमें अर्थ नहीं और न अर्थ ज्ञानात्मक है, जिससे ज्ञानके प्रतिभासमान होनेपर अर्थका भी प्रतिभास हो जाय। अतः तदध्यवसाय भी सम्भव नहीं है। जब ये तीनों बनते ही नहीं तब वे प्रामाण्यके प्रति कारण कैसे हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं हो सकते हैं। अतएव जिस प्रकार अर्थ अपने कारणोंसे होता है उसी प्रकार ज्ञान भी अपने (इन्द्रिय-क्षयोपशमादि) कारणोंसे होता है[2]। इसलिए संवाद (अर्थाऽव्यभिचार) को ही ज्ञानप्रामाण्यका कारण मानना संगत और उचित है।' अकलंकदेवका यह सयुक्तिक निरूपण ही उत्तरवर्ती विद्यानन्द, माणिक्य-नन्दि, प्रभाचन्द आदि सभी जैन नैयायिकोंके लिए आधार हुआ है। धर्मभूषणने भी इसी पूर्वपरम्पराका अनुसरण करके बौद्धोंके अर्थालोककारणवादकी विशद समालोचना की है।

---

१. 'न तज्जन्म न ताद्रूप्यं न तद्व्यवसितिः सह।
प्रत्येकं वा भजन्तीह प्रामाण्यं प्रति हेतुताम्॥
नार्थः कारणं विज्ञानस्य कार्यकालमप्राप्य निवृत्तेः अतीततमवत्। न ज्ञानं तत्कार्यं तदभाव एव भावात्, तद्भावे चाऽभावात् भविष्यत्तमवत्, नार्थसारूप्यभृद्विज्ञानम्, अमूर्त्तत्वात्। मूर्त्ता एव हि दर्पणादयः मूर्त्तमुखादिप्रतिबिम्बधारिणो दृष्टाः, नामूर्त्तं मूर्त्तप्रतिबिम्बभृत्, अमुर्त्तं च ज्ञानम्, मूर्तिधर्माभावात्। न हि ज्ञानेऽर्थोऽस्ति तदात्मको वा येन तस्मिन् प्रतिभासमाने प्रतिभासेत शब्दवत्। ततः तदध्यवसायो न स्यात्। कथमेतदविद्यमानं त्रितयं ज्ञानप्रामाण्ये प्रत्युपकारकं स्यात् अलक्षणत्वेन ?"—लघीय. स्वो. का. ५८।

२. 'स्वहेतुजनितोऽप्यर्थः परिच्छेद्यः स्वतो यथा।
तथा ज्ञानं स्वहेतुत्थं परिच्छेदात्मकं स्वतः॥'
—लघीय. का. ५९।

धर्मज्ञताको प्रश्रय दिया गया है। यद्यपि शान्तरक्षित[1] प्रभृति बौद्ध तार्किकोंने सर्वज्ञताका भी साधन किया है। पर वह गौण है[2]। मुख्यतया बौद्धदर्शन धर्मज्ञवादी ही प्रतीत होता है।

जैनदर्शनमें आगमग्रन्थों और तर्कग्रन्थोंमें सर्वत्र धर्मज्ञ और सर्वज्ञ दोनोंका ही प्रारम्भसे प्रतिपादन एवं प्रबल समर्थन किया गया है। षट्खण्डागमसूत्रोंमें[3] सर्वज्ञत्व और धर्मज्ञत्वका स्पष्टतः प्रतिपादन मिलता है। आ. कुन्दकुन्दने प्रवचनसारमें[4] विस्तृतरूपसे सर्वज्ञताकी सिद्धि की है। उत्तरवर्ती समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक, हरिभद्र, विद्यानन्द प्रभृति जैन तार्किकोंने धर्मज्ञत्वको सर्वज्ञत्वके भीतर ही गर्भित करके सर्वज्ञत्वपर महत्त्वपूर्ण प्रकरण लिखे हैं। समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाको तो अकलंकदेवने[5] 'सर्वज्ञविशेष-परीक्षा' कहा है। निश्चय ही सर्वज्ञताके सम्बन्धमें जितना अधिक चिन्तन जैनदर्शनने किया है और भारतीय दर्शनशास्त्रको तत्सम्बन्धी विपुल साहित्यसे समृद्ध बनाया है उतना अन्य दूसरे दर्शनने शायद ही किया हो।

अकलंकदेवने[6] सर्वज्ञत्वके साधनमें अनेक युक्तियोंके साथ एक युक्ति बड़े महत्त्वकी दी है। वह यह कि सर्वज्ञके सद्भावमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है, इसलिए उसका अस्तित्व होना ही चाहिए। उन्होंने जो भी बाधक हो सकते हैं उन सबका सुन्दर ढंगसे निराकरण भी किया है। एक दूसरी महत्त्वपूर्ण युक्ति उन्होंने यह दी है[7] कि आत्मा 'ज्ञ'—ज्ञाता है और उसके ज्ञानस्वभावको ढकनेवाले आवरण दूर होते हैं। अतः आवरणोंके विच्छिन्न हो जानेपर ज्ञस्वभाव आत्माके लिए फिर ज्ञेय—जानने योग्य क्या बचेगा? अर्थात् कुछ भी नहीं। अप्राप्यकारी ज्ञानसे सकलार्थपरिज्ञान होना अवश्यम्भावी है। इन्द्रियाँ और मन सकलार्थपरिज्ञानमें साधक न होकर बाधक हैं वे जहाँ नहीं हैं और आवरणोंका पूर्णतः अभाव है वहाँ त्रैकालिक और त्रिलोकवर्ती यावत् पदार्थोंका साक्षात् ज्ञान होनेमें कोई बाधा नहीं है। वीरसेनस्वामी[8] और आचार्य विद्यानन्दने[9] भी इसी आशयके एक महत्त्वपूर्ण श्लोकको[10] उद्धृत करके

---

१. 'स्वर्गापवर्गसम्प्राप्तिहेतुज्ञोऽस्तीति गम्यते। साक्षान्न केवलं किन्तु सर्वज्ञोऽपि प्रतीयते॥' —तत्त्वसं., का. ३३०९।

२. 'मुख्यं हि तावत् स्वर्गमोक्षसम्प्रापकहेतुज्ञत्वसाधनं भगवतोऽस्माभिः क्रियते। यत्पुनः अशेषार्थपरिज्ञातृत्वसाधनमस्य तत् प्रासंगिकम्।' —तत्त्वसं., पं. पृ. ८६३।

३. 'सयं भगवं [illegible] सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदि—।' —षट्खं., ५,५,६८।

४. प्रवचनसार, ज्ञानमीमांसा।

५. अष्टश., देवा., का. ११४।

६. अष्टश., देवा., का. ३।

७. 'ज्ञस्यावरणविच्छेदे ज्ञेयं किमवशिष्यते।
अप्राप्यकारिणस्तस्मात् सर्वार्थावलोकनम्॥' —न्यायवि., का. ४६५ तथा का. ३६१, ३६२

८. जयधवला प्र. भा., पृ. ६६।

९. अष्टस., पृ. ५०।

१०. 'ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने।
दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धने॥'

आत्मामें सर्वज्ञताका उपपादन किया है, जो वस्तुतः अकेला ही सर्वज्ञताको
िमें समर्थ एवं पर्याप्त है। इस तरह हम देखते हैं कि जैनपरम्परामें मुख्य
ताधिक एवं निरवधि सर्वज्ञता मानी गयी है। यह सांख्य-योगादिकी तरह
अवस्था तक ही सीमित नहीं रहती, मुक्त अवस्थामें भी अनन्तकाल तक
ी है, क्योंकि ज्ञान आत्माका मूलभूत निजी स्वभाव है और सर्वज्ञता
ासमें उसीका विकसित पूर्णरूप है। इतरदर्शनोंकी तरह यह न तो मात्र
र्मीमांसादिवत् है और न योगजविभूति ही है। धर्मभूषणने स्वामी
ी सरणिसे सर्वज्ञताका साधन किया है और उन्हींकी सर्वज्ञत्वसाधिका
ीका विशद विवरण किया है। प्रथम तो सामान्य सर्वज्ञका समर्थन किया
ाद् 'निर्दोषत्व' हेतुके द्वारा अर्हन्त जिनको ही सर्वज्ञ सिद्ध किया है।

ः

दर्शनमें प्रमाणका दूसरा भेद परोक्ष है। यद्यपि बौद्धोंने परोक्षशब्दका
ुमानके विषयभूत अर्थमें किया है, क्योंकि उन्होंने[1] दो प्रकारका अर्थ माना
–१ प्रत्यक्ष और २ परोक्ष। प्रत्यक्ष तो साक्षात्क्रियमाण है और परोक्ष उससे
तथापि जैन परम्परामें[2] 'परोक्ष' शब्दका प्रयोग प्राचीन समयसे परोक्ष ज्ञान-
ही होता चला आ रहा है। दूसरे, प्रत्यक्षता और परोक्षता वस्तुतः ज्ञाननिष्ठ
ायको प्रत्यक्ष एवं परोक्ष होनेसे अर्थ भी उपचारसे प्रत्यक्ष और परोक्ष कहा
। यह अवश्य है कि जैन दर्शनके इस 'परोक्ष' शब्दका व्यवहार और उसकी
दूसरोंको कुछ विलक्षण-सी मालूम होगी, परन्तु वह इतनी सुनिश्चित और
है कि शब्दको तोड़े-मरोड़े बिना ही सहजमें आंशिक बोध हो जाता है।
जैनदर्शनसम्मत परिभाषा विलक्षण इसलिए मालूम होगी कि लोकमें
ापारहित ज्ञानको परोक्ष कहा गया है[3]। जबकि जैनदर्शनमें इन्द्रियादि
ायसे होनेवाले ज्ञानको परोक्ष कहा है[4]। वास्तवमें 'परोक्ष' शब्दसे भी यही
त होता है। इस परिभाषाको ही केन्द्र बनाकर अकलंकदेवने परोक्षकी
परिभाषा रची है। उन्होंने अविशद ज्ञानको परोक्ष कहा है[5]। जान
कि अकलंकदेवका यह प्रयत्न सिद्धान्तमतका लोकके साथ समन्वय करनेकी
ा है। बादमें तो अकलंकदेवकृत यह परोक्ष-लक्षण जैनपरम्परामें इतना

ो अर्थ, प्रत्यक्षः परोक्षश्च। तत्र प्रत्यक्षविषयः साक्षात्क्रियमाणः प्रत्यक्षः। परोक्षः
ाक्षात्कारपरिभिद्यमानोऽनुमेयत्वादनुमानविषयः।'—प्रमाणस., पृ. ११। न्यायवा.
तात्प., पृ. १५८।

ो विण्णाणं तं तु परोक्खं त्ति भणिदमत्थेसु।
ेवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं॥'—प्रवचनसा. गा. ५८।
सि., १-१२।
सि., १-११।
ैव विपरीतिर्मीमितः प्रत्यक्षम्, इतरस्य परोक्षता।'—लघीय. स्वो., का. ३।

प्रतिष्ठित हुआ है कि उत्तरवर्ती सभी जैन तार्किकोने[1] उसे अपनाया है—सबकी दृष्टि परोक्षको परापेक्ष माननेकी ही रही है।

आ. कुन्दकुन्दने[2] परोक्षका लक्षण तो कर दिया था, परन्तु उसके भेदोंका कोई निर्देश नहीं किया था। उनके पश्चाद्वर्ती आ. उमास्वातिने (त. सू. १-११ में) परोक्षके भेदोंको भी स्पष्टतया सूचित किया और मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान ये दो भेद उसके बतलाये। मतिज्ञानके भी उन्होंने मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ये पर्याय नाम कहे। चूँकि मति मतिज्ञानसामान्यरूप है। अतः मतिज्ञानके चार भेद हैं। इसमें श्रुतको और मिला देनेपर परोक्षके फलतः उन्होंने पाँच भी भेद सूचित किये और पूज्यपादने उपमानादिकके प्रमाणान्तरत्वका निराकरण करते हुए उन्हें परोक्षमें ही अन्तर्भाव हो जानेका स्पष्ट निर्देश किया। लेकिन परोक्षके पाँच भेदोंकी सिलसिलेवार व्यवस्था सर्वप्रथम अकलंकदेवने की है[3]। इसके बाद विद्यानन्द (प्र. प. पृ. ४२), माणिक्यनन्दि (परीक्षा. ३-२) आदिने परोक्षके पाँच ही भेद वर्णित किये हैं। हाँ, आचार्य वादिराजने[4] अवश्य परोक्षके अनुमान और आगम ये दो भेद बतलाये हैं। पर इन दो भेदोंकी परम्परा उन्हीं तक सीमित रही है, आगे नहीं चली, क्योंकि उत्तरकालीन किसी भी ग्रन्थकारने उसे नहीं अपनाया। लगता है कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम इन्हें ही सभीने निर्विवाद परोक्ष-प्रमाणके भेद स्वीकार किये हैं। अभिनव धर्मभूषणने भी इन्हीं पाँच भेदोंका कथन किया है।

१५. स्मृतिः

यद्यपि अनुभूतार्थविषयक ज्ञानके रूपमें स्मृतिको सभी दर्शनोंने स्वीकार किया है। पर जैनदर्शनके सिवाय उसे प्रमाण किसीने नहीं माना। साधारणतया सबका कहना यही है कि स्मृति अनुभवके द्वारा गृहीत विषयमें ही प्रवृत्त होती है, इसलिए गृहीतग्राही होनेसे वह प्रमाण नहीं है[5]। न्याय-वैशेषिक, मीमांसक और बौद्ध सबका प्रायः यही अभिप्राय है। जैन दार्शनिकोंका कहना है कि प्रामाण्यमें प्रयोजक अविसंवाद है। जिस प्रकार प्रत्यक्षसे जाने हुए अर्थमें विसंवाद न होनेसे उसे प्रमाण माना जाता है उसी प्रकार स्मृतिसे जाने हुए अर्थमें कोई विसंवाद न होनेसे उसे भी प्रमाण मानना चाहिए। और जहाँ होता है वह स्मृत्याभास है[6]। अतः स्मृति प्रमाण है। दूसरे, विस्मरणादिरूप समारोपका वह व्यवच्छेद करती है इसलिए भी वह प्रमाण

---

१ परीक्षामु., ३-१, प्रमाणसारी, पृ. ४१।

२ प्रवचनसा, १-५८।

३ लघीय, का. १० और प्रमाणसं., का २।

४ 'तच्च (परोक्षं) द्विविधमनुमानमागमश्चेति। अनुमानमपि द्विविधं गौणमुख्यविकल्पात्। तत्र गौणमनुमानं त्रिविधम्, स्मरणम्, प्रत्यभिज्ञा, तर्कश्चेति......'—प्रमाणनि., पृ. ३३।

५. 'न हि प्रमाणान्तरगृहीतार्थविषयत्वं समानमपि प्रकारणे प्रामाण्यमपहन्ति, स्मृतिः पुनर्न पूर्वानुभवमर्यादातिवर्तते, तद्विषया तदूनविषया वा न तु तदधिकविषया, सोऽयं वृत्त्यन्तरविशेषः स्मृतेरिति विमृशति।'—तत्त्वकौमुदी, १-११।

६. प्रमाणपरीक्षा, पृ. ४२।

है। तीसरे, अनुभव तो वर्त्तमान अर्थको ही विषय करता है और स्मृति अतीत अर्थको विषय करती है। अतः स्मृति कथंचिद् अगृहीतग्राही होनेसे प्रमाण ही है।

१६. प्रत्यभिज्ञान :

पूर्वोत्तरविवर्त्तवर्ती वस्तुको विषय करनेवाले प्रत्ययको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। प्रत्यवमर्श, संज्ञा और प्रत्यभिज्ञा ये इसीके पर्याय नाम हैं। बौद्ध चूँकि क्षणिकवादी हैं इसलिए वे उसे प्रमाण नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि पूर्व और उत्तर अवस्थाओंमें रहनेवाला जब कोई एकत्व है नहीं, तब उसको विषय करनेवाला एक ज्ञान कैसे हो सकता है? अतः 'यह वही है' यह ज्ञान सादृश्यविषयक है। अथवा प्रत्यक्ष और स्मरणरूप दो ज्ञानोंका समुच्चय है[1]। 'यह' अंशको विषय करनेवाला ज्ञान तो प्रत्यक्ष है और 'वह' अंशको ग्रहण करनेवाला ज्ञान स्मरण है, इस तरह वे दो ज्ञान हैं। अतएव यदि एकत्वविषयक ज्ञान हो भी तो वह भ्रान्त है—अप्रमाण है। इसके विपरीत न्याय-वैशेषिक और मीमांसक, जो कि स्थिरवादी हैं, एकत्वविषयक ज्ञानको प्रत्यभिज्ञानात्मक प्रमाण तो मानते हैं। पर वे उस ज्ञानको स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर प्रत्यक्ष प्रमाण स्वीकार करते हैं[2]। जैनदर्शनका मन्तव्य है[3] कि प्रत्यभिज्ञान न तो बौद्धोंकी तरह अप्रमाण है और न न्याय-वैशेषिक आदिकी तरह प्रत्यक्ष प्रमाण ही है। किन्तु वह प्रत्यक्ष और स्मरणके अनन्तर उत्पन्न होनेवाला और पूर्व तथा उत्तर पर्यायोंमें रहनेवाले वास्तविक एकत्व, सादृश्य आदिको विषय करनेवाला स्वतन्त्र ही परोक्ष प्रमाणविशेष है। प्रत्यक्ष तो मात्र वर्त्तमान पर्यायको ही विषय करता है और स्मरण अतीत पर्यायको ग्रहण करता है। अतः उभयपर्यायवर्ती एकत्वादिकको जाननेवाला संकलनात्मक (जोड़रूप) प्रत्यभिज्ञान नामका जुदा ही प्रमाण है। यदि पूर्वोत्तरपर्यायव्यापी एकत्वका अपलाप किया जावेगा, तो कहीं भी एकत्वका प्रत्यय न होनेसे एक सन्तानकी भी सिद्धि नहीं हो सकेगी। अतः प्रत्यभिज्ञानका विषय एकत्वादिक वास्तविक होनेसे वह प्रमाण ही है—अप्रमाण नहीं। और विशद प्रतिभास न होनेसे उसे प्रत्यक्ष प्रमाण भी नहीं कहा जा सकता है। किन्तु अस्पष्ट प्रतीति होनेसे वह परोक्ष प्रमाणका प्रत्यभिज्ञान नामक भेदविशेष है। इसके एकत्वप्रत्यभिज्ञान, सादृश्यप्रत्यभिज्ञान, वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञान आदि अनेक भेद जैन-

---

१. 'ननु च तदेवेत्यतीतप्रतिभासस्य स्मरणरूपत्वात्, इदमिति संवेदनस्य प्रत्यक्षरूपत्वात् संवेदनद्वितयमेवैतत् तादृशमेवेदमिति स्मरणप्रत्यक्षवेदनद्वितयवत्। ततो नैकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञाख्यं प्रतिपद्यमानं सम्भवति।'—प्रमाणप., पृ. ४२।

२. न्यायदी., पृ. ५८ का फुटनोट।

३. 'स्मरणप्रत्यक्षजन्यस्य पूर्वोत्तरविवर्त्तवर्त्येकद्रव्यविषयस्य प्रत्यभिज्ञानस्यैकस्य सुप्रतीतत्वात्। न हि तदिति स्मरणं तथाविधद्रव्यव्यवसायात्मकम्, तस्यातीतविवर्त्तमात्रगोचरत्वात्। नापीदमिति संवेदनम्, तस्य वर्त्तमानविवर्त्तमात्रविषयत्वात्। ताभ्यामुपजायमानं तु संकलनाज्ञानं तदनुवादपुरस्सरं द्रव्यं प्रत्यवमृशत्। ततोऽन्यदेव प्रत्यभिज्ञानमेकत्वविषयं तदग्रहे क्वचिदेकान्वयाव्यवस्थानात् सन्तानैकत्वसिद्धिरपि न स्यात्।'—प्रमाणप. पृ., ४२, ४३।

निगमन। उनके टीकाकार वात्स्यायनने[1] नैयायिकोंकी दशावयवमान्यताका भी उल्लेख किया है। इससे कम या और अधिक अवयवोंकी मान्यताका उन्होंने कोई संकेत नहीं किया। इससे मालूम होता है कि वात्स्यायनके सामने सिर्फ दो मान्यताएँ थीं—एक पंचावयवकी, जो स्वयं सूत्रकारकी है और दूसरी दशावयवोंकी, जो दूसरे किन्हीं नैयायिकोंकी है। आगे चलकर हमें उद्योतकरके न्यायवार्तिकमें[2] खण्डन सहित तीन अवयवोंकी मान्यताका निर्देश मिलता है। यह मान्यता बौद्ध विद्वान् दिग्नागकी है, क्योंकि वात्स्यायनके बाद उद्योतकरके पहले दिग्नागने[3] ही अधिकसे अधिक तीन अवयव स्वीकृत किये हैं। सांख्यविद्वान् माठर यदि दिग्नागके पूर्ववर्ती हैं तो तीन अवयवोंको मान्यता माठरकी[4] समझना चाहिए। वाचस्पति मिश्रने[5] दो अवयव (हेतु और दृष्टान्त) की मान्यताका उल्लेख किया है और तीन अवयवनिषेधकी तरह उसका निषेध किया है। यह द्व्यवयवकी मान्यता बौद्ध तार्किक धर्मकीर्तिकी है, क्योंकि हेतुरूप एक अवयवके अतिरिक्त हेतु और दृष्टान्त दो अवयवोंको भी धर्मकीर्तिने[6] ही स्वीकार किया है तथा दिग्नागसम्मत पक्ष, हेतु और दृष्टान्तमेंसे पक्ष (प्रतिज्ञा) को निकाल दिया है। अतः वाचस्पति मिश्रने धर्मकीर्तिकी ही द्व्यवयव मान्यताका उल्लेख किया है और उसे प्रतिज्ञाको माननेके लिए संकेत किया है। यद्यपि जैन विद्वानोंने[7] भी दो अवयवोंको माना है, पर उनकी मान्यता उपर्युक्त मान्यतासे भिन्न है। ऊपरकी मान्यतामें तो हेतु और दृष्टान्त ये दो अवयव हैं और जैन विद्वानोंकी मान्यतामें प्रतिज्ञा और हेतु ये दो अवयव हैं। जैन तार्किकोंने प्रतिज्ञाका समर्थन[8] और दृष्टान्तका[9] निराकरण किया है। तीन अवयवोंकी मान्यता सांख्यों (माठर वृ. का. ५) और बौद्धोंके अलावा मीमांसकों (प्रकरणपं. पृ. ८३-८५) की भी है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि लघु अनन्तवीर्य (प्रमेयर. ३-३६) और उनके अनुगामी हेमचन्द्र

---

१. 'दशावयवानित्येके नैयायिका वाक्ये संचक्षते—जिज्ञासा संशयः शक्यप्राप्तिः प्रयोजनं संशयव्युदास इति ।'—न्यायभाष्य., भा. १-१-३२ ।

२. 'अपरे त्ववयवाभिति × × × अवयवभावि वाक्ये यथा न भवति उपोनयनिगमनयोरर्था-न्तरभावं वर्णयन्तो वदन्ति ।'—न्यायवा. पृ. १०७, १०८ ।

३. 'पक्षहेतुदृष्टान्तवचनैर्हि प्राश्निकानामप्रतीतोऽर्थः प्रतिपाद्यते इति ......एतान्येव त्रयोऽवयवा इत्युच्यन्ते ।'—न्यायप्र., पृ. १,२ ।

४. 'पक्षहेतुदृष्टान्ता इति त्र्यवयवम् ।'—माठरवृ., का. ५ ।

५. 'अवयवबहुत्वमुपलक्षणार्थम्, द्व्यवयवमपीत्यपि द्रष्टव्यम्......अवयवद्वयमपीत्यपि द्व्यव-यवत्वेनैव समुच्चिनोति उपनयनिगमनयोरिवात्र प्रतिज्ञाया अपीति द्रष्टव्यम् ।'
—न्यायवा. तात्प., पृ. २६६, २६७ ।

६. 'अथवा तस्यैव साधनस्य यन्नाङ्गं प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि...।'—वादन्या., पृ. ६१ ।
'तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः । ख्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः ॥'
—प्रमाणवा., १-१२८ ।

७. 'एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम् ।'—परीक्षामु., ३।३७ ।

८. परीक्षामु., ३।३४ ।

९. परीक्षामु., ३।३८-४२ ।

(प्रमाणमी० २-१-८) सौगतोंके चार अवयव मान्यताका भी उल्लेख करते हैं। यदि इनका उल्लेख ठीक है तो कहना होगा कि चार अवयवोंके मानने वाले भी कोई मीमांसक रहे हैं। इस तरह हम देखते हैं कि दशावयव[1] और पंचावयवकी मान्यता नैयायिकोंकी है। चार और तीन अवयवोंकी मीमांसकों, तीन अवयवोंकी सांख्यों, तीन, दो और एक अवयवोंकी बौद्धों और दो अवयवोंकी मान्यता जैनोंकी है। वादिदेवसूरिने[2] धर्मकीर्तिकी तरह विद्वानोंके लिए अकेले हेतुका भी प्रयोग बतलाया है। पर अन्य सभी दिगम्बर और श्वेताम्बर विद्वानोंने पक्ष और हेतु इन दोनोंके कमसे कम दो अवयव अवश्य स्वीकार किये हैं। प्रतिपाद्योंके अनुरोधसे तो तीन, चार और पाँच भी अवयव माने हैं। आ० भद्रबाहुने पूर्वपरम्परानुसार वादकथाकी अपेक्षा दो और वीतरागकथाकी अपेक्षा अधिक अवयवोंके भी प्रयोगका समर्थन किया है।

२०. हेतुका लक्षण :

हेतुके लक्षण-सम्बन्धमें दार्शनिकोंका भिन्न-भिन्न मत है। वैशेषिक[3], सांख्य[4] और बौद्ध[5] हेतुका त्रैरूप्य लक्षण मानते हैं। यद्यपि हेतुका त्रिरूप लक्षण अधिकांशतः बौद्धोंका ही प्रसिद्ध है, वैशेषिक और सांख्योंका नहीं। इसका कारण यह है कि त्रैरूप्यके विषयमें जितना सूक्ष्म और विस्तृत विचार बौद्ध विद्वानोंने किया है तथा हेतुबिन्दु जैसे तद्विषयक स्वतन्त्र ग्रन्थोंकी रचना की है[6] उतना वैशेषिक और सांख्य विद्वानोंने न विचार ही किया और न कोई उस विषयके स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिखे हैं। पर हेतुके त्रैरूप्यकी मान्यता वैशेषिक एवं सांख्योंकी भी है। और वह बौद्धोंकी अपेक्षा प्राचीन है, क्योंकि बौद्धोंकी त्रैरूप्यकी मान्यता तो वसुबन्धु और मुख्यतया दिग्नागसे ही प्रारम्भ हुई जान पड़ती है। किन्तु वैशेषिक और सांख्योंके त्रैरूप्यकी परम्परा बहुत पहलेसे चली आ रही है। प्रशस्तपादने[7] अपने प्रशस्तपादभाष्य (पृ. १००) में काश्यप (कणाद[8]) कथित दो पद्योंको उद्धृत किया है, जिनमें

---

१. निर्युक्तिकार भद्रबाहुने (दश. नि. गा. १३७) भी दशावयवोंका कथन किया है, पर वे नैयायिकोंसे भिन्न हैं।

२. स्याद्वादरत्नाकर, पृ ५४८।

३. स्या. दी., प्रस्तावना, पृ. ४५ का फुटनोट २ तथा यही ग्रन्थ पृ. ४६८, फुटनोट २।

४. सांख्यका., माठर वृ. का. ५।

५. 'हेतुस्त्रिरूपः। किं पुनस्त्रैरूप्यम्? पक्षधर्मत्वम्, सपक्षे सत्त्वम्, विपक्षे चासत्त्वमिति।' —न्यायप्र., पृ. १।

६. यही वजह है कि तर्कग्रन्थोंमें बौद्धाभिमत ही त्रैरूप्यका विस्तृत खण्डन पाया जाता है और 'त्रिलक्षणकदर्थन' जैसे ग्रन्थ रचे गये हैं।

७. ये दिग्नाग (४२५ A.D.) के पूर्ववर्ती हैं और लगभग तीसरी-चौथी शताब्दी इनका समय माना जाता है।

८. उद्योतकरने 'काश्यपीयम्' शब्दोंके साथ न्यायवार्तिक (पृ. ९९) में कणादका संशय-लक्षणवाला 'सामान्यप्रत्यक्षात्' आदि सूत्र उद्धृत किया है। इससे मालूम होता है कि काश्यप कणादका ही नामान्तर था, जो वैशेषिकदर्शनका प्रणेता एवं प्रवर्त्तक है।

पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति इन तीन रूपोंका स्पष्ट प्रतिपादन एवं समर्थन है और माठरने अपनी सांख्यकारिकावृत्तिमें उनका निर्देश किया है। कुछ भी हो, यह अवश्य है कि त्रिरूप लिंगको वैशेषिक, सांख्य और बौद्ध तीनोंने स्वीकार किया है।

नैयायिक[1] पूर्वोक्त तीन रूपोंमें अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व इन दो रूपोंको और मिलाकर पाँचरूप हेतुका कथन करते हैं। यह त्रैरूप्य और पाँचरूप्यकी मान्यता अति प्रसिद्ध है और जिसका खण्डन-मण्डन न्यायग्रन्थोंमें बहुलतया मिलता है। किन्तु इनके अलावा भी हेतुके द्विलक्षण, चतुर्लक्षण और षड्लक्षणकी मान्यताओंका उल्लेख तर्कग्रन्थोंमें पाया जाता है। इनमें चतुर्लक्षणकी मान्यता सम्भवतः मीमांसकोंकी मालूम होती है, जिसका निर्देश प्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् प्रभाकरानुयायी शालिकानाथने[2] किया है। उद्योतकर और वाचस्पति मिश्रके[3] अभिप्रायानुसार पंचलक्षणकी तरह द्विलक्षण, त्रिलक्षण और चतुर्लक्षणकी मान्यताएँ नैयायिकोंकी ज्ञात होती हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि जयन्तभट्टने[4] पंचलक्षण हेतुका ही समर्थन किया है, उन्होंने अपंचलक्षणको हेतु नहीं माना। पिछले नैयायिक शंकरमिश्रने[5] हेतुकी गमकतामें जितने रूप प्रयोजक एवं उपयोगी हों उतने रूपोंको हेतुलक्षण स्वीकार किया है और इस तरह उन्होंने अन्वयव्यतिरेकी हेतुमें पाँच और केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी हेतुओंमें चार ही रूप गमकतोपयोगी बतलाये हैं। यहाँ एक खास बात और ध्यान देनेकी है वह यह कि जिस अविनाभावको जैन तार्किकोंने हेतुका लक्षण

---

१. 'गम्यतेऽनेनेति लिङ्गम्; तच्च पञ्चलक्षणम्, कानि पुनः पञ्चलक्षणानि ? पक्षधर्मत्वम्, सपक्षधर्मत्वम्, विपक्षाद्व्यावृत्तिरबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं चेति। ·····एतैः पंचभिर्लक्षणैरुपपन्नं लिङ्गमनुमापकं भवति।'—न्यायम., पृ. १०१। न्यायकलि., पृ. २। न्यायवा. ता., पृ. १७१।

२. न्या. दी., प्रस्तावना, पृ. ४५ का फुटनोट ५ तथा यही ग्रन्थ, पृ. ४६८, फुटनोट ५।

३. 'शाब्दे न्यायाङ्गत्वम्, उदाहरणे चासम्भवः। एवं द्विलक्षणस्त्रिलक्षणश्च हेतुर्लभ्यते।'—न्यायवा. पृ. ११९। 'अन्वयदात् प्रत्यक्षागमाविरुद्धं चेत्येवं चतुर्लक्षणं पंचलक्षणमनुमानमिति।'—न्यायवा., पृ. ४६।

४. 'एतदुक्तं भवति, अबाधितविषयमसत्प्रतिपक्षं पूर्ववदिति ध्रुवं कृत्वा शेषवदित्येका विधा, सामान्यतोदृष्टमिति द्वितीया, शेषवत्सामान्यतोदृष्टमिति तृतीया, तदेवं त्रिविधमनुमानम्। तत्र चतुर्लक्षणं द्वयम्। एकं पंचलक्षणमिति।'—न्यायवा. ता., प. १७४।

५. 'केवलान्वयी हेतुर्नास्त्येव, अपञ्चलक्षणस्य हेतुत्वाभावात्। केवलव्यतिरेकी तु क्वचिद् विषयेऽन्वयव्यतिरेकमूलः प्रवर्तते नान्यथान्वयबाह्यः।'—न्यायकलि., पृ. १०।

६. 'केवलान्वयिसाध्यको हेतुः केवलान्वयी। अस्य च पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्वाबाधितासत्प्रतिपक्षितत्वानि चत्वारि रूपाणि गमकत्वौपयिकानि। अन्वयव्यतिरेकिणस्तु हेतोर्विपक्षासत्त्वेन सह पंच। केवलव्यतिरेकिणः सपक्षसत्त्वव्यतिरेकेण चत्वारि। तथा च यस्य हेतोर्यावन्ति रूपाणि गमकतौपयिकानि स हेतुः।'—वैशेषि. उप., पृ. ९७।

विवरण भी किया है। और विद्यानन्दने[1] तो उसे स्पष्टतः हेतुलक्षणका ही प्रतिपादक कहा है। अकलंकके पहले एक पात्रकेशरी या पात्रस्वामी नामके प्रसिद्ध जैनाचार्य भी हो गये हैं, जिन्होंने त्रैरूप्यका कदर्थन करनेके लिए 'त्रिलक्षणकदर्थन' नामक तर्कग्रन्थ रचा है और हेतुका एकमात्र 'अन्यथानुपपन्नत्व' लक्षण स्थिर किया है। उनके उत्तरवर्ती सिद्धसेन[2], अकलंक, वीरसेन[3], कुमारनन्दि, विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र, वादिराज, वादिदेवसूरि और हेमचन्द्र आदि सभी जैन तार्किकोंने अन्यथानुपपन्नत्व (अविनाभाव) को ही हेतुका लक्षण होनेका सबलताके साथ समर्थन किया है। वस्तुतः अविनाभाव ही हेतुकी गमकतामें प्रयोजक है। त्रैरूप्य या पांचरूप्य तो उसमूत एवं अविनाभावका ही विस्तार हैं। इतना ही नहीं, दोनों अव्यापक भी हैं। कृत्तिकोदयादि हेतु पक्षधर्म नहीं हैं फिर भी अविनाभाव रहनेसे गमक देखे जाते हैं। आ. धर्मभूषणने भी त्रैरूप्य और पांचरूप्यकी सोपपत्तिक आलोचना करके 'अन्यथानुपपन्नत्व' को ही हेतुलक्षण सिद्ध किया है और निम्न दो कारिकाओंके द्वारा अपने वक्तव्यको पुष्ट किया है—

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥
अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः॥

इनमें पिछली कारिका आचार्य विद्यानन्दकी स्वोपज्ञ है और वह प्रमाणपरीक्षामें उपलब्ध है। परन्तु पहली कारिका किसकी है? इस सम्बन्धमें यहाँ कुछ विचार किया जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि यह कारिका त्रैरूप्य खण्डनके लिए रची गयी है और यह बड़े महत्त्वकी है। विद्यानन्दने अपनी उपर्युक्त कारिका भी इसीके आधारपर पांचरूप्यका खण्डन करनेके लिए बनाई है। इस कारिकाके कर्तृत्व सम्बन्धमें ग्रन्थकारोंका मतभेद है। सिद्धिविनिश्चय-टीकाके कर्ता अनन्तवीर्यने[4] उसका उद्गम सीमन्धरस्वामीसे बतलाया है। प्रभाचन्द्र[5] और वादिराज[6] कहते हैं कि उक्त कारिका सीमन्धरस्वामीके समवसरणसे लाकर पद्मावतीदेवीने पात्रकेशरी अथवा पात्रस्वामीके लिए समर्पित की थी। विद्यानन्द[7] उसे वार्तिककारकी कहते हैं। वादिदेवसूरि[8] और

---

१. 'भगवन्तो हि हेतुलक्षणमेव प्रकाशयन्ति, इत्यादस्य प्रकाशितत्वात्।'—अष्टश., पृ. २८९।
२. सिद्धसेनने 'अन्यथानुपपन्नत्व' को 'अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम्'—(न्यायाव., का. २२) शब्दों द्वारा हेतुलक्षण दोहराया है और 'ईरितम्' शब्दका प्रयोग करके तो उसकी प्रसिद्धि एवं अनुसरण भी ख्यापित किया है।
३. धवला, पु. १३, पृ २४६।
४. सिद्धिविनि. टी., पृ. ३००A।
५. गद्यकथाकोशगत पात्रकेशरीकी कथा।
६. न्यायवि वि. २-१५४, पृ. १७७।
७. तत्त्वार्थश्लो., पृ. २०४।
८. स्या. रत्ना., पृ. ५२१।

शान्तरक्षित[1] पात्रस्वामीकी प्रकट करते हैं। इस तरह इस कारिकाके कर्तृत्वका अनिर्णय बहुत पुरातन है।

देखना यह है कि उसका कर्ता है कौन? उपर्युक्त सभी ग्रन्थकार ईसाकी ८वीं शताब्दीसे ११वीं शताब्दीके भीतर हैं और शान्तरक्षित (ई. ७०५-७६२) सबमें प्राचीन हैं। शान्तरक्षितने पात्रस्वामीके नामसे और भी कितनी ही कारिकाओं तथा पद-वाक्यादिकोंका उल्लेख करके उनका आलोचन किया है। इससे यह निश्चितरूपसे मालूम होता है कि शान्तरक्षितके सामने पात्रस्वामीका कोई तर्क-ग्रन्थ अवश्य ही रहा है। जैनसाहित्यमें पात्रस्वामीकी दो रचनाएँ मानी जाती हैं—१ त्रिलक्षणकदर्थन और २ पात्रकेशरीस्तोत्र। इनमें दूसरी रचना तो उपलब्ध है, पर पहली रचना उपलब्ध नहीं है। केवल ग्रन्थान्तरों आदिमें उसके उल्लेख मिलते हैं। 'पात्रकेशरीस्तोत्र' एक स्तोत्र-ग्रन्थ है और उसमें आप्तस्तुतिके बहाने सिद्धान्तमतका प्रतिपादन है। इसमें पात्रस्वामीके नामसे शान्तरक्षितके द्वारा तत्त्वसंग्रहमें उद्धृत कारिकाएँ, पद, वाक्यादि कोई नहीं पाये जाते। अतः यही सम्भव है कि वे त्रिलक्षणकदर्थनके हों, क्योंकि प्रथम तो ग्रन्थका नाम ही यह बतलाता है कि उसमें त्रिलक्षणका कदर्थन—खण्डन किया गया है। दूसरे, पात्रस्वामीकी अन्य तीसरी आदि कोई रचना नहीं सुनी जाती, जिसके वे कारिकादि सम्भावनास्पद होते। तीसरे, अनन्तवीर्यकी चर्चासे मालूम होता है कि उस समय एक आचार्यपरम्परा ऐसी भी थी, जो 'अन्यथानुपपत्ति' वार्तिकको त्रिलक्षणकदर्थनका बतलाती थी। चौथे, वादिराजके[2] उल्लेख और श्रवणबेलगोलाकी मल्लिषेणप्रशस्तिगत पात्रकेशरीविषयक प्रशंसापद्यसे[3] भी उक्त वार्तिकादि त्रिलक्षणकदर्थनके जान पड़ते हैं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि पात्रकेशरी नामके एक ही विद्वान् जैन साहित्यमें माने जाते हैं और जो दिग्नाग (४२५ ई.) के उत्तरवर्ती एवं अकलंकके पूर्वकालीन हैं। अकलंकने उक्त वार्तिकको न्यायविनिश्चय (का. २२३ के रूपमें) में दिया है और सिद्धिविनिश्चयके 'हेतुलक्षणसिद्धि' नामके छठवें प्रस्तावके आरम्भमें उसे स्वामीका 'अमलालीढ' पद कहा है। अकलंकदेव शान्तरक्षितके[4] समकालीन हैं। और इसलिए यह कहा जा सकता है पात्रस्वामीकी जो रचना (त्रिलक्षणकदर्थन) शान्तरक्षितके सामने रही वह अकलंकदेवके भी सामने अवश्य रही होगी। अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बौद्ध विद्वान् शान्तरक्षितके लिए जो उक्त वार्तिकका कर्ता निर्भ्रान्तरूपसे पात्रस्वामी विवक्षित हैं वही अकलंकदेवको 'स्वामी' पदसे अभिप्रेत हैं। इसलिए अकलङ्कके 'स्वामी' पद तथा 'अन्यथानुपपन्नत्व' पद (वार्तिक) दोनोंका सद्भाव और शान्तरक्षितके स्पष्ट एवं सुपरिचित उल्लेख हमें इस बातको माननेके लिए सहायता करते हैं

---

१. तत्त्वसं., पृ. ४०६।

२. न्यायवि. वि. २।१५४, पृ. १७७।

३. 'महिमा स पात्रकेशरिगुरोः परं भवति यस्य भक्त्यासीत्।
पद्मावती सहाया त्रिलक्षणकदर्थनं कर्तुम्॥'—मल्लिषेणप्रशस्ति।

४. शान्तरक्षितका समय ७०५ से ७६२ और अकलंकदेवका समय ७२० से ७८० ई. माना जाता है।—अकलंकग्र. प्रस्ता., पृ. ३२।

कि उपर्युक्त पहली कारिका पात्रस्वामीकी ही होनी चाहिए। अकलंक और शान्तरक्षितके उल्लेखोंके बाद विद्यानन्दका उल्लेख आता है, जिसके द्वारा उन्होंने उक्त वार्तिकको वार्तिककारका बतलाया है। यह वार्तिककार राजवार्तिककार अकलंकदेव मालूम नहीं होते[1], क्योंकि उक्त वार्तिक (कारिका) राजवार्तिकमें नहीं है, न्यायविनिश्चयमें है। विद्यानन्दने राजवार्तिकके पद-वाक्यादिको ही राजवार्तिककार (तत्त्वार्थवार्तिककार) के नामसे उद्धृत किया है, न्यायविनिश्चय आदिके नहीं। अतः विद्यानन्दको 'वार्तिककार' पदसे 'अन्यथानुपपत्ति' वार्तिकके कर्त्ता वार्तिककार—पात्रस्वामी ही अभिप्रेत हैं। यद्यपि वार्तिककारसे न्यायविनिश्चयकार अकलंकदेवका ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि न्यायविनिश्चयमें वह वार्तिक मूलरूपमें उपलब्ध है, किन्तु विद्यानन्दने न्यायविनिश्चयके पद-वाक्यादिको 'न्यायविनिश्चय'के नामसे अथवा 'तदुक्तमकलंकदेवैः' आदि रूपसे ही सर्वत्र उद्धृत किया है। अतः वार्तिककारसे पात्रस्वामी ही विद्यानन्दको विवक्षित जान पड़ते हैं। यह हो सकता है कि वे 'पात्रस्वामी' नामकी अपेक्षा वार्तिक और वार्तिककार नामसे अधिक परिचित होंगे और उनसे उन्हें पात्रस्वामीका ही पाठकोंको बोध कराना अभीष्ट होगा। पर उनका अभिप्राय उससे राजवार्तिककारका बतलानेका तो प्रतीत नहीं होता।

अब अनन्तवीर्य और प्रभाचन्द्र तथा वादिराजके उल्लेख आते हैं। सो वे मान्यताभेद या आचार्यपरम्पराश्रुतिको लेकर हैं। उन्हें न तो मिथ्या कहा जा सकता है और न विरुद्ध। हो सकता है कि पात्रस्वामीने अपने इष्टदेव सीमन्धरस्वामीके स्मरणपूर्वक और पद्मावतीदेवीकी सहायतासे उक्त महत्त्वपूर्ण एवं विशिष्ट अमलालीढ—निर्दोष पद (वार्तिक) की रचना की होगी और इस तरहपर अनन्तवीर्य आदि आचार्योंने अपनी-अपनी परिस्थितिके अनुसार उसके कर्तृत्वविषयक उक्त उल्लेख किये हैं। यह कोई असम्बद्ध, काल्पनिक एवं अभिनव बात नहीं है। दिगम्बर परम्परामें ही नहीं श्वेताम्बर परम्परा, वैदिक और बौद्ध सभी भारतीय परम्पराओंमें है। समस्त द्वादशांग श्रुत, मनःपर्यय आदि ज्ञान, विभिन्न विभूतियाँ, मन्त्रसिद्धि, ग्रन्थसमाप्ति, संकटनिवृत्ति आदि कार्य परमात्मस्मरण, आत्म-विशुद्धि, तपोविशेष, देवादिसाहाय्य आदि यथोचित कारणोंसे होते हुए माने गये हैं। अतः ऐसी बातोंके उल्लेखोंको बिना परीक्षाके एकदम अन्धभक्ति या काल्पनिक नहीं कहा जा सकता। श्वेताम्बर विद्वान् माननीय पं. सुखलालजीका यह लिखना कि "इसके (कारिकाके) प्रभावके कायल अतार्किक भक्तोंने इसकी प्रतिष्ठा मनगढ़न्त ढंगसे बढ़ाई। और यहाँ तक वह बढ़ी कि खुद तर्कग्रन्थलेखक आचार्य भी उस कल्पित ढंगके शिकार बने"'इस कारिकाको सीमन्धरस्वामीके मुखमेंसे अन्धभक्तिके कारण जन्म लेना पड़ा'"इस कारिकाके सम्भवतः उद्भावक पात्रस्वामी दिगम्बर परम्पराके ही हैं; क्योंकि भक्तिपूर्ण उन मनगढ़न्त कल्पनाओंकी सृष्टि केवल दिगम्बरीय परम्परा तक ही सीमित है।" (प्रमाणमी. भा. पृ ८४) केवल अपनी परम्पराका मोह और पक्षग्राहिताके अतिरिक्त

१. कुछ विद्वान् वार्तिककारसे राजवार्तिककारका ग्रहण करते हैं।—न्यायकुमु., प्र. भाग, प्र., पृ. ७६ और अकलंकग्रन्थ. टि., पृ. १६४।

कुछ नहीं है। उनकी इन पंक्तियों और विचारोंके सम्बन्धमें विशेषकर अन्तिम पंक्तिके सम्बन्धमे बहुत कुछ लिखा जा सकता है। इस संक्षिप्त स्थानपर हमें उनसे यही कहना है कि निष्पक्ष विचारके स्थानपर एक विद्वान्को निष्पक्ष विचार ही प्रकट करना चाहिए। दूसरोंको भ्रममे डालना एवं स्वयं भ्रामक प्रवृत्ति करना ठीक नहीं है।

२१. हेतु-भेद :

दार्शनिक परम्परामें सर्वप्रथम कणादने[1] हेतुके भेदोंको गिनाया है। उन्होंने हेतुके पाँच भेद प्रदर्शित किये हैं। किन्तु टीकाकार प्रशस्तपाद[2] उन्हे निदर्शन मात्र मानते हैं, 'पाँच ही हैं' ऐसा अवधारण नहीं बतलाते। इससे यह प्रतीत होता है कि वैशेषिक दर्शनमे हेतुके पाँचसे भी अधिक भेद स्वीकृत किये गये हैं। न्यायदर्शनके प्रवर्तक गौतमने[3] और सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्णने पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट ये तीन भेद कहे हैं। मीमांसक हेतुके कितने भेद मानते हैं, यह मालूम नही हो सका। बौद्ध दर्शनमे[4] स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि ये तीन भेद हेतुके बतलाये हैं तथा अनुपलब्धि हेतुके ग्यारह भेद किये हैं[5]। इनमें प्रथमके दो हेतुओंको विधिसाधक और अन्तिम अनुपलब्धि हेतुको निषेधसाधक ही वर्णित किया है[6]।

जैनदर्शनके उपलब्ध साहित्यमे हेतुओके भेद सबसे पहले अकलंकदेवके प्रमाणसंग्रहमे मिलते हैं। उन्होंने[7] सद्भावसाधक ६ और सद्भावप्रतिषेधक ३ इस तरह नौ उपलब्धियाँ तथा असद्भावसाधक ६ अनुपलब्धियोका वर्णन करके इनके और भी अवान्तर भेदोका संकेत करके उनका इन्हीमे अन्तर्भाव हो जानेका निर्देश किया है। साथ ही उन्होने धर्मकीर्तिके इस कथनका कि 'स्वभाव और कार्यहेतु भावसाधक ही हैं तथा अनुपलब्धि ही अभावसाधक है' निरास करके उपलब्धिरूप स्वभाव और कार्य हेतुको भी अभावसाधक सिद्ध किया है[8]। अकलंकदेवके इसी मन्तव्यको लेकर माणिक्यनन्दि,

---

१. 'अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम्।'—वैशेषि. सू. ९-२-१।

२. 'शास्त्रे कार्यादिग्रहणं निदर्शनार्थं कृतं नावधारणार्थम्। कस्मात्? व्यतिरेकदर्शनात्। तद्यथा—अध्वर्युरोंश्रावयन् व्यवहितस्य हेतुर्लिङ्गम् चन्द्रोदयः समुद्रवृद्धेः कुमुदविकासस्य च जलप्रसादोऽगस्त्योदयस्येति। एवमादि तत्सर्वमस्येदमिति सम्बन्धमात्रवचनात् सिद्धम्।'
—प्रशस्तपा., पृ. १०४।

३. 'अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च।'—न्यायसू. १-१-५।

४. 'त्रीण्येव लिङ्गानि' 'अनुपलब्धिः स्वभावकार्ये चेति।'—न्यायबि., पृ. ३५।

५. 'सा च प्रयोगभेदादेकादशप्रकारा।'—न्यायबि., पृ. ४७।

६. 'अत्र द्वौ वस्तुसाधनौ' 'एकः प्रतिषेधहेतुः'—न्यायबि., पृ. ३९।

७. 'सत्प्रवृत्तिनिमित्तानि स्वसम्बन्धोपलब्धयः॥
तथाऽसद्व्यवहाराय स्वभावानुपलब्धयः।
सद्वृत्तिप्रतिषेधाय तद्विरुद्धोपलब्धयः॥' —प्रमाणसं., का. २९, ३०। तथा इसकी स्वोपज्ञवृत्ति।

८. 'नानुपलब्धिरेव अभावसाधनी'''।'—प्रमाणसं., स्व. का. ३०।

९. परीक्षामुख, ३-५७ से ३-९१ तकके सूत्र।

न्द[1] तथा वादिदेवसूरिने[2] उपलब्धि और अनुपलब्धिरूपसे समस्त हेतुओंका करके दोनोंको विधि और निषेध साधक बतलाया है और उनके उत्तरभेदोंको षित किया है। आ. धर्मभूषणने भी अपनी पूर्वपरम्पराके अनुसार कतिपय दोंका वर्णन किया है। न्यायदीपिका और परीक्षामुखके अनुसार हेतुओंके निम्न[3]—

---

[1] माणपरी., पृ. ४९ से ५७।

[2] माणनयतत्त्वालोकका तृतीय परिच्छेद।

[3] माण-परीक्षाके अनुसार हेतुभेदोंको वहींसे जानना चाहिए।

२२. हेत्वाभास :

नैयायिक[1] हेतुके पांच रूप मानते हैं। अतः उन्होंने एक-एक रूपके अभावमें पांच हेत्वाभास माने हैं। वैशेषिक[2] और बौद्ध[3] हेतुके तीन रूप स्वीकार करते हैं। इसलिए उन्होंने तीन हेत्वाभास माने हैं। पक्षधर्मत्वके अभावसे असिद्ध, सपक्षसत्त्वके अभावसे विरुद्ध और विपक्षासत्त्वके अभावसे सन्दिग्ध अथवा अनैकान्तिक ये तीन हेत्वाभास वर्णित किये हैं। सांख्य[4] भी चूंकि हेतुको त्रैरूप्य मानते हैं। अतः उन्होंने भी मुख्यतया तीन ही हेत्वाभास स्वीकृत किये हैं। प्रशस्तपादने[5] एक अनध्यवसित नामके चौथे हेत्वाभासका भी निर्देश किया है जो नया ही मालूम होता है और प्रशस्तपादका स्वोपज्ञ है क्योंकि वह न तो न्यायदर्शनके पांच हेत्वाभासोंमें है, न कणादकथित तीन हेत्वाभासोंमें है और न उनके पूर्ववर्ती किसी सांख्य या बौद्ध विद्वान्ने इसे बतलाया है। हां, दिग्नागने[6] अनैकान्तिक हेत्वाभासके भेदोंमें एक विरुद्धाव्यभिचारी जरूर बतलाया है, जिसके न्याय-प्रवेशगत वर्णन और प्रशस्तपादभाष्यगत अनध्यवसित-के वर्णनका आशय प्रायः एक है और स्वयं जिसे प्रशस्तपादने[7] असाधारण कहकर अनध्यवसित हेत्वाभास अथवा विरुद्ध हेत्वाभासका एक भेद बतलाया है। कुछ भी हो, इतना अवश्य है कि प्रशस्तपादने वैशेषिकदर्शन सम्मत तीन हेत्वाभासोंके अलावा इस चौथे हेत्वाभासकी भी कल्पना की है। अज्ञात नामके हेत्वाभासको भी माननेवाला एक मत रहा है। हम पहले कह आये हैं कि अर्चटने नैयायिक और मीमांसकोंके नामसे ज्ञातत्व सहित षड्लक्षण हेतुका निर्देश किया है। सम्भव है ज्ञातत्व रूपके अभावमें अज्ञातनामका हेत्वाभास भी उन्हींके द्वारा कल्पित हुआ हो। अकलंकदेवने[8] इस हेत्वाभासका उल्लेख करके असिद्धमें अन्तर्भाव किया है। उनके अनुगामी माणिक्यनन्दि[9] आदिने भी उसे असिद्ध हेत्वाभासरूपसे उदाहृत किया है।

---

१. 'सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमातीतकाला हेत्वाभासाः ।'—न्यायसू. १-२-४ । 'हेतोः पञ्च लक्षणानि पक्षधर्मत्वादीनि उक्तानि । तेषामेकैकापाये पंच हेत्वाभासा भवन्ति असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिक-कालात्ययापदिष्ट प्रकरणसमाः ।'

—न्यायकलिका, पृ. १४ । न्यायम., पृ. १०१

२. 'अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः ।'—वैशे. सू. ३-१-१५ । 'यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते । तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ॥ विपरीतमतो यत् स्यादेकेन द्वितयेन वा । विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत् ॥'—प्रशस्त., पृ. १००

३. 'असिद्धानैकान्तिकविरुद्धा हेत्वाभासाः ।'—न्यायप्र., पृ. ३ ।

४. 'अन्ये हेत्वाभासाः चतुर्दश असिद्धानैकान्तिकविरुद्धादयः ।'—माठरवृ. का. ५ ।

५. 'एतेनासिद्धविरुद्धसन्दिग्धानध्यवसितवचनानामनपदेशत्वमुक्तं भवति ।'

—प्रशस्त. भा. पृ. ११६ ।

६. न्यायप्रवेश, पृ. ३ ।

७. प्रशस्तपा. भा. पृ. ११८, ११९ ।

८. '[illegible] अज्ञातो हेत्वाभासः, [illegible] ।'—प्रमाणसं. स्वो., का ४४ ।

९. परीक्षामु., ६-२१, २८ ।

जैन विद्वान् हेतुका केवल एक ही अन्यथानुपपन्नत्व—अन्यथानुपपत्ति रूप मानते हैं। अतः यथार्थमें उनका हेत्वाभास भी उसके अभावमें एक ही होना चाहिए। इस सम्बन्धमें सूक्ष्मप्रज्ञ अकलंकदेवने[1] बड़ी योग्यतासे उत्तर दिया है। वे कहते हैं कि वस्तुतः हेत्वाभास एक ही है और वह है अकिंचित्कर। विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्ध ये उसीके विस्तार हैं। चूँकि अन्यथानुपपत्तिका अभाव अनेक प्रकारसे होता है इसलिए हेत्वाभासके असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिंचित्कर ये चार भी भेद हो सकते हैं या अकिंचित्करको सामान्य और शेषको उसके भेद मानकर तीन हेत्वाभास भी कहे जा सकते हैं। अतएव जो हेतु त्रिरूपात्मक होनेपर भी अन्यथानुपपन्नत्वसे रहित हैं वे सब अकिंचित्कर हेत्वाभास हैं[2]। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि अकलंकदेवसे पूर्वके ग्रन्थोंमें इस अकिंचित्कर हेत्वाभासकी कल्पना क्यों नहीं है? क्योंकि वह न तो कणाद और सिद्धसेन कथित तीन हेत्वाभासोंमें है और न गौतमस्वीकृत पाँच हेत्वाभासोंमें है। पं. सुखलालजीका कहना है[3] कि 'जयन्तभट्टने अपनी न्यायमंजरी (पृ. १६३) में अन्यथासिद्धापरपर्याय अप्रयोजक नामक एक नये हेत्वाभासको माननेका पूर्वपक्ष किया है जो वस्तुतः जयन्तभट्टके पहले कभीसे चला आता हुआ जान पड़ता है।—अतएव यह सम्भव है कि अप्रयोजक या अन्यथासिद्ध माननेवाले किसी पूर्ववर्ती तार्किक ग्रन्थके आधारपर ही अकलंकने अकिंचित्कर हेत्वाभासकी अपने ढंगसे नई सृष्टि की हो।' निःसन्देह पण्डितजीकी सम्भावना और समाधान दोनों हृदयको लगते हैं। जयन्तभट्टने[4] इस हेत्वाभासके सम्बन्धमें कुछ विस्तारसे बहुत सुन्दर विचार किया है। वे[5] पहले तो उसे विचार करते-करते साहसपूर्वक छठवाँ ही हेत्वाभास मान लेते हैं और यहाँ तक कह देते हैं कि विभागसूत्रका उल्लंघन होता है तो होने दो, सुस्पष्ट दृष्ट अप्रयोजक (अन्यथासिद्ध) हेत्वाभासका अपह्नव नहीं किया जा सकता है और न वस्तुका उल्लंघन। किन्तु पीछे उसे वे असिद्धवर्गमें ही शामिल कर लेते हैं। अन्तमें 'अथवा' के साथ कहा है कि अन्यथासिद्धत्व (अप्रयोजकत्व) सभी हेत्वाभासवृत्ति सामान्यरूप।

---

१. 'साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नं ततोऽपरे। विरुद्धासिद्धसन्दिग्धा अकिंचित्करविस्तराः ॥' —न्यायवि. का. २६९। 'असिद्धश्चाक्षुषत्वादिः शब्दानित्यत्वसाधने। अन्यथासम्भवाभाव-भेदात्स बहुधा स्मृतः ॥ विरुद्धासिद्धसन्दिग्धैरकिंचित्करविस्तरैः।'
—न्यायवि., का. ३६५, ३६६।

२. 'अन्यथानुपपन्नत्वरहिता ये त्रिलक्षणाः।
अकिंचित्करकान् सर्वांस्तान् वयं संगिरामहे ॥' —न्यायवि., का. ३७०।

३. प्रमाणमी., भा. टि. पृ. ९७।

४. न्यायमं., पृ. १६३-१६६ (प्रमेय प्रकरण)।

५. 'आस्तां यदि षष्ठ एवायं हेत्वाभासः, अस्तु हेतुना तावदप्रयोजकत्वेन भवितुमेव, न च तैस्तैर्लक्षणैरसौ वक्तुं पञ्च एवावतिष्ठन्ते। कथं विभागसूत्रमिति चेत्, अतिक्रमिष्याम इदं सूत्रम्, अनतिक्रमणात्: सुस्पष्टमप्रयोजकं हेत्वाभासमपह्नुवीमहि, न चैवं सुलभो वर्ण सूत्रातिक्रमो न वस्त्वतिक्रम इति।' × × × 'तदेवं हेत्वाभासमसिद्धवर्गं एव निविशते।' × × × अथवा सर्वहेत्वाभासानुवृत्तमिदमन्यथासिद्धत्वं नाम रूपमिति न षष्ठोऽयं हेत्वाभासः। —वही, पृ. १६६।

है, छठवाँ हेत्वाभास नहीं। इसी अन्तिम अभिमतको न्यायकलिका (पृ. १५)में[1] स्थिर रखा है।

पण्डितजीकी सम्भावनासे प्रेरणा पाकर जब मैंने 'अन्यथासिद्ध'को पूर्ववर्ती तार्किक ग्रन्थोंमें खोजना प्रारम्भ किया, तो मुझे उद्योतकरके न्यायवार्तिकमें[2] अन्यथासिद्ध हेत्वाभास मिल गया, जिसे उद्योतकरने असिद्धके भेदोंमें गिनाया है। वस्तुतः अन्यथासिद्ध एक प्रकारका अप्रयोजक या अकिंचित्कर हेत्वाभास ही है। जो हेतु अपने साध्यको सिद्ध न कर सके उसे अन्यथासिद्ध अथवा अकिंचित्कर कहना चाहिए। भले ही वह तीनों अथवा पाँचों रूपोंसे युक्त क्यों न हो। अन्यथासिद्धत्व अन्यथानुपपन्नत्वके अभाव—अन्यथाउपपन्नत्वसे अतिरिक्त कुछ नहीं है। यही वजह है कि अकलंकदेवने सर्वलक्षणसम्पन्न होनेपर भी अन्यथानुपपन्नत्वरहित हेतुओंको अकिंचित्कर हेत्वाभासकी संज्ञा दी है। अतएव ज्ञात होता है कि उद्योतकरके अन्यथासिद्धत्वमें से ही अकलंकने अकिंचित्कर हेत्वाभासकी कल्पना की है। आ. माणिक्यनन्दिने इसका चौथे हेत्वाभासके रूपमें वर्णन किया है[3]। पर वे उसे हेत्वाभासके लक्षणके विचार-समयमें ही हेत्वाभास मानते हैं[4], वादकालमें नहीं। उस समय तो पक्षमें दोष दिखा देनेसे ही व्युत्पन्नप्रयोगको दूषित बतलाते हैं। तात्पर्य यह कि वे अकिंचित्करको स्वतन्त्र हेत्वाभास माननेमें खास जोर भी नहीं देते। श्वेताम्बर विद्वानोंने[5] असिद्धादि पूर्वोक्त तीन ही हेत्वाभास स्वीकृत किये हैं, उन्होंने अकिंचित्करको नहीं माना। माणिक्यनन्दिने अकिंचित्करको हेत्वाभास माननेकी जो दृष्टि बतलाई है उस दृष्टिसे उसका मानना उचित है। वादिदेवसूरि[6] और यशोविजयने[7] यद्यपि अकिंचित्करका खण्डन किया है, पर वे उस दृष्टिको मेरे ख्यालमें ओझल कर गये हैं। अन्यथा वे उस दृष्टिसे उसके औचित्यको जरूर स्वीकार करते। अभिनव धर्मभूषणने माणिक्यनन्दिका अनुसरण किया है और उनके निर्देशानुसार अकिंचित्करको चौथा हेत्वाभास बताया है।

इस तरह न्यायदीपिकामें आये हुए कुछ विशेष विषयोंपर तुलनात्मक विवेचन किया गया है।

●

1. '[illegible] हेत्वाभासानामनुपूर्वं कथम्। अनिश्चितः परमागमो [illegible] [illegible]।'
2. '[illegible] असिद्धः, अन्यथासिद्धश्चेति।' —न्यायवा. पृ. [illegible]
3. परीक्षामुख, ६-२१।
4. 'लक्षण एवासौ दोषो व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात्।' —परीक्षा., ६-३८।
5. [illegible], ६. २३, [illegible] ६-८१।
6. [illegible], पृ. [illegible]।
7. [illegible], पृ. १८।

न्यायदीपिकामें उल्लिखित ग्रन्थ और ग्रन्थकार

अभिनव धर्मभूषणने अपनी न्यायदीपिकामें अनेक ग्रन्थ और ग्रन्थकारोंका उल्लेख किया है तथा उनके कथनसे अपने प्रतिपाद्य विषयको पुष्ट एवं प्रमाणित किया है। अतः यह उपयुक्त जान पड़ता है कि यहाँ उन ग्रन्थों और ग्रन्थकारोंका कुछ परिचय दिया जाय। प्रथमतः न्यायदीपिकामें उल्लिखित निम्न जैनेतर ग्रन्थ और ग्रन्थकारोंका परिचय दिया जाता है—

(क) ग्रन्थ—न्यायबिन्दु।

(ग) ग्रन्थकार—१. दिग्नाग, २. शालिकानाथ, ३ उदयन और ४ वामन।

न्यायबिन्दु—यह बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्तिका रचा हुआ बौद्ध न्यायका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें तीन परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेदमें प्रमाणसामान्यका लक्षण, उसके प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो भेदोंका स्वीकार एवं उनके लक्षण, प्रत्यक्षके भेदों आदिका वर्णन किया गया है। द्वितीय परिच्छेदमें अनुमानके स्वार्थ और परार्थ भेद, स्वार्थका लक्षण, हेतुका त्रैरूप्यलक्षण और उसके स्वभाव, कार्य तथा अनुपलब्धि इन तीन भेदों आदिका कथन किया है। और तीसरे परिच्छेदमें परार्थ अनुमान, हेत्वाभास, दृष्टान्त, दृष्टान्ताभास आदिका निरूपण किया गया है। न्यायदीपिका पृ. १० पर इस ग्रन्थके नामोल्लेख पूर्वक दो वाक्यों और पृ २५ पर इसके 'कल्पनापोढमभ्रान्तम्' प्रत्यक्षलक्षणकी समालोचना की गई है। प्रत्यक्षके इस लक्षणमें जो 'अभ्रान्त' पद निहित है वह स्वयं धर्मकीर्तिका ही दिया हुआ है। इसके पहले बौद्धपरम्परामें 'कल्पनापोढ' मात्र प्रत्यक्षका लक्षण स्वीकृत था। धर्मकीर्ति बौद्धदर्शनके उन्नायक युगप्रधान थे। इनका अस्तित्वसमय ईसाकी सातवीं शताब्दी (६३५ ई.) माना जाता है। ये तत्कालीन नालन्दा विश्वविद्यालयके आचार्य धर्मपालके शिष्य थे। न्यायबिन्दुके अतिरिक्त प्रमाणवार्तिक, वादन्याय, हेतुबिन्दु, सन्तानान्तरसिद्धि, प्रमाणविनिश्चय और सम्बन्धपरीक्षा आदि इनके बनाये हुए ग्रन्थ हैं। अभिनव धर्मभूषण न्यायबिन्दु आदिके अच्छे अभ्यासी जान पड़ते हैं।

१. दिग्नाग—ये बौद्ध-सम्प्रदायके प्रमुख तार्किक विद्वानोंमें हैं। इन्हें बौद्धन्यायका प्रतिष्ठापक होनेका श्रेय प्राप्त है, क्योंकि अधिकांशतः बौद्धन्यायके सिद्धान्तोंकी स्थापना इन्होंने की थी। इन्होंने न्याय, वैशेषिक और मीमांसा आदि दर्शनोंके मन्तव्योंकी आलोचनास्वरूप और स्वतन्त्ररूप अनेक प्रकरण-ग्रन्थ रचे हैं। न्यायप्रवेश, प्रमाणसमुच्चय, प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, हेतुचक्रडमरु, आलम्बनपरीक्षा और त्रिकालपरीक्षा आदि ग्रन्थ इनके माने जाते हैं[1]। इनमें न्यायप्रवेश और प्रमाण-

---

१. उद्योतकर (६०० ई.) ने न्यायवा., पृ. १२८, १६८ पर हेतुवार्तिक और हेत्वाभास-वार्तिक नामके दो ग्रन्थोंका उल्लेख किया है, जो सम्भवतः दिग्नागके ही होना चाहिए, क्योंकि वाचस्पति मिश्रके तात्पर्यटीका (पृ. २८९) गत संदर्भको ध्यानसे पढ़नेपर वैसा

मीमांसक शावरस्वामीके शावरभाष्यकी व्याख्या है, इन्होंने 'ऋजुविमला' नामकी पंजिका लिखी है। प्रभाकरके सिद्धान्तोंका विवरण करनेवाला इनका 'प्रकरणपंजिका' नामका वृहद् ग्रन्थ भी है। ये ईसाकी आठवीं शताब्दीके विद्वान् माने जाते हैं। न्यायदीपिकाकारने पृ. १९ पर इनके नामके साथ 'प्रकरणपंजिका' के कुछ वाक्य उद्धृत किये हैं।

३. उदयन—ये न्यायदर्शनके प्रतिष्ठित विद्वानोंमें हैं। नैयायिकपरम्परामें ये 'आचार्य'के नामसे विशेष उल्लिखित हैं। जो स्थान बौद्धदर्शनमें धर्मकीर्ति और जैनदर्शनमें विद्यानन्दस्वामीको प्राप्त है वही स्थान न्यायदर्शनमें उदयनाचार्यका है। ये शास्त्रार्थी और प्रतिभाशाली विद्वान् थे। न्यायकुसुमाञ्जलि, आत्मतत्त्वविवेक, लक्षणावली, प्रशस्तपादभाष्यकी टीका किरणावली और वाचस्पति मिश्रकी न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकापर लिखी गयी तात्पर्यपरिशुद्धि टीका, न्यायपरिशिष्ट नामकी न्यायसूत्रवृत्ति आदि इनके बनाये हुए ग्रन्थ हैं। इन्होंने अपनी लक्षणावली[1] शक संवत् ९०६ (ई. ९८४) में समाप्त की है। अतः इनका अस्तित्वकाल दशवीं शताब्दी है। न्यायदीपिका (पृ. २१) में इनके नामोल्लेखके साथ 'न्यायकुसुमांजलि' (४-६) के 'तन्मे प्रमाणं शिवः' वाक्यको उद्धृत किया है और उदयनाचार्यको 'योगाग्रसर' लिखा है। अभिनव धर्मभूषण इनके न्यायकुसुमांजलि, किरणावली आदि ग्रन्थोंके अच्छे अध्येता ज्ञात होते हैं। न्यायदी. पृ. ११० पर किरणावली (पृ. २९७, ३००, ३०१) गत निरुपाधिक सम्बन्धरूप व्याप्तिका भी खण्डन किया गया है। यद्यपि किरणावली और न्यायदीपिकागत लक्षणोंमें कुछ शब्दभेद है। पर दोनोंकी रचनाको देखते हुए वे भिन्न ग्रन्थकारकी रचना प्रतीत नहीं होते। प्रत्युत किरणावलीकारकी ही वह रचना स्पष्टतः जान पड़ती है। दूसरी बात यह है कि अनौपाधिक सम्बन्धको व्याप्ति मानना उदयनाचार्यका मत माना गया है। वैशेषिकदर्शनसूत्रोपस्कार (पृ. ९०) में 'नाप्यनौपाधिकः सम्बन्धः' शब्दोंके साथ पहले पूर्व पक्षमें अनौपाधिकरूप व्याप्तिलक्षणकी आलोचना करके बादमें उसे ही सिद्धान्तमत स्थापित किया है। यहाँ 'नाप्यनौपाधिकः' पर टिप्पण देते हुए टिप्पणकारने 'आचार्यमतं दूषयन्नाह' लिखकर उसे आचार्य (उदयनाचार्य) का मत प्रकट किया है। मैं पहले कह आया हूँ कि उदयन आचार्यके नामसे भी उल्लेखित किये जाते हैं। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि अनौपाधिक—निरुपाधिक सम्बधको व्याप्ति मानना उदयनाचार्यका सिद्धान्त है और उसीकी न्यायदीपिकाकारने आलोचना की है। उपस्कार और किरणावलीगत व्याप्ति तथा उपाधिके लक्षणसम्बन्धी सन्दर्भ भी शब्दशः एक हैं, जिनसे टिप्पणकारके अभिप्रेत 'आचार्य' पदसे उदयनाचार्य ही स्पष्ट ज्ञात होते हैं। यद्यपि प्रशस्तपादभाष्यकी व्योमवती टीकाके रचयिता व्योमशिवाचार्य भी आचार्य कहे जाते हैं, परन्तु उन्होंने व्याप्तिका उक्त लक्षण स्वीकार नहीं किया। बल्कि उन्होंने सहचरित सम्बन्ध अथवा स्वाभाविक सम्बन्धको व्याप्ति माननेकी ओर ही संकेत किया है[2]। उदयनसे पूर्ववर्ती वाचस्पति

---

१. 'तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः।
वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम् ॥'—लक्षणा., पृ. १३।

२. व्योमवती टीका, पृ. ५६१, ५७८।

मिश्रने भी अनौपाधिक सम्बन्धको व्याप्ति न कहकर स्वाभाविक सम्बन्धको व्याप्ति कहा है[1]।

४. वामन—इनका विशेष परिचय यथेष्ट प्रयत्न करनेपर भी मालूम नहीं हो सका। न्यायदीपिकामें उद्धृत वाक्यपरसे इतना ही मालूम होता है कि ये अच्छे ग्रन्थकार और प्रभावक विद्वान् रहे हैं। न्यायदीपिका पृ. १२४ पर इनके नामके उल्लेखपूर्वक इनके किसी ग्रन्थका 'न शास्त्रमसद्द्रव्येष्वर्थवत्' वाक्य उद्धृत किया गया है।

अब जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकारोंका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है। धर्मभूषणने निम्न जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकारोंका उल्लेख किया है।

(क) ग्रन्थ—१. तत्त्वार्थसूत्र, २. आप्तमीमांसा, ३. महाभाष्य, ४. जैनेन्द्र व्याकरण, ५. आप्तमीमांसाविवरण, ६. राजवार्तिक और राजवार्तिकभाष्य, ७. न्याय-विनिश्चय, ८. परीक्षामुख, ९. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक तथा भाष्य, १०. प्रमाणपरीक्षा, ११. पत्रपरीक्षा, १२. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और १३. प्रमाणनिर्णय।

(ख) ग्रन्थकार—१. स्वामी समन्तभद्र, २. अकलंकदेव, ३. कुमारनन्दि, ४ माणिक्यनन्दि और ५. स्याद्वादविद्यापति (वादिराज)।

तत्त्वार्थसूत्र—यह आचार्य गृद्धपिच्छ या उमास्वाति अथवा उमास्वामीकी अमर रचना है, जो थोड़े-से पाठभेदके साथ जैनपरम्पराके दोनों ही दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायोंमें समानरूपसे मान्य है और दोनों ही सम्प्रदायोंके विद्वानोंने इसपर अनेक बड़ी-बड़ी टीकाएँ लिखी हैं। उनमें आ. पूज्यपादकी तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धि), अकलंकदेवका तत्त्वार्थवार्तिक, विद्यानन्दका तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, श्रुतसागर-सूरिकी तत्त्वार्थवृत्ति और श्वेताम्बर परम्परामें प्रसिद्ध तत्त्वार्थभाष्य ये पाँच टीकाएँ तत्त्वार्थकी विशाल, विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण व्याख्याएँ हैं। आचार्यमहोदयने इस छोटी-सी दशाध्यायात्मक अनूठी कृतिमें समस्त जैन तत्त्वज्ञानको संक्षेपमें 'गागरमें सागर'की तरह भरकर अपने विशाल और सूक्ष्म ज्ञानभण्डारका परिचय दिया है। यही कारण है कि जैनपरम्परामें तत्त्वार्थसूत्रका बहुत बड़ा महत्त्व है और उसका वही स्थान है जो हिन्दूसम्प्रदायमें गीताका है। इस ग्रन्थरत्नके रचयिता जिनमतो[?] ... के विद्वान् हैं[2]। न्यायदीपिकाकारने तत्त्वार्थसूत्रके अनेक सूत्रोंको न्याय-दीपिका (पृ ४, ३८, ३९, ३८, ११३, १२२) में बड़ी श्रद्धाके साथ उल्लेखित किया है और उन महाशास्त्र तक भी कहा है, जो उपयुक्त ही है। इतना ही नहीं, न्याय-दीपिकाका भव्य प्रासाद भी इसी प्रतिष्ठित तत्त्वार्थसूत्रके 'प्रमाणनयैरधिगमः' सूत्रपर निर्मित हुई है।

आप्तमीमांसा—स्वामी समन्तभद्रकी उपलब्ध कृतियोंमें यह सबसे अधिक प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण कृति है। इसे 'देवागमस्तोत्र' भी कहते हैं। इसमें दस परिच्छेद और ११४ पद्य (कारिकाएँ) हैं। इसमें आप्त (सर्वज्ञ) की मीमांसा—परीक्षा की गई है,

[1] [illegible], पृ ११०, १११।
[2] [illegible] —सर्वार्थसि॰ उत्थानिका।

नके नामसे ही प्रकट है। अर्थात् इसमें स्याद्वादनायक अर्हत् तीर्थंकरको करके उनके स्याद्वाद (अनेकान्त) सिद्धान्तकी सयुक्तिक सुव्यवस्था की है दविद्वेषी एकान्तवादियोंमें आप्तामासत्व (असार्वज्ञ्य) बतलाकर उनके द्धान्तोंकी युक्तियोंके साथ बहुत ही मार्मिक आलोचना की है। जैनदर्शनके स्तम्भ-ग्रन्थोंमें आप्तमीमांसा पहला ग्रन्थ है। इसके ऊपर भट्ट अकलंकदेवने विवरण (भाष्य), आ. विद्यानन्दने 'अष्टसहस्री' (आप्तमीमांसालंकार या ार) और वसुनन्दिने 'देवागमवृत्ति' टीकाएँ लिखी हैं। ये तीनों टीकाएँ र प्रकाशित हैं। पण्डित जयचन्दजीकृत इसकी एक टीका हिन्दी-भाषामें भी लकिशोरजी मुख्तारने इसकी दो और अनुपलब्ध टीकाओंकी सम्भावना क तो वह, जिसका संकेत आ. विद्यानन्दने अष्टसहस्रीके अन्तमें 'अत्र शास्त्र- केचिदिदं मंगलवचनमनुमन्यन्ते' इस वाक्यमें आये हुए 'केचित्' शब्दके है। और दूसरी 'देवागमपद्यवार्तिकालंकार' है, जिसकी सम्भावना ानटीका (पृ. ९४) के 'इति देवागमपद्यवार्तिकालंकारे निरूपितप्रायम्।' आये हुए 'देवागमपद्यवार्तिकालंकारे' पदसे की है। परन्तु पहली टीकाके ना तो कुछ ठीक मालूम होती है, क्योंकि आ. विद्यानन्दने भी वैसा संकेत लेकिन दूसरी टीकाके सद्भावका कोई आधार या उल्लेख अब तक प्राप्त वास्तवमें बात यह है कि आ. विद्यानन्द 'देवागमपद्यवार्तिकालंकारे' पद- पूर्वरचित दो प्रसिद्ध टीकाओं—देवागमालंकार (अष्टसहस्री) और पद्य- ार (श्लोकवार्तिकालंकार) का उल्लेख करते हैं और उन्हें देखनेकी प्रेरणा पद्यका अर्थ श्लोक प्रसिद्ध ही है और अलंकार शब्दका सम्बन्ध दोनोंके व होनेसे समस्यन्त एक वचनका प्रयोग भी असंगत नहीं है। अतः ार्तिकालंकार' नामकी कोई आप्तमीमांसाकी टीका रही है, यह बिना के नहीं कहा जा सकता। अभिनव धर्मभूषणने आप्तमीमांसाको अनेक न्यायदीपिकामें बड़ी कृतज्ञताके साथ उद्धृत की हैं।

ाभाष्य—धर्मभूषणने न्यायदीपिकामें निम्न शब्दोंके साथ महाभाष्यका या है—

दुक्तं स्वामिभिर्महाभाष्यस्यादावाप्तमीमांसाप्रस्तावे—' पृ. ४१।

न्तु आज यह ग्रन्थ उपलब्ध जैन साहित्यमें नहीं है। अतः विचारणीय है मका कोई ग्रन्थ है या नहीं? यदि है तो उसकी उपलब्धि आदिका परिचय ए। और यदि नहीं है तो आ. धर्मभूषणने किस आधारपर उसका उल्लेख इस सम्बन्धमें अपनी ओरसे कुछ विचार करनेके पहले मैं कहना चाहता के विषयमें जितना अधिक ऊहापोहके साथ सूक्ष्म विचार और अनुसन्धान . ने किया है[2] उतना शायद ही अबतक दूसरे विद्वान्ने किया हो। उन्होंने ामीसमन्तभद्र' ग्रन्थ के ३१ पेजोंमें अनेक पहलुओंसे चिन्तन किया है और

समन्तभद्र, पृ १९९, २००।

समन्तभद्र, पृ. २१२ से २४३।

वे इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि स्वामी समन्तभद्र रचित महाभाष्य नामका कोई ग्रन्थ रहा जरूर है, पर उसके होनेके उल्लेख अब तक तेरहवीं शताब्दीके पहलेके नहीं मिलते हैं। जो मिलते हैं वे १३वीं, १४वीं और १५वीं शताब्दीके हैं। अतः इसके लिए प्राचीन साहित्यको टटोलना चाहिए। इस विषयमें हम इसी ग्रन्थ (पृ. १३४) में 'गन्धहस्ति महाभाष्य' शीर्षकके नीचे विशेष विचार कर आये हैं।

४. जैनेन्द्रव्याकरण—यह आचार्य पूज्यपादका, जिनके दूसरे नाम देवनन्दि और जिनेन्द्रबुद्धि हैं,[1] प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण व्याकरणग्रन्थ है[2]। पं. नाथूरामजी प्रेमीके शब्दोंमें यह 'पहला जैन व्याकरण' है। इस ग्रन्थकी जैनपरम्परामें बहुत प्रतिष्ठा रही है। भट्टाकलंकदेव आदि अनेक बड़े-बड़े आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें इसके सूत्रोंका बहुत उपयोग किया है। महाकवि धनंजय (नाममालाकर्ता) ने तो इसे 'अपश्चिम रत्न' (बेजोड़ रत्न) कहा है[3]। इस ग्रन्थपर अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं। इस समय केवल निम्न चार टीकाएँ उपलब्ध हैं—१. अभयनन्दिकृत महावृत्ति, २. प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्कर, ३. आर्य श्रुतिकीर्तिकृत पंचवस्तुप्रक्रिया और ४. पं. महाचन्द्रकृत लघुजैनेन्द्र। इस ग्रन्थके कर्ता आ० पूज्यपादका समय ईसाकी पाँचवीं और विक्रमकी छठी शताब्दी माना जाता है। जैनेन्द्रव्याकरणके अतिरिक्त इनकी—१. तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धि), २. समाधितन्त्र, ३. इष्टोपदेश, ४. और ५. दशभक्ति (संस्कृत) ये कृतियाँ उपलब्ध हैं। सारसंग्रह, शब्दावतारन्यास, जैनेन्द्रन्यास और वैद्यकका कोई ग्रन्थ ये उनकी अनुपलब्ध रचनाएँ हैं, जिनके परवर्ती ग्रन्थों, शिलालेखों आदिमें उल्लेख मिलते हैं। अभिनव धर्मभूषणने न्यायदीपिका पृ. ११ में इस ग्रन्थके नामोल्लेखके बिना और पृ. १३ में नामोल्लेखपूर्वक दो सूत्र उद्धृत किये हैं।

आप्तमीमांसाविवरण—न्यायदीपिकाकारने न्यायदीपिका पृ. ११५ पर इसका नामोल्लेख किया है और उसे श्रीमदाचार्यपादका बतलाकर उसमें कपिलादिकोंकी आप्ताभासताको विस्तारसे जाननेकी प्रेरणा की है। यह आप्तमीमांसाविवरण आप्तमीमांसापर लिखी गयी अकलंकदेवकी 'अष्टशती' नामक विवृति और आचार्य विद्यानन्दरचित आप्तमीमांसालंकृति-'अष्टसहस्री' के अतिरिक्त कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है और न अकलंकदेव तथा विद्यानन्दके सिवाय कोई 'श्रीमदाचार्यपाद' नामके आचार्य ही हैं। यसुनन्दिने भी यद्यपि 'आप्तमीमांसा' पर 'देवागमवृत्ति' टीका लिखी है परन्तु यह आप्तमीमांसाकी कारिकाओंका शब्दानुसारी अर्थस्फोट ही करती है—उसमें कपिलादिकोंकी आप्ताभासताका विस्तारसे वर्णन नहीं है। अतः न्यायदीपिकाकारको 'आप्तमीमांसाविवरण'से अष्टशती और अष्टसहस्री विवक्षित हैं। ये दोनों दार्शनिक टीकाकृतियाँ बहुत ही महत्त्वपूर्ण और गूढ़ हैं। अष्टशती तो इतनी दुरूह और जटिल

---

१. 'यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम्॥'—श्रवण., शि. नं. ४० (६४)

२ इस ग्रन्थ और ग्रन्थकारके विशेष परिचयके लिए जैन साहित्य और इतिहासगत 'देवनन्दि और उनका जैनेन्द्रव्याकरण' निबन्ध तथा समाधितन्त्रकी प्रस्तावना देखें।

३. 'प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्। धनञ्जयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥'
—नाममाला।

क बिना अष्टसहस्रीके उसके मर्मको समझना बहुत मुश्किल है। जैन दर्शनसाहित्य-
ही नहीं, समग्र भारतीय दर्शनसाहित्यमें भी इसकी जोड़का प्रायः विरला ही कोई
तन्त्र ग्रन्थ या टीकाग्रन्थ हो।

राजवार्तिक और भाष्य—गौतमके न्यायसूत्रपर प्रसिद्ध नैयायिक उद्योत-
करके 'न्यायवार्तिक' की तरह आ. उमास्वाति विरचित तत्त्वार्थसूत्रपर अकलंकदेव-
ने गद्यात्मक 'तत्त्वार्थवार्तिक' नामक टीका लिखी है, जो राजवार्तिकके नामसे भी
व्यवहृत होती है। और उसके वार्तिकोंपर उद्योतकरकी ही तरह स्वयं अकलंकदेवने
भाष्य रचा है, जो 'तत्त्वार्थवार्तिकभाष्य' या 'राजवार्तिकभाष्य' कहा जाता है। यह
भाष्य राजवार्तिकके प्रत्येक वार्तिकका विशद व्याख्यान है। इसकी भाषा बड़ी सरल
और प्रसन्न है, जबकि प्रत्येक वार्तिक अत्यन्त गम्भीर और दुरूह है। एक ही जगह
अकलंकदेवकी इस चेतश्चमत्कारिणी प्रतिभाकी द्विविधताको पाकर सहृदय पाठक
साश्चर्य आनन्दविभोर हो उठता है और श्रद्धासे उसका मस्तक नत हो जाता है।
ंकदेवने अपना यह राजवार्तिक आ. पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिको आधार बनाकर
ा है, जो तत्त्वार्थसूत्रकी समग्र टीकाओंमें पहली टीका है। उन्होंने उसके अर्थ-
वपूर्ण प्रायः प्रत्येक वाक्यको राजवार्तिकका वार्तिक बनाया है। फिर भी राज-
तिकमें सर्वार्थसिद्धिसे कुछ भी पुनरुक्ति एवं निरर्थकता मालूम नहीं होती। राज-
ार्तिककी यह विशेषता है कि यह प्रत्येक विषयकी अन्तिम व्यवस्था अनेकान्तका
आश्रय लेकर करता है। तत्त्वार्थसूत्रकी समस्त टीकाओंमें राजवार्तिक प्रधान टीका
है। पं. सुखलालजीके शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि "राजवार्तिक गद्य, सरल और
विस्तृत होनेसे तत्त्वार्थके सम्पूर्ण टीका-ग्रन्थोंकी गरज अकेला ही पूरी करता है।"
वस्तुतः जैनदर्शनका बहुविध एवं प्रामाणिक अभ्यास करनेके लिए केवल राजवार्तिक-
का अध्ययन पर्याप्त है। न्यायदीपिकाकारने न्या. दी. पृ. ३१ और ३५ पर राज-
वार्तिकका तथा पृ. ६ और ३२ पर उसके भाष्यका नामोल्लेखपूर्वक उनके वाक्य
उद्धृत किये हैं।

न्यायविनिश्चय—यह अकलंकदेवकी उपलब्ध दार्शनिक कृतियोंमें अन्यतम
कृति है। इसमें तीन प्रस्ताव (परिच्छेद) हैं और तीनों प्रस्तावोंकी मिलाकर कुल
४८० कारिकाएँ हैं। पहला प्रत्यक्ष-प्रस्ताव है, जिसमें दर्शनान्तरीय प्रत्यक्षलक्षणोंकी
आलोचनाके साथ जैनसम्मत प्रत्यक्ष-लक्षणका निरूपण किया है और प्रासंगिक कतिपय
दूसरे विषयोंका भी विवेचन किया है। दूसरे अनुमान-प्रस्तावमें अनुमानका लक्षण,
साधन, साधनाभास, साध्य, साध्याभास आदि अनुमानके परिकरका विवेचन है और
तीसरे आगम-प्रस्तावमें प्रवचनका स्वरूप आदिका विशिष्ट निर्णय किया गया है। इस
तरह न्यायविनिश्चयमें जैन न्यायकी प्रस्थापना की गई है। यह ग्रन्थ भी अकलंकदेवके
दूसरे ग्रन्थोंकी ही तरह दुर्बोध और गम्भीर है। इसकी मात्र कारिकाओंपर स्याद्वाद-
विद्यापति वादिराजसूरिकी न्यायविनिश्चयविवरण अथवा न्यायविनिश्चयालंकार
नामकी वैदुष्यपूर्ण विशाल टीका है। अकलंकदेवकी इसपर स्वोपज्ञ विवृति भी है,
क्योंकि लघीयस्त्रय और प्रमाणसंग्रहपर भी उनकी स्वोपज्ञ विवृत्तियाँ हैं। न्याय-
विनिश्चय मूल अकलंकग्रन्थत्रयमें मुद्रित हो चुका है। वादिराजसूरिकृत टीका भी

अब मुद्रित हो चुकी है। धर्मभूषणने इस ग्रन्थके नामोल्लेखके साथ न्यायदीपिका पृ. २४ पर इसकी अर्धकारिका और पृ. ७० पर पूरी कारिका उद्धृत की है।

परीक्षामुख—यह आचार्य माणिक्यनन्दिकी एकमात्र और अपूर्व कृति है तथा जैन न्यायका प्रथम सूत्रग्रन्थ है। यद्यपि अकलंकदेव जैन न्यायकी प्रस्थापना कर चुके थे और अनेक महत्त्वपूर्ण स्फुट प्रकरण भी लिख चुके थे। परन्तु गौतमके न्यायसूत्र, दिग्नागके न्यायप्रवेश, न्यायमुख आदिकी तरह जैन न्यायको सूत्रबद्ध करने-वाला गद्य 'न्यायसूत्र' ग्रन्थ जैन परम्परामें अब तक नहीं बन पाया था। इस कमीकी पूर्तिको सर्वप्रथम आ. माणिक्यनन्दिने सम्भवतः 'परीक्षामुख' लिखकर किया। माणिक्य-नन्दिकी यह अकेली एक ही अमर रचना है, जो भारतीय न्यायसूत्रग्रन्थोंमें अपना विशिष्ट स्थान रखती है। यह अपूर्व ग्रन्थ संस्कृत-भाषामें निबद्ध तथा छह परिच्छेदोंमें विभक्त है। इसकी सूत्रसंख्या सब मिलाकर २०७ है। सूत्र बड़े सरल, सरस तथा नपे तुले हैं। साथमें गम्भीर, तलस्पर्शी और अर्थगौरवको लिए हुए हैं। आदि और अन्तमें दो पद्य हैं। अकलंकदेवके द्वारा प्रस्थापित जैन न्यायको इसमें बहुत ही सुन्दर ढंगसे ग्रथित किया गया है। लघु अनन्तवीर्यने तो इसे अकलंकके वचनरूप समुद्रको[1] मथकर निकाला गया 'न्यायविद्यामृत—न्यायविद्यारूपी अमृत बतलाया है[2]। इस ग्रन्थरत्नका महत्त्व इसीसे ख्यापित हो जाता है कि इसपर अनेक महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखी गई हैं। आ. प्रभाचन्द्रने १२ हजार श्लोकप्रमाण 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' नामकी विशालकाय टीका लिखी है। इनके पश्चात् १२वीं शताब्दीके विद्वान् लघु अनन्तवीर्यने प्रसन्न रचनाशैलीवाली 'प्रमेयरत्नमाला' टीका लिखी है। यह टीका है तो छोटी, पर इतनी विशद है कि पाठकको बिना कठिनाईके सहजमें ही मूलका अर्थबोध हो जाता है। इसकी शब्दरचनासे हेमचन्द्राचार्य भी प्रभावित हुए और उन्होंने अपनी प्रमाण-मीमांसामें इसका शब्दशः तथा अर्थशः अनुसरण किया है। न्यायदीपिकाकारने परीक्षामुखके अनेक सूत्रोंको नामनिर्देश और बिना नामनिर्देशके उद्धृत किया है। वस्तुतः धर्मभूषणने इस सूत्रग्रन्थका खूब उपयोग किया है। न्यायदीपिकाके आधार-भूत ग्रन्थोंमें परीक्षामुख विशेष उल्लेखनीय है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और भाष्य—विद्यानन्दने आ. उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र-पर कुमारिलके 'मीमांसाश्लोकवार्तिक और धर्मकीर्तिके 'प्रमाणवार्तिक' की तरह पद्यात्मक तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक रचा है और उसके पद्यवार्तिकोंपर उन्होंने स्वयं गद्यमें भाष्य लिखा है, जो तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकभाष्य' और 'श्लोकवार्तिकभाष्य' नामोंसे कथित होता है। आचार्यप्रवर विद्यानन्दने इसमें अपनी दार्शनिक विद्याका पूरा ही खजाना खोलकर रख दिया है और प्रत्येकको उसका आनन्दरसास्वाद लेनेके लिए निःस्वार्थ आमन्त्रण दिया है। श्लोकवार्तिकके एक सिरेसे दूसरे सिरे तक चले जाइये,

---

१. अकलंकके वचनोंसे 'परीक्षामुख' कैसे उद्धृत हुआ है, इसके लिए मेरा 'परीक्षामुखसूत्र और उसका उद्गम' शीर्षक लेख देखें।—'अनेकान्त' वर्ष ५ किरण ३-४ पृ. ११९-१२८। तथा यही ग्रन्थ पृ. ४११।

२. 'अकलंकवचोऽम्भोधेरुद्दध्रे येन धीमता।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने ॥' —प्रमेयर. पृ. २।

त्र तार्किकता और गहन विचारणा समव्याप्त है। उनके सूक्ष्म एवं विशाल ण्डित्यकी प्रखर किरणें कहीं मीमांसादर्शनके नियोगभावनादिपर अपना तीक्ष्ण प्रकाश ाल रही हैं, तो कहीं न्यायदर्शनके निग्रहस्थानादिरूप प्रगाढ तमको निष्कासित कर रही हैं और कहीं बौद्ध दर्शनको हिममय चट्टानोंको पिघला-पिघला कर बहा रही हैं। इस तरह श्लोकवार्तिकमें हमें विद्यानन्दके अनेकमुख पाण्डित्य और सूक्ष्मप्रज्ञताके दर्शन होते हैं। यही कारण है कि जैन तार्किकोंमें आचार्य विद्यानन्दका उन्नत स्थान है। श्लोकवार्त्तिकके अलावा विद्यानन्दमहोदय, अष्टसहस्री, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, आप्तपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा और युक्त्यनुशासनालंकार आदि दार्शनिक रचनाएँ इनकी बनाई हुई हैं। इनमें विद्यानन्दमहोदय, जो श्लोकवार्तिककी रचनासे भी पहलेकी[1] विशिष्ट रचना है और जिसके उल्लेख तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ. २७२, ३८५) तथा अष्टसहस्री (पृ. २८९, २९०) में पाये जाते हैं, अनुपलब्ध है। शेषकी रचनाएँ उपलब्ध हैं और वे मुद्रित भी हो चुकी हैं। आ. विद्यानन्द अकलंकदेवके उत्तरकालीन और प्रभाचन्द्राचार्यके पूर्ववर्ती हैं। अतः इनका अस्तित्व-समय नवमी शताब्दी (ई. ७७५ से ८४०) है[2]। अभिनव धर्मभूषणने न्यायदीपिकामें इनके श्लोक-वार्तिक और भाष्यका कई जगह नामोल्लेख करके उनके वाक्योंको उद्धृत किया है।

प्रमाणपरीक्षा—यह विद्यानन्दकी ही अन्यतम कृति है। यह अकलंकदेवके प्रमाणसंग्रहादि प्रमाणविषयक प्रकरणोंका आश्रय लेकर रची गई है। इसका विशेष चय पहले (इसी ग्रन्थ, पृ. ३१८में) दिया जा चुका है। विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोक-र्तिक[3] और अष्टसहस्री[4] की तरह इसमें भी प्रत्यभिज्ञानके[5] दो ही भेद गिनाये हैं, र्वाद अकलंक[6] और माणिक्यनन्दिने[7] दो-से ज्यादा कहे हैं और यही मान्यता जैन परम्परामें प्रायः सर्वत्र प्रतिष्ठित हुई है। इससे मालूम होता है कि प्रत्यभिज्ञानके दो भेदोंकी मान्यता विद्यानन्दकी अपनी है। धर्मभूषणने पृ. १७ पर इस ग्रन्थके नामो-ल्लेखके साथ उसकी एक कारिका उद्धृत की है।

पत्रपरीक्षा—यह भी आचार्य विद्यानन्दकी रचना है। इसमें दर्शनान्तरीय पत्रलक्षणोंकी समालोचनापूर्वक जैन दृष्टिसे पत्रका बहुत सुन्दर लक्षण दिया है तथा प्रतिज्ञा और हेतु इन दो अवयवोंको ही अनुमानांग बतलाया है। न्यायदीपिका पृ. ८१ पर इस ग्रन्थका नामोल्लेख करके उससे अवयवोंके विचारको विस्तारपूर्वक जाननेकी सूचना की है।

---

१. पूर्ववर्तित्वके लिए 'तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण' शीर्षक मेरा द्वितीय लेख देखें, अनेकान्त, वर्ष ५, किरण १०-११, पृ. ३८०। तथा यही ग्रन्थ पृ. ३०५।

२. आप्तप. प्र. पृ. ४७ तथा यही ग्रन्थ पृ. २९५।

३. 'तद्विधैकत्वसादृश्यगोचरत्वेन निश्चितम्'—त. श्लो. पृ. १९०।

४. 'तदेवेदं तत्सदृशमेवेदमित्येकत्वसादृश्यविषयस्य द्विविधप्रत्यभिज्ञानस्य—'—अष्टस., पृ. २७९

५. 'द्विविधं हि प्रत्यभिज्ञानं—'—प्रमाणप., पृ. ४२।

६. लघीय., का. २१।

७. परीक्षामु., ३-५ से ३-१०।

प्रमेयकमलमार्त्तण्ड—यह आ. माणिक्यनन्दिके 'परीक्षामुख' सूत्र-ग्रन्थपर रचा गया प्रभाचन्द्राचार्यका वृहत्काय टीकाग्रन्थ है। इसे लघु अनन्तवीर्य (प्रमेयरत्नमालाकार) ने 'उदारचन्द्रिका' की उपमा दी है और अपनी कृति—प्रमेयरत्नमालाको उसके सामने जुगनूके सदृश बतलाया है। इससे प्रमेयकमलमार्त्तण्डका महत्त्व स्थापित होता है। निःसन्देह मार्त्तण्डके प्रखर प्रकाशमें दर्शनान्तरीय प्रमेय स्फुटतया भासमान होते हैं। स्वतत्त्व, परतत्त्व और यथार्थता, अयथार्थताका निर्णय करनेमें कठिनाई नहीं मालूम होती। इस ग्रन्थके रचयिता आ. प्रभाचन्द्र ईसाकी १०वीं और ११वी शताब्दी (९८० से १०६५ ई.) के विद्वान् माने जाते हैं[1]। इनका विशेष परिचय पहले आ चुका है। धर्मभूषणने न्यायदीपिका पृ. ३० पर इस ग्रन्थका केवल नामोल्लेख और ५४ पर नामोल्लेखके साथ एक वाक्यको भी उद्धृत किया है।

प्रमाण-निर्णय—न्यायविनिश्चयविवरणटीकाके कर्त्ता आ. वादिराजसूरिका यह स्वतन्त्र तार्किक प्रकरणग्रन्थ है। इसमें प्रमाणलक्षणनिर्णय, प्रत्यक्षनिर्णय, परोक्षनिर्णय और आगमनिर्णय ये चार निर्णय (परिच्छेद) हैं, जिनके नामोंसे ही ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय स्पष्ट हो जाता है। न्या. दी. पृ. ११ पर इस ग्रन्थके नामोल्लेखके साथ उसके एक वाक्यको उद्धृत किया है।

कारुण्यकलिका[2]—न्यायदीपिकाकारने पृ. १११ पर इस ग्रन्थका निम्न प्रकारसे उल्लेख किया है—

'प्रपञ्चितमेतदुपाधिनिराकरणं कारुण्यकलिकायामिति विरम्यते'।

परन्तु बहुत प्रयत्न करनेपर भी हम यह नहीं जान सके कि यह ग्रन्थ जैन रचना है या जैनेतर। अथवा स्वयं ग्रन्थकारकी ही न्यायदीपिकाके अलावा यह अन्य दूसरी रचना है, क्योंकि अब तकके मुद्रित जैन और जैनेतर ग्रन्थोंकी प्राप्त सूचियोंमें यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। अतः ऐसा मालूम होता है कि यह या तो नष्ट हो चुका है या किसी लायब्रेरीमें असुरक्षित रूपमें पड़ा है। यदि नष्ट नहीं हुआ और किसी लायब्रेरीमें है तो इसकी खोज होकर प्रकाशमें आना चाहिए। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण और अच्छा तर्क-ग्रन्थ मालूम होता है। न्यायदीपिकाकारके उल्लेखसे विदित होता है कि उसमें विस्तारसे उपाधिका निराकरण किया गया है। सम्भव है गदाधरके 'उपाधिवाद' ग्रन्थका भी इसमें खण्डन हो।

स्वामीसमन्तभद्र—ये वीरशासनके प्रभावक, सम्प्रसारक और खास युगके प्रवर्तक महान् आचार्य हुए हैं। सुप्रसिद्ध तार्किक भट्टाकलंकदेवने इन्हें 'कलिकालमें स्याद्वादरूपी पुण्योदधिके तीर्थका प्रभावक' बतलाया है[3]। आचार्य जिनसेनने इनके वचनोंको भ. वीरके वचनतुल्य प्रकट किया है[4] और एक शिलालेखमें[5] तो भ. वीरके

---

१. न्यायकुमुद, द्वि. भा., प्र., पृ. ५८ तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, प्रस्ता., पृ ६७।

२. पं. महेन्द्रकुमारजीने त्रिभदेवकी एक कारुण्यकलिकाका उल्लेख जैनदर्शन (पृ. ९२८) में किया है। पर उसका न्यायदीपिकाके उल्लेखके सिवाय कोई आधार नहीं बताया।

३. अष्टशती, पृ. २।

४. हरिवंशपुराण, १-३०।

५. बेलूर ताल्लुकेका शिलालेख नं. १७।

तीर्थंकी हजारगुणी वृद्धि करनेवाला भी कहा है। हरिभद्र और विद्यानन्द जैसे बड़े-बड़े आचार्योंने उन्हें 'वादिमुख्य', 'आद्यस्तुतिकार', 'स्याद्वादन्यायमार्गका प्रकाशक' आदि विशेषणों द्वारा स्मृत किया है। इसमें सन्देह नहीं कि उत्तरवर्ती आचार्योंने जितना गुणगान स्वामी समन्तभद्रका किया है उतना दूसरे आचार्यका नहीं किया। वास्तवमें स्वामी समन्तभद्रने वीरशासनकी जो महान् सेवा की है वह जैनवाङ्मयके इतिहासमें सदा स्मरणीय एवं अमर रहेगी। आप्तमीमांसा (देवागमस्तोत्र), युक्त्यनुशासन, स्वयम्भूस्तोत्र, रत्नकरण्डकश्रावकाचार और जिनशतक (जिनस्तुतिशतक) ये पाँच उपलब्ध कृतियाँ इनकी प्रसिद्ध हैं। तत्त्वानुशासन, जीवसिद्धि, प्रमाणपदार्थ, कर्मप्राभृतटीका और गन्धहस्तिमहाभाष्य इन ५ ग्रन्थोंके भी इनके द्वारा रचे जानेके उल्लेख ग्रन्थान्तरोंमें मिलते हैं[1]। परन्तु अभी तक कोई उपलब्ध नहीं हुआ। गन्धहस्तिमहाभाष्य (महाभाष्य) के सम्बन्धमें में पहले विचार कर आया हूँ। स्वामी-समन्तभद्र बौद्ध विद्वान् नागार्जुन (१८१ ई.) के समकालीन या कुछ ही समय बादके और दिग्नाग (३४५-४२५ ई.) के पूर्ववर्ती विद्वान् हैं[2]। अर्थात् इनका अस्तित्व-समय प्रायः ईसाकी दूसरी और तीसरी शताब्दी है। कुछ विद्वान् इन्हें दिग्नाग (४२५ ई.) और धर्मकीर्ति (६३५ ई.) के उत्तरकालीन अनुमानित करते हैं[3]। अर्थात् ५वीं से ७वी शताब्दी बतलाते हैं। इस सम्बन्धमें युक्तिपूर्ण विचार अन्यत्र[4] किया गया है। अतः इस संक्षिप्त स्थानपर पुनः विचार करना आवश्यक नहीं है। न्यायदीपिकाकारने न्यायदीपिकामें अनेक जगह स्वामी समन्तभद्रका नामोल्लेख किया है और उनके प्रसिद्ध दो दार्शनिक स्तोत्रों—देवागमस्तोत्र (आप्तमीमांसा) और स्वयम्भूस्तोत्रसे अनेक कारिकाओंको उद्धृत किया है।

भट्टाकलंकदेव—ये 'जैनन्यायके प्रस्थापक' के रूपमें स्मृत किये जाते हैं। जैन-परम्पराके सभी दिगम्बर और श्वेताम्बर तार्किक इनके द्वारा प्रतिष्ठित 'न्यायमार्ग' पर ही चले हैं। आगे जाकर तो इनका वह 'न्यायमार्ग' 'अकलंकन्याय'के नामसे प्रसिद्ध हो गया। तत्त्वार्थवार्तिक, अष्टशती, न्यायविनिश्चय, लघीयस्त्रय और प्रमाण-संग्रह आदि इनकी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। ये प्रायः सभी तार्किक एवं दार्शनिक कृतियाँ हैं और तत्त्वार्थवार्त्तिकभाष्यको छोड़कर सभी गूढ़ एवं दुरवगाह हैं। अनन्तवीर्यादि टीकाकारोंने इनके पदोंकी व्याख्या करनेमें अपनेको असमर्थ बतलाया है। वस्तुतः अकलंकदेवका वाङ्मय अपनी स्वाभाविक जटिलताके कारण विद्वानोंके लिए आज भी दुर्गम और दुर्बोध बना हुआ है, जबकि उनपर टीकाएँ भी उपलब्ध हैं। जैन साहित्यमें ही नहीं, बल्कि भारतीय दर्शनसाहित्यमें भी अकलंकदेवकी सर्व कृतियाँ

---

१. इन ग्रन्थोंके परिचयके लिए पं. जुगलकिशोर मुख्तारका 'स्वामीसमन्तभद्र' ग्रन्थ देखें।
२. 'नागार्जुन और स्वामीसमन्तभद्र' तथा 'स्वामीसमन्तभद्र और दिग्नाग' शीर्षक दो मेरे निबन्ध, 'अनेकान्त' वर्ष ७, किरण १-२ और वर्ष ५, कि. १२ तथा यही ग्रन्थ पृ १०७ और पृ ११२।
३. न्यायकुमुद, द्वि. भा. का प्राक्कथन और प्रस्तावना।
४. 'क्या स्वामीसमन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरकालीन हैं?' नामक मेरा लेख, जैनसिद्धान्त-भास्कर, भा. ११, किरण १। तथा यही ग्रन्थ पृ. १२५।

ही अभिहित किया है। न्यायदीपिकाकारने भी न्यायदीपिका पृ. २४ और ७० पर इसी उपाधिसे उनका उल्लेख किया है। पृ. २४ पर तो इसी नामसे उनके एक वाक्यको भी उद्धृत किया है। मालूम होता है कि 'न्यायविनिश्चय' जैसे दुरूह तर्कग्रन्थपर अपना बृहत्काय विवरण लिखनेके उपलक्ष्यमें ही इन्हें इनके गुरुजनों अथवा अन्य विद्वानोंने उक्त गौरवपूर्ण 'स्याद्वादविद्यापति'की उच्च उपाधिसे सम्मानित किया होगा। वादिराजसूरि केवल अपने समयके महान् तार्किक ही नहीं थे, बल्कि वे सच्चे अर्हद्भक्त, आज्ञाप्रधानी, अद्वितीय वैयाकरण और अद्वितीय कवि भी थे। न्यायविनिश्चयविवरण, पार्श्वनाथचरित, यशोधरचरित, प्रमाणनिर्णय और एकीभावस्तोत्र आदि इनकी कृतियाँ हैं। इन्होंने अपना पार्श्वनाथचरित शकसंवत् ९४७ (१०२५ ई.) में समाप्त किया है। अतः ये ईसाकी ११वीं सदीके पूर्वार्द्धके विद्वान् हैं।

●

नरेन्द्रसेन और उनकी प्रमाणप्रमेयकलिका

नरेन्द्रसेन

यहाँ 'प्रमाणप्रमेयकलिका' के कर्ता नरेन्द्रसेनके सम्बन्धमें विचार किया
प्रमाणप्रमेयकलिका' के अन्तमें जो समाप्ति-पुष्पिका-वाक्य पाया जाता है
कार है—

'इति श्रीनरेन्द्रसेनविरचिता प्रमाणप्रमेयकलिका समाप्ता।'

इस पुष्पिका-वाक्यमें इतना ही उल्लेख है कि प्रमाणप्रमेयकलिकाके रच
ी नरेन्द्रसेन हैं। इसके अतिरिक्त उससे कोई विशेष परिचय प्राप्त नहीं होत
विचारणीय है कि ये नरेन्द्रसेन कब हुए हैं, उनके गुरु-शिष्यादि कौन हैं, उन
य और कार्य क्या है? यह प्रश्न तब और अधिक विचारणीय बन जाता
जब हम देखते हैं कि जैन साहित्यमें अनेक नरेन्द्रसेन हुए हैं। अतएव यहाँ
सबकी छान-बीन करके प्रस्तुत नरेन्द्रसेनका विमर्श आवश्यक है। नीचे वही वि
प्रस्तुत है।

नरेन्द्रसेन नामके अनेक विद्वान् :

१. एक नरेन्द्रसेन तो वे हैं, जिनका उल्लेख आचार्य वादिराजने किया है
यह उल्लेख निम्न प्रकार है :

> विद्यानन्दमनन्तवीर्य-सुखदं श्रीपूज्यपादं दया-
> पालं सन्मतिसागरं कनकसेनाराध्यमभ्युद्यमी।
> शुद्धयन्नीतिनरेन्द्रसेनमकलंकं वादिराजं सदा
> श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्रमतुलं वन्दे जिनेन्द्रं मुदा॥

—न्यायवि. वि., अन्तिम प्रशस्ति, श्लोक २।

इन नरेन्द्रसेनके बारेमें इस प्रशस्ति-पद्य या दूसरे साधनोंसे कोई विशेष
परिचय प्राप्त नहीं होता। वादिराजके इस उल्लेखपरसे इतना ही ज्ञात होता है कि
ये नरेन्द्रसेन उनके पूर्ववर्ती हैं और वे काफी प्रभावशाली रहे हैं। आश्चर्य नहीं कि
वादिराज उनसे उपकृत भी हुए हों और इसलिए उन्होंने विद्यानन्द, अनन्तवीर्य,
पूज्यपाद, दयापाल, सन्मतिसागर, कनकसेन, अकलंक और स्वामी समन्तभद्र जैसे
समर्थ आचार्योंके साथ उनका नामोल्लेख करते हुए उनकी वन्दना की है और उन्हें
निर्दोष नीति (चारित्र) का पालक कहा है। वादिराजका समय शकसंवत् ९४७
(ई. १०२५) है। अतः ये नरेन्द्रसेन शकसं. ९४७ से पूर्व हो गये हैं।

२. दूसरे नरेन्द्रसेन वे हैं, जिनकी गुणस्तुति मल्लिषेण सूरिने 'नाग-
कुमारचरित' की अन्तिम प्रशस्तिमें इस प्रकार की है :

---

१. ...

तस्यानुजश्चारुचरित्रवृत्तिः प्रख्यातकीर्तिर्भुवि पुण्यमूर्तिः ।
नरेन्द्रसेनो जितवादिसेनो विज्ञाततत्त्वो जितकामसूत्रः ॥६॥

मल्लिषेणने इन नरेन्द्रसेनको जितवादिसेन प्रकट बतलाया है और उन्हें प्रख्यात कीर्तिका धारक, चारुचरित्रवृत्ति, पुण्यमूर्ति, विज्ञाततत्त्व, तथा इन्हें वादिराजोंमें ज्ञानमें अग्रणी प्रकट किया है। इसी प्रशस्तिके पाँचवें पद्यमें[1] इन्होंने अपने उनका शिष्य भी प्रकट किया है। भारतीकल्प, ज्वालामालिनीकल्प, कामचाण्डालीकल्प, भैरवपद्मावतीकल्प नागकुमारकाव्य और महापुराण इन ग्रन्थोंको भी इन्होंने रचना की है[2] और इन ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंमें इन्होंने अपनेको कनकसेनका[3] प्रशिष्य और जिनसेनका शिष्य बतलाया है[4]। असम्भव नहीं कि जिनसेन और उनके अनुज नरेन्द्रसेन दोनों मल्लिषेणके गुरु रहे हों—दोनोंसे इन्होंने भिन्न भिन्न विषयों या एक ही विषयका अध्ययन किया हो। मल्लिषेण महाकाव्यकर्ता, मन्त्रवादमें निपुण और उभय (प्राकृत-संस्कृत) भाषाविज्ञ थे। महापुराणकी प्रशस्तिमें इन्होंने अपना समय शकसंवत् ९६९ (ई. १०४७) दिया है। इससे वादिराज और मल्लिषेण दोनों समकालीन विद्वान् जान पड़ते हैं—उनके समयमें सिर्फ बाईस वर्षका अन्तर है। अतः मेरा अनुमान है कि जिन नरेन्द्रसेनका उल्लेख वादिराजने किया है उन्हीं नरेन्द्रसेनका मल्लिषेणने किया है। यदि यह अनुमान ठीक हो, तो प्रथम नं. के नरेन्द्रसेन और ये द्वितीय नं. के नरेन्द्रसेन दोनों अभिन्न ही है—भिन्न नहीं हैं।

३. तीसरे नरेन्द्रसेन 'सिद्धान्तसारसंग्रह' और 'प्रतिष्ठादीपक'के कर्ता हैं, जो अपनेको इन ग्रन्थोंकी अन्तिम समाप्ति-पुष्पिकाओंमें 'पण्डिताचार्य' की उपाधिसे भूषित प्रकट करते हैं।[5] इनके उल्लेख निम्न प्रकार हैं :

श्रीवीरसेनस्य गुणादिसेनो जातः सुशिष्यो गुणिना विशेष्यः ।
शिष्यस्तदीयोऽजनि धार्मिकस्तत्. सद्वृष्टिधितोऽत्र नरेन्द्रसेनः ॥
आवुष्यमा-निकटवर्तिनि कालयोगे मत्त्रे जिनेन्द्रशिवधर्मनि यो बभूव ।
आचार्यनामनिरतोऽत्र नरेन्द्रसेनस्तेनेदमागमवचो विशदं नियद्धम् ॥

—सिद्धान्तसा., प्रश., श्लोक ९३, ९५।

---

१. तच्छिष्यो विबुधाग्रणीर्गुणनिधिः श्रीमज्जिनेन्द्राह्वयः ।
संजातः सकलागमेषु निपुणो वाग्देवतालंकृतिः ॥५॥

२. प्रशस्तिसंग्रह, प्रस्तावना, पृ ११ (वीरसेवामन्दिर, दिल्ली संस्करण)।

३. वादिराजने भी एक कनकसेनका उल्लेख किया है, जो ऊपर आ चुका है। जान पड़ता है कि ये कनकसेन और वादिराज-द्वारा उल्लिखित कनकसेन दोनों एक हैं।

४. इन ग्रन्थोंकी प्रशस्तियाँ अथवा उक्त प्रशस्तिसंग्रह, पृ. १२४।

५. (क) 'इति श्रीसिद्धान्तसारसंग्रहे पण्डिताचार्यनरेन्द्रसेनाचार्यविरचिते द्वादशोऽध्यायः। समाप्तोऽयं सिद्धान्तसारसंग्रहः।'

—सि. सा. सं., जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर संस्करण।

(ख) 'इति श्रीपण्डिताचार्यश्रीनरेन्द्रसेनाचार्यविरचितः प्रतिष्ठादीपकः।'

—उपर्युक्त सि. सा. सं., प्रस्ता., पृ. ११।

इन उल्लेखोंमें इन नरेन्द्रसेनने अपनेको वीरसेनका प्रशिष्य और गुणसेनका शिष्य बतलाया है। पर इन्होंने अपने समयका कहीं कोई निर्देश नहीं किया। हाँ, जयसेनके धर्मरत्नाकरके आधारपर इनका अस्तित्व-काल विक्रमकी १२वीं शताब्दी (११५५-११८०) समझा जाता है[1], क्योंकि जयसेनके[2] धर्मरत्नाकरकी प्रशस्तिमें दी गयी गुर्वावली तथा नरेन्द्रसेनके सिद्धान्तसारसंग्रहकी प्रशस्तिमें उल्लिखित गुर्वावली दोनों प्रायः समान हैं। और उनसे ज्ञात होता है कि ये दोनों आचार्य एक ही गुरुपरम्परामें हुए हैं और नरेन्द्रसेन जयसेनकी चौथी पीढ़ीके विद्वान् हैं। वे दोनों गुर्वावली यहाँ दी जाती हैं :

धर्मरत्नाकरमें उल्लिखित गुर्वावली[3]—

धर्मसेन
|
शान्तिषेण
|
गोपसेन
|
भावसेन
|
जयसेन

सिद्धान्तसारसंग्रहमें दी गयी गुर्वावली[4]—

धर्मसेन
|
शान्तिषेण
|
गोपसेन
|
भावसेन
|
जयसेन
|
ब्रह्मसेन
|
वीरसेन
|
गुणसेन
|
नरेन्द्रसेन

---

१. प्रश, सं., प्रस्ता., पृ. ५३ तथा सि. सा., सं. प्रस्ता., पृ. ९।
२. जयसेनने धर्मरत्नाकरका रचना-काल इसी ग्रन्थमें निम्न प्रकार दिया है—
बाणेन्द्रिय-व्योम-सोम-मिते (१०५५) संवत्सरे शुभे।
ग्रन्थोऽयं सिद्धतां यातः सब(क)लीकरहाटके॥
३. प्रशस्तिसं., पृ. ३।
४. वही, पृ. १०३, १०४।

अतः जयसेनकी चौथी पीढ़ीमें होनेवाले ये नरेन्द्रसेन यदि जयसेनसे, जिनका समय वि. सं. १०५५ निश्चित है, १००–१२५ सौ-सवासौ वर्ष बाद होते हैं तो इन नरेन्द्रसेनका समय वि. सं. ११५५–११८० के लगभग सिद्ध होता है। ये नरेन्द्रसेन मेदार्य (मेतार्य) नामके दसवें गणधरके नामपर प्रसिद्ध मेदपाट—मेवाड़ भूमिके अन्तर्गत 'लाडवागड' प्रदेशसे निकले 'लाडवागडसंघ'के विद्वान् थे[1] और उपर्युक्त दोनों नरेन्द्रसेनोंसे भिन्न एवं उत्तरवर्ती हैं।

४. चौथे नरेन्द्रसेन वे हैं, जिनका उल्लेख काष्ठासंघके 'लाडवागडगच्छ'की पट्टावलीमें[2] पाया जाता है और जिन्होंने अल्प-विद्या-जन्य गर्वसे युक्त 'आशाधर' को सूत्र-विरुद्ध प्ररूपणा करनेके कारण अपने गच्छसे निकाल दिया था। ये नरेन्द्रसेन पद्मसेनके शिष्य थे। पट्टावलीमें गुरु-शिष्योंकी एक लम्बी नामावली दी गयी है। इसमें प्रकृतसे सम्बन्ध रखनेवाले कुछ गुरु-शिष्योंके क्रमबद्ध नाम इस प्रकार हैं:

महेन्द्रसेन (त्रिषष्टिपुराणपुरुषचरितकर्ता)
|
अनन्तकीर्ति (चतुर्दशमतीर्थंकरचरितकर्ता)
|
विजयसेन (चन्द्रतपस्वी-विजेता)
|
चित्रसेन (पुन्नाटगच्छके स्थानमें लाडवागडगच्छके जन्मदाता)
|
पद्मसेन
|
नरेन्द्रसेन

इस पट्टावलीसे ज्ञात होता है कि ये पद्मसेन-शिष्य नरेन्द्रसेन प्रभावशाली विद्वान् थे। इनके द्वारा बहिष्कृत किये गये आशाधरको[3] 'श्रेणिगच्छ'में[4] जाकर आश्रय लेना पड़ा था। परन्तु इसमें किसी भी विद्वान्के समयका उल्लेख न होनेसे उसपरसे इन नरेन्द्रसेनके समयका निर्धारण करना बड़ा कठिन है। पर हाँ, आगे हम 'रत्नत्रयपूजा' के कर्ता नरेन्द्रसेनका उल्लेख करेंगे, उसपरसे इनके समयपर कुछ प्रकाश पड़ता है। पद्मसेन-शिष्य नरेन्द्रसेन ऊपर चर्चित हुए प्रथम और द्वितीय

---

१. प्रशस्तिसं., पृ १०३, १०४।

२. 'तदन्वये श्रीमत्काष्ठासंघ-प्रभाव-श्रीपद्मसेनदेवानां तस्य शिष्यश्रीनरेन्द्रसेनदेवैः किंचित्-विद्यागर्वेण सूत्रविरुद्धकथनात् आशाधरः स्वगच्छात् निःसारितः कदाग्रहग्रस्तं श्रेणिगच्छमशिश्रियत्।'
—भट्टारकसम्प्रदाय, पृ. २५२ पर उद्धृत पट्टा.।

३. ये आशाधर सागारधर्मामृत आदि प्रसिद्ध ग्रन्थोंके कर्ता पण्डित आशाधर प्रतीत नहीं होते, क्योंकि वे गृहस्थ थे। इन्हें तो मुनि या भट्टारक होना चाहिए, जो 'लाडवागडगच्छ' से निष्कासित किये जानेपर एक दूसरे 'कदाग्रही श्रेणिगच्छ' में जा मिले थे। यह ध्यान रहे कि गण-गच्छादि मुनियों और भट्टारकोंमें होते थे, गृहस्थोंमें नहीं।—लेखक।

४. इस गच्छके बारेमें खोज होना चाहिए।

जनसेन-अनुज नरेन्द्रसेन तथा तीसरे नम्बरके गुणसेन-शिष्य नरेन्द्रसेनसे
न्न और उनके उत्तरकालीन हैं।

पाँचवें नरेन्द्रसेन वे हैं, जिनका उल्लेख 'वीतरागस्तोत्र'में उसके कर्ता
है। इस स्तोत्रमें पद्मसेनका भी उल्लेख है और ये दोनों विद्वान् स्तोत्रकर्ता-
रूपसे स्मृत हुए जान पड़ते हैं। यद्यपि पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तारने
के आठवें पद्यमें आये हुए 'कल्याणकीर्ति-रचिताञ्जलय-कल्पवृक्षम्' पदपरसे
णकीर्तिकी रचना अनुमानित किया है।[1] स्तोत्रमें उल्लिखित ये पद्मसेन
सेन उपर्युक्त 'लाडवागडगच्छ' की पट्टावलीमें गुरु-शिष्यके रूपमें वर्णित
र नरेन्द्रसेन ही मालूम होते हैं। यदि यह सम्भावना ठीक है, तो चौथे
नम्बरके नरेन्द्रसेन एक ही हैं—पृथक् नहीं हैं।

छठे नरेन्द्रसेन 'रत्नत्रयपूजा' (संस्कृत) के कर्ता हैं[3], जिन्होंने इसी पूजाके
क्योंमें 'श्रीलाडवागडीयपण्डिताचार्यनरेन्द्रसेन'के रूपमें अपना उल्लेख किया
एक पुष्पिका-वाक्य यह है—

ति श्रीलाडवागडीयपण्डिताचार्यश्रीमन्नरेन्द्रसेन-विरचिते रत्नत्रयपूजाविधाने
समाप्ता[4]।'

द्धान्तसारसंग्रहके कर्ता नरेन्द्रसेनको भी 'पण्डिताचार्य' उपाधि हम ऊपर
और ये रत्नत्रयपूजाके कर्ता नरेन्द्रसेन भी अपनेको 'पण्डिताचार्य' प्रकट
तथा ये दोनों ही विद्वान् 'लाडवागडगच्छ'में हुए हैं। इससे इन दोनोंको
भ्रान्ति हो सकती है। पर ये दोनों विद्वान् एक नहीं हैं। सिद्धान्तसारसंग्रह-
रेन्द्रसेनने अपनी गुरुपरम्परा स्पष्ट दी है और गुणसेनको उन्होंने अपना
या है। परन्तु रत्नत्रयपूजाके कर्ताने न अपनी गुरुपरम्परा दी है और न
अपना गुरु बतलाया है। दोनोंके अभिन्न होनेकी हालतमें दोनोंकी गुरु-
क होनी चाहिए। यथार्थमें रत्नत्रयपूजाके कर्ता नरेन्द्रसेन सिद्धान्तसार-
र्ता नरेन्द्रसेनसे काफी उत्तरवर्ती हैं और इन्हें पद्मसेनका शिष्य तथा चौथे
नम्बरके नरेन्द्रसेनोंसे अभिन्न होना चाहिए। ये तीनों नरेन्द्रसेन एक ही
गच्छ' में और एक ही कालमें हुए हैं। नरेन्द्रसेन पद्मसेनके शिष्य थे और
यमें हुए, किन्तु उनके पट्टाधिकारी त्रिभुवनकीर्ति थे[5] और त्रिभुवनकीर्तिके
कीर्ति बैठे थे[6]। इन धर्मकीर्तिके उपदेशसे वि. सं. १४३१ में केशरियाजीके
रकी प्रतिष्ठा हुई थी[7] तथा ये धर्मकीर्ति पद्मसेनकी दूसरी पीढ़ीमें हुए
धर्मकीर्तिके समय वि. सं. १४३१ में-से लगभग ५० वर्ष कम कर दिये

पुरि-विनत-क्रम-पद्मसेनं हेला-विनिर्दलित-मोह-नरेन्द्रसेनम्' ।
—अनेकान्त, वर्ष ८, किरण ६–७, पृ २३३।

नेकान्त, वर्ष ८, किरण ६–७, पृ. २३३।

., पृ. २५३, लेखांक ६३३।

, पृष्ठ २५३, लेखांक, ६३३।

संग्र., पृष्ठ २५३, लेखांक, ६३५,६३६,६३८।

हैं, जो उनके पट्टाधिकारी हुए थे[1]। और दूसरे अर्जुनसुत सोयरा हैं, जिन्होंने 'कैलास-छप्पय' बनाया है और जिसमें उन्होंने अपने गुरु नरेन्द्रसेनकी चम्पापुर-यात्राका भी वर्णन किया है[2]। ये अर्जुनसुत सोयरा गृहस्थ मालूम होते हैं। किन्तु शान्तिसेन उनके भट्टारक-शिष्य थे। 'नरेन्द्रसेनगुरु-पूजा' के कर्ता यदि इन दोनोंसे भिन्न हैं, तो नरेन्द्रसेनके एक तीसरे भी शिष्य रहे, जिन्होंने उक्त पूजा लिखी है। शान्तिसेनकी शिष्या शिखरश्री नामकी आर्यिका थीं, जिनका उल्लेख इन्हीं आर्यिकाके शिष्य बनारसीदासने सं. १८१६ में लिखी 'हरिवंश-रास' की प्रतिमें किया है[3]।

नरेन्द्रसेनका समय :

नरेन्द्रसेनका समय प्रायः सुनिश्चित है। इन्होंने वि. सं. १७८७में पूर्वोल्लिखित 'ज्ञानयन्त्र'की प्रतिष्ठा करवायी थी और वि. सं. १७९०में पुष्पदन्तके 'यशोधरचरित' की प्रतिलिपि स्वयं की थी। अतः इनका समय वि. सं. १७८७–१७९०, ई. सन् १७३०-१७३३ है। अर्थात् १८वीं शताब्दी है।

नरेन्द्रसेनका व्यक्तित्व और कार्य :

ये नरेन्द्रसेन प्रभावशाली भट्टारक विद्वान् थे। इनके प्रभावका सबसे अधिक परिचायक 'कैलास-छप्पय'का वह उल्लेख है, जिसमें उन्हें 'चम्पापुर' नगरमें 'वादका विजेता' कहा गया है और तेजस्वितामें मार्त्तण्ड' बताया गया है। नरेन्द्रसेनने वहाँके वातावरणको प्रभावित कर वहाँ जिनमन्दिरका निर्माण कराया था, जिसकी ध्वजा गगनमें फहरा रही थी[4]। इनके एक शिष्यने इनके प्रभाव और गुरु-भक्तिसे प्रेरित होकर संस्कृतमें 'नरेन्द्रसेनगुरु-पूजा' लिखी है, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं। इन्होंने जो उल्लेखनीय कार्य किये हैं वे निम्न प्रकार हैं।

१. 'प्रमाणप्रमेयकलिका' की रचना। इसका परिचय आगे दिया गया है।

२. तत्कालीन पुरानी हिन्दीमें 'पार्श्वनाथपूजा' तथा 'वृषभनाथपालणा' इन दो मनोरञ्जक 'भक्तिपूर्ण' हिन्दी-रचनाओंका निर्माण। ये दोनों रचनाएँ अप्रकाशित हैं और हमें उपलब्ध नहीं हो सकीं। अतः उनके सम्बन्धमें विशेष प्रकाश नहीं डाला जा सका।

३ कल्मेश्वर (नागपुर) के जिनमन्दिरमें इन्होंने श्रीगोपालजी मंगरखाके द्वारा एक 'ज्ञानयन्त्र' की प्रतिष्ठा करवायी।

४ सूरतके आदिनाथ चैत्यालयमें रहकर इन्होंने पुष्पदन्तके 'यशोधरचरित' की एक प्रति लिखी, जिससे इनके शास्त्र-लेखनकी भी प्रवृत्ति जानी जाती है।

इस तरह इन्होंने साहित्य, संस्कृति और शासन-प्रभावनाके अनेक कार्य किये हैं। इन कार्योंसे इनकी साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अभिरुचि और शासन-प्रभावनाके प्रति विशेष अनुराग अवगत होता है। ये तार्किक और श्रद्धालु दोनों थे।

●

१, २. अ. पत्र पृ. १३, २१, [illegible] ७३, ९९।
३ वही, पृ. १२, २१, क्रमांक ७३, ९०।
४ वही, प्रस्तावना पृष्ठ ५२ का पादटिप्पण।

पर 'आ-विद्वदङ्गना सिद्ध' इस मुहाविरेका प्रयोग किया गया है। इससे पूर्व 'योगदृष्टिसमुच्चय' में हरिभद्रने भी इसका प्रयोग किया है, जो निम्न प्रकार है—

आ-विद्वदङ्गना-सिद्धमिदानीमपि दृश्यते।
एतत्प्रायस्तदन्यत्तु सुव्यक्त्वाऽऽगम-भावितम् ॥

—योगदृ. स. पृ. ११, श्लोक ५५।

नरेन्द्रसेनने प्रमाणप्रमेयकलिकामें आचार्य प्रभाचन्द्रकी शैलीका अनुसरण किया है और उनके 'प्रमेयकमलमार्त्तण्ड' तथा 'न्यायकुमुदचन्द्र' की तरह विकल्पों एवं तर्कों द्वारा वक्तव्य विषयोंकी संक्षेपमें समालोचना और ऊहापोह किया है। आरम्भमें 'ननु किं तत्त्वम्, तदुच्यताम्' शब्दोंके साथ तत्त्व-सामान्यकी जिज्ञासा करके बादमें उसके प्रमाणतत्त्व और प्रमेयतत्त्वकी उन्होंने विशेषतया मीमांसा की है।

बाह्य विषय-परिचय :

यद्यपि नरेन्द्रसेनने ग्रन्थको स्वयं प्रकाशों या परिच्छेदों जैसे किन्हीं विभागों या प्रकरणोंमें विभक्त नहीं किया तथापि जहाँ तक प्रमाणकी मीमांसा है वहाँ तक प्रमाणतत्त्व-परीक्षा है और उसके पश्चात् प्रमेयतत्त्वकी मीमांसा होनेसे प्रमेयतत्त्व-परीक्षा, इस प्रकार दो प्रकरणोंमें इसे विभाजित किया जा सकता है। अतएव ग्रन्थमें हमने ये दो प्रकरण कल्पित किये हैं। इनका विषय-वर्णन इस प्रकार है।

१. प्रमाणतत्त्व-परीक्षा

इसमें प्रभाकरके 'ज्ञातृव्यापार', सांख्य-योगोंके 'इन्द्रियवृत्ति' जरन्नैयायिक भट्टजयन्तके 'सामग्री' अपरनाम कारक-साकल्य' और यौगोंके 'संनिकर्ष' इन प्रमाण-लक्षणोंको परीक्षा करके 'स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान' को प्रमाणका निर्दोष लक्षण सिद्ध किया गया है। ज्ञानके कारणोंपर विचार करते हुए नरेन्द्रसेनने इन्द्रिय और मनको ज्ञानका अनिवार्य कारण बतलाया है तथा अर्थ एवं आलोकको कारणता-का उन्होंने सोपपत्तिक निरास किया है। प्रमाणका साक्षात् और परम्परा फल भी बतलाकर उसे प्रमाणसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न प्रदर्शित किया है। बौद्ध अपने चारों प्रत्यक्षोंको[1] अविसंवादी तो मानते हैं, पर उन्हें वे व्यवसायात्मक स्वीकार नहीं करते। ग्रन्थकारने प्रस्तुत ग्रन्थमें उसकी भी मीमांसा की है और उन्हें व्यवसायात्मक सिद्ध किया है। प्रकरणके अन्तमें मीमांसक आदि उन दार्शनिकों की भी आलोचना की है, जो ज्ञानको अस्वसंवेदी स्वीकार करते हैं तथा 'स्वात्मनि क्रियाविरोध' का परिहार करते हुए उसे उन्होंने स्वसंवेदी प्रसिद्ध किया है।

२. प्रमेयतत्त्व-परीक्षा

इस द्वितीय प्रकरणमें सांख्योंके सामान्य, बौद्धोंके विशेष, वैशेषिकोंके परस्पर निरपेक्ष सामान्य-विशेषोभय और वेदान्तियोंके परमब्रह्मका सविस्तर परीक्षण करके सापेक्ष सामान्यविशेषोभय प्रमेयतत्त्वको प्रमाणका विषय—सिद्ध किया गया है। बौद्ध तत्त्वको 'सकल-विकल्प-वागगोचरातीत' कहकर उसे केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष

१. 'अविसंवादकम्'—न्यायबिन्दु पृ १२।

गम्य प्रतिपादन करते हैं। नरेन्द्रसेनने बौद्धोंकी इस मान्यतापर भी विचार किया है और शब्द तथा अर्थमें वास्तविक वाच्य-वाचक सम्बन्ध एवं सहजयोग्यताके होनेका निर्देश करते हुए तत्त्वको निश्चयात्मक ज्ञानका विषय युक्तिपूर्वक सिद्ध किया है। साथ ही समन्तभद्रके 'युक्त्यनुशासन' की 'तत्त्वं विशुद्धम्' इत्यादि कारिकाको उद्धृत करके उससे उसे प्रमाणित किया है।

यह प्रमाणप्रमेयकलिकाका बाह्य विषय-परिचय है। अब उसका आभ्यन्तर विषय-परिचय भी प्रस्तुत किया जाता है, जो पाठकोंके लिए अधिक उपयोगी होगा।

आभ्यन्तर विषय-परिचय :

१. मंगलाचरण :

ग्रन्थके आरम्भमें मंगल करना प्राचीन भारतीय परम्परा है। उसके अनेक प्रयोजन और हेतु माने गये हैं। यहाँ संक्षेपमें उनपर प्रकाश डाला जाता है। वे इस प्रकार हैं—

१. निर्विघ्न शास्त्र-परिसमाप्ति, २. शिष्टाचार-परिपालन, ३. नास्तिकतापरिहार, ४. कृतज्ञता-प्रकाशन और ५ शिष्य-शिक्षा।

इन प्रयोजनोंका संग्राहक निम्न पद्य है, जिसे पण्डित आशाधरजी (वि. सं. १३००) ने अपने अनगारधर्मामृतकी टीका (पृ. १) में उद्धृत किया है—

नास्तिकत्व-परिहारः शिष्टाचार-प्रपालनम्।
पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नं शास्त्रादावाप्तसंस्तवात् ॥

१. प्रत्येक ग्रन्थकारके हृदयमें ग्रन्थारम्भके समय यह कामना होती है कि मेरा यह ग्रन्थ निर्विघ्न समाप्त होजाय। न्याय तथा वैशेषिक दोनों दर्शनोंमें 'समाप्तिकामो मंगलमाचरेत्' इस वाक्यको श्रुतिप्रमाणके रूपमें प्रस्तुत करके समाप्ति और मंगलमें कार्य-कारणभावकी स्थापना,की गयी है[१]। जहाँ मंगलके किये जाने पर भी समाप्ति नहीं देखी जाती वहाँ मंगलमें कुछ न्यूनता—साधनवैगुण्यादि बतलायी गयी है। तथा जहाँ मंगलके बिना भी ग्रन्थ-समाप्ति देखी जाती है वहाँ जन्मान्तरीय मंगलकी कल्पना की गयी है और इस तरह प्राचीन नैयायिकोंने समाप्ति एवं मंगलमें कार्य-कारणभावकी संगति बिठायी है। नवीन नैयायिकोंका मत है[२] कि मंगलका सीधा फल तो विघ्नध्वंस है और समाप्ति ग्रन्थकर्ताकी प्रतिभा, बुद्धि और पुरुषार्थका फल है। इनके अनुसार विघ्नध्वंस और मंगलमें कार्य-कारणभाव है।

२. मंगल करना एक शिष्ट कर्त्तव्य है। इससे सदाचारका परिपालन होता है। अतः प्रत्येक ग्रन्थकारको ग्रन्थके आरम्भमें शिष्टाचारका पालन अर्थात् मंगल करना आवश्यक है।

३. परमात्माका गुणस्मरण करनेसे परमात्माके प्रति ग्रन्थकर्ताकी भक्ति, श्रद्धा और आस्तिक्यबुद्धि जानी जाती है और इस तरह नास्तिकताका परिहार होता है। अतः ग्रन्थकर्ता ग्रन्थारम्भमें मंगल करते हैं।

१, २. सिद्धान्तमुक्तावली पृ. २।

४. ग्रन्थ-सिद्धिमें गुरुजन भी निमित्त होते हैं। चाहे वे उसमें साक्षात् सम्बद्ध हों या परम्परा। उनका वरद आशीर्वाद और स्मरण उसमें अवश्य ही सहायक होता है। यदि उनसे या उनके रचे शास्त्रोंसे सुबोध प्राप्त न हो, तो ग्रन्थ-निर्माण नहीं हो सकता। इसलिए कृतज्ञ ग्रन्थकार कृतज्ञता-प्रकाशन हेतु अपने ग्रन्थके आरम्भमें उनका स्मरण अवश्य करते हैं।[1]

५. पाँचवाँ प्रयोजन शिष्य-शिक्षा है। शास्त्रके आदिमें मंगल करनेसे शिष्योंको शिक्षा मिलती है और वे भी मंगल करते तथा इस श्रेष्ठ परम्पराको वे स्थिर रखते हैं।

जैन परम्परामें ये सभी प्रयोजन स्वीकार किये गये हैं और उनका समर्थन किया गया है। आचार्य विद्यानन्दने इन प्रयोजनोंके अतिरिक्त एक प्रयोजन और बतलाया है और उसपर उन्होंने सबसे अधिक बल दिया है। वह है, 'श्रेयोमार्ग-संसिद्धि'[2]। उन्होंने लिखा है कि अन्य प्रयोजन तो पात्रदानादिसे भी सम्भव हैं[3], पर श्रेयोमार्गकी सिद्धि एक मात्र परमेष्ठिगुणस्मरणसे ही होती है। अतः श्रेयोमार्ग-सिद्धि भी मंगलाचरणका प्रयोजन है। इस मंगलाचरणका जैनवाङ्मयमें विस्तृत, विशद और सूक्ष्म विवेचन किया गया है[4]। इसी ग्रन्थमें अन्यत्र भी उसका निरूपण किया जा चुका है।

प्रस्तुत प्रमाणप्रमेयकलिकामें नरेन्द्रसेनने भी मंगलाचरण किया है। इतना विशेष है कि उन्होंने विद्यानन्दकी प्रमाणपरीक्षाके मंगलाचरणको ही अपने ग्रन्थका मंगलाचरण बना लिया है। ऐसा करके उन्होंने उसी प्रकार अपनी संग्राहिणी एवं उदार बुद्धिका परिचय दिया है, जिस प्रकार पूज्यपादने आचार्य गृद्धपिच्छके तत्त्वार्थ-सूत्रके 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' मंगलश्लोकको अपनी सर्वार्थसिद्धिका मंगलाचरण बनाकर दिया है[5]।

२. तत्त्व-मीमांसा :

तत्त्व-विचारकोंके समक्ष 'तत्त्व क्या है ?' यह ज्वलन्त प्रश्न सदा रहा है और उसपर उन्होंने न्यूनाधिक रूपमें विचार किया है। जो विचारक उसकी जितनी गहराई और तह तक पहुँच सका, उसने उसका उतना विवेचन किया। कई

---

१. अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः,
प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात्।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसाद-प्रबुद्धै-
र्न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति॥ —तत्त्वार्थश्लो. पृ. २ पर उद्धृत।

२. श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः।
इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुङ्गवाः॥ —आप्तपरी., पृ. २, कारि. २।

३. आप्तपरी., पृ. ११।

४. तिलोयपण्णत्ति १-८ से १-३१ तथा धवला १-१-१।

५. 'तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण' शीर्षक लेखकके दो लेख, अनेकान्त वर्ष ५, किरण १-२, १०-११। तथा आप्तपरी. की प्रस्ता. पृ. २। और यही ग्रन्थ पृ. २५ से ६९।

विचारकोंने तो बालकी खाल निकालनेका भी प्रयत्न किया है और तत्त्वको विकल्प-जालमें आबद्ध (फाँस) कर या तो उसे 'उपप्लुत' कह दिया है और या उसे 'शून्य' मान लिया है। तत्त्वोपप्लववादी प्रमाण और प्रमेय दोनों तत्त्वोंको उपप्लुत (बाधित) बतलाकर 'तत्त्वोपप्लववाद' की स्थापना करते हैं। शून्यवादी उन्हें शून्यरूपमें स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टिमें न प्रमाणतत्त्व है और न प्रमेयतत्त्व—केवल शून्यतत्त्व है। पर ये विचारक तत्त्वोपप्लव या शून्य तत्त्वको स्वीकार करते समय अपनी सत्ताको भी खो देते हैं[1], क्योंकि उसे सिद्ध करनेके लिए कोई साधन (अस्तित्वात्मक) अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा और उस हालतमें उनकी सत्ता समाप्त हो जायेगी। और जब उनकी अपनी सत्ता ही नहीं रहती, तब तत्त्वोपप्लव या शून्य तत्त्वका साधन कौन करेगा? दूसरी बात यह है[2] कि जब किसी निर्णीतवस्तु को स्वीकार ही नहीं किया जाता—सभी विषयोंमें विवाद है तो किसी भी विषयपर यहाँ तक कि उनके अभिमत तत्त्वोपप्लव या शून्यतत्त्वपर भी विचार नहीं किया जा सकता। ज्ञानके अभावमें वे उसे न स्वयंको समझा सकते हैं और वचनके अभावमें न दूसरोंको उसे बता सकते हैं, क्योंकि ज्ञान और वचन ये दो ही स्व-पर बोधके साधन हैं, जिन्हें न तत्त्वोपप्लववादी मानते हैं और न शून्यवादी।

कितने ही चिन्तक तत्त्वको स्वीकार करके भी उसे अवक्तव्य, शब्दाद्वैत, ब्रह्माद्वैत, विज्ञानाद्वैत, चित्राद्वैत आदिके कटघरेमें बन्द कर लेते हैं और उसकी सिद्धिके लिए एड़ीसे चोटी तक पसीना बहाते हैं। पर ये चिन्तक भी यह भूल जाते हैं कि तत्त्व जब सर्वथा अवक्तव्य है[3] तो शब्दप्रयोग किस लिए किया जाता है और उसको किये बिना दूसरोंको उसका बोध कैसे कराया जा सकता है? उस हालतमें तो केवल मौन ही अवलम्बनीय है[4]। तथा जो उसे सर्वथा अद्वैत—(शब्दाद्वैत, विज्ञानाद्वैत, ब्रह्माद्वैत आदि रूप) एक मानते हैं वे साध्य-साधनका द्वैत माने बिना कैसे उसकी स्थापना कर सकते हैं, क्योंकि उसको सिद्ध करनेके लिए साधनरूपमें उपस्थित किये जानेवाले हेतु, तर्क और प्रमाण द्वैतवादमें ही सम्भव हैं, अद्वैतमें नहीं[5]।

द्वैतवादी सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, मीमांसक और बौद्ध दार्शनिकोंने भी तत्त्वपर विचार किया है, पर उन्होंने भी उसके एक-एक पहलू (एकान्त) को ही

---

1. 'यदिमे तत्त्वोपप्लववादिनः स्वयमेकेन केनचिदपि प्रमाणेन स्वप्रसिद्धेन वा सकलतत्त्व-परिच्छेदकप्रमाणविशेषरहितं सर्वं पुरुषसमूहं संविदन्त एवास्मानं निरस्यन्तीति व्याहतमेतत्, तथा तत्त्वोपप्लववादित्वव्याघातात्।'—अष्टश. पृ. ३७ तथा ४२।
2. किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्य विचारोऽन्यत्र वर्तते।
   सर्वविप्रतिपत्तौ तु क्वचिन्नास्ति विचारणा॥—अष्टश. पृ. ४२।
3. सर्वान्ताश्चेदवक्तव्यास्तेषां किं वचनं पुनः।
   संवृतिश्चेन्मृषैवैषा परमार्थ-विपर्ययात्॥—आप्तमी. का. ४९।
4. अशक्यत्वादवाच्यं किमभावात्किमबोधतः।
   आद्यन्तोक्तिद्वयं न स्यात् किं व्याजेनोच्यतां स्फुटम्॥—आप्तमी. का. ५०।
5. अद्वैतैकान्त-पक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुध्यते।
   कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात्प्रजायते॥—इत्यादि, आप्तमी. का. २४ से २७।

मानकर उसका ऐकान्तिक परिहार किया है।

जैन दर्शनमें तत्त्वका स्वरूप और मूल्य विचार करनेसे ज्ञात होता निरूपित हुआ है कि तत्त्व अनेकान्तात्मक है। आचार्य समन्तभद्रने तत्त्वको दो भागों—उपेयतत्त्व और उपायतत्त्वमें विभक्त कर उनका विशद वर्णन किया है[1]। तथा उनके व्याख्याकारों—अकलंक और विद्यानन्दने उनको तर्क प्रमाणोंसे युक्त एवं उचित सिद्ध किया है। यहाँ हम उनके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वके भेदों एवं उपभेदोंको एक रेखाचित्र द्वारा दे रहे हैं, इससे उन्हें समझनेमें सुविधा होगी—
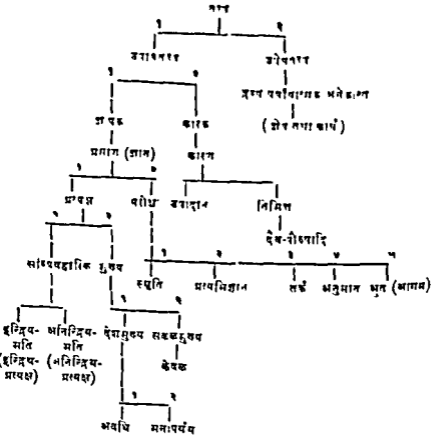
प्रमाणप्रमेयकलिकामें नरेन्द्रसेनने भी तत्त्व-सामान्यकी जिज्ञासा करते हुए उसे नाम-सिद्ध मानकर उसके विशेषों—प्रमाण और प्रमेय तत्त्वोंपर संक्षेपमें मीमांसा उपस्थित की है।

प्रमाणतत्त्व-मीमांसा :

तत्त्व, अर्थ, वस्तु और सत् ये चारों एक ही अर्थके बोधक पर्यायशब्द हैं। जो अस्तित्व स्वभाववाला है वह सत् है और तत्त्व, अर्थ तथा वस्तु अस्तित्व-स्वभावकी

1. आप्तमी., का. ९ से ७५ और ७६ से ११३।

मासे बाहर नहीं हैं—वे तीनों भी अस्तित्ववाले हैं। इसलिए सत्का जो अर्थ है वही
त्व, अर्थ और वस्तुका है और जो अर्थ इन तीनोंका है वही सत्का है। निष्कर्ष
है कि ये चारों शब्द समानार्थक हैं। ऊपर हम देख चुके हैं कि तत्त्व दो समूहोंमें
विभक्त है। वे दो समूह हैं—१. उपायतत्त्व और २. उपेयतत्त्व। उपायतत्त्व दो
प्रकारका है—१. ज्ञापक (प्रमाण) और २. कारक (कारण)। उपेयतत्त्व भी दो
तरहका है—१. ज्ञाप्य (ज्ञेय—प्रमेय) और २. कार्य (उत्पन्न होनेवाली वस्तुएँ)।
इनमेंसे यहाँ ज्ञापक-प्रमाण और ज्ञाप्य-प्रमेय ये दो ही ग्रन्थकारको चर्चाके विषय
अभिप्रेत हैं। अन्य तार्किकोंने भी इनपर विचार किया है और उनके स्वरूपादि
निर्धारित किये हैं। साथ ही प्रमाणको व्यवस्थापक तथा प्रमेयको व्यवस्थाप्यके
रूपमें स्वीकार किया है।[2]

ज्ञातृव्यापार-परीक्षा :

सर्वप्रथम प्रमाणके स्वरूपपर विचार किया जाता है।

प्रभाकरका मत है[3] कि जिसके द्वारा अर्थका प्रकाशन हो वह प्रमाण है और
अर्थका प्रकाशन ज्ञाताके व्यापार द्वारा होता है। जब तक ज्ञाता वस्तुको जाननेके
लिए व्यापार अर्थात् प्रवृत्ति नहीं करता तब तक उसे वस्तुका ज्ञान नहीं होता। यह
देखा जाता है कि वस्तु, इन्द्रियाँ और ज्ञाता ये तीनों विद्यमान रहते हैं, पर वस्तुका
ज्ञान नहीं होता। किन्तु ज्ञाता जब व्यापार करता है—वस्तुको जाननेके लिए उद्यत
होता है, तब वस्तुका ज्ञान अवश्य होता है। अतः ज्ञाताके व्यापारको प्रमाण मानना
चाहिए।

प्रस्तुत ग्रन्थमें इसकी मीमांसा करते हुए कहा गया है कि ज्ञाताका व्यापार
उससे भिन्न है अथवा अभिन्न? यदि भिन्न है, तो उनमें—ज्ञाता और व्यापारमें
सम्बन्ध सम्भव नहीं है। यदि भिन्नोंमें सम्बन्ध स्वीकार किया जाय, तो जिस प्रकार
भिन्न ज्ञाताके साथ भिन्न व्यापारका सम्बन्ध हो जाता है उसी प्रकार पदार्थान्तरके
साथ भी व्यापारका सम्बन्ध सम्भव है, क्योंकि भिन्नता दोनोंमें समान है और यदि
किसी प्रकार यह मान भी लिया जाय कि ज्ञाताके साथ ही उसके व्यापारका सम्बन्ध
है, पदार्थान्तरके साथ नहीं, क्योंकि वह ज्ञाताका ही व्यापार है, पदार्थान्तरका नहीं,
तो यह बतलाना चाहिए कि वह व्यापार क्रियात्मक है या अक्रियात्मक? यदि
क्रियात्मक है तो वह क्रिया उससे (व्यापारसे) भिन्न है या अभिन्न? यदि भिन्न है तो
भिन्नपक्षसम्बन्धी पहले कहा गया दोष पुनः आता है। यदि अभिन्न है तो या तो
व्यापारमात्र रहेगा या क्रियामात्र, क्योंकि अभेदमें दोमेसे कोई एक ही रहता है,
दूसरा उसीके अनुरूप हो जाता है। यदि वह व्यापार अक्रियात्मक है तो वह व्यापार
कैसे? क्योंकि व्यापार तो क्रियारूप होता है, अक्रियारूप नहीं। अतः व्यापार ज्ञातासे

---

१. 'उपायतत्त्वम्—ज्ञापकं कारकं चेति द्विविधम्। तत्र ज्ञापकं प्रकाशकमुपायतत्त्वं ज्ञानम्।
कारकं तूपायतत्त्वमुद्योगदैवादि।' —अष्टश. टिप्प. पृ. २५६।

२. 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि।' —सांख्यका. ३।

३. शास्त्रदी. पृ. २०२ तथा मीमांसाश्लोक. पृ. १५२।

भिन्न तो नहीं बनता। अभिन्न भी वह सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रथम तो दोनों एक हो जायेंगे—'ज्ञाता और ज्ञातृव्यापार' यह भेद फिर नहीं हो सकता। दूसरे, प्रभाकरने उसे ज्ञातासे अभिन्न स्वीकार भी नहीं किया है।

इसके अतिरिक्त अनेक प्रश्न और उठते हैं। प्रभाकरसे पूछा जाता है कि वह व्यापार नित्य है या अनित्य? नित्य तो उसे माना नहीं जा सकता, क्योंकि वह ज्ञातासे उसी तरह उत्पन्न होता है जिस तरह घट मिट्टीसे होता है। यदि उसे अनित्य कहा जाय तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसका उत्पादक कारण नहीं है। आत्माको उसका उत्पादक कारण मानना सम्भव नहीं है, कारण, वह नित्य है और नित्यमें अर्थक्रिया बनती नहीं। स्पष्ट है कि अर्थक्रिया क्रमशः या युगपत् होती है और क्रम तथा यौगपद्य नित्यमें बनते नहीं। अतः वे दोनों नित्यसे निवृत्त होते हुए अपनी व्याप्यभूत अर्थक्रियाको भी निवृत्त कर लेते हैं। वह अर्थक्रिया भी अपने व्याप्य सत्त्वको निवृत्त कर देती है। कौन नहीं जानता कि व्यापककी निवृत्तिसे व्याप्यकी भी निवृत्ति हो जाती है। इस तरह नित्यमें सत्त्वके न रहनेपर वह खरविषाण सदृश है। अतः ज्ञाताका व्यापार न नित्य सिद्ध होता है और न अनित्य। इसी तरह यह भी उनसे पूछा जा सकता है कि वह चिद्रूप है या अचिद्रूप? यदि चिद्रूप है तो वह स्वसंवेदी है या अस्वसंवेदी? प्रथम पक्षमें अपसिद्धान्त है और द्वितीय पक्ष अयुक्त है, क्योंकि कोई भी चिद्रूप अस्वसंवेदी नहीं हो सकता। यदि उसे अचिद्रूप कहा जाय तो उससे अर्थप्रकाशन नहीं हो सकता।

निष्कर्ष यह कि व्यापृत्—आत्मा और व्याप्य—अर्थके सम्बन्धका नाम ज्ञातृव्यापार है[1]। पर व्याप्य—अर्थ जड़ है, अतः उसका सम्बन्ध भी जड़ है और जड़ (अज्ञान) से अज्ञाननिवृत्तिरूप प्रमा नहीं हो सकती। अज्ञानकी निवृत्तिके लिए तो अज्ञानविरोधी द्वारा चाहिए और अज्ञानविरोधी है ज्ञान, जड़रूप व्यापार नहीं। जब ज्ञातृव्यापार प्रमाणका स्वरूप सम्भव नहीं है, तब उससे प्रमेयकी व्यवस्था कैसे हो सकती है?

इन्द्रियवृत्ति-परीक्षा :

सांख्य[2] कहते हैं कि जबतक इन्द्रियाँ अपना उद्घाटनादि व्यापार नहीं करतीं, तबतक अर्थका प्रकाशन नहीं होता। अतः अर्थप्रकाशनमें इन्द्रियोंकी वृत्ति (व्यापार) कारण होनेसे वह वृत्ति ही प्रमाण है। इन्द्रियाँ, मन, आत्मा या उनका [illegible] प्रमाण नहीं, क्योंकि उनके रहते हुए भी इन्द्रियोंके व्यापारके अभावमें अर्थ-[illegible] नहीं होता। अतः इन्द्रियव्यापारको ही प्रमाण मानना उचित है।

१. [illegible] ... —शास्त्रदी० पृ० २०२।
[illegible]
[illegible] ॥
[illegible] ... पृ० १०२।
२. [illegible]

विचारणीय है कि इन्द्रियोंका व्यापार अर्थप्रमितिमें साधकतम है या
कि करण वही होता है जो साधकतम होता है—'साधकतमं करणम्'।
व्यापार अर्थप्रमितिमें साधकतम नहीं है, सिर्फ साधक है। इन्द्रिय-
ज्ञान उत्पन्न होता है और ज्ञानसे अर्थप्रमिति होती है। अतः अर्थप्रमितिमें
—साक्षात्कारण ज्ञान है और इसलिए वही साधकतम है। इन्द्रियव्यापार
में व्यवहित—परम्परा कारण है, अत. वह उसमें साधकतम नहीं है।
इन्द्रियाँ प्रकृतिका परिणाम होनेसे अचेतन हैं, अतः उनका व्यापार भी
अज्ञानरूप है। और अज्ञानरूप इन्द्रियव्यापार अज्ञाननिवृत्तिरूप प्रमामें
नहीं हो सकता और जब वह साधकतम नहीं, तो वह प्रमाण कैसे ?
के अलावा, एक प्रश्न यह होता है कि वह इन्द्रियव्यापार इन्द्रियोंसे भिन्न
न्न ? यदि भिन्न है, तो यह बतलाना चाहिए कि वह उनका धर्म है या
हीं ? यदि वह उनका धर्म है तो उनका परस्परमें कौन-सा सम्बन्ध है ?
त्म्य है या समवाय है या संयोग ? यदि तादात्म्य है तो वह व्यापार
न ही रहेगा और वे श्रोत्रादि सुप्तावस्थामें भी विद्यमान रहती हैं तब उस
अर्थपरिच्छित्ति होना चाहिए। यदि कहा जाय कि उनमें समवाय सम्बन्ध
वाय तो एक, नित्य और व्यापक है तथा श्रोत्रादिका सद्भाव भी सर्वत्र
स्थितिमें प्रतिनियत देशमें व्यापारके होनेका नियम समाप्त हो जायगा[1] और
त्ति सर्वदा होगी। दूसरे, सांख्योंने समवायको स्वीकार भी नहीं किया।
का सम्बन्ध संयोग माना जाय, तो वह इन्द्रियोंका व्यापार न होकर वह
पदार्थ बन जायेगा, क्योंकि संयोग दो स्वतन्त्र द्रव्यपदार्थोंमें होता है, धर्म-
में। अतः इन्द्रियव्यापार इन्द्रियोंका धर्म सिद्ध नहीं होता। यदि उसे पृथक्
ना जाय, तो वह उनका व्यापार नहीं कहा जा सकेगा, जैसे पृथक् घटादि
न्द्रियोंका व्यापार नहीं माने जाते। यदि व्यापार इन्द्रियोंसे अभिन्न है, तो
पक्षमें जो दोष आता है वही दोष अभिन्न पक्षमें भी विद्यमान है।
सरे, इन्द्रियोंका व्यापार तैमिरिक रोगीको होनेवाले द्विचन्द्रज्ञान तथा
दि मिथ्याज्ञानोंमें भी प्रयोजक होता है, पर वे ज्ञान प्रमाण नहीं हैं। अतः
व्यापारको प्रमाण मानना संगत नहीं है। हाँ, ज्ञानमें कारण होनेसे उसे
प्रमाण माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। मुख्यरूपसे तो ज्ञान ही प्रमाण है।

कल्य-परीक्षा :

जयन्तभट्ट और उनके अनुगामी वृद्ध नैयायिकोंका अभिमत है[2] कि अर्थो-
अर्थ, आलोक, इन्द्रिय, आत्मा और ज्ञान आदि सभी कारणोंका यथोचित
होता है। इनमेंसे यदि एककी भी कमी रहे तो अर्थोपलब्धि नहीं हो सकती।
ग्री अथवा कारकसाकल्य (कारकोंकी समग्रता) प्रमाण है।

———

नियतदेशवृत्तिरभिव्यज्येत् ।'—प्रमेयक. पृ. १९।
भिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाऽबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम् ।'
—न्यायमं. पृ. १२।

होना चाहिए और वह साधकतमरूपसे अपेक्षणीय है ज्ञान। संनिकर्षकी अपेक्षा तो केवल साधकरूपमें होती है, साधकतमरूपमें नहीं। तब, जो साधकतम नहीं वह प्रमाण कैसे?

दूसरे, संनिकर्षमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव ये लक्षणके तीनों दोष भी हैं। रूपकी तरह रसके साथ चक्षुःसंयुक्तसमवाय और रूपत्वकी तरह रसत्वके साथ चक्षुःसंयुक्तसमवेतसमवाय संनिकर्ष रहते हुए भी चक्षुके द्वारा रसप्रमिति और रसत्वप्रमिति उत्पन्न नहीं होतीं। अतः संनिकर्ष अतिव्याप्त है। चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी होनेसे वह रूपका ज्ञान संनिकर्षके बिना ही कराती है। इसलिए संनिकर्ष अव्याप्त भी है। यतः संनिकर्ष अचेतन है अतः वह चेतनात्मक अज्ञान-निवृत्ति (प्रमा) को पैदा नहीं कर सकता और इसलिए संनिकर्ष असम्भवि भी है। जान पड़ता है कि संनिकर्षको प्रमितिजनक—प्रमाण माननेमें वात्स्यायनके सामने ये सब आपत्तियाँ रही हैं और इसलिए उन्होंने ज्ञानको भी प्रमितिजनक स्वीकार किया है। पर वे संनिकर्षको प्रमाण माननेवाली पूर्व परम्पराको नहीं छोड़ सके। अस्तु।

प्रमाणका निर्दोष स्वरूप :

न्यायशास्त्रके अध्ययनसे ऐसा मालूम होता है कि 'प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्' अर्थात् 'जिसके द्वारा प्रमिति (सम्यक् परिच्छित्ति) हो वह प्रमाण है' इस अर्थमें प्रायः सभी न्यायग्रन्थकारोंने प्रमाणको स्वीकार किया है। परन्तु वह प्रमिति किसके द्वारा होती है अर्थात् प्रमितिका करण कौन है? इसे सबने अलग-अलग बतलाया है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं कि नैयायिक संनिकर्षसे अर्थज्ञप्ति मानते हैं, अतः वे संनिकर्षको प्रमितिकरण बतलाते हैं। प्रभाकर ज्ञाताके व्यापारको, सांख्य इन्द्रिय-वृत्तिको, जयन्तभट्ट कारकसाकल्यको और बौद्ध[1] सारूप्य एवं योग्यताको प्रमितिकरण प्रतिपादन करते हैं। जैन न्यायशास्त्रमें स्वपरावभासक ज्ञानको प्रमितिका करण बतलाया है[2]। इस प्रमाणप्रमेयकलिकामें उसीका समर्थन करते हुए उसे ही प्रमाणका निर्दोष लक्षण सिद्ध किया है तथा उसे स्वसंवेदी माननेमें मीमांसकोंके द्वारा उठायी 'स्वात्मनि क्रियाविरोध' आपत्तिका सयुक्तिक परिहार किया है।

प्रमाणका फल :

अब ज्ञान-प्रमाणवादी जैनोंके सामने प्रश्न आया कि यदि ज्ञानको प्रमाण माना जाता है तो उसका फल क्या है, क्योंकि अर्थाधिगम प्रमाणका फल है और उसे प्रमाण मान लेनेपर उसका अन्य फल सम्भव नहीं है? इस प्रश्नका समाधान करते हुए जैन तार्किकोंने कहा है[3] कि अर्थाधिगम होनेपर ज्ञाताकी उस ज्ञेय (अर्थ) में प्रीति होती है और वह प्रीति उस (प्रमाण) का फल है। निश्चय

१. प्रमाणप्रमेय., पृष्ठ ३ का पाद-टिप्पण।

२. वही, पृष्ठ १७ तथा १८ के पाद-टिप्पण तथा विशेषके लिए न्यायदी., प्रस्तावना पृ १२।

३. वही, पृष्ठ १८ का पादटिप्पण तथा सर्वार्थसि. १-१० की व्याख्या।

हो यदि वह अर्थ ग्रहण करने योग्य होता है तो उसमें ज्ञाताको उपादान बुद्धि, छोड़ने योग्य होता है तो हेयबुद्धि और उपेक्षणीय होता है तो उपेक्षाबुद्धि होती है। अतः ज्ञानको प्रमाण माननेपर उसका फल हान, उपादान और उपेक्षा है। यह उसका परम्परा फल है और साक्षात् फल उसका अज्ञाननाश है। उस अर्थके विषयमें जो ज्ञाताको अन्धकारसदृश अज्ञान होता है वह उस अर्थका ज्ञान होनेपर दूर हो जाता है। वात्स्यायनने भी ज्ञानको प्रमाण स्वीकार करते हुए उसका हान, उपादान और उपेक्षा बुद्धि फल बतलाया है[1]।

प्रमाण और फलका भेदाभेद :

जैन परम्परामें एक ही आत्मा प्रमाण और फल दोनों रूपसे परिणमन करनेवाला स्वीकार किया गया है, अतः एक प्रमाताकी अपेक्षा प्रमाण और फलमें अभेद तथा कार्य और कारणरूपसे पर्यायभेद या करण और क्रियाका भेद होनेके कारण उनमें भेद माना गया है[2]। जिसे प्रमाणज्ञान होता है उसीका अज्ञान दूर होता है, वही अहितको छोड़ता है, हितका उपादान करता है और उपेक्षा करता है[3]। इस प्रकार एक अन्वयि आत्माकी दृष्टिसे प्रमाण और फलमें कथंचित् अभेद है और प्रमाताका अर्थपरिच्छित्तिमें साधकतमरूपसे व्याप्रियमाण स्वरूप (ज्ञान) प्रमाण है तथा अर्थपरिच्छित्तिरूप प्रमिति उसका फल है, अतः इनमें पर्यायदृष्टिसे कथंचित् भेद है[4]। यहाँ उल्लेखनीय है कि सांख्य आदि, इन्द्रियवृत्ति आदिको प्रमाण और ज्ञानको उसका फल स्वीकार करके उन (प्रमाण तथा फल) में सर्वथा भेद ही मानते हैं और बौद्ध[5] (बाह्य अर्थका अस्तित्व स्वीकार करनेवाले सौत्रान्तिक एवं ज्ञान-मात्रको माननेवाले विज्ञानवादी क्रमशः) ज्ञानगत अर्थाकारता या सारूप्यको और ज्ञानगत योग्यताको प्रमाण तथा विषयाधिगति एवं स्ववित्तिको फल मानकर उनमें सर्वथा अभेदका प्रतिपादन करते हैं। पर जैनदर्शनमें सर्वथा भेद और सर्वथा अभेदको प्रतीतिबाधित बतलाकर अनेकान्तदृष्टिसे उनका कथन किया गया है, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं। नरेन्द्रसेनने भी प्रमाण-फलके भेदाभेदकी चर्चा की है और उन्हें कथंचित् भिन्न तथा कथंचित् अभिन्न सिद्ध किया है।

ज्ञानके अनिवार्य कारण :

अब प्रश्न है कि ज्ञानके अनिवार्य कारण क्या हैं और वे कौन-कौनसे हैं? इस सम्बन्धमें सभी तार्किकोंने विचार किया है। बौद्ध अर्थ और आलोकको भी ज्ञानके

---

१. न्यायभा., १-१-३। तथा प्रमाणपरी., प्रस्तावना, पृ. १० का टिप्प.।
२ (क) 'प्रमाणमर्थपरिच्छित्त्यादिफलं फलमिति।'—प्रमाणपरी., पृ. ६६।
(ख) 'प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च।'—परीक्षामु., ५-२।
३. 'यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्त उपेक्षते चेति प्रतीतेः।' परीक्षामु., ५-३।
४. प्रमाणपरी., पृ. ६६।
५. तत्त्वसं., का. १३४४।

प्रति कारण मानते हैं। उनका कहना है कि सब ज्ञान चार प्रत्ययों (कारणों) से[1] उत्पन्न होते हैं। वे प्रत्यय ये हैं: १. समनन्तरप्रत्यय, २. आधिपत्यप्रत्यय, ३. आलम्बनप्रत्यय और ४. सहकारिप्रत्यय। पूर्वज्ञान उत्तरज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण होता है, इसलिए वह समनन्तरप्रत्यय कहलाता है। चक्षुरादिक इन्द्रियाँ आधिपत्य-प्रत्यय कही जाती हैं। अर्थ (विषय) आलम्बनप्रत्यय कहा जाता है और आलोक आदि सहकारिप्रत्यय हैं। इस तरह बौद्धोंने इन्द्रियोंके अतिरिक्त अर्थ और आलोक-को भी ज्ञानके प्रति कारण माना है। अर्थकी कारणतापर तो यहाँ तक जोर दिया गया है कि ज्ञान यदि अर्थसे उत्पन्न न हो तो वह उसे विषय भी नहीं कर सकता है[2]।

बौद्धोंके इस मन्तव्यपर जैन तार्किकोंने पर्याप्त विचार किया है और कहा है कि अर्थ तथा आलोकका ज्ञानके साथ अन्वय-व्यतिरेक न होनेसे वे ज्ञानके कारण नहीं हैं। अर्थके रहनेपर भी विपरीत ज्ञान देखा जाता है और अर्थाभावमें केशोण्डु-कादि ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार आलोकके रहते हुए उलूकादि नक्तंचरोंको ज्ञान नहीं होता तथा उसके अभावमें उन्हें ज्ञान होता हुआ देखा जाता है। अतः अर्थ ज्ञानका कारण नहीं है और न आलोक। किन्तु इन्द्रिय और मन ये दोनों व्यस्त अथवा समस्त रूपमें आवरणक्षयोपशम (योग्यता) की अपेक्षा लेकर ज्ञानमें कारण हैं[3]। नरेन्द्रसेनने भी इन्द्रिय तथा मनको ही ज्ञानका अनिवार्य कारण बतलाया है और अर्थ तथा आलोकको ज्ञानका अनिवार्य कारण न होनेका प्रतिपादन किया है। साथ ही बौद्धोंकी इस आपत्तिका भी, कि ज्ञान यदि अर्थसे उत्पन्न न हो तो वह उसे प्रकाशित नहीं कर सकता, परिहार किया है और माणिक्यनन्दिकी तरह लिखा है कि जिस प्रकार दीपक अर्थसे उत्पन्न न होकर भी उसे प्रकाशित करता है उसी तरह ज्ञान भी अर्थसे उत्पन्न न होकर योग्यताके बलसे उसका प्रकाशन करता है।

इस तरह इस प्रमाणतत्त्व परीक्षा प्रकरणमें अन्य प्रमाणलक्षणोंकी मीमांसा करते हुए प्रमाणका निर्दोष स्वरूप, प्रमाणका फल और प्रमाणके कारणोंकी चर्चा की गयी है। यद्यपि ग्रन्थकर्ताने प्रमाणके भेदोंको भी बतलानेका आरम्भमें संकेत किया है किन्तु उनपर उन्होंने कोई विचार नहीं किया। जान पड़ता है कि उनकी दृष्टिमें प्रमाण और प्रमेयका मात्र स्वरूप बतलाना ही मुख्य रहा है और इसलिए उन्हींपर इसमें विचार किया गया है।

४. प्रमेयतत्त्व-परीक्षा

अब प्रमेय-तत्त्वपर विचार किया जाता है। जो प्रमाणके द्वारा जाना जाये वह प्रमेय है। अर्थात् प्रमाण जिसे जानता है वह प्रमेय कहलाता है। प्रमेयके इस

---

१. 'चत्वारः प्रत्यया हेतुश्चालम्बनमनन्तरम्।
तथैवाधिपतेयं च प्रत्ययो नास्ति पञ्चमः ॥' —माध्यमिकका. १-२। तथा अभिधर्मकोश, परि. २, श्लो. ६१-६४।

२. 'नाकारणं विषयः' इति।

३. लघीयस्त्रय, का. ५७-५८ तथा वृत्ति।

है, जो निष्क्रिय, कूटस्थ-नित्य, व्यापक और ज्ञानादिपरिणामोंसे शून्य केवल चेतन है। यह पुरुषतत्त्व अनेक है और सबकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। प्रकृति परिणामी-नित्य है। इसमें एक अवस्था तिरोहित होकर दूसरी अवस्था आविर्भूत होती है। यह एक है, त्रिगुणात्मक है, विषय है, सामान्य है और महान् आदि विकारोंको उत्पन्न करती है[1]। कारणरूप प्रकृति 'अव्यक्त' कही जाती है और उससे उत्पन्न होनेवाले कार्यरूप परिणाम—महदादि व्यक्त कहे जाते हैं। इस तरह सांख्योंने प्रकृति अथवा प्रधानपर, जो सामान्यरूप है, अधिक बल दिया है और इसलिए इनका यह प्रकृतिवाद सामान्यवाद कहा गया है। पुरुषको सांख्य मानते अवश्य हैं, पर वह पुष्कर-पलाशके समान निर्लेप है। उसे न बन्ध होता है और न मोक्ष। बन्ध और मोक्ष दोनों प्रकृतिके ही होते हैं[2]। हाँ, प्रकृतिके द्वारा सम्पादित भोगका वह मात्र भोक्ता है। ज्ञानको पुरुषका धर्म न मानकर प्रकृतिका धर्म (परिणाम) माना जाता है। चैतन्यको ज्ञानसे भिन्न स्वीकार करके उसे पुरुषका स्वरूप प्रतिपादन करते हैं। बुद्धिरूप दर्पणमें[3] इन्द्रिय-विषयों और पुरुषका प्रतिबिम्ब पड़ता है। यह प्रतिबिम्ब ही भोग है और उसीका पुरुष भोक्ता है। प्रकृतिको जब यह ज्ञान हो जाता है कि 'इस पुरुषको तत्त्वाभ्याससे[4] "मैं प्रकृतिका नहीं हूँ और प्रकृति मेरी नहीं है" इस प्रकारका विवेक हो गया है और उसे मुझसे विरक्ति हो गयी है', तब वह उसका संसर्ग उसी प्रकार छोड़ देती है, जिस प्रकार नर्तकी दर्शकोंको अपना नृत्य दिखाकर फिर नृत्यसे विरत हो जाती है[5]। फिर कैवल्य हो जाता है और प्रकृतिसे उस पुरुषका सदाके लिए संसर्ग छूट जाता है। इस प्रकार सारा खेल (बन्ध, मोक्ष आदि) इस प्रकृतिका है।

जैनों द्वारा सांख्योंके इस सामान्यवादपर विचार :

जैन विचारकोंने सांख्योंकी इस तत्त्वव्यवस्थापर गहराईसे विचार किया है और उसमें उन्हें अनेक दोष जान पड़े हैं। पहली बात तो यह है कि प्रधानका जैसा स्वरूप ऊपर दिखाया गया है वह न अनुभवमें आता है और न अनुमानादि प्रमाणसे सिद्ध है। प्रकृति जब जड है तब उसमें सत्त्व, रज और तमोगुण कैसे सम्भव हैं? किसी भी घट, पट आदि अचेतनमें उनका सद्भाव नहीं देखा जाता और जब उनमें उनका सद्भाव नहीं है तब उनके कारण प्रधानमें इन सत्त्वादि गुणोंका अस्तित्व

---

१. त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥ —सांख्यका. ११ ।

२. तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥ —सांख्यका. ६२ ।

३. 'बुद्धिदर्पणे पुरुषप्रतिबिम्बसंक्रान्तिरेव बुद्धिप्रतिसंवेदित्वं पुंसः। तथा च दृशिच्छायापन्नया बुद्धया संसृष्टाः शब्दादयो भवन्ति दृश्या इत्यर्थः।' —योगसू., तत्त्ववै., २-२० ।

४. एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ —सांख्यका. ६४ ।

५. रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् ।
पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥ —सांख्यका. ५९ ।

न किसी वस्तुकी और न उसके अपने किसी धर्मकी स्वतन्त्र व्यवस्था हो सकेगी[1]। अतः प्रतीतिके अनुसार वस्तुव्यवस्था होना चाहिए।

चौथे, यदि प्रकृतिको ही बन्ध और मोक्ष होते हैं तो पुरुषकी कल्पना व्यर्थ है[2]। भोक्ताके रूपमें उसकी कल्पना भी युक्त नहीं है, क्योंकि बुद्धिमें इन्द्रिय-विषय-की छाया पड़नेपर भी अपरिणामी पुरुषमें भोक्तृत्वरूप परिणमन नहीं हो सकता। तथा पुरुष जब सर्वथा निष्क्रिय एवं अकर्ता है तो वह भुजि-क्रियाका भी कर्ता नहीं बन सकता और तब वह 'भोक्ता' नहीं कहा जा सकेगा। कितने आश्चर्य तथा लोकप्रतीतिके विरुद्ध बात है कि जो (प्रधान) कर्ता है वह भोक्ता नहीं है और जो (पुरुष) भोक्ता है वह कर्ता नहीं है। जबकि यह लोकप्रसिद्ध सिद्धान्त है कि 'जो करता है वह भोगता है।' जो प्रधान ज्ञान-परिणामका आधार नहीं देखा जाता, उसे उसका आधार माना जाता है और जो पुरुष 'ज्ञानस्वरूप स्वार्थव्यवसायी' देखनेमें आता है उसका निरास किया जाता है,[3] यह कैसी विचित्र बात है। ऐसी मान्यताओंको प्रेक्षावानोंने 'दृष्टहानिरदृष्टपरिकल्पना पापीयसी' कहकर उन्हें अश्रेयस्कर बतलाया है। इससे भी बढ़कर आश्चर्य तब होता है जब प्रधानको मोक्षमार्गका उपदेशक कहा जाता है और स्तुति (पूजा-भक्ति-नमन) मुमुक्षु पुरुषकी करते हैं[4]।

पाँचवें, पुरुषमें यदि स्वयं रागादिरूप परिणमन करनेकी योग्यता और प्रवृत्ति न हो, तो प्रकृति-संसर्ग उसमें बलात् रागादि पैदा नहीं कर सकता। नर्तकी उन्हीं पुरुषोंमें राग या विराग पैदा करती है जिनमें उसके प्रति राग या विराग भाव होता है। किसी घड़े या लकड़ीमें वह राग या विराग भाव उत्पन्न नहीं करती। इससे स्पष्ट है कि जबतक पुरुषमें राग या विरागभावरूप होनेकी योग्यता न होगी, तब-तक प्रकृति-संसर्ग उसमें न अनुराग पैदा कर सकता है और न विराग। अन्यथा, मुक्त अवस्थामें भी प्रकृति-संसर्ग रहनेसे मुक्तोंके भी रागादि विकार उत्पन्न होना चाहिए। प्रधानको[5] मुक्तके प्रति निवृत्ताधिकार और संसारी आत्माके प्रति प्रवृत्ताधिकार मानकर भी उक्त दोषका निराकरण नहीं किया जा सकता है, क्योंकि प्रधानको निवृत्तार्थ और प्रवृत्तार्थ इसलिए कहा जाता है कि पुरुष प्रकृतिका संसर्ग छूट जानेपर

---

१. संसर्गादविभागश्चेदयोगोलकवह्निवत् ।
भेदाभेदव्यवस्थैवमुच्छिन्ना सर्ववस्तुषु ॥' —प्रमेयरत्न., पृ. १५१।

२. 'तदसम्भवतो नूनमन्यथा निष्क्रियः पुमान् ।
भोक्ताऽऽत्मा चेत्स एवास्तु कर्ता तदविरोधतः ॥
विरोधे तु तयोर्भोक्तुः स्याद्भुजौ कर्तृता कथम् ।' —आप्तप., का. ८१, ८२।

३. 'ज्ञानपरिणामाश्रयस्य प्रधानस्यादृष्टस्यापि परिकल्पनायां ज्ञानात्मकस्य च पुरुषस्य स्वार्थ-व्यवसायिनो दृष्टस्य हानिः पापीयसी स्यात् । "दृष्टहानिरदृष्टपरिकल्पना च पापीयसी" इति सकलप्रेक्षावतामभ्युपगमनीयत्वात् ।'—आप्तप., पृ. १८६।

४. 'प्रधानं मोक्षमार्गस्य प्रणेतृ, स्तूयते पुमान् ।
मुमुक्षुभिरिति ब्रुवाणस्योऽस्योर्वकिञ्चित्करात्मनः ॥'—आप्तप., का. ८६

५. 'केवलं मुक्ताऽऽत्मानं प्रति मद्गोत्रीयात्मानं प्रत्यनष्ट ...
चेति. म, विरुद्धधर्माध्यासस्य तत्स्वरूपस्यापत्प्रधानस्य

संसारमें संसरण नहीं करता और उसका संसर्ग रहनेपर वह संसारमें प्रवृत्त होता है
वास्तवमें निवृत्तार्थ और प्रवृत्तार्थका व्यवहार पुरुषकी ओरसे है, प्रकृतिकी ओर
नहीं। इसके अतिरिक्त प्रधानमें विरोधी धर्मोंका अध्यास होनेसे वह एक अ
निरंश नहीं बन सकता।

छठे, अचेतन प्रकृतिको यह ज्ञान कैसे हो सकता है कि 'पुरुषको विवेक उत्प
हो गया है और वह मुझसे विरक्त हो गया है?' वास्तवमें पुरुष ही प्रकृतिसे सं
करनेकी इच्छा करता है और विवेक होनेपर वह उससे छूटनेके लिए छटपटाता
अतः पुरुषको ही परिणामि-नित्य तथा ज्ञानस्वभाववाला मानना चाहिए
उसीको बन्ध एवं मोक्षका वास्तविक अधिकारी स्वीकार करना चाहिए।

सातवें, अन्ध और पंगुके उदाहरण द्वारा प्रकृति और पुरुषमें संसर्गकी कल
करके उससे जो पुरुषके दर्शन तथा प्रधानके कैवल्य एवं सर्गोत्पत्तिका कथन कि
जाता है[1] वह भी आपातरम्य प्रतीत होता है, क्योंकि जिस प्रकार अन्ध और
दोनोंमें परस्पर मिलनेकी इच्छा तथा उस प्रकारकी प्रवृत्ति होनेपर उनका सम्
(मिलन) होता है उसी तरह जबतक पुरुष और प्रकृति दोनोंमें संसर्गकी इच्छा
स्वतन्त्र परिणमनकी योग्यता नहीं होगी, तबतक उनमें न संसर्ग सम्भव है औ
दर्शन, कैवल्य और सृष्टि ही। ये दोनों परस्पर विजातीय हैं और इसलिए वे
दूसरेके परिणमनमें उपादान नहीं हो सकते।

मास्योंका यह मत सामान्यैकान्त, नित्यत्वैकान्त या सामान्यवादके
प्रसिद्ध है क्योंकि प्रकृतिको उन्होंने सर्वथा एक, नित्य, व्यापक, सामान्य
निरवयव तत्त्व माना है और उसे ही आविर्भाव, तिरोभाव, मूर्त्त, अमूर्त
विरोधी परिणमनोंका सामान्य आधार स्वीकार किया है[2]। परन्तु हम ऊपर
चुके हैं कि वह न अनुभवसिद्ध है और न अनुमानादि प्रमाणसिद्ध है। प्रस्तुत
नरेन्द्रसेनने मास्योंके इस विशेषनिरपेक्ष सामान्यैकान्त अथवा सामान्यवा
आलोचना करते हुए 'निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत्' कुमारिलभ
इस सूक्ति और दूसरे अनेक विकल्पों द्वारा उसका निराकरण किया है। उन्होंने
है कि विशेष-रहित अकेला सामान्य कहीं भी उपलब्ध नहीं होता और वह उसी
अवस्तु है, जिस तरह केवल सामान्यरहित विशेष या स्वतन्त्र दोनों। और इस
सामान्य-विशेषात्मक अनेकान्त—अर्थ ही प्रमेय है—प्रमाणका विषय है[3]।

विशेष-परीक्षा :

विशेषवादी बौद्धोंका पूर्वपक्ष—बौद्धोंका कहना है कि एक, नित्य,
और परमार्थसत् सामान्य, चाहे वह प्रधानरूप हो या चाहे परमपुरुषरूप हो,
प्रत्यक्षसे प्रतीत नहीं होता। जो प्रतीत होते हैं वे हैं विशेष—एक-एक, पृथक् पृ

1. 'पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
   पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥'—सांख्यका. २१ ।
2. [illegible], का ३९-४० तथा [illegible], पृ ४६१ ।
3. 'सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः'—परीक्षामु ४-१ ।

अनेक और अनित्य व्यक्तियाँ। स्पष्ट देखते हैं कि कोई घट है, कोई पट है, कोई पुस्तक है, कोई लकड़ी है, कोई पत्थर है, कोई गाय है, कोई आदमी है, इस तरह संसारको सभी वस्तुएँ पृथक्-पृथक् व्यक्तिरूपमें ही प्रतीत होती हैं। 'जो जहाँ और जिस कालमें है वह वहीं और उसी कालमें पाया जाता है, अन्य देश या अन्य कालमें नहीं। और इसलिए दो भिन्न देशों और दो भिन्न कालोंमें व्यापक कोई भी पदार्थ नहीं है'[1]। यदि भिन्न देशों और भिन्न कालोंमें रहनेवाला एक सामान्य पदार्थ माना जाय, तो यह बतायें कि वह सामान्य प्रत्येक व्यक्तिमें पूर्णरूपसे रहता है अथवा आंशिक? यदि पूर्णरूपसे रहता है, तो या तो दूसरे अन्य व्यक्तियोंमे उसका अभाव मानना पड़ेगा, या व्यक्तियोंकी तरह उसे भी अनन्त मानना होगा। यदि वह उनमें आंशिकरूपसे रहता है, तो वह निरंश और नित्य नहीं रहेगा। अतः बुद्ध्यभेदको छोड़कर उससे भिन्न सामान्य नहीं है[2]। यह बुद्ध्यभेद भी अन्यापोहरूप है। अगोव्यावृत्तिसे गौका व्यवहार, अघटव्यावृत्तिसे घटका व्यवहार और अपटव्यावृत्तिसे पटका व्यवहार होता है। गोत्व, घटत्व, पटत्व आदि रूप सामान्यकी अपेक्षासे नहीं।

ये विशेष ही स्वलक्षण हैं, जो चित्त और अचित्त दोनों रूप हैं तथा ये दोनों भी क्षणिक एवं परमाणुरूप हैं। ये ही प्रत्यक्षका विषय तथा अर्थक्रियासमर्थ होनेसे परमार्थसत् हैं[3]। इनसे विपरीत सामान्यलक्षण है[4]। ये स्वलक्षणात्मक विशेष परस्परमें असंसृष्ट हैं और अत्यन्त निकटवर्ती हैं। इनमें हमें स्थिरता और स्थूलताका भ्रम होता है। पर वास्तवमें वे प्रतिक्षण विनश्वर और सूक्ष्म स्वभाव हैं। उन्हें अपने विनाशमें किसी अन्य कारणकी अपेक्षा नहीं होती। जिन कारणोंसे उनकी उत्पत्ति होती है उन्हींसे उनका विनाश होता है और इसलिए उत्पत्तिके कारणोंसे अतिरिक्त कारण न होनेसे विनाशको निर्हेतुक माना गया है। प्रत्येक पूर्वक्षण उत्तरक्षणको उत्पन्न करता है और स्वयं विनष्ट हो जाता है। इस तरह पूर्वोत्तर क्षणोंकी सन्ततिमें कार्य-कारणभाव आदिकी व्यवस्था है। पूर्वक्षण कारण है तो उत्तरक्षण कार्य है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है[5] कि परमाणुओंका परस्परमें संसर्ग (सम्बन्ध) क्यों सम्भव नहीं है? वे असंसृष्ट ही क्यों हैं? इसका उत्तर यह है कि एक परमाणुका दूसरे

---

१. 'यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः ।
न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते ॥'

२. 'एकत्र दृष्टो भावो हि क्वचिन्नान्यत्र दृश्यते ।
तस्मान्न भिन्नमस्त्यन्यत्सामान्यं बुद्ध्यभेदतः ॥'

३. 'तस्य विषयः स्वलक्षणम् ।', 'यस्यार्थस्य संनिधानासंनिधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदस्तत्स्वलक्षणम् ।', 'तदेव परमार्थसत् ।', 'अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद्वस्तुनः ।'
—न्यायबि., पृ. १८ ।

४. 'अन्यत्सामान्यलक्षणम् ।' —न्यायबि., पृ. १८ ।

५. 'स च संसर्गः सर्वात्मना न सम्भवति एव, एकपरमाणुमात्रप्रचयप्रसंगात् । नाप्येकदेशेन, दिग्भागभेदेन बहुभिः परमाणुभिरेकस्य परमाणोः संसृज्यमानस्य षडंशतापत्तेः । तत एवासंसृष्टाः परमाणवः प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासमाना इति ।' —आप्त., पृ. १७६ ।

विश्रुत नियम नही बन सकता है। दूसरे, प्राणनाशका नाम हिंसा है और नाशको अहेतुक स्वीकार किया गया है। ऐसी स्थितिमे किसीको हिंसक और किसीको हिंस्य नही माना जा सकता है। इसी तरह एक ही चित्तक्षणके बन्ध तथा मोक्ष भी नहीं बन सकते हैं। आचार्य और शिष्यका सम्बन्ध भी क्षणिकवादमें असम्भव है[1]। प्रथम क्षणमें जिस चित्तक्षणने किसीसे पढ़ा वह द्वितीय क्षणमें निरन्वय विनष्ट हो जानेसे न शिष्य बन सकेगा और न पढ़ानेवाला उसका आचार्य हो सकेगा। इस तरह क्षणिकवादमें कोई भी तत्त्व-व्यवस्था नही बनती है।

जिन बहिरर्थपरमाणुओं अथवा संवित्परमाणुओंको विशेष एवं स्वलक्षण कहा गया है वे न प्रत्यक्षसे सिद्ध हैं और न अनुमानादिसे प्रतीत होते हैं। स्थिर, स्थूलादि, नित्यानित्य और द्रव्य-पर्यायरूप वस्तु ही प्रत्यक्षादिसे प्रतीत होती है। सामान्य-निरपेक्ष अकेला विशेष कही भी दृष्टिगोचर नही होता। वृक्षत्वसहित शिशपादि व्यक्तियों एवं गोत्वादिसहित खण्ड-मुण्डादि गवादि व्यक्तियोंका ही हमें भान होता है। नरेन्द्रसेनने बौद्धोंके इस विशेषवादकी भी सबलताके साथ आलोचना की है और कुमारिलकी 'सामान्यरहितत्वेन विशेषास्तद्वदेव हि' इस युक्ति द्वारा विशेषों-को खरविषाणकी तरह अवस्तु सिद्ध किया है। और उन्हें अप्रमेय अर्थात् प्रमाणका अविषय बतलाया है तथा प्रमाणका विषय सामान्यविशेषात्मक वस्तु सिद्धि की है।

सामान्यविशेषोभय-परीक्षा :

सामान्यविशेषोभयवादी वैशेषिकोंका पूर्वपक्ष—वैशेषिकोंकी मान्यता है कि केवल सामान्य अथवा केवल विशेष प्रमाणका विषय—प्रमेय-वस्तु नही है, किन्तु स्वतन्त्र—परस्परनिरपेक्ष सामान्य और विशेष दोनों प्रमाणका विषय अर्थात् वस्तु है। उनका कहना है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये छह ही भाव पदार्थ[2] है और ये एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न हैं, क्योंकि इनका अलग-अलग प्रत्यय होता है। 'द्रव्यम्' ऐसा प्रत्यय होनेसे द्रव्यपदार्थ, 'गुणः' ऐसी प्रतीति होनेसे गुण-पदार्थ, 'कर्म' ऐसा ज्ञान होनेसे कर्मपदार्थ, 'सामान्यम्' इस प्रत्ययसे सामान्यपदार्थ, 'विशेषः' इस प्रत्ययसे विशेषपदार्थ और 'इहेदम्'—'इसमें यह' इस प्रकारके प्रत्ययसे समवायपदार्थ सिद्ध होते हैं। इस प्रत्ययभेदके अतिरिक्त सबका लक्षण भिन्न है। द्रव्य उसे कहा गया है जो गुणवाला, क्रियावाला और समवायिकारण है। गुण वह है जो द्रव्यके आश्रय रहता है और स्वयं निर्गुण एवं निष्क्रिय है। उत्क्षेपणादि परिस्पन्दनरूप क्रियाका नाम कर्म है। अनेक व्यक्तियोंमे रहनेवाला सामान्य है। नित्यद्रव्योंमे रहनेवाला तथा उनमें परस्पर भेदव्यवहार करानेवाला विशेष है। और अयुतसिद्धोंमे रहनेवाले सम्बन्धका नाम समवाय है। इसी तरह सबके कारण

---

१. 'न शास्तृशिष्यादिविधिव्यवस्था' —युक्त्यनु०, का. १७।

२. 'अभाव' नामका एक स्वतन्त्र पदार्थ भी वैशेषिकोंने स्वीकार किया है, किन्तु उसका ज्ञान विशेषणता सम्बन्ध न होनेसे उसे न सामान्यको संज्ञा प्राप्त है और न विशेषकी। अतः उसका यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है।

न हैं, अर्थक्रिया सबकी जुदी है और कार्य भी सबके अलग-अलग हैं। अतः ये छह ही पदार्थ हैं और वे सर्वथा भिन्न हैं।

इन छह पदार्थोंमें द्रव्य, गुण और कर्म ये तीन पदार्थ व्यक्ति—विशेषरूप हैं। सामान्य स्वयं सामान्य (जाति) रूप है। अन्य दर्शनोंमें अस्वीकृत एवं वैशेषिक दर्शनमें स्वीकृत विशेष विशेषरूप है ही और समवाय इन सबके सम्बन्धका स्थापक है। इस तरह वैशेषिकोंके ये छह पदार्थ सामान्य और विशेषरूप होनेके कारण उन्हें सामान्य-विशेषोभयवादी तथा उनके इस वादको सामान्यविशेषोभयवाद कहा गया है।

जैनोंका उत्तरपक्ष—जैन दर्शनमें उनके इस स्वतन्त्र सामान्यविशेषोभयवाद-पर भी जैन दार्शनिक लेखकोंने विचार किया है और उन्हें इसमें भी दोष जान पड़े हैं। पहली बात तो यह है कि जो दोष एकान्ततः सामान्यवाद और विशेषवादके स्वीकार करनेमें दिये गये हैं वे सब स्वतन्त्र उभयवादके माननेमें भी प्राप्त हैं।

दूसरे, सब प्रकारसे वस्तुको सामान्यरूप मान लेनेपर फिर वह सब प्रकारसे विशेषरूप स्वीकार नहीं की जा सकती और सब प्रकारसे विशेषरूप स्वीकार कर लेनेपर वह सर्वथा सामान्यरूप नहीं मानी जा सकती और इस तरह स्वतन्त्र उभयवाद व्यवस्थित नहीं होता।

तीसरे, प्रत्ययभेदसे यदि पदार्थभेद स्वीकार किया जाय, तो 'घटः, पटः, कटः' इत्यादि अनन्त प्रत्यय होनेसे घटपटादिको भी पृथक्-पृथक् अनन्त पदार्थ मानना पड़ेगा। अतः प्रत्ययभेद पदार्थभेदका नियामक नहीं है। जो अपने अस्तित्वको दूसरेमें नहीं मिलाता, दूसरेके आश्रित नहीं रहता और स्वतन्त्र है वही स्वतन्त्र और भिन्न पदार्थ मानने योग्य है। यथार्थमें गुण-कर्मादि द्रव्यके विभिन्न धर्म अथवा परिणमन मात्र हैं, वे स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं। वे द्रव्यके साथ ही उपलब्ध होते हैं, द्रव्यको छोड़-कर नहीं और इसलिए वे द्रव्यके आश्रित हैं और द्रव्यके परतन्त्र हैं। पदार्थ तो ठोस और अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखनेवाला होता है। यदि गुण-कर्मादि द्रव्यसे भिन्न पदार्थ हों, तो 'अस्य द्रव्यस्य अयं गुणः'—'इस द्रव्यका यह गुण है' इत्यादि व्यपदेश नहीं हो सकता, क्योंकि उनका कोई नियामक नहीं है। समवाय व्यापक और नित्य है। वह भी इसका नियमन नहीं कर सकता। अन्यथा जिस प्रकार महेश्वरमें ज्ञानका समवाय है उसी तरह आकाशमें ज्ञानका समवाय क्यों न हो जाय। अपि च, द्रव्य और गुण जब सर्वथा भिन्न हैं तो उनमें समवाय कैसे हो सकता है। उनमें तो संयोग ही सम्भव है।

यदि कहा जाय कि द्रव्य और गुण अयुतसिद्ध हैं। अतः उनमें समवाय ही सम्भव है, संयोग नहीं; संयोग तो युतसिद्धोंमें होता है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि तब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह अयुतसिद्धत्व क्या है? क्या अपृथक्-सिद्धत्वका नाम अयुतसिद्धत्व है? या पृथक्करणकी अशक्यताका नाम है अथवा कथंचित् तादात्म्यका नाम है? यदि अपृथक्-सिद्धत्वको अयुतसिद्धत्व माना जाय, तो वायु, धूप, छाया आदि भी अपृथक् सिद्ध हैं और इसलिए उनमें भी द्रव्य-गुणादि-की तरह समवाय होना चाहिए और उस हालतमें उन्हें एक मानना पड़ेगा। फलतः

पृथिवी आदि नौ द्रव्योंका प्रतिपादन विरुद्ध तथा असंगत है। रूप, रस आदि भी अपृथक्सिद्ध हैं और पृथक् आश्रयमें नहीं रहते हैं। अतः चौबीस गुणोंका कथन भी असंगत है। इसलिए प्रथम पक्ष तो श्रेयस्कर नहीं है। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि पृथक्करणकी अशक्यता द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छहों पदार्थोंमें है। अतः इनमें भी भेद न होनेपर द्रव्यादि पृथक् छह पदार्थोंकी भी मान्यता समाप्त हो जाती है। तीसरा पक्ष स्वीकार करनेपर जैन मान्यताका प्रसंग आवेगा, क्योंकि जैनदर्शनमें ही द्रव्य और गुणादिमें कथंचित् तादात्म्य स्वीकार किया गया है, वैशेषिकदर्शनमें वह मान्य नहीं है। अतः कथंचित् तादात्म्यको छोड़कर समवाय सिद्ध नहीं होता। और समवायके सिद्ध न होनेपर 'इस द्रव्यका यह गुण है' यह व्यपदेश नहीं बन सकता। इसी तरह द्रव्यमें द्रव्यका व्यपदेश भी द्रव्यत्वके समवायसे माननेपर वैशेषिकोंको उस समवायके होनेसे पहले द्रव्यका क्या स्वरूप है, यह स्पष्ट करना आवश्यक है। यदि कहा जाय कि द्रव्य ही द्रव्यका स्वरूप है, तो यह कथन अयुक्त है, क्योंकि 'द्रव्य' संज्ञा द्रव्यत्वके समवायसे होनेके कारण वह उसका स्वरूप नहीं हो सकता। अगर कहा जाय कि द्रव्यका सत् ही द्रव्यका निज स्वरूप है, तो सत्का भी सत्‌नाम सत्ताके समवायसे माना गया है। अतः सत्का भी सत्ता समवायसे पूर्व क्या स्वरूप है, यह प्रश्न उठता है, जिसका कोई समाधान वैशेषिकोंके यहाँ नहीं है, क्योंकि सत्को स्वयं सत् माननेपर सत्तासमवाय निरर्थक है और उसे स्वयं असत् स्वीकार करनेपर खरविषाणादिकी तरह उसमें सत्तासमवाय संभव नहीं है। इस तरह द्रव्यका अपना कोई स्वरूप नहीं बनता। इसी तरह गुण और कर्मके सम्बन्धमें भी जानना चाहिए। सामान्य, विशेष और समवाय ये तीन पदार्थ ही स्वरूप सत् होनेसे सत् कहे जा सकते हैं और इस प्रकार तीन पदार्थोंकी ही व्यवस्था बनती है[1]।

पर ये तीन पदार्थ भी स्वतन्त्र और पृथक् सिद्ध नहीं होते। जहाँ तक सामान्यका प्रश्न है वह एक-सी नानाव्यक्तियोंमें पाया जानेवाला भूयःसाम्य या सदृश परिणमनके अतिरिक्त अन्य नहीं है। समान व्यक्तियोंमें जो अनुगत व्यवहार होता है वह इसी भूयःसाम्य या सदृश परिणमनके कारण होता है। जिनकी अवयव-रचना समान है उनमें 'गौरयम् गौरयम्', 'अश्वोऽयम् अश्वोऽयम्', 'घटोऽयम् घटोऽयम्' इत्यादि अनुगताकार प्रत्यय तथा व्यवहार होता है। यह सब व्यवहार लोकसंकेत-पर आधारित है। लोगोंने जिस समान रचनाके आधारपर जिनमें 'गौ' या 'अश्व' या 'घट' का संकेत कर रखा है उस समान रचनाको देखकर लोग उनमें उन शब्दोंका प्रयोग या व्यवहार करते हैं। 'गौ' आदिमें 'गोत्व' आदि कोई ऐसा सामान्य पदार्थ नहीं है, जो अपनी उन व्यक्तियोंसे स्वतन्त्र, नित्य, एक और अनेकानुगत सत्ता रखता हो और समवायसम्बन्धसे उनमें रहता हो। यदि ऐसा सामान्य माना जाय, तो प्रश्न उठता है कि वह विभिन्न देशोंमें रहनेवाली अपनी व्यक्तियोंमें एकदेशतः रहेगा या सर्वात्मना? एकदेशतः माननेपर उसमें सांशत्वका प्रसंग आवेगा— वह निरंश नहीं रहेगा और सर्वात्मना स्वीकार करनेपर वह एक नहीं बन सकेगा।

---

१ प्रमेयरत्नमाला, पृ १९८ तथा आप्तपरीक्षा, पृ १७, १२०।

ौर जहाँ-जहाँ व्यक्ति होंगे उतने ही सामान्य मानना पड़ेंगे। अतः सादृश्य-
ी सामान्य है और वह व्यक्तियोंका अपना धर्म है। 'सत् सत्', 'द्रव्यम् द्रव्यम्'
अनुगत व्यवहार इसी सादृश्यमूलक है, स्वतन्त्र सामान्य या सत्तामूलक नहीं।
इसी तरह विसदृश नाना व्यक्तियों या नित्य द्रव्योंमें रहनेवाला अपना
-अलग स्वरूप, पार्थक्य अथवा बुद्धिगम्य वैलक्षण्य ही विशेष है और वह उन
तयोमें स्वतन्त्र सत्ता रखनेवाला नहीं है, क्योंकि वह उन्हींका अपना उसी
र धर्म है जिस प्रकार सादृश्य। जिस प्रकार एक विशेष दूसरे विशेषसे स्वतः
त है, उसका कोई अन्य व्यावर्तक नहीं है उसी तरह समस्त अनित्य व्यक्तियाँ
नित्य द्रव्य भी अपने असाधारण स्वरूपसे स्वतः व्यावृत्त हैं, उनकी व्यावृत्तिके
स्वतन्त्र विशेष नामके अनन्त पदार्थोंको माननेकी आवश्यकता नहीं है। सभी
तयाँ स्वयं विशेष हैं। अतः उन्हें अन्य व्यावर्तककी जरूरत नहीं है।

समवायको तो स्वतन्त्र पदार्थ माना ही नहीं जा सकता, क्योंकि वह दो
न्धियोंके सम्बन्धका नाम है और सम्बन्ध सम्बन्धियोंसे भिन्न नहीं होता। वह
न्न, अनित्य और अनेक होता है। समवायको नित्य, व्यापक और एक स्वीकार
नेपर पूर्वोक्त दोष आते हैं।

अतः वैशेषिकोंके छह पदार्थ, जो स्वतन्त्र सामान्य-विशेषोभयवादरूप हैं,
णका विषय नहीं हैं। नरेन्द्रसेनने इनकी सयुक्तिक आलोचना करते हुए कथंचित्
ान्यविशेषात्मक, कथंचित् द्रव्यपर्यायात्मक और कथंचित् गुण-गुण्यात्मक वस्तुको
य सिद्ध किया है।

) ब्रह्म-परीक्षा :

वेदान्तियोंके ब्रह्मवादका पूर्वपक्ष—ब्रह्माद्वैतवादी वेदान्तियोंका मत है कि
प्रतिभासमान जगत् मात्र ब्रह्म है। ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है।
ी प्रमाणका विषय है। प्रत्यक्ष हो, चाहे अनुमान या आगम। सभी प्रमाण विधिको
विषय करते हैं। प्रत्यक्ष दो प्रकारका है—१. निर्विकल्पक और २. सविकल्पक।
विकल्पक प्रत्यक्षसे मात्र सत्का ही ज्ञान होता है। वह ज्ञान गूँगे व्यक्ति अथवा
च्चोंके ज्ञानकी तरह शुद्ध वस्तुजन्य और शब्दसम्पर्कसे रहित है[1]। इस प्रत्यक्षमें
धिकी तरह निषेध भी जाना जाता हो, सो बात नहीं है, क्योंकि वह निषेधको
षय नहीं करता[2]। सविकल्पक प्रत्यक्षसे यद्यपि 'घटः', 'पटः' इत्यादि भेदकी
तीति होती हुई जान पड़ती है, किन्तु वह मिथ्या है, अविद्याके द्वारा वैसा प्रतीत
ोता है। यथार्थतः वह सत्तारूपसे युक्त पदार्थोंका ही बोधक है। अतः सविकल्पक
त्यक्ष भी सत्तामात्रका साधक है। और यह सत्ता परमब्रह्मरूप ही है[3]। अनुमान
ी सत्ताका ही ज्ञापक है। वह इस प्रकार है—विधि ही वस्तु है, क्योंकि वह प्रमेय
और चूँकि प्रमाणोंकी विषयभूत वस्तुको प्रमेय माना गया है, अतः सभी प्रमाण

---

१. मी॰ श्लो॰, प्रत्यक्ष सू॰, श्लोक १२० तथा 'प्रमाणप्रमेयक॰, पृ॰ ३७।
२. ब्रह्मसि॰, तर्कपाद, श्लोक १, तथा प्रमाणप्रमे॰ पृ॰ ३७।
३. प्रमाणप्रमे॰ पृ॰ ३७।

प्रमाणसे सिद्ध नहीं है, फिर भी वह स्वीकार किया जाता है, तो द्वैतवादियोंका द्वैत भी क्यों न माना जाय।

प्रत्यक्षसे जो विधिकी प्रतीति कही गयी है और विधिको ही ब्रह्म कहा गया है वह भी युक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि प्रत्यक्षसे जहाँ 'पटः सन्, घटः सन्' इस तरह घट-पटादिकी सत्ता प्रतीत होती है वहीं घटसे भिन्न पट और पटसे भिन्न घटकी भिन्नताकी भी प्रतीति होती है। बिना भेदके अभेद स्वप्नमें भी प्रतीत नहीं होता। अतः प्रत्यक्ष सत्ताकी तरह भिन्नताको भी विषय करता है। और तब प्रत्यक्ष सत्ता-भिन्नता द्वैतका साधक सिद्ध होता है—अद्वैतका साधक नहीं।

अनुमानसे ब्रह्मकी सिद्धि करनेपर पक्ष, हेतु, दृष्टान्त और साध्यका भेद अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि उनके बिना अनुमान नहीं बनता है और उस दशामें वही द्वैतका प्रसंग आता है। ऊपर जिन दो अनुमानोंका उल्लेख किया गया है वे दोनों अनुमान भी निर्दोष नहीं हैं। प्रमेयत्वहेतु कालात्ययापदिष्ट है, क्योंकि 'विधि ही वस्तु है' यह पक्ष प्रत्यक्षबाधित है। प्रत्यक्षसे निषेध भी प्रतीत होता है। प्रतिभास-मानत्वहेतु भी सदोष है, क्योंकि ग्राम, उद्यान आदि पदार्थ प्रतिभासके विषय हैं, स्वयं प्रतिभास नहीं हैं। जैसे दीपक आदि प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाले घटादि पदार्थ प्रकाशसे भिन्न अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं और उनमें प्रकाश्य-प्रकाशकभाव है उसी तरह प्रतिभास तथा ग्रामादि प्रतिभास्य-पदार्थोंमें प्रतिभास्य-प्रतिभासकभाव है। दोनोंकी एक सत्ता कदापि नहीं हो सकती।

आगमवाक्योंसे ब्रह्मकी सिद्धि माननेपर यह प्रश्न होगा कि वे आगमवाक्य ब्रह्मसे भिन्न हैं या अभिन्न? यदि भिन्न हैं तो अद्वैत कहाँ रहा? और यदि अभिन्न हैं, तो ब्रह्मकी तरह वे आगमवाक्य भी साध्यकोटिमें आ जायेंगे। यदि कहा जाय कि यह सब अविद्याजन्य व्यवहार है और अविद्या अपरमार्थ है—वह परमार्थ अद्वैत ब्रह्ममें कोई बाधा नहीं पहुँचा सकती, तो यह कहना संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अविद्या जब अपरमार्थ है, तो वह ढाल बनकर अद्वैत ब्रह्मकी रक्षा नहीं कर सकती। अतः प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमवाक्य ये सब भी मिथ्या (अपरमार्थ) हैं, तो उनसे होनेवाली एकमात्र ब्रह्मकी सिद्धि भी अपरमार्थ हो होगी। इसके साथ ही यह प्रश्न भी होता है कि वह अविद्या ब्रह्मसे भिन्न है या अभिन्न? यदि भिन्न है, तो द्वैत प्रसक्त होता है। और यदि अभिन्न है, तो वह भी ब्रह्मकी तरह परमार्थ या उसकी तरह ब्रह्म भी अपरमार्थ सिद्ध होगा। अविद्याको भिन्नाभिन्नादि विचारोंसे रहित मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि इतरेतराभाव आदि अवस्तु होनेपर भी भिन्ना-भिन्नादि विचारोंके विषय होते हैं। एक बात और है। जब ब्रह्मसे भिन्न या अभिन्न वास्तविक अविद्या है ही नहीं, तो आत्म-श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा किसकी निवृत्ति की जाती है?

'सब प्राणी एक हैं, सबमें ब्रह्मका अंश है, सबको एक दृष्टिसे देखना चाहिए' आदि एक प्रकारकी भावना है और तत्त्वज्ञान दूसरी बात है। प्रत्यक्षसे जब हमें जड़ और चेतन भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं और जड़ तथा चेतन भी देश, काल एवं आकारकी परिधिको लिये हुए अनेक मालूम पड़ रहे हैं तो उनका लोप कैसे किया

जा सकता है ? तत्त्वकी व्यवस्था प्रतीतिके आधारपर होना चाहिए। हाँ, सत्त्व सामान्यकी दृष्टिसे वस्तु एक होकर भी द्रव्य, गुण, पर्याय आदिके भेदसे वह अनेक है। अतः वस्तु कथंचित् एक और कथंचित् अनेकरूप है और यही कथंचित् एकानेकात्मक, भेदाभेदात्मक अथवा सामान्यविशेषात्मक वस्तु प्रमेय है—प्रमाणका विषय है। प्रमाणप्रमेयकलिकामें यही अनेकान्त-दृष्टि प्रस्तुत की गयी है और सप्तभंगीप्रक्रिया द्वारा प्रमेयतत्त्वको अनेकान्तात्मक सिद्ध किया गया है।

वक्तव्यावक्तव्यतत्त्व-परीक्षा :

बौद्ध तत्त्व (स्वलक्षणात्मक वस्तु) को अवक्तव्य मानते हैं। उनका कहना है कि विकल्प और शब्द दोनों ही अनर्थजन्य हैं और इसलिए वे अर्थको विषय नहीं करते हैं। उनके द्वारा तो केवल विवक्षा अथवा अन्यापोहमात्र कहा जाता है। अर्थ उनके द्वारा अभिहित नहीं होता। वह केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्षका विषय है। शब्द अवस्तु है और अर्थ वस्तु है। तथा अवस्तु और वस्तुमें क्या सम्बन्ध ? जब उनमें सम्बन्ध ही सम्भव नहीं है तब शब्दके द्वारा अर्थ (स्वलक्षणात्मक तत्त्व) कैसे वाच्य हो सकता है ? अतः तत्त्व अवक्तव्य है।

बौद्धोंकी यह मान्यता स्पष्टतया स्ववचनबाधित है। जब तत्त्व अवक्तव्य है तो 'अवक्तव्य' शब्दके द्वारा भी उसका कथन नहीं किया जा सकता है। यदि उसे 'अवक्तव्य' शब्दके द्वारा 'अवक्तव्य' कहा जाता है तो वह 'अवक्तव्य' शब्दका वाच्य—वक्तव्य हो जाता है। दूसरे, यदि शब्द अर्थको नहीं कहते—वे केवल अन्यापोहरूप सामान्यका ही प्रतिपादन करते हैं, तो बुद्धका समस्त उपदेश वस्तुप्रतिपादक न होनेसे मिथ्या ठहरता है और तब बुद्धके उपदेश तथा कपिलके उपदेशमें कोई अन्तर नहीं रहता। तीसरे, यदि वस्तु और वस्तुधर्म सभी अवक्तव्य हैं तो शब्दोंका प्रयोग किसलिए किया जाता है ? आश्चर्य है कि शब्दों द्वारा जो कहा जाता है वह अवस्तु है और जो वस्तु है वह उनके द्वारा कही नहीं जाती ! ऐसी स्थितिमें शब्द-प्रयोगके बिना दूसरोंको वस्तुप्रतिपत्ति कैसे करायी जा सकती है, क्योंकि दूसरोंको वस्तुप्रतिपत्ति करानेके एकमात्र कारण शब्द ही हैं और वे अर्थप्रतिपादक हैं नहीं। [illegible] बुद्धकी सब देशना निरर्थक सिद्ध होती है। अतः दूसरों (विनेयजनों) को वस्तुप्रतिपत्ति करानेके लिए शब्दोंका प्रयोग आवश्यक है और तब उन्हें वस्तुका प्रतिपादक मानना चाहिए।

इसके अतिरिक्त [illegible] वास्तविक कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले शब्द भी अवस्तु कैसे कहे जा सकते हैं ? अतः शब्द वस्तु है और अर्थ भी वस्तु है तथा दोनोंमें वाच्य-वाचकसम्बन्ध भी मौजूद है। इसके साथ ही शब्दोंमें अर्थको प्रतिपादन करनेकी स्वाभाविक योग्यता और संकेतशक्ति भी विद्यमान है। अतएव शब्द वस्तुके प्रतिपादक हैं। इससे स्पष्ट है कि तत्त्व अवक्तव्य नहीं है, किन्तु शब्दों द्वारा वह वक्तव्य है। समन्तभद्रने इस सम्बन्धमें भी अपने विचार प्रस्तुत करते हुए [illegible] द्वारा युक्तिपूर्वक समर्थन किया है कि वस्तु किस प्रकार [illegible] है। इसी प्रकार वह शब्दों द्वारा वक्तव्य भी है—वचनों द्वारा उसका प्रतिपादन भी किया जाता है।

परिशिष्ट

परिशिष्ट

बालानां हितकामिनामतिमहापापैः पुरोपार्जितैः,
माहात्म्यात्तमसः स्वयं कलिबलात्प्रायो गुणद्वेषिभिः।
न्यायोऽयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते,
सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमलं तत्रानुकम्पापरैः॥

—भट्टाकलंकदेव, न्यायविनिश्चय २।

ſ

परिशिष्ट १

सन्दर्भ-संकेत विवरण

'जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन' में लेखककी जो पूर्व-प्रकाशित अनुसन्धान-सामग्री समाहित की गयी है, उसके पूर्व-प्रकाशन आदिके सन्दर्भ-संकेतोंका विवरण प्रस्तुत ग्रन्थके शीर्षकोंके साथ निम्न प्रकार है :—

प्रस्तुत ग्रन्थके शीर्षक	पूर्व शीर्षक तथा प्रकाशन आदि अन्य विवरण
१. जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र : ऐतिहासिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि :	जैन न्यायका विकास, वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ, वी. नि. सं २४७६ तथा परिवर्धित रूपमें जबलपुर विश्वविद्यालयमें सन् १९७७ में दिये गये लिखित दो व्याख्यान।
२. आचार्य कुन्दकुन्दका प्राकृत वाङ्मय और उसकी देन	: शीर्षक वही, मु. विद्यानन्द स्मृति-ग्रन्थ, द्रोणगिरि, छतरपुर (म. प्र.), वी. नि. सं. २४९९।
३. आचार्य गृद्धपिच्छ और उनके तत्त्वार्थ-सूत्रका मंगलाचरण	: तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण (दो निबन्ध), अनेकान्त, वर्ष ५, किरण ६, ७, १०, ११, सरसावा, सन् १९४२।
४. तत्त्वार्थसूत्रमें न्यायशास्त्रके बीज	: शीर्षक वही, अध्ययन-अनुसन्धान, अंक ८, जयपुर, सन् १९८०।
५. तत्त्वार्थसूत्रकी परम्परा	: शीर्षक वही, जैन सिद्धान्त भास्कर, आरा, सन् १९४५।
६. स्वामी समन्तभद्र	: देवागम अपरनाम आप्तमीमांसाकी प्रस्तावना, वाराणसी, सन् १९६७।
७. निर्युक्तिकार भद्रबाहु और समन्तभद्र :	क्या निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र एक हैं ? अनेकान्त, वर्ष ६, किरण १०, ११, सरसावा, सन् १९४४।
८. नागार्जुन और समन्तभद्र	: शीर्षक वही, अनेकान्त, वर्ष ५, किरण १२, सन् १९४५।

९. दिग्नाग और समन्तभद्र	: दिग्नाग और समन्तभद्रमें पूर्ववर्ती कौन? अनेकान्त, वर्ष ५, किरण १२, सन् १९४५।
१०. कुमारिल और समन्तभद्र	: उपर्युक्त।
११. धर्मकीर्ति और समन्तभद्र	: क्या समन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरकालीन हैं, जैन सिद्धान्त भास्कर, आरा, सन् १९४५।
१२. गन्धहस्ति महाभाष्य	: गन्धहस्ति महाभाष्यकी कल्पनाका उद्गम स्थान, जैनमित्र, पौष वदी २, वी. नि. सं. २४७२। द्वितीय लेख, शीर्षक वही, अनेकान्त वर्ष ९, किरण १, सन् १९४८।
१३ देवागम-आप्तमीमांसा	: देवागम अपरनाम आप्तमीमांसाकी प्रस्तावना, वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी, सन् १९६७।
१४. युक्त्यनुशासन	: युक्त्यनुशासनकी प्रस्तावना, सांगानेर, जयपुर, सन् १९६९।
१५. रत्नकरण्डकश्रावकाचारकी प्राचीनतापर अभिनव प्रकाश	: शीर्षक वही, जैन सिद्धान्त भास्कर, आरा, सन् १९४७।
१६. रत्नकरण्डकश्रावकाचार स्वामी समन्तभद्रकी कृति है	: क्या रत्नकरण्डकश्रावकाचार स्वामी समन्तभद्रकी कृति नहीं है? अनेकान्त, वर्ष ६, किरण १२, सन् १९४४। द्वितीय लेख, वर्ष ७, किरण १२, सन् १९४४। रत्नकरण्डक और आप्तमीमांसा एककर्तृत्व प्रमाणसिद्ध है।—तृतीयसे पाँच लेख पर्यन्त, अनेकान्त, वर्ष ८, किरण ४-११ तक, सन् १९४५।
१७ रत्नकरण्डटीका और उसके कर्ताका समय	: रत्नकरण्डटीकाकार प्रभाचन्द्रका समय, अनेकान्त, सन् १९४७।
१८. आचार्य अनन्तवीर्य और उनकी सिद्धिविनिश्चयटीका	: शीर्षक वही, अनेकान्त, सन् १९४६।
१९. आचार्य विद्यानन्द	: आप्तपरीक्षाकी प्रस्तावना, सरसावा, सन् १९४९।
२०. आप्तपरीक्षा	: वही, सन् १९४९।

२१. प्रमाणपरीक्षा : प्रमाणपरीक्षाकी प्रस्तावना, वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी, सन् १९७७।

२२. आचार्य माणिक्यनन्दि और उनका समय : आचार्य माणिक्यनन्दिके समयपर अभिनव प्रकाश, अनेकान्त, वर्ष ८, किरण ८-९, सन् १९४७।

२३. परीक्षामुख और उसका उद्गम : शीर्षक वही, अनेकान्त, वर्ष ५, किरण ३,४, सन् १९४२।

२४. अभिनव धर्मभूषण यति : न्यायदीपिकाकी प्रस्तावना, वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा, सन् १९४५।

२५. न्यायदीपिका और उसके प्रतिपाद्य विषय : वही।

२६. न्यायदीपिकामें उल्लिखित ग्रन्थ और ग्रन्थकार : वही।

२७. नरेन्द्रसेन : प्रमाणप्रमेयकलिकाकी प्रस्तावना, माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, सन् १९६१।

२८. प्रमाणप्रमेयकलिका : वही।

□

अनन्तवीर्य (वि. १२वीं शती) : प्रमेयरत्नमाला (परीक्षामुखवृत्ति) — चौखम्बा संस्कृत सीरिज, काशी।

शान्तिसूरि (वि. १२वीं शती) : न्यायावतारवार्तिकवृत्ति — सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।

देवसूरि (वि. १२वीं शती) : प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार — आर्हत प्रभाकर कार्यालय, पूना।
स्याद्वादरत्नाकर — " "

हेमचन्द्र (वि. ११४५-१२२९) : अन्ययोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशतिका — प्रकाशित
वेदांकुश — प्रकाशित

भावसेन त्रैविद्य (वि. १२-१३वीं शती) : विश्वतत्त्वप्रकाश — जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर।

लघुसमन्तभद्र (वि. १३वीं शती) : अष्टसहस्रीटिप्पण — प्रकाशित

अभयचन्द्र (वि. १३वीं शती) : लघीयस्त्रय-तात्पर्यवृत्ति — माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला।

रत्नप्रभसूरि (वि. १३वीं शती) : स्याद्वादरत्नाकरावतारिका — प्रकाशित

मल्लिषेण (वि. १४वीं शती) : स्याद्वादमंजरी — रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास

धर्मभूषण (वि. सं. १५वीं शती) : न्यायदीपिका — वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली।

शान्तिवर्णी : प्रमेयकण्ठिका — वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी।

नरेन्द्रसेन (वि. सं. १७८७) : प्रमाणप्रमेयकलिका — मा. दि. जै. ग्रन्थमाला।

चारुकीर्ति (वि. सं. १८वीं शती) : प्रमेयरत्नालंकार — मैसूर युनि., मैसूर।

यशोविजय	:	अष्टसहस्रीविवरण	प्रकाशित
(वि. सं. १८वीं शती)			
		अनेकान्तव्यवस्था	
		जैनतर्कभाषा	सिंघी जैन ग्रन्थमाला
		ज्ञानबिन्दु	"
		न्यायखण्डखाद्य	"
		अनेकान्तप्रवेश	"
		न्यायालोक	"
		शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका	"
		गुरुतत्त्वविनिश्चय	"

अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थोंके लिए प्राकृत तथा जैन साहित्यके इतिहास ग्रन्थोंका अवलोकन करना चाहिए।

□

अनन्तवीर्य (वि. १२वीं शती)	:	प्रमेयरत्नमाला (परीक्षामुखवृत्ति)	चौखम्बा संस्कृत सीरिज, काशी।
शान्तिसूरि (वि. १२वीं शती)	:	न्यायावतारवार्तिकसवृत्ति	सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।
देवसूरि (वि. १२वीं शती)	:	प्रमाणनय तत्त्वालोकालंकार	आर्हत प्रभाकर कार्यालय, पूना।
		स्याद्वादरत्नाकर	" "
हेमचन्द्र (वि. ११४५-१२२९)	:	अन्ययोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशतिका	प्रकाशित
		वेदांकुश	प्रकाशित
भावसेन त्रैविद्य (वि. १२-१३वीं शती)	:	विश्वतत्त्वप्रकाश	जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर।
लघुसमन्तभद्र (वि. १३वीं शती)	:	अष्टसहस्रीटिप्पण	प्रकाशित
अभयचन्द्र (वि. १३वीं शती)	:	लघीयस्त्रय-तात्पर्यवृत्ति	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला।
रत्नप्रभसूरि (वि. १३वीं शती)	:	स्याद्वादरत्नाकरावतारिका	प्रकाशित
मल्लिषेण (वि. १४वीं शती)	:	स्याद्वादमंजरी	रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास
धर्मभूषण (वि. सं. १५वीं शती)	:	न्यायदीपिका	वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली।
शान्तिवर्णी	:	प्रमेयकण्ठिका	वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी।
नरेन्द्रसेन (वि. सं. १७८७)	:	प्रमाणप्रमेयकलिका	मा. दि. जै. ग्रन्थमाला।
चारुकीर्ति (वि. सं. १८वीं शती)	:	प्रमेयरत्नालंकार	मैसूर युनि., मैसूर।

वादीभसिंह (वि. ९वीं शती)	:	स्याद्वादसिद्धि	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला
अनन्तवीर्य (वि. ९वीं शती)	:	सिद्धिविनिश्चयटीका	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
विद्यानन्द (वि.८३२-८९७)	:	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	गान्धी नाथारंग ग्रन्थमाला
		अष्टसहस्री	,, ,,
		आप्तपरीक्षा	वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली
		प्रमाणपरीक्षा	वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट, वाराणसी
		पत्रपरीक्षा	सनातन जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी
		युक्त्यनुशासनालंकार	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला
		सत्यशासन-परीक्षा	भारतीय ज्ञानपीठ
		श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र	वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली
अनन्तकीर्ति (वि. १०वीं शती)	:	बृहत्सर्वज्ञसिद्धि	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला
		लघुसर्वज्ञसिद्धि	,, ,,
देवसेन (वि. ९९०)	:	नयचक्र (प्राकृत)	
		आलापपद्धति	
वसुनन्दि (वि. १०-११वीं शती	:	आप्तमीमांसावृत्ति	सनातन जैन ग्रन्थमाला, काशी
माणिक्यनन्दि (वि. १०-११वीं शती)	:	परीक्षामुख	
वादिराज (वि. १०८२)	:	न्यायविनिश्चयविवरण	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
		प्रमाणनिर्णय	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला
प्रभाचन्द्र (वि. १०३७-११२२)	:	प्रमेयकमलमार्तण्ड (परीक्षामुखटीका)	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।
		न्यायकुमुदचन्द्र (लघीयस्त्रयटीका)	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला
सिद्धर्षि (वि. ११वीं शती)	:	न्यायावतारवृत्ति	रायचन्द्रशास्त्रमाला, बम्बई।
अभयदेव (वि. १०-११वीं शती)	:	सन्मतितर्कटीका	गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद।

अनन्तवीर्य (वि. १२वीं शती)	: प्रमेयरत्नमाला (परीक्षामुखवृत्ति)	चौखम्बा संस्कृत सीरिज, काशी।
शान्तिसूरि (वि. १२वीं शती)	: न्यायावतारवार्तिकसवृत्ति	सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।
देवसूरि (वि. १२वीं शती)	: प्रमाणनय तत्त्वालोकालंकार	आर्हत प्रभाकर कार्यालय, पूना।
	स्याद्वादरत्नाकर	,, ,,
हेमचन्द्र (वि. ११४५-१२२९)	: अन्ययोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशतिका	प्रकाशित
	वेदांकुश	प्रकाशित
भावसेन त्रैविद्य (वि. १२-१३वीं शती)	: विश्वतत्त्वप्रकाश	जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर।
लघुसमन्तभद्र (वि. १३वीं शती)	: अष्टसहस्रीटिप्पण	प्रकाशित
अभयचन्द्र (वि. १३वीं शती)	: लघीयस्त्रय-तात्पर्यवृत्ति	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला।
रत्नप्रभसूरि (वि. १३वीं शती)	: स्याद्वादरत्नाकरावतारिका	प्रकाशित
मल्लिषेण (वि. १४वीं शती)	: स्याद्वादमंजरी	रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास
धर्मभूषण (वि. सं. १५वीं शती)	: न्यायदीपिका	वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली।
शान्तिवर्णी	: प्रमेयकण्ठिका	वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी।
नरेन्द्रसेन (वि. सं. १७८७)	: प्रमाणप्रमेयकलिका	भा. दि. जै. ग्रन्थमाला।
चारुकीर्ति (वि. सं. १८वीं शती)	: प्रमेयरत्नालंकार	मैसूर युनि., मैसूर।

वादीभसिंह (वि. ९वीं शती)	: स्याद्वादसिद्धि	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला
अनन्तवीर्य (वि. ९वीं शती)	: सिद्धिविनिश्चयटीका	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
विद्यानन्द (वि.८३२-८९७)	: तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	गान्धी नाथारंग ग्रन्थमाला
	अष्टसहस्री	" "
	आप्तपरीक्षा	वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली
	प्रमाणपरीक्षा	वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट, वाराणसी
	पत्रपरीक्षा	सनातन जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी
	युक्त्यनुशासनालंकार	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला
	सत्यशासन-परीक्षा	भारतीय ज्ञानपीठ
	श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र	वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली
अनन्तकीर्ति (वि. १०वीं शती)	: बृहत्सर्वज्ञसिद्धि	माणिकचन्द दि. जैन ग्रन्थमाला
	लघुसर्वज्ञसिद्धि	" "
देवसेन (वि. ९९०)	: नयचक्र (प्राकृत)	
	आलापपद्धति	
वसुनन्दि (वि. १०-११वीं शती	: आप्तमीमांसावृत्ति	सनातन जैन ग्रन्थमाला, काशी
माणिक्यनन्दि (वि. १०-११वीं शती)	: परीक्षामुख	
वादिराज (वि. १०८२)	: न्यायविनिश्चयविवरण	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
	प्रमाणनिर्णय	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला
प्रभाचन्द्र (वि.१०३७-११३७)	: प्रमेयकमलमार्तण्ड (परीक्षामुखटीका)	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।
	न्यायकुमुदचन्द्र (लघीयस्त्रयटीका)	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला
सिद्धर्षि (वि. ११वीं शती)	: न्यायावतारवृत्ति	रायचन्द्रशास्त्रमाला, बम्बई।
अभयदेव (वि. १०-११वीं शती)	: सन्मतितर्कटीका	गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद।

अनन्तवीर्य (वि. १२वीं शती)	:	प्रमेयरत्नमाला (परीक्षामुखवृत्ति)	चौखम्बा संस्कृत सीरिज, काशी।
शान्तिसूरि (वि. १२वीं शती)	:	न्यायावतारवार्तिकवृत्ति	सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।
देवसूरि (वि. १२वीं शती)	:	प्रमाणनय तत्त्वालोकालंकार	आर्हत प्रभाकर कार्यालय, पूना।
		स्याद्वादरत्नाकर	" "
हेमचन्द्र (वि. ११४५-१२२९)	:	अन्ययोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशतिका	प्रकाशित
		वेदांकुश	प्रकाशित
भावसेन त्रैविद्य (वि. १२-१३वीं शती)	:	विश्वतत्त्वप्रकाश	जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर।
लघुसमन्तभद्र (वि. १३वीं शती)	:	अष्टसहस्रीटिप्पण	प्रकाशित
अभयचन्द्र (वि. १३वीं शती)	:	लघीयस्त्रय-तात्पर्यवृत्ति	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला।
रत्नप्रभसूरि (वि. १३वीं शती)	:	स्याद्वादरत्नाकरावतारिका	प्रकाशित
मल्लिषेण (वि. १४वीं शती)	:	स्याद्वादमंजरी	रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास
धर्मभूषण (वि. सं. १५वीं शती)	:	न्यायदीपिका	वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली।
शान्तिवर्णी	:	प्रमेयकण्ठिका	वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी।
नरेन्द्रसेन (वि. सं. १७८७)	:	प्रमाणप्रमेयकलिका	मा. दि. जै. ग्रन्थमाला।
चारुकीर्ति (वि. सं. १८वीं शती)	:	प्रमेयरत्नालंकार	मैसूर युनि., मैसूर।

वादीभसिंह (वि. ९वीं शती)	: स्याद्वादसिद्धि	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला
अनन्तवीर्य (वि. ९वीं शती)	: सिद्धिविनिश्चयटीका	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
विद्यानन्द (वि.८३२-८९७)	: तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	गान्धी नाथारंग ग्रन्थमाला
	अष्टसहस्री	" "
	आप्तपरीक्षा	वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली
	प्रमाणपरीक्षा	वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट, वाराणसी
	पत्रपरीक्षा	सनातन जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी
	युक्त्यनुशासनालंकार	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला
	सत्यशासन-परीक्षा	भारतीय ज्ञानपीठ
	श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र	वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली
अनन्तकीर्ति (वि. १०वीं शती)	: बृहत्सर्वज्ञसिद्धि	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला
	लघुसर्वज्ञसिद्धि	" "
देवसेन (वि. ९९०)	: नयचक्र (प्राकृत)	
	आलापपद्धति	
वसुनन्दि (वि. १०-११वीं शती)	: आप्तमीमांसावृत्ति	सनातन जैन ग्रन्थमाला, काशी
माणिक्यनन्दि (वि. १०-११वीं शती)	: परीक्षामुख	
वादिराज (वि. १०८२)	: न्यायविनिश्चयविवरण	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
	प्रमाणनिर्णय	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला
प्रभाचन्द्र (वि. १०३७-११२२)	: प्रमेयकमलमार्तण्ड (परीक्षामुखटीका)	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।
	न्यायकुमुदचन्द्र (लघीयस्त्रयटीका)	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला
सिद्धर्षि (वि. १०वीं शती)	: न्यायावतारवृत्ति	रायचन्द्रशास्त्रमाला, बम्बई।
अभयदेव (वि. १०-११वीं शती)	: सन्मतितर्कटीका	गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद।

अनन्तवीर्य (वि. १२वीं शती)	:	प्रमेयरत्नमाला (परीक्षामुखवृत्ति)	चौखम्बा संस्कृत सीरिज, काशी।
शान्तिसूरि (वि. १२वीं शती)	:	न्यायावतारवार्तिकसवृत्ति	सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।
देवसूरि (वि. १२वीं शती)	:	प्रमाणनय तत्त्वालोकालंकार	आर्हत प्रभाकर कार्यालय, पूना।
		स्याद्वादरत्नाकर	,, ,,
हेमचन्द्र (वि. ११४५-१२२९)	:	अन्ययोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशतिका	प्रकाशित
		वेदांकुश	प्रकाशित
भावसेन त्रैविद्य (वि. १२-१३वीं शती)	:	विश्वतत्त्वप्रकाश	जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर।
लघुसमन्तभद्र (वि. १३वीं शती)	:	अष्टसहस्रीटिप्पण	प्रकाशित
अभयचन्द्र (वि. १३वीं शती)	:	लघीयस्त्रय-तात्पर्यवृत्ति	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला।
रत्नप्रभसूरि (वि. १३वीं शती)	:	स्याद्वादरत्नाकरावतारिका	प्रकाशित
मल्लिषेण (वि. १४वीं शती)	:	स्याद्वादमंजरी	रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास
धर्मभूषण (वि. सं. १५वीं शती)	:	न्यायदीपिका	वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली।
शान्तिवर्णी	:	प्रमेयकण्ठिका	वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी।
नरेन्द्रसेन (वि. सं. १७८७)	:	प्रमाणप्रमेयकलिका	मा. दि. जै. ग्रन्थमाला।
चारुकीर्ति (वि. सं. १८वीं शती)	:	प्रमेयरत्नालंकार	मैसूर यूनि., मैसूर।

वादीभसिंह (वि. ९वीं शती)	: स्याद्वादसिद्धि	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थ
अनन्तवीर्य (वि. ९वीं शती)	: सिद्धिविनिश्चयटीका	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
विद्यानन्द (वि. ८३२-८९७)	: तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	गान्धी नाथारंग ग्रन्थमाला
	अष्टसहस्री	" "
	आप्तपरीक्षा	वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली
	प्रमाणपरीक्षा	वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट,
	पत्रपरीक्षा	सनातन जैन ग्रन्थमाला,
	युक्त्यनुशासनालंकार	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला
	सत्यशासन-परीक्षा	भारतीय ज्ञानपीठ
	श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र	वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली
अनन्तकीर्ति (वि. १०वीं शती)	: बृहत्सर्वज्ञसिद्धि	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला
	लघुसर्वज्ञसिद्धि	" "
देवसेन (वि. ९९०)	: नयचक्र (प्राकृत)	
	आलापपद्धति	
वसुनन्दि (वि. १०-११वीं शती)	: आप्तमीमांसावृत्ति	सनातन जैन ग्रन्थमाला, काशी
माणिक्यनन्दि (वि. १०-११वीं शती)	: परीक्षामुख	
वादिराज (वि. १०८२)	: न्यायविनिश्चयविवरण	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
	प्रमाणनिर्णय	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला
प्रभाचन्द्र (वि. १०३७-११२२)	: प्रमेयकमलमार्तण्ड (परीक्षामुखटीका)	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।
	न्यायकुमुदचन्द्र (लघीयस्त्रयटीका)	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला
सिद्धर्षि (वि. १०वीं शती)	: न्यायावतारवृत्ति	रायचन्द्रशास्त्रमाला, बम्बई।
अभयदेव (वि. १०-११वीं शती)	: सन्मतितर्कटीका	गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद।

नन्तवीर्य (वि. १२वीं शती)	:	प्रमेयरत्नमाला (परीक्षामुखवृत्ति)	चौखम्बा संस्कृत सीरिज, काशी।
शान्तिसूरि (वि. १२वीं शती)	:	न्यायावतारवार्तिकवृत्ति	सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।
देवसूरि (वि. १२वीं शती)	:	प्रमाणनय तत्त्वालोकालंकार	आर्हत प्रभाकर कार्यालय, पूना।
		स्याद्वादरत्नाकर	,, ,,
हेमचन्द्र (वि. ११४५-१२२९)	:	अन्ययोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका	प्रकाशित
		वेदांकुश	प्रकाशित
भावसेन त्रैविद्य (वि. १२-१३वीं शती)	:	विश्वतत्त्वप्रकाश	जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर।
लघुसमन्तभद्र (वि. १३वीं शती)	:	अष्टसहस्रीटिप्पण	प्रकाशित
अभयचन्द्र (वि. १३वीं शती)	:	लघीयस्त्रय-तात्पर्यवृत्ति	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला।
रत्नप्रभसूरि (वि. १३वीं शती)	:	स्याद्वादरत्नाकरावतारिका	प्रकाशित
मल्लिषेण (वि. १४वीं शती)	:	स्याद्वादमंजरी	रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास
धर्मभूषण (वि. सं. १५वीं शती)	:	न्यायदीपिका	वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली।
शान्तिवर्णी	:	प्रमेयकण्ठिका	वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी।
नरेन्द्रसेन (वि. सं. १७८७)	:	प्रमाणप्रमेयकलिका	मा. दि. जै. ग्रन्थमाला।
चारुकीर्ति (वि. सं. १८वीं शती)	:	प्रमेयरत्नालंकार	मैसूर युनि., मैसूर।

वादीभसिंह (वि. ९वीं शती)	: स्याद्वादसिद्धि	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला
अनन्तवीर्य (वि. ९वीं शती)	: सिद्धिविनिश्चयटीका	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
विद्यानन्द (वि.८३२-८९७)	: तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	गान्धी नाथारंग ग्रन्थमाला
	अष्टसहस्री	" "
	आप्तपरीक्षा	वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली
	प्रमाणपरीक्षा	वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट, वाराणसी
	पत्रपरीक्षा	सनातन जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी
	युक्त्यनुशासनालंकार	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला
	सत्यशासन-परीक्षा	भारतीय ज्ञानपीठ
	श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र	वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली
अनन्तकीर्ति (वि. १०वीं शती)	: बृहत्सर्वज्ञसिद्धि	माणिकचन्द दि. जैन ग्रन्थमाला
	लघुसर्वज्ञसिद्धि	" "
देवसेन (वि. ९९०)	: नयचक्र (प्राकृत)	
	आलापपद्धति	
वसुनन्दि (वि. १०-११वीं शती	: आप्तमीमांसावृत्ति	सनातन जैन ग्रन्थामाला, काशी
माणिक्यनन्दि (वि. १०-११वीं शती)	: परीक्षामुख	
वादिराज (वि. १०८२)	: न्यायविनिश्चयविवरण	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
	प्रमाणनिर्णय	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला
प्रभाचन्द्र (वि.१०३७-११३७)	: प्रमेयकमलमार्तण्ड (परीक्षामुखटीका)	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।
	न्यायकुमुदचन्द्र (लघीयस्त्रयटीका)	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला
सिद्धर्षि (वि. ११वीं शती)	: न्यायावतारवृत्ति	रायचन्द्रशास्त्रमाला, बम्बई।
अभयदेव (वि. १०-११वीं शती)	: सन्मतितर्कटीका	गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद।

अनन्तवीर्य (वि. १२वीं शती)	: प्रमेयरत्नमाला (परीक्षामुखवृत्ति)	चौखम्बा संस्कृत सीरिज, काशी।
शान्तिसूरि (वि. १२वीं शती)	: न्यायावतारवार्तिकसवृत्ति	सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।
देवसूरि (वि. १२वीं शती)	: प्रमाणनय तत्त्वालोकालंकार	आर्हत प्रभाकर कार्यालय, पूना।
	स्याद्वादरत्नाकर	" "
हेमचन्द्र (वि. ११४५-१२२९)	: अन्ययोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशतिका	प्रकाशित
	वेदांकुश	प्रकाशित
भावसेन त्रैविद्य (वि. १२-१३वीं शती)	: विश्वतत्त्वप्रकाश	जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर।
लघुसमन्तभद्र (वि. १३वीं शती)	: अष्टसहस्रीटिप्पण	प्रकाशित
अभयचन्द्र (वि. १३वीं शती)	: लघीयस्त्रय-तात्पर्यवृत्ति	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला।
रत्नप्रभसूरि (वि. १३वीं शती)	: स्याद्वादरत्नाकरावतारिका	प्रकाशित
मल्लिषेण (वि. १४वीं शती)	: स्याद्वादमंजरी	रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास
धर्मभूषण (वि. सं. १५वीं शती)	: न्यायदीपिका	वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली।
शान्तिवर्णी	: प्रमेयकण्ठिका	वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी।
नरेन्द्रसेन (वि. सं. १७८७)	: प्रमाणप्रमेयकलिका	मा. दि. जै. ग्रन्थमाला।
चारुकीर्ति (वि. सं. १८वीं शती)	: प्रमेयरत्नालंकार	मैसूर यूनि., मैसूर।

वादीभसिंह (वि. ९वीं शती)	:	स्याद्वादसिद्धि	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला
अनन्तवीर्य (वि. ९वीं शती)	:	सिद्धिविनिश्चयटीका	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
विद्यानन्द (वि.८३२-८९७)	:	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	गान्धी नाथारंग ग्रन्थमाला
		अष्टसहस्री	,, ,,
		आप्तपरीक्षा	वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली
		प्रमाणपरीक्षा	वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट, वाराणसी
		पत्रपरीक्षा	सनातन जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी
		युक्त्यनुशासनालंकार	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला
		सत्यशासन-परीक्षा	भारतीय ज्ञानपीठ
		श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र	वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली
अनन्तकीर्ति (वि. १०वीं शती)	:	बृहत्सर्वज्ञसिद्धि	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला
		लघुसर्वज्ञसिद्धि	,, ,,
देवसेन (वि. ९९०)	:	नयचक्र (प्राकृत)	
		आलापपद्धति	
वसुनन्दि (वि. १०-११वीं शती	:	आप्तमीमांसावृत्ति	सनातन जैन ग्रन्थमाला, काशी
माणिक्यनन्दि (वि. १०-११वीं शती)	:	परीक्षामुख	
वादिराज (वि. १०८२)	:	न्यायविनिश्चयविवरण	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
		प्रमाणनिर्णय	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला
प्रभाचन्द्र (वि.१०३७-११३७)	:	प्रमेयकमलमार्तण्ड (परीक्षामुखटीका)	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।
		न्यायकुमुदचन्द्र (लघीयस्त्रयटीका)	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला
सिद्धर्षि (वि. ११वीं शती)	:	न्यायावतारवृत्ति	रायचन्द्रशास्त्रमाला, बम्बई।
अभयदेव (वि. १०-११वीं शती)	:	सन्मतितर्कटीका	गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद।

अनन्तवीर्य : प्रमेयरत्नमाला (परीक्षामुखवृत्ति) — चौखम्बा संस्कृत सीरिज, काशी।
(वि. १२वीं शती)

शान्तिसूरि : न्यायावतारवार्तिकवृत्ति — सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।
(वि. १२वीं शती)

देवसूरि : प्रमाणनय तत्त्वालोकालंकार — आर्हत प्रभाकर कार्यालय, पूना।
(वि. १२वीं शती)
स्याद्वादरत्नाकर — ,, ,,

हेमचन्द्र : अन्ययोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशतिका — प्रकाशित
(वि ११४५-१२२९)
वेदांकुश — प्रकाशित

भावसेन त्रैविद्य : विश्वतत्त्वप्रकाश — जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर।
(वि. १२-१३वीं शती)

लघुसमन्तभद्र : अष्टसहस्रीटिप्पण — प्रकाशित
(वि. १३वीं शती)

अभयचन्द्र : लघीयस्त्रय-तात्पर्यवृत्ति — माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला।
(वि. १३वीं शती)

रत्नप्रभसूरि : स्याद्वादरत्नाकरावतारिका — प्रकाशित
(वि. १३वीं शती)

मल्लिषेण : स्याद्वादमंजरी — रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास
(वि. १४वीं शती)

धर्मभूषण : न्यायदीपिका — वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली।
(वि. सं. १५वीं शती)

शान्तिवर्णी : प्रमेयकण्ठिका — वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी।

नरेन्द्रसेन : प्रमाणप्रमेयकलिका — मा. दि. जै. ग्रन्थमाला।
(वि. सं. १७८७)

चारुकीर्ति : प्रमेयरत्नालंकार — मैसूर युनि., मैसूर।
(वि. सं. १८वीं शती)

वादीभसिंह (वि. ९वीं शती)	: स्याद्वादसिद्धि	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला
अनन्तवीर्य (वि. ९वीं शती)	: सिद्धिविनिश्चयटीका	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
विद्यानन्द (वि. ८३२-८९७)	: तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	गान्धी नाथारंग ग्रन्थमाला
	अष्टसहस्री	,, ,,
	आप्तपरीक्षा	वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली
	प्रमाणपरीक्षा	वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट, वाराणसी
	पत्रपरीक्षा	सनातन जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी
	युक्त्यनुशासनालंकार	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला
	सत्यशासन-परीक्षा	भारतीय ज्ञानपीठ
	श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र	वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली
अनन्तकीर्ति (वि. १०वीं शती)	: बृहत्सर्वज्ञसिद्धि	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला
	लघुसर्वज्ञसिद्धि	,, ,,
देवसेन (वि. ९९०)	: नयचक्र (प्राकृत)	
	आलापपद्धति	
वसुनन्दि (वि. १०-११वीं शती)	: आप्तमीमांसावृत्ति	सनातन जैन ग्रन्थमाला, काशी
माणिक्यनन्दि (वि. १०-११वीं शती)	: परीक्षामुख	
वादिराज (वि. १०८२)	: न्यायविनिश्चयविवरण	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
	प्रमाणनिर्णय	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला
प्रभाचन्द्र (वि. १०३७-११२२)	: प्रमेयकमलमार्तण्ड (परीक्षामुखटीका)	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।
	न्यायकुमुदचन्द्र (लघीयस्त्रयटीका)	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला
सिद्धर्षि (वि. १०वीं शती)	: न्यायावतारवृत्ति	रायचन्द्रशास्त्रमाला, बम्बई।
अभयदेव (वि. १०-११वीं शती)	: सन्मतितर्कटीका	गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद।

अनन्तवीर्य (वि. १२वीं शती)	: प्रमेयरत्नमाला (परीक्षामुखवृत्ति)	चौखम्बा संस्कृत सीरिज, काशी।
शान्तिसूरि (वि. १२वीं शती)	: न्यायावतारवार्तिकसवृत्ति	सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।
देवसूरि (वि. १२वीं शती)	: प्रमाणनय तत्त्वालोकालंकार	आर्हत प्रभाकर कार्यालय, पूना।
	स्याद्वादरत्नाकर	,, ,,
हेमचन्द्र (वि. ११४५-१२२९)	: अन्ययोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशतिका	प्रकाशित
	वेदांकुश	प्रकाशित
भावसेन त्रैविद्य (वि. १२-१३वीं शती)	: विश्वतत्त्वप्रकाश	जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर।
लघुसमन्तभद्र (वि. १३वीं शती)	: अष्टसहस्रीटिप्पण	प्रकाशित
अभयचन्द्र (वि. १३वीं शती)	: लघीयस्त्रय-तात्पर्यवृत्ति	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला।
रत्नप्रभसूरि (वि. १३वीं शती)	: स्याद्वादरत्नाकरावतारिका	प्रकाशित
मल्लिषेण (वि. १४वीं शती)	: स्याद्वादमंजरी	रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास
धर्मभूषण (वि. सं. १५वीं शती)	: न्यायदीपिका	वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली।
शान्तिवर्णी	: प्रमेयकण्ठिका	वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी।
नरेन्द्रसेन (वि. सं. १७८७)	: प्रमाणप्रमेयकलिका	मा. दि. जै. ग्रन्थमाला।
चारुकीर्ति (वि. सं. १८वीं शती)	: प्रमेयरत्नालंकार	मैसूर युनि., मैसूर।